संस्कृत काव्यशास्त्र
में
काव्य-बिम्ब-विवेचन

TREATMENT OF POETIC IMAGERY IN SANSKRIT POETICS

जम्मू विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिये स्वीकृत शोध प्रबन्ध का संशोधित तथा परिवर्धित रूप

डॉ० शिवप्रसाद भारद्वाज शास्त्री
साहित्याचार्य, एम०ए०, एम्०ओ०एल्, पी-एच्०डी०, डी०लिट्०,
भूतपूर्व प्रवाचक विश्वेश्वरानन्द संस्कृत व भारत भारती अनुशीलन संस्थान,
पंजाब विश्वविद्यालय, होशियारपुर

राधा पब्लिकेशन्स
नई दिल्ली-२

प्रकाशक
राजा पब्लिकेशन्स
4378/4बी, अन्सारी मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-110002
फोन 3261839

प्रथम संस्करण 1993

मूल्य 100/-

ISBN 81-85484-38-4

मुद्रक
अमर प्रिंटिंग प्रेस,
शाहदरा दिल्ली-110032

विषय-सूची

समर्पणम्

शब्दब्रह्मविलासमात्मसुहित सत्त्व-प्रकाशोर्जित
भावोपाधि-विलायमानविभव चाखण्डविश्रान्तिदम् ।
आनन्दैकघन स्वयम्प्रभगति प्रत्यस्तवेद्यान्तर
सार प्रातिभ-मात्रलक्ष्य-विषय सारस्वत धीमहि ॥

अव्ययत सत् प्रातिभव्यक्ति-गम्य
शब्दोपाधि मविदात्मेन्द्रियेष्टम् ।
नित्य शुद्ध वा चमत्कृत्युदार
विश्वोपाख्य प्रस्तुम काव्यबिम्बम् ॥

येरुवत सम्प्रयुक्तो वा येषा ग्रन्थेभ्य उद्धृत ।
तेषा करेषु विदुषा सन्दर्भोऽय निधीयते ॥

भूमिका

संस्कृत जगत् के सुप्रसिद्ध मनीषी कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओं के धनी, नाना मौलिक और शोध ग्रन्थों के रचयिता डा० शिवप्रसाद भारद्वाज की नूतनतम कृति 'संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य-बिम्ब-विवेचन' का परिचय विद्वत्समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। कृति प्रकाशन से पूर्व जम्मू विश्वविद्यालय के द्वारा डी० लिट् की उपाधि के लिए स्वीकृत हुई थी। इसमें विद्वान् लेखक ने काव्य-बिम्बों का सिद्धान्त और व्यवहार इन दोनों ही दृष्टियों में मार्मिक विवेचन किया है।

लेखक ने न केवल भारतीय काव्यशास्त्र की ही बिम्ब-विधान की दृष्टि से आलोचन किया है अपितु पाश्चात्य काव्यशास्त्र का भी। इससे उनकी दृष्टि व्यापक बनी है जिसमें बिम्बों की समग्र प्रक्रिया उनके अन्वेक्षण का विषय बनी है।

अपने कथ्य विषय को सशक्त ढंग से कह पाना ही बिम्ब-विधान का विशेष प्रयोजन है। इससे प्रस्तुति जितनी सटीक तथा बोधगम्य होती है उतनी किसी अन्य उपाय से नहीं। प्रश्न है श्रोता या पाठक को अपनी बात समझाने का, सम्प्रेषणीयता का। उसमें यह विशेष सहायक है। एक चित्र सा, आकार सा, मानसपटल पर इसके द्वारा उभर आता है जिसकी कथ्य को हृदयङ्गम कराने में विशेष भूमिका है। सीधे-सीधे कही हुई बात मन को उतना छू नहीं पाती जितना कि बिम्बों के माध्यम से कही हुई बात। अधिकांशतः अर्थालङ्कारों की पृष्ठभूमि में यही तत्त्व है। इससे कथ्य में सुबोध्यता के साथ-साथ सरसता भी आ जाती है जो कि एक चमत्कार विशेष की सृष्टि करती है।

संस्कृत वाङ्मय जैसे विशाल वाङ्मय में अनेकानेक कवियों और लेखकों ने अपनी कृतियों में नाना बिम्बों का प्रयोग किया है। वैदिक युग से अर्वाचीन युग के विशाल काल खण्ड में रचित इस वाङ्मय का उन बिम्बों की दृष्टि से अध्ययन समुद्र को लाघने के प्रयास के समान है। विद्वान् लेखक ने उस प्रयास में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। शतशः संस्कृत कृतियों से उन्होंने बिम्बों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर उन्हें स्पष्ट किया है। फलतः उनका ग्रन्थ बिम्बों

की दृष्टि से एक सन्दभ ग्रन्थ बन गया है। मुझे पूण विश्वास है उनके इस ग्रन्थ से विद्वत्समाज सुतरा लाभान्वित होगा।

डा० शिवप्रसाद भारद्वाज की यह कृति सस्कृत अनुसन्धान के क्षेत्र मे एक महनीय देन है।

---सत्यव्रत शास्त्री
आचार्य, सस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय
पूर्व कुलपति, श्री जगन्नाथ सस्कृत
विश्वविद्यालय, पुरी, उडीसा

दिल्ली
दिनाक १ दिसम्बर, १९९१

नामूल लिख्यते किञ्चित्

ब्रह्म के व्यक्त और अव्यक्त रूपो की भांति शब्दब्रह्म के भी व्यक्त और अव्यक्त दो रूप हैं। अव्यक्त मे वाक् के परा, पश्यन्ती और मध्यमा ये तीन रूप हैं। व्यक्त मे चौथा रूप वैखरी है जो सम्पूर्ण मानव जाति के वाग्व्यवहार मे आता है। जैसा कि ऋग्वेद मे कहा भी है—

> चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण ।
> त्रीणि गुहा निहिता नेङ्गयन्ति तुरीया वाच मनुष्या वदन्ति ॥

इनमे परा सूक्ष्मगत अवस्था है जिसकी तुलना अव्याकृत प्रकृति मे हो सकती है। जिसका चिदात्मक स्वरूप शुद्ध दीपशिखा की भाति निरवयव है। उसका ज्ञान समाधि दृष्टि से ही सम्भव है।

> यज्ञेन वाच पदवीयमायम् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् ।
> तामाभृत्या व्यदधु पुरुत्रा ता सप्त रेभा अभि सनवन्ते ॥

य साक्षात्कार करने वाले ऋषि ही थे जिनका ज्ञान त्रिकालाबाधित एव अतीन्द्रिय होता था। उन्ही को यास्क ने साक्षात्कृतधर्मा कहा है। उनकी समाधि या भावना म वाक् का जो रूप प्रकाशित होता है, वह पश्यन्ती है। उससे अपेक्षाकृत स्थूल किन्तु नादात्मक होने से अव्यक्त रूप ही मध्यमा है जो कि आकाश मे, जिसे आधुनिक विज्ञान ईथर कह कर पुकारता है रहती है। उसको प्रकृति प्रत्यय मे विभक्त नही किया जाता। तदनन्तर जो उसका व्यक्त रूप होता है, वह नाम-आख्यात, उपसर्ग-निपात इन विभागो मे विभक्त होता है। इसी का मानव बोलते है और वैखरी कहलाती है।

भट्ट तौत ने स्पष्ट शब्दो मे कवि को ही ऋषि कहा है और परा वाक् को प्रतिभा, शिव की इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मिका शक्ति का अस्पन्द एव अव्याकृत रूप माना है। जब उस प्रतिभा शक्ति के द्वारा वह विश्व के विविध रहस्यो का अपने मस्तिष्क मे साक्षात्कार करता है तो पश्यन्ती रूप है। इसके पश्चात् अन्तर्मन मे रचना का जो प्रारूप बनाता है वह मध्यमा है और कृति वैखरी है। इस प्रकार शब्दो के माध्यम से रची गई कृति का वह प्रजापति है जो कि अपनी इच्छा के अनुसार इस विश्व की सृष्टि करता है। आनन्दवधन ने कहा भी है—

अपारे काव्य-संसारे कविरेक प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ।।

कवि की प्रतिभा शक्ति से काव्य-रूप जगत् का उन्मीलन होता है। *अभिनव ने इस सत्य का इस प्रकार स्मरण किया है—*

यदुन्मीलन-शक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतन विश्रान्ता तां वन्दे प्रतिभां शिवाम् ।।
प्राज्य प्रोल्लासमात्रं सद् भेदैनापूर्यते यया ।
वन्देऽभिनवगुप्तोऽहं पश्यन्तीं तामिदं जगत् ।।

प्रतिभा के व्यापृत न होने के समय में कवि की अवस्था भागवत-प्रोक्त 'सुप्तशक्तिरसुप्तदृक्' वाली होती है। शक्ति के प्रबुद्ध होने पर पश्यन्ती वाली अवस्था आ जाती है। वैखरी का उदय आत्मा, बुद्धि, मन और मारुत के संयोग से उच्चरित शब्द के रूप में होता है। जैसा पाणिनि ने कहा है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि वैखर्यात्मक वायुरूप अभीष्ट अर्थ की विवक्षा से उच्चरित होता है। अतः कवि जब शब्द का प्रयोग करता है तो सोद्देश्य। उद्देश्य है विवक्षित अर्थ का बोद्धा के मस्तिष्क में संक्रामण। यह संक्रामण तभी सम्भव है जब बोद्धा में ग्राहिका शक्ति हो। सूर्यकान्त मणि या आतसी शीशा ही जैसे सूर्य की किरणों को ग्रहण कर सकता है, जड पाषाण आदि नहीं। इसी प्रकार सहृदय व्यक्ति ही कवि के आशय को ग्रहण कर सकता है।

कवि के आशय में प्रमुख मनोवेग होते हैं। स्थूल जगत् के पदार्थ आलम्बन या उद्दीपन विभाव के रूप में सम्बद्ध रहते हैं। मनोभाव चित्, आनन्दघन और प्रकाशरूप होते हैं। उनका बोध प्रकाशात्मक होगा। उससे सम्बद्ध पदार्थों का ज्ञान भी साकार होने पर पदार्थ होगा। पुनः प्रतिपत्ता के मनोमुकुर में प्रतिपाद्य पदार्थ का प्रतिफलन होता है। अर्थतावबोध्य वस्तु का स्वरूप जो वस्तुतः व्यवहार की वस्तु है मूर्त होता है, वह बोद्धा की अन्तर्दृष्टि के समक्ष स्मृति रूप में घूम जाता है। जैसे घट कहने से बोद्धा की अन्तर्दृष्टि में कम्बुग्रीव और पृथुबुध्नोदर पदार्थ की आकृति घूम जाती है। तभी

सामने घट को देखकर "अय घट" यह प्रत्यय होता है और पट से उसे पृथक् कर सकता है। इस प्रकार कवि अपनी कृति मे मूर्त या अमूत जिस विश्व का उन्मीलन करता है, वह सहृदय या सचेता के निर्मल मनोमुकुर म प्रतिबिम्बित होता है अथवा यो कहे कि उस पदार्थ की एक प्रतिमा प्रतिपत्ता के मानस मे उभर आती है। काव्य शब्द व्यापार का परिणाम है। शब्द के श्रवण या पठन से यह कार्य सम्भव होता है। इसीलिए काव्य के श्रव्य और दृश्य ये दो प्रकार माने गये है। काव्य-वर्णित विषय पाठक या सामाजिक को जब प्रत्यक्षवत भासित हो जाय तभी कवि की इतिकर्तव्यता पूर्ण होती है।

सहृदय के हृदय मे होने वाला काव्यार्थ का बिम्बन—मूर्तीकरण ही अभिनव गुप्त का साक्षात्कार या प्रत्यक्षकल्प सवेदन है। काव्य का प्राणतत्त्व चमत्कार साक्षात्कारात्मिका सवित् ही है। दृश्यकाव्य मे रङ्गमञ्च के वातावरण एव अभिनेता द्वारा किये गये चतुर्विध अभिनय से, श्रव्य काव्य मे दोष-हानि, माधुर्यादि गुण, अलङ्कार छन्द आदि के द्वारा सामाजिक के हृदय मे उद्बुद्ध भावो का काव्य मे प्रस्तुत भाव मे साधारणीकरण होने पर रसानुभूति मे इस काव्य-बिम्ब की निष्पत्ति होती है। भावो के चित और आनन्दघन एव प्रकाशात्मक होने से उनका उदय होने पर अन्तस् की जडता, शान्ति एव सङ्कोच की अवस्थाओ का लोप होकर एक अदभुत आनन्दात्मक स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमे लौकिक कटुता, घृणा, शोक आदि भाव सब प्रवाहित हो जाते है। पाश्चात्य समीक्षा-सम्मत कैथारसिस या विरेचनवाद का भी यही स्वरूप है।

काव्यार्थ का मूर्तीकरण या साक्षात्करण आधुनिक समीक्षा-शास्त्र मे काव्य-बिम्ब के नाम से प्रसिद्ध है। उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी मे यूरोप मे एक स्वच्छन्दतावाद का आन्दोलन (Romanticism की movement) चला था जिसके अन्तगत यह बिम्बवाद, काव्य की एक पृथक् प्रतीकात्मक (Symbolic) भाषा प्रचलित हुई। मनोविश्लेषण पर बल दिया जाने लगा। काव्य-बिम्बो, काव्य-प्रवृत्ति और अलङ्कार आदि की मूल-प्रवृत्ति के रूप म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आवश्यक हो गया। आई० ए० रिचर्ड्स् की "दि प्रिंसिपल्स आव लिटरेरी क्रिटिसिज्म और प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म" इन दानो रचनाओ मे भी मुख्य रूप मे यही दृष्टि रही है। ह्यूम, एज्रा पाउण्ड, एमी लावेल इन सबने काव्य-बिम्ब को बहुत महत्त्व दिया है। सी० डे० लेविस ने अरस्तू और ड्राइडन के काव्य-बिम्ब के सम्बन्ध मे विचार निम्नलिखित रूप से उद्धृत किए हैं—

The greatest thing by far is to have a command of metaphor This alone cannot be imparted by another it is the mark of genius —Aristotle

Imaging is in it self the very height and life of Proetry —Dryden

लविम स्वय यह स्वीकार करता है कि स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन से पूर्व किसी न इस बात को महत्त्व नहीं दिया था कि स्वय कविता अपने आप म एक बिम्ब है। इसम काव्य बिम्ब काव्य का अपरिहाय तत्त्व सिद्ध होता है। सस्कृत काव्यशास्त्र म चमत्कार का जो स्वरूप बताया गया है काव्य बिम्ब का उससे पथक नहा है। काव्य बिम्ब भी काव्य मे वर्णित पदार्थों की श्रोता या सामाजिक क मस्तिष्क म बनी एक मानस छवि है। यह चमत्कार के उपयुक्त लक्षण मे भिन्न नहा है। काव्य बिम्ब के लिए भी अनुभूति का स्पश आवश्यक है और चमत्कार भी सविद्रूप ही है। चमत्कार को काव्य का अपरिहाय तत्त्व आरम्भ स हा माना जाता रहा है। इसलिए वस्तुत भारत के लिए यह बिम्ब सिद्धान्त और प्रतीक प्रयोग कोई नई बात नही है।

पश्चिम क लिए वस्तुत स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन तात्कालिक परिस्थितिया के रूप म एतिहासिक महत्त्व रखता है। परन्तु भारत म उसके सङ्क्रमण और प्रसार का हतु पाश्चात्य साहित्य से सम्पर्क होना है। अग्रजी और फ्रासीसी साहित्य का आधुनिक भारतीय साहित्य पर बहुत प्रभाव पडा है। आज का हिन्दी साहित्य ता यदि सच पूछा जाय तो इस प्रभाव की ही देन है। उपन्यास, लघुकथा सस्मरण रिपोर्ताज निबन्ध समीक्षा आत्मकथा तो अग्रजी साहित्य मे आइ हा है कविता म भी शैली विषय वस्तु और भाव सब पर अग्रजी साहित्य की छाप पडी है। फलत हिन्दी समीक्षा के लिए बिम्बवाद और प्रतीकवाद नई वस्तु ही हैं।

सस्कृत साहित्य पर यह पश्चिमी प्रभाव अपेक्षाकृत न्यून मात्रा मे है। भले ही नई शैली म काव्य रचना नाटक उपन्यास, निबन्ध, लघुकथा आदि लिखी जा रही हैं। किन्तु उसम समीक्षा अभी भी प्राचीन पद्धति स ही चल रही है। फलस्वरूप काव्य बिम्ब पर काव्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य म अध्ययन नही क बराबर हुआ है। बहुत वष पहले सुब्रह्मण्यम ऐयर ने वाल्मीकि रामायण म काव्य बिम्ब को लेकर एक शोधपत्र लिखा था परन्तु उसकी पृष्ठ भूमि क रूप म काव्यशास्त्र मे बिम्ब सम्बन्धी विचार को उन्होने छुआ तक नही। इसी प्रकार कई शोधको ने कालिदास के काव्यो मे काव्य बिम्बो की खोज की है पर काव्यशास्त्र म इस प्रकार के तत्त्व थे या नही, इस पर उन्होने विचार

ही नहीं किया। वास्तव में इस प्रकार की समीक्षा आधारशिला के बिना भवन-निर्माण से भिन्न नहीं है। कालिदास और भवभूति से आइ० ए० रिचर्ड्स और टी० एस० इलियट के विचारों से अवगत होने की आशा करना पोते की जीवन गाथा से दादा के विवाह के संस्मरण खोजने के समान है। जब वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक संस्कृत काव्य तक काव्य-बिम्ब पाये जाते हैं तो इसका कारण क्या है? यदि काव्य बिम्ब-सम्बन्धिनी धारणा ही उस समय न थी तो कवियों में यह प्रवृत्ति कहाँ से आ गई, इस बात पर विचार किए बिना लोगों ने यह विचार बना लिया कि संस्कृत-साहित्य में काव्य-बिम्ब सम्बन्धी भावना ही न थी। उन्होंने यह विचारने का कष्ट न किया कि मानव-मस्तिष्क समान है। जो विचार एक देश या युग के व्यक्तियों के मन में आते हैं, वे दूसरे देश युग के व्यक्तियों के मन में भी आ सकते हैं। पुन यह भी आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र एक ही प्रकार या परिभाषा में वह मिले। अन्य शब्दों और संज्ञा में भी उस पर विवेचन सम्भव है। वैसे अन्तर यहाँ तक है कि अधिकांश पाश्चात्य समीक्षकों ने बिम्ब-विधान को कवि की अतिरिक्त उपलब्धि माना है जबकि भारतीय शास्त्र की दृष्टि से यह काव्य का अनिवार्य तत्त्व है।

इस बात में कोई विमत न होगा कि संस्कृत का अलङ्कार-शास्त्र विश्व की किसी भी भाषा के समीक्षा-शास्त्र से समृद्धतम है। काव्य-तत्त्वों और काव्य में पाई जाने वाली प्रवृत्तियों का जितनी गहराई से विश्लेषण उसमें हुआ है, उतना कहीं नहीं है। अकेले अलङ्कारों को ही लेकर उसमें गम्भीर विवेचन हुआ है फिर वैदिक काव्य से लेकर आधुनिक काव्य तक पाई जाने वाली बिम्ब-विधान की इस व्यापक प्रवृत्ति को उन आचार्यों ने सर्वथा अस्पृष्ट छोड़ दिया हो, यह कैसे सम्भव है?

सौभाग्य से इन पिछले कुछ वर्षों में मनीषियों का इधर कुछ ध्यान गया है। डा० सुधीशङ्कर भट्टाचार्य का शोध प्रबन्ध "इमेजरी इन महाभारत" में पृष्ठ-भूमि में संस्कृत काव्य-शास्त्र में इस प्रवृत्ति को खोजने का यत्न हुआ है। रस-सिद्धान्त का मान्य साधारणीकरण व्यापार उसमें काव्य-बिम्ब के प्रमुख साधन के रूप में मान्य हुआ है। तदनन्तर डा० रमारञ्जन मुकर्जी की महत्त्वपूर्ण कृति "पोयटिक इमेजरी, ऐन इण्डियन ऐप्रोच" काव्यबिम्ब के सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर प्रकाशित हुई है जिसमें भारतीय दर्शन और काव्य शास्त्र के आधार पर इस बिम्ब-वाद की प्रतिष्ठा करने का यत्न किया गया है। आनन्दवर्धन के शब्दों की इस दृष्टि से व्याख्या की गयी है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

जब मैं पी एच० डी० के लिए वाल्मीकि रामायण पर शोध कर रहा था, उन्हीं दिनों श्री अखौरी ब्रजनन्दन प्रसाद की पुस्तक 'काव्यात्मक बिम्ब' देखने में आयी। उसमें उन्होंने लिखा था कि रस के प्रति आग्रह के कारण भारतीय साहित्याचार्यों ने काव्य-बिम्ब के महत्त्व को समझने में असमर्थता दिखाई है। मुझे यह खटका और कुछ पृष्ठ इस विषय पर अपने शोध प्रबन्ध में भी लिखे। बाद में अपने अनेक मित्रों से इस विषय में फैली भ्रान्ति को दूर करने के लिए प्रेरणा मिली। यद्यपि हिन्दी क्षेत्र के समर्थ एवं प्रख्यात आलोचक डा० नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक काव्य बिम्ब में स्पष्ट स्वीकार किया है कि लक्षणा, व्यञ्जना, वक्रोक्ति ध्वनि एवं बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की मान्यता स्पष्ट ही बिम्ब सिद्धान्त के निकट है। तब भी यह उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार नहीं किया कि हमारे काव्यशास्त्र में एतत्सम्बन्धी विवेचन हुआ है। हाँ, प्रो० रामगोपाल शर्मा ने एक शोध-पत्र में बड़ी विद्वत्ता से संस्कृत काव्यशास्त्र में बिम्ब-सम्बन्धी विवेचन की विद्यमानता सिद्ध की है। कुछ अन्य मनीषियों ने भी अलङ्कारों के प्रसङ्ग में इस विषय का स्पर्श किया है परन्तु किसी विद्वान ने काव्य-शास्त्र का इस दृष्टि से सर्वाङ्गीण अध्ययन किया हो ऐसा मेरी दृष्टि में अभी कोई ग्रन्थ नहीं आया है।

साहित्य शास्त्र के अध्ययन के प्रसङ्ग में कई बार ये प्रश्न सामने आये थे कि आचार्यों ने रस और गुणों के लिए कुछ निश्चित ध्वनियों का ही प्रयोग क्यों निश्चित किया? वक्ता, वाच्य आदि के अनुसार औचित्य देखकर विशेष बन्ध की रचना का क्या अर्थ है? पुनः स्वभावोक्ति, अत्युक्ति और भाविक इन अलंकारों एवं गुणों से वस्तु के साक्षात्कार का क्या तात्पर्य है? व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति किस रूप में होती है? स्फोट में ध्वनि का सम्बन्ध किस रूप में है? हतवृत्त आदि दोषों का वास्तविक रहस्य क्या है? वाल्मीकि-रामायण में उसके गान के प्रसङ्ग में जो उसका प्रभाव लिखा है "प्रत्यक्षमिव दर्शितम्" इसमें भी प्रश्न उठता है कि अतीत की घटना शब्द-श्रवण-मात्र में कैसे प्रत्यक्ष हो जाती है? इन सभी प्रश्नों पर इस ग्रन्थ में विचार करने का अवसर मिला है। इसके मूल में स्थित दार्शनिक सिद्धान्तों को भी उपयोगिता की दृष्टि से परखा है। चमत्कार शब्द का काव्य शास्त्री दीर्घ काल में प्रयोग करते चले आये हैं पर वास्तव में वह होता क्या है और उसका स्वरूप क्या है? अलङ्कार के मूल में अलभाव का क्या तात्पर्य है? इन सभी प्रश्नों पर अपनी दृष्टि से विचार किया है। प्राचीन आकर ग्रन्थ और टीकाओं में इसके आधार भी मिले हैं, उन्हीं के

सहारे मैं आगे बढा हूँ। मुझे इस यत्न मे कितनी सफलता मिली है, इसका निर्णय सद्-सद्-व्यक्ति-हेतु और गुण-ग्राही विद्वान् ही करेंगे। यह मैं इसलिए लिख रहा हू कि संस्कृत-क्षेत्र मे अभी शोध-कार्य किसी रूढि से बधा हुआ है। कोई यदि नई बात कहता है तो लोग उसे सुनने को भी उद्यत नही होते। कुछ मात्सर्यवश अपनी अशक्ति छिपाने मात्र के लिए केवल दोष ही ढूंढते हैं। हिन्दी का क्षेत्र इस सम्बन्ध मे उदार है। इस कारण वह साहित्य के सभी अङ्गो से नित्य समृद्ध हो रहा है। आज आवश्यकता है नये परिवेष मे उस प्राचीन महासागर से नये रत्न खोजने की। देवासुर-कृत मन्थन से तो स्थूल रत्न ही निकले थे। यह ठीक है कि प्रश्नानुप्रश्न के द्वारा नई मान्यता को प्रामाणिकता देने से पूर्व ठोक बजाकर परख लिया जाय कि वह कितने सुदृढ आधार पर टिकी हुई है।

इस प्रसङ्ग मे मैं यह निवेदन करना चाहूँगा कि इस शोध-प्रबन्ध में अनेक अलङ्कार ग्रन्थो की चर्चा नही हुई है, उसका कारण एक तो यह है कि अनेक ग्रन्थो मे तो पिष्ट-पेषण के अतिरिक्त कोई मौलिकता नही मिलती। कुछ ग्रन्थ यत्न करने पर भी सुलभ न होने म अध्ययन के विषय नही बन सके। विशेषकर अलङ्कार-साहित्य के ग्रन्थ जिनकी प्रामाणिकता निर्विवाद है, प्रमुख रूप मे इसके आधार रहे हैं। इसलिए यदि कुछ ग्रन्थो की चर्चा इसमे न आयी हो तो विस्मय की बात नही है। अंग्रेजी एव हिन्दी के समीक्षको की कृतियो को भी ग्रन्थ सामग्री के स्रोत के रूप मे अपनाया गया है। वैसे अपना दृष्टिकोण गीता के "यावानर्थ उदपाने" आदि श्लोक वाला रहा है। अपने विषय से जिसका सीधा सम्बन्ध रहा है, उसके भी सूक्ष्म अश को ही अपनाया है। क्योकि मूल प्रयोजन तो काव्य-सिद्धान्तो का काव्य-बिम्बो के प्रसङ्ग मे अध्ययन है। विषय का एकत्रीकरण नही। उदाहरणो मे कही-कही आधुनिक कवियो एव लेखको की रचनाओ से भी उदाहरण दिए है। अवकाश की सीमा के कारण सबसे लेना सम्भव नही हो सका है।

इस कार्य म जिन विद्वानो के ग्रन्थ मेरे लिए प्रकाश-स्तम्भ रहे हैं, भले ही कही उनकी आलोचना भी करनी पड गयी है, परन्तु सामग्री के स्रोत रहे है, उन सभी का मैं कृतज्ञ हूँ। इसी प्रसङ्ग मे डा० सत्यव्रत शास्त्री, डा० विश्वनाथ भट्टाचार्य, डा० कैलाशपति त्रिपाठी आदि अनेक विद्वानो से इस विषय म विचार विमर्श हुआ है। स्व० डा० ओम प्रकाश शास्त्री, श्री द्विजेन्द्रनाथ निर्गुण आदि से भी नये सुझाव मिले है। इन सभी का मैं बडा आभारी हूँ। विशेषकर जम्मू विश्वविद्यालय की संस्कृत विभागाध्यक्षा डा० वेद कुमारी घई एव वहाँ के

तत्कालीन डीन डा० समीर चन्द्र, अध्यक्ष हिन्दी विभाग का मैं उपकृत हूँ जिन्होंने इस शोध-प्रबन्ध को अपने विश्वविद्यालय में प्रस्तुत करने के लिए मुझे अनुमति दिलाई।

इस शोध प्रबन्ध की भूमिका संस्कृत भाषा के सतत आराधक, देश विदेश में विख्यातकीर्ति डा० सत्यव्रत शास्त्री प्रोफेसर आव संस्कृत दिल्ली विश्वविद्यालय एवं भूतपूर्व उपकुलपति संस्कृत विश्वविद्यालय पुरी ने अपनी व्यस्तता के अमूल्य समय में कृपाकर लिखी है। डा० साहब ने आरम्भ में ही इस शोध प्रबन्ध में गहरी रुचि ली है। अतः समझ में नहीं आता कि उनका आभार किन शब्दों में प्रकट करूँ।

आज कल भारत में शोध प्रबन्धों की प्राय दुर्गति हो रही है। ८५% शोध प्रबन्ध अप्रकाशित रह जाते हैं। पाठकों के अभाव और लाभ की संभावना न होने से प्रकाशक उनके प्रकाशन से कतराते हैं। इस स्थिति में हमारे मित्र श्री राजीव गर्ग अध्यक्ष राधा पब्लिकेशन ने इसके प्रकाशन का भार लेकर बड़ा साहस किया है। अपनी ओर से इसका प्रकाशन सुचारु रूप से करने का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया है। परन्तु शोध प्रबन्ध का सम्बन्ध संस्कृत से होने से— इतना सब-कुछ करने पर भी मानव के ज्ञान शक्ति एवं साधना की सीमितता के कारण कुछ त्रुटियाँ ग्रन्थ में अवश्य रह गयी होंगी। इसके लिए मैं मनीषियों से कर-बद्ध क्षमा याचना करता हूँ।

निवेदक
शिव प्रसाद भारद्वाज

सक्षेप-निर्देशिका

अको०—अमरकोष
अखौरी—अखौरी ब्रजनन्दन प्रसाद
अपु०—अग्निपुराण
अचि०—अलङ्कार चिन्तामणि
अथ०—अथर्ववेद
अप्पय०दी०चिमी०—अप्पयदीक्षित चित्र-मीमांसा
अ०पु०—अग्नि पुराण
शाकु०—अभिज्ञान शाकुन्तल
अमरु०—अमरुशतक
अमहो०—अलङ्कार-महोदधि
अर०—अलङ्कार-रत्नाकर
अरागो०—अभिनवरागगोविन्द
अल०मी०—अलङ्कार-मीमांसा
अलशे—अलङ्कार-शेखर
अस०—अलङ्कार-सर्वस्व
अस०विम०सहि०—अलङ्कार-सर्वस्व विमर्शिनीसहित
उद्यो०—उद्योत
उच०—उत्तररामचरित
उच०प्रस्ता०—उत्तररामचरित प्रस्तावना
ऋग्०—ऋग्वेद
ऋक्प्रा०, उ०भा०—ऋक्-प्रातिशाख्य उत्तरभाग
एका०—एकावली
ऐ०उ०—ऐतरेय उपनिषद्
औवि०—औचित्यविचारचर्चा
क० कण्ठा०—कविकण्ठाभरण
का०—कादम्बरी
काकवृ०—काव्य-कल्पलतावृत्ति
का०द०—काव्यादर्श
कानु०—काव्यानुशासन
का०नु०वि०—काव्यानुशासन-विवेक
काप्रका०—काव्यप्रकाश
का०प्र०उ०—काव्यप्रकाश उद्योत
का०प्र०का०उ०—काव्यप्रकाश उदाहरण
का०प्रदी०—काव्य-प्रदीप
का०बि०—काव्य-बिम्ब
कामा०—काव्यमाला
का०मी०—काव्य-मीमांसा
कालसू०—काव्यालङ्कार-सूत्र
कालि० शृति०—कालिदास शृङ्गार तिलक
काव्या०बिम्ब०—काव्यात्मक बिम्ब
काव्याल०स०कालस० कासास०—काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह
कास०—काव्य समीक्षा
का०सा०सवृ०—काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रहवृत्ति
कासू०—काव्यालङ्कारसूत्राणि
कासूवृ०—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति
किरा०—किरातार्जुनीय
कुम०—कुमारसम्भव
कुवल०—कुवलयानन्द

कु०स०—कुमारसम्भव
कौभ० वैभूसा०—कौण्ड भट्ट वैयाकरणभूषणसार
गम०—गणपतिसम्भवम्
गीगो०—गीतगोविन्द
चन्द्रा०—चन्द्रालोक
चारु०—चारुदत्त
चौख० स०—चौखम्बा संस्करण
चौप्र०—चौखम्बा-प्रकाशन
छान्दो०—छान्दोग्य उपनिषद् छाया-वादोत्तरकाव्य में बिम्ब-विधान
ज्वाप्र०—ज्वाला प्रसाद
टि०—टिप्पणी
तस०—तर्कसंग्रह
तसदी—तर्कसंग्रहदीपिका
तस०प्र०ख०—तर्कसंग्रह प्रत्यक्ष खण्ड
तभा०—तर्कभाषा
तु०—तुलनीय
तैत्ति० आ०—तैत्तिरीय आरण्यक
द०कु०च०—दशकुमारचरित
दर्प०—दर्पण
दरू०—दशरूपक
द्र०अ०—द्रष्टव्य अध्याय (परिच्छेद)
ध्वन्या०दिव्या०—ध्वन्यालोक दिव्याञ्जना टिप्पणी
नागा०—नागानन्द
नाप्रस०—नागरी-प्रचारिणी सभा
नाशा०—नाट्यशास्त्र
नि०—निरुक्त
नीश०—नीतिशतक
न्या०सू०भा०—न्यायसूत्र भाष्य
पा०—पाणिनीय अष्टाध्यायी
महा०—पातञ्जल महाभाष्य
पाधा०—पाणिनीयधातुपाठ
पाशि०—पाणिनीयशिक्षा
पा०सू०—पातञ्जल योगसूत्र
पू०पी०—पूर्वपीठिका
पृ०—पृष्ठ
प्रका०—प्रकाशन
प्र०भाग०—प्रथम भाग
प्ररा०प्रस्ता०—प्रसन्न-राघव प्रस्तावना
प्रस्ता०—प्रस्तावना
प्रहृ०—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
बलदे०उ०साशा०इ०—बलदेव उपाध्याय, साहित्य-शास्त्र का इतिहास
बाच०—बालचरित
बु०च०—बुद्धचरित
बृह०—बृहदारण्यक
बृह०स्तो०—बृहत्स्तोत्ररत्नाकर
भश०—भल्लट शतक
भा०—भाग
भाका०—भामह काव्यालङ्कार
भा०पु०, भाग०—भागवत पुराण
भावि०—भामिनी-विलास
भामाशको०—भारतीय साहित्य-शब्द-कोष
भास०—भारत-सन्देश
म० श्लो०—मङ्गलश्लोक
मवी०च०—महावीर-चरित
मध्या०वि०शा०—मध्यान्त-विभाग-शास्त्र

मनु०—मनुस्मृति
म०भा०—महाभारत
ममच०—मन्दार-मरन्द-चम्पू
महा०—महाभाष्य, पातञ्जल महाभाष्य
माण्डूक्य—माण्डूक्य-कारिका
मामा०—मालती-माधव
मालवि०—मालविकाग्निमित्र
मुरा०—मुद्रा-राक्षस
मृच्छ०—मृच्छकटिक
मे०च०ल०दास०—मेहरचन्द लक्ष्मण-दास
मेद्०—मेघदूत
मो०ना०प्र०ग्री०शु०—मानी लाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित बद्रीनाथ-शुक्ल कृत
मो०विलि०—मानियर विलियम संस्कृत-इंग्लिश कोष
यजु०—यजुर्वेद
यानि०—यास्क निरुक्त
याम्मृ०—याज्ञवल्क्यस्मृति
यो सू०पा०—योगसूत्र पाद
रग०—रसगङ्गाधर
रग०नि०—रसगङ्गाधर निर्णय-सागर संस्करण
रघु०—रघुवंश
रद०—रत्नदर्पण
रा०च०—रामचरित
रामा०—रामचरितमानस
रीका—रीतिकालीन काव्य की भूमिका
रुका०—रुद्रट, काव्यालङ्कार
लो०—लोचन
लो० एव बाप्रि०—लोचन एव बालप्रिया
वजी०—वक्रोक्तिजीवित
वा० दत्ता०—वासवदत्ता
वाप०—वाक्यपदीय
विक्र०, विक्रमा०—विक्रमोर्वशीय
विप्रस०—विवरण प्रमेयसङ्ग्रह
विम०—विमर्शिनी टीका
विमासि०—विज्ञप्तिमात्रिका-सिद्धि
विश्व०स० विम०—विश्वसंस्कृतम्
विम०नव०—विश्वसंस्कृतम् नवम्बर
वृवा०—वृत्तिवार्तिक
वप०—वदान्ति परिभाषा
वस०—वेणी संहार
वलम०—वैयाकरण-लघु-मञ्जूषा
वैसिम०—वैयाकरण सिद्धान्तमञ्जूषा
व्यवि—व्यक्तिविवेक
शत०ब्रा०—शतपथ-ब्राह्मण
शव्पा०वि०—शब्द व्यापार-विचार
शाकु०—अभिज्ञान-शाकुन्तल
शिता०स्तो०—शिवताण्डवस्तोत्र
शिरावि०—शिवराजविजय
शिव०—शिशुपालवध
शृप्र० भा—शृङ्गार प्रकाश भाग
शृव०—शृङ्गारगणवचन्द्रिका
श्रत०—श्रुतबोध
श्वेता०उप०—श्वेताश्वतर उपनिषद्
स०—संस्करण
सङ्गीतद०रागाध्या०—सङ्गीत-दर्पण रागाध्याय
सञ्जी०—सञ्जीवनी

सर० (उ०)—सरस्वतीकण्ठाभरण उदाहरण
सदस०—सदसनमट ग्रह
सा०का०—साख्य-कारिका
सासि०—साहित्य-सिद्धान्त
सासुसि०—साहित्यसुधासिन्धु
सासुसि०भू०—साहित्यसुधासिन्धु भूमिका
सिकौ०—सिद्धान्तकौमुदी
सिकौ०बाम०—सिद्धान्तकौमुदी-बाल-मनोरमा-सहित
सिमु०—सिद्धान्त-मुक्तावली
सुरा०—सुभाषित रत्नभाण्डागार
सुवृति०—सुवृत्ततिलक
सौन०—सौन्दरनन्द
स्त०—स्तम्भ
स्व०वि०—स्वराज्य-विजय
ह०च० एक अध्ययन—हर्ष-चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन
हनु०ना०—हनुमन्नाटक
हच—हर्षचरित
हि०व्या०—हिन्दी-व्याख्या

Col —Column
Dec - December
HSL —History of Sanskrit Literature
Ima in Poetry—Imagery in Poetry
Im in Maha —Imagery in Mahabharata
Im of Kal —Imagery of Kalidasa
IP —Imagery in Poetry
Pict Poetry—Pictorial Poetry
Poe, Im —Poetic Image
Prin Lit Cri —Principles of Literary Criticism
S C A S —Some Concepts of Alankar Shastra
The Poe Im —The Poetic Image
VIJ—Vishveshvaranand Indological Journal, Hoshiarpur
Vol —Volume
West Aesth —Western Aesthetics

प्रथम परिच्छेद

बिम्ब का स्वरूप, भारतीय एव पाश्चात्य धारणा, प्रकार

शब्द की महिमा—इस विराट ससार मे समस्त मानव-समाज को परस्पर सम्पृक्त करने का महत्तम साधन शब्द है। वह एक ओर भावो के पारस्परिक आदान प्रदान का माध्यम है, दूसरी ओर ज्ञान राशि के प्रसार का असाधारण द्वार। इस शब्दात्मक प्रकाश के अभाव म यह त्रिलोकी निश्चित ही अज्ञान रूपी अन्धकार मे मग्न हो गई होती।[1] हमारी परम्परा के अनुसार इस दृश्यादृश्य ब्रह्माण्ड के आरम्भ मे सर्वप्रथम वाणी का ही आविर्भाव हुआ था। जिस के आधार पर स्रष्टा ने चराचरात्मिका सृष्टि का सृजन किया और समस्त पदार्थो का नाम प्रदान किया[2]। आज भूमण्डल पर उपलब्ध ज्ञान राशि म वेदो को प्राचीनतम माना जाता है, वह भी वाड्मय का ही अड्ग है। यहा तक कहा गया है कि वेदो मे ही सामग्री लेकर सारी वैदिक और सामाजिक सस्थाए प्रतिष्ठित की गई[3]। वेद का मूल प्रतीक ओड्कार जो ब्रह्म का वाचक माना जाता है, शब्द ही है[4]। इस प्रकार वैयाकरण, वेदान्ती, सगीतज्ञ, भाषावैज्ञानिक और कवि सब अपने-अपने ढड्ग मे शब्द-ब्रह्म के ही उपासक है।

---

१ इदमन्ध तम कृत्स्न जायेत भुवनत्रयम। यदि शब्दाह्वय ज्योतिरासमसार न दीप्यते। काव्या० १,४

२ सर्वेषा तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्। वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् सस्थाश्च निर्ममे॥ मनु० १,२१

३ तस्य ह्यासस्त्रयो वर्णा अकाराद्या भृगूद्वह। धार्यन्ते यैस्त्रयोलोका गुणनामार्थवृत्तय ॥भापु०, १२,६,४२

४ त्रेतामुखे महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमास त्रिवृन्मुख ॥ वही, ११ १६ ११
तथा—ततोऽभूत् त्रिवृदोड्कारो यो व्यक्तप्रभव स्वराट्।
यत्तल्लिड्ग भगवतो ब्रह्मण परमात्मन ॥ भापु० १२,६,३९

वाणी के चार रूप—शब्द ही वाणी के नाम से पुकारा जाता है। वेद में वाणी के या उच्चारणीय शब्द के चार प्रकार गिनाये गये हैं[1]। परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी। इनमें प्रथम तीन अव्यक्त रूप हैं। परा इनमें सूक्ष्मतम है। उच्चारण और श्रवण का विषय बनने वाली वैखरी ही है। भाष्य ने इनके नाम स्पष्ट किये हैं।[2]

उच्चारण का विषय शब्द व्यक्त और नाद इन दो रूपों में व्यवहार में आता है। जब शब्द के प्रत्येक वर्ण स्वर आदि के स्पष्टीकरण से कुछ ज्ञान हो वह व्यक्त कहलाता है। जैसे—राम वल्लरी पुरी अध्यापक आदि[3]। किन्तु अर्थबोध से रहित एवं केवल श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य रूप नाद कहलाता है। नाद शब्द की निरुक्ति भी अव्यक्त शब्द के वाचक णद धातु से हुई है[4]। तार प्रणाली आदि में यद्यपि नाद से भी अर्थबोध होता है परन्तु वे सांकेतिक होते हैं और सामान्य ज्ञान से सबबोध्य नहीं होते। ऐसे शब्दों को (Code word) ही कहते हैं। वे सामान्य भाषा के अङ्ग नहीं समझे जाते।

व्यक्त शब्द के भी दो रूप होते हैं—एक चक्षुग्राह्य दूसरा श्रोत्र ग्राह्य। चक्षुग्राह्य रूप लिपि कहलाता है और श्रोत्रग्राह्य रूप ध्वनि। इस लिपि और ध्वन्यात्मक शब्द के द्वारा ही समस्त ज्ञान विज्ञान राशि सुरक्षित किया जाता है।[5] ज्ञान यद्यपि प्रकाशात्मक है और बुद्धि एवं हृदयग्राह्य है जो स्वतः अन्तरात्मा में आभासित होता है तथापि उसका संचारण और प्रसारण

---

1 चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥
—ऋक् १ १६४ ४

2 तु०—अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ वाप० १ १
किं पुनस्तद् ब्रह्म शब्दब्रह्म उच्यते। शब्दब्रह्मणश्चतस्रोऽवस्था वैखरी मध्यमा पश्यन्ती सूक्ष्मेति। प्रदी० भा० २ पृ० ३६७

3 तु — व्यक्तवाचां समुच्चारणे। पा० १ ३ ४८

4 णद अव्यक्ते शब्दे धातुपा० ५४

5 न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥
शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतायते ॥ वा० प० १ १२३ ११८
तु०—आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते।
तथैव सर्वशब्दानामेतत् पृथगवस्थितम् ॥ वही १ ५५

सूक्ष्मानुभूति के द्वारा सभव नही है। पुन विस्मृति आदि द्वारा उसका लोप भी हो जाता है।[1] अत सुरक्षा के लिए ग्रन्थ रूप मे उसको लिपिबद्ध करना ही पडता है जो कि वाड्मय की सज्ञा धारण करता है।

वाणी भाव-प्रकाशन का साधन है—विधाता की इस नाम रूप क्रियात्मक विशाल सृष्टि मे मानव को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। क्योकि उसे समझने के लिए बुद्धि अनुभव के लिए हृदय एव भाव-प्रकाशन के लिए वाणी दी है। इतना विशाल वाड्मय जिसमे विज्ञान, दर्शन, व्याकरण, काव्य आदि सभी कुछ सम्मिलित है, केवल मानव के लिए है। वही उसकी रचना करता है और वही उसका सदुपयोग भी। सृष्टि के अन्य प्राणी उसके उपकरण मात्र है। इसलिए उसे सृष्टि का श्रृङ्गार कहते है। केवल इसलिए कि वह हृदय मे सुख दुख, हर्ष-शोक, प्रेम और घृणा आदि भावो का अनुभव करता है, शिव अशिव, पाप-पुण्य, हानि-लाभ, जय-पराजय, मित्र-शत्रु आदि द्वन्द्वो का विवेचन करता है और अपने इन अनुभवो को वाणी मे आबद्ध करता है उस माध्यम से समाज तक पहुँचाता है।

इसका तात्पर्य यह नही है कि पशु पक्षी अपने उद्गारो को शब्द द्वारा प्रकट नही करते। वे भी करते है। वैशाखनन्दन जब मस्ती मे आता है तो कान खडे करके अपना 'हूच्-हूचू' का राग अलापता है गाय-भैसे भूख प्यास लगने पर या अपनी सन्तति की स्मृति आने पर रभा कर अपनी भावाभिव्यक्ति करती है। कुत्ता अपरिचित व्यक्ति को द्वार पर देखकर अपना रोष प्रदर्शन करता है या मार खाने पर काव काव करके वेदना प्रकट करता है परन्तु इन सभी का यह भाव-प्रकाशन अव्यक्त वाणी मे ही होता है। तोता मैना आदि पक्षी अभ्यस्त शब्दो का उच्चारण करते अवश्य है पर अबोधपूर्वक। उन्हे यह ज्ञान नही होता कि इसका अर्थ क्या है और इस अवसर पर ये शब्द कहने चाहिये या नही। मनुष्य को भी इसी प्रकार बिना सोचे समझे कुछ कहने पर पशु या पशुसाधारण कह दिया जाता है। इसलिए मानव की ही यह विशेषता है कि वह हृदय, बुद्धि के सयोग मे ही किसी शब्द का उच्चारण करता है। अत उसका उच्चारित शब्द साभिप्राय होना चाहिए।[3]

---

१ तु०—पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिमन्त्रो वेदे। नि० १,२

२ यत्र वाचो निमित्तानि चिह्नानीवाक्षरस्मृते।
शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत ॥ वाप० १,२०

३ तु०—आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मन कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ पा० शि० ५

भावावेशवशात् यदि उसके मुख से कोई अस्पष्टार्थक शब्द या ध्वनि निकल भी जाती है तो भी उसमें किसी भाव का अवबोधन किया ही जाता है। अतः मानव प्रयुक्त वाग्रूप ही वाङ्मय कहलाता है।

सार्थक शब्द ही प्रयोगार्ह—पहले कहा जा चुका है कि शब्द का प्रयोग भावों के आदान प्रदान एवं अपने विचारों को दूसरे व्यक्ति तक सम्प्रेषण के लिए होता है। अतः मानव जिस शब्द का प्रयोग करता है वह सोद्देश्य होता है। यदि शब्द उस उद्दिष्ट आशय को अवबोध करा सकता है हम उसको सार्थक कहेंगे अन्यथा निरर्थक। इसलिए वाङ्मय में विशेषरूप से सार्थक शब्द ही प्रयुक्त होते हैं। कभी कभी कवि छन्द पूर्ति के लिए भी ऐसे निरर्थक शब्दों का प्रयोग किया करते हैं। किन्तु उसकी संख्या अत्यन्त अल्प मात्रा में होती है। इतना होने पर भी ऐसे शब्दों के प्रयोक्ता कवियों को असमर्थ कवि ही समझा जाता है।[1]

वाङ्मय की रचना में बुद्धि एवं हृदय अथवा विचार और भावना का पूर्ण योग रहता है। किन्तु कभी बुद्धि अथवा मस्तिष्क की प्रधानता होती है तो कभी भावना की। शास्त्र अथवा विज्ञानात्मक ग्रन्थों में विचार या बुद्धि-तत्त्व प्रबल रहता है। उसमें किसी भी बात को तर्क की तुला पर तोल कर कहा जाता है। भावावेश वहाँ काम नहीं देता। मनोविज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों में भावावेश की स्थिति आदि का विश्लेषणमात्र किया जाता है। अतः वे भी तर्क प्रधान होते हैं।[2]

काव्य भावप्रधान—भावना प्रधान वाङ्मय ही काव्य या साहित्य की

---

१ तु०—अभ्यासात् प्रतिमाहेतुः शब्दः सर्वोऽपरः स्मृतः।
बालानां च तिरश्चां च यथार्थप्रतिपादने॥ वाप०, २,११७

२ तु०—वैज्ञानिक अपने सिद्धान्त निरूपण के लिए और कवि स्वानुभूत अनुभूतियों में अपने पाठकगण को उद्वेलित करने के लिए जिस प्रकार की भाषाओं का प्रयोग करते हैं उनमें पर्याप्त अन्तर है। हम भाषा का व्यवहार दो प्रकार में करते हैं सर्वप्रथम भाषा का व्यवहार उस कथन में भी होता है जिसका उद्देश्य केवल विचारों को सम्प्रेषित करना है, भाषा का दूसरे प्रकार का व्यवहार हम इसलिए करते हैं कि उसमें भावनाओं और दृष्टिकोणों का जन्म हो। भाषा के पहले प्रयोग को आई०ए० रिचर्ड्स ने वैज्ञानिक (Scintific) तथा दूसरे व्यवहार को भावपरक (Emotive) कहा है। काव्या० वि० पृ० २१

संज्ञा में व्यवहृत होता है। उसमें कवि का हार्दिक भाव अथवा लौकिक विषयों के सम्पर्क में आने पर अथवा परिस्थिति विषय में उद्भूत संवेदन, सौन्दर्य-असौन्दर्य की अनुभूति, हर्ष शोक, राग द्वेष आदि मनोवेग शब्दों के माध्यम से गद्य या पद्य की भाषा में अभिव्यक्त किए जाते हैं।[1] मानसिक अनुभव क्योंकि सूक्ष्म होते हैं, उन्हें ज्यों का त्यों समाज के समक्ष प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। अतः साहित्यकार उन अनुभवों की पृष्ठभूमि के रूप में कोई घटना-चक्र प्रस्तुत करेगा, इस प्रसङ्ग में उस घटनास्थल, प्रस्तुत वातावरण, घटना से सम्बद्ध व्यक्ति विशेष, उनके स्वरूप, वेषभूषा, स्वभाव आदि का विवरण, घटनाओं का पौर्वापर्य, व्यक्तियों की क्रिया प्रतिक्रिया, परिणामस्वरूप होने वाला प्रभाव आदि सभी का अनुक्रम से विवरण देना होता है। साथ ही उसे इस बात का भी ध्यान रखना होता है कि उसका पाठक या श्रोता उसकी कृति में रुचि ले रहा है या नहीं। इस उद्देश्य से वह प्रसङ्गों को रोचक युक्ति-सङ्गत और हृदयस्पर्शी रूप देता है जो पाठक या श्रोता को आकृष्ट कर सकें। बहुधा उसके प्रसङ्ग या वर्णन अलौकिक सामान्य होते जिनसे वह विस्मय की सृष्टि करता है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए साहित्यकार प्रभावशाली एवं अपेक्षित भाव प्रकाशन में समर्थ शब्दों व ध्वनियों का प्रयोग करता है, अपनी कल्पनाशक्ति से अदृष्टपूर्व एवं अश्रुतपूर्व पदार्थों की उद्भावना करता है।[2] फलस्वरूप साहित्यकार का अपेक्षित भाव पाठक श्रोता या द्रष्टा तक पहुँचता है। जो संवेदन साहित्यकार को हुआ वही पाठक आदि अथवा सामाजिक को भी होने लगता है। सम्पूर्ण घटना चक्र उनके लिए प्रत्यक्षकल्प हो जाते हैं। इसी में साहित्यकार की इतिकर्तव्यता है।

साहित्यकार का वैशिष्ट्य—साहित्यकार एवं इतिहासकार या वैज्ञानिक में या दार्शनिक में यही अन्तर है कि जहाँ इतिहासकार घटनामात्र का वर्णन करता है, वैज्ञानिक पदार्थों के कार्यकारणभाव का व उनकी प्रकृति व परिणाम का विश्लेषण करता है, लौकिक विषयों के परस्पर सम्बन्ध एवं उनके मूल का

---

१ तु०—कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते। नाशा०, (निसा) ७,२ तथा—नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः ॥ लो०(चौखम्बा) पृ ९२

२ तु०—Great literature is simply language charged with meaning to the utmost possible degree
EZRA POUND—How to read (1929) Polite Essays in Literary Criticism A short History pp 633

तार्किक पद्धति से ऊहापोह द्वारा मात्र विवेचन करता है वहां साहित्यकार का मार्ग यत्न अपने वर्णनों को अपने सामाजिक के समक्ष प्रत्यक्षायित करने में रहता है। इसी कारण आनन्दवर्धन ने कहा था कि केवल घटना आदि का निर्वाह कर देने में कवि का कवित्व निहित नहीं है। घटना का वर्णनमात्र तो एक इतिहासकार या प्रैसरिपोर्टर अथवा संवाददाता भी कर सकता है। फिर कवि ने कौन सा तीर मार दिया? वस्तुतः उसकी सफलता इसी में है कि वह किसी वस्तु का वर्णनमात्र नहीं करता प्रत्युत अपने सामाजिक को भी उन्हें दिखा देता है उसको देखकर जो हर्ष भय शोक रोष आदि उसके हृदय में उत्पन्न होते हैं उनका अनुभव पाठक को भी करा देता है। लोक में अविद्यमान पदार्थ भी उसके कृति-संसार में विद्यमान रहते हैं और कोई उन्हें मिथ्या या अवास्तविक नहीं कह सकता। तर्क की भाषा में जो असंगत लगता है, काव्य की भाषा में वह भी संगत प्रतीत हो जाता है उदाहरण के लिए योग्यताभाव का उदाहरण 'वह्निना सिञ्चति' दिया जाता है। क्योंकि लोक में अग्नि दाह का कारण माना जाता है सेचन रूप स्नेहन का नहीं[2]। किन्तु काव्य में निदर्शना अलंकार अथवा लाक्षणिक भाषा में वह भी संगत हो जाता है।[3] दर्शन की भाषा में भले ही गन्धर्वलोक या आकाशकुसुम की

१ न हि कवेरितिवृत्तनिर्वहणेन किञ्चित्प्रयोजनम्। इतिहासादेव तत्सिद्धेः। ध्वन्या० पृ० ३३६
तथा—विज्ञान और काव्य का अन्तर इस बात में है कि एक वैज्ञानिक
क की अनुभूति उसी तक सीमित रह जाती है वह दूसरे तक उसे प्रेषित नहीं कर पाता। किन्तु एक कवि अथवा कलाकार का रसानुभूति उस तक सीमित न रह कर दूसरे तक भी प्रेषित होती है। काव्या० वि० पृ० २२
ख किन्तु एक कवि अर्थ की सुनिश्चितता के लिए ही चिन्तित नहीं रहता, बल्कि उसका ध्येय यह भी होता है कि उसके शब्द एक निश्चित रूप का सृजन कर सकें। वही पृ० २२

२ बाधाभावो योग्यता। तर्कसंग्रह ४। तथा—योग्यता पदार्थानां परस्पर सम्बन्धे बाधाभावः। पदार्थयस्तदभावेऽपि वाक्यत्वे 'वह्निना सिञ्चति' इत्यादावपि वाक्यत्वं स्यात्। सा० द० २

३ तु०—स खलु धर्मबुद्ध्या विपलतां सिञ्चति, कुवलयमालेति निस्त्रिंशमालिङ्गति कृष्णागुरुधूमलेखेति कृष्णसर्पमवगूहति रत्नमिति ज्वलन्तमङ्गारमभिस्पृशति। का० (निसा०) पृ० २८६

सत्ता न हो पर काव्य की भाषा में वह सभी कुछ सम्भव है। इसलिए साहित्यकार का संसार निराला है, उसका वह स्वयं स्रष्टा या प्रजापति है।[2] इन विशेषताओं को दृष्टिगत करते हुए ही मम्मट ने कवि वाणी को विधाता की सृष्टि से उत्कृष्ट घोषित किया था।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि काव्यजगत् में वर्णित पदार्थ सामाजिक को प्रत्यक्षवत् दिखाई देने लगते हैं। काव्य भाषा के इस वैशिष्ट्य को अथवा कवि के इस कौशल को पाश्चात्य मनीषियों ने भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है और इसका महत्त्व बतलाते हुए इसको काव्य की एक विशिष्ट विधा के रूप में माना है। एज्रा पाउण्ड ने यहाँ तक कहा है कि यदि कवि अपने जीवनकाल में एक काव्य-बिम्ब का निर्माण करने में सफल हो जाता है तो अनेक काव्य-कृतियों के निर्माण की तुलना में यही उसकी सर्वोत्तम उपलब्धि है।[4]

काव्य बिम्ब या इमेज—काव्य में वर्ण्यवस्तु या भाव के प्रत्यक्षीकरण को पाश्चात्य समीक्षकों ने इमेज की संज्ञा दी है जिसका अनुवाद हिन्दी में बिम्ब किया जाता है। बिम्ब से वस्तुतः आकृति अभिप्रेत है। अरस्तू से लेकर आधुनिकतम समीक्षकों तक सभी काव्य में बिम्ब-निर्माण को महत्त्व देते हैं। जिसके काव्य में जितनी अधिक बिम्बग्राहिका शक्ति होगी वह उतना ही उत्कृष्ट कवि होगा।

अरस्तू ने बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया के प्रसङ्ग में कहा है किसी वस्तु को देखने के पश्चात् जो अनुभूति जागती है वह एक प्रभाव उत्पन्न करती है। उस वस्तु के हमारे समक्ष न रहने पर वह प्रभाव हमें उस वस्तु का बिम्ब

१ तु०—अत गगनारविन्दमाश्रय, स च नास्त्येव। तस० २
गगनवृत्तितावच्छेन अरविन्द नास्तीति। खपुष्पस्यालीकत्वादिति भाव। किरणावली पृ० ११३ (चौखम्बा)

२ अपारे काव्य-संसारे कविरेक प्रजापति।
यथास्मै रोचते विश्व तथैव परिवर्तते। ध्व० प्रा० पृ० ४६८

३ नियतिकृतनियमरहिताह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरा निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥ का० प्रा० का० १,१

4 It is better to present one image in a lifetime than to produce Voluminous works
—Twentieth Century Literary Criticism p 58

बनाने में समर्थ बनाती है। काव्य बिम्ब में ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और बौद्धिक ज्ञान दोनों एकत्रित हो जाते हैं।

१ इमेज की परिभाषा एवं तत्सम्बन्धी धारणा विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत की गई है जिनका निष्कर्ष समान ही है। एक इमेज का अर्थ अनुकरण प्रतिलिपि, समानता प्रतिमा चित्र *छाया, धारणा, विचार सादृश्य,* आभास दिखाई देना आदि है। निष्कर्ष रूप में किसी बाह्य वस्तु विशेषकर किसी व्यक्ति या व्यक्ति की प्रतिमा के कृत्रिम अनुकरण अथवा प्रतीक को इमेज कहते हैं[2]।

२ किसी दृश्य पदार्थ का केवल बौद्धिक प्रत्यक्षीकरण जो साधारण प्रत्यक्ष न होकर केवल स्मृति या कल्पना में हो मस्तिष्क में वस्तु का चित्र सा बन जाना कोई विचार या धारणा[3]।

३ लेखन क्रिया के द्वारा मस्तिष्क में किसी वस्तु का प्रस्तुतीकरण दृश्य का चित्रात्मक वर्णन उपमा रूपक या कोई अलंकार।[4]

४ शब्दों या से लेख में किसी वस्तु का चित्रात्मक रूप में वर्णित करना।[5]

---

1 de Anim iii 347 & 17 20, 428 a 5 16 iii, 10 433 a (8) Translated – Dr P S shastry, Kitab Mahal, Delhi, 1963, p 18

2 (Image means) Imitation, copy, likeness, statue, picture, phantom, conception thought idea, similitude semblance, appearance shadow

1 *An artificial imitation or representation of the external* form of any object especially of a person or of the bust of a person A symbol emblem, representation

—The Oxford English Dictionary Vol 5 pp (5) 51, ch 2

3 A mental representation of something (esp a visible object) Not by direct perception but by memory or imagination, a mental picture or impression, an idea, conception

4 A representation of some thing to the mind by speech or writing, or vivid or graphic description A simile Metaphor, or figure of speech —Ibid p 52, Col 1

5 To represent or set forth in speech or writing, to describe (esp vividly or graphically)
To represent by an emblem or metaphor, to symbolize, typify —Ibid, p 52, Col 2

आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में दिए गए इन अर्थों में तृतीय चतुर्थ प्रस्तुत प्रसङ्ग के अनुकूल बैठते हैं। क्योंकि काव्य में प्रस्तुत 'इमेज' शब्दों के माध्यम से लेख के रूप में होगी। अथवा कवि यदि अपनी रचना जनता के समक्ष सुना रहा हो तो अपने शब्दों, स्वरों के आरोह-अवरोह, लहजे और अभिनय के द्वारा ही प्रकाश्य भाव का मूर्त कर पायेगा।

अन्यत्र इमेज का अर्थ किसी वस्तु की प्रतिच्छाया, किसी देखी या सुनी गई वस्तु की स्मृति अथवा कल्पना द्वारा किसी पूर्वानुभूत वस्तु को नये ढङ्ग से प्रस्तुत करना, इन्द्रिय प्रत्यक्ष को शब्दों में प्रस्तुत करना, रूपक उपमा जो कि किसी वस्तु की आकृति, वर्ण या आभास को प्रस्तुत करे या किसी वस्तु का प्रतीक प्रकार या मूर्त रूप किया है। इसी प्रकार इमेजरी का अर्थ वाणी या लेख में आलंकारिक वर्णन दिया है।[१]

वास्टर रैले के अनुसार शब्द के तीन गुणों नाद, अर्थ और चित्र के कारण काव्य में इमेज (बिम्ब) की सृष्टि होती है।[२] चार्ल्स बोडाइन[३], जार्ज हैवले[४],

1 To picture of counterpart of an object produced by reflection or refraction If such an image can be actually thrown on a surface as in a Camra, it is a real image 4 A representation in the mind of something not perceived at the moment through the senses a product of the reproductive imagination, or memory, of things seen, heard, touched etc including the accompanying emotion representation of a sense perception mental picture, hence an idea 5 A metaphor or a simile that reproduces or suggests in words the form, colour, aspect or semblance of an object 6 A symbol of any thing embodiment, type

—Britanica World Language Dictionary Part I, p 630

Figurative description in speech or writing ibid

२ डा० उमा अष्टवंश छायावादोत्तर काव्य में बिम्ब-विधान, पृ० १

3 The word 'Image is sometimes used to denote any kind of evocation arising in the mind and resembling a perception of reality Sometimes it is used to denote a symbol a poetical comparison

—Charles Boudoin Psychoanalysis and aesthetics, p 24

4 It is concentrating upon this feature alone that we are led to postulate a figment called the 'Sense-datum', 'The image

और टी० एफ० ह्यूम¹ आदि ने भी इसी प्रकार इमेज के स्वरूप और प्रकृति का निरूपण किया है जो कि परस्पर समानता रखता है।

सी० डे० लेविस का कथन है कि शब्दों के माध्यम से निर्मित चित्र का नाम ही इमेज है। एक विशेषण रूपक या उपमा एक इमेज या बिम्ब का निर्माण कर सकते हैं। इसके अनुसार यह ज्ञात होता है कि किसी वाक्य में प्रयुक्त शब्द ही एक बिम्ब का निर्माण करते हैं। वे शब्द विशेषणों के रूप में हो सकते हैं अथवा रूपक एवं उपमा अलंकार के रूप में।² तदनुसार हम स्वीकार करना चाहेंगे कि विशेष प्रकार के शब्द और अर्थ बिम्ब का निर्माण करते हैं। प्रभावशाली शब्द और अर्थ ही बिम्ब बन सकते हैं। उनके प्रयोग से सारी ही कविता या कविता का अंश बिम्ब हो जाता है। काव्य की प्रवृत्तियाँ बनती और बदलती रहती हैं, छन्द विषय आदि तथा अन्य तत्त्व-छन्दों के प्रकार आदि समय-समय पर बदलते रहते हैं। उनके महत्त्व के सम्बन्ध में धारणा परिवर्तित होती रहती है। किन्तु बिम्ब काव्य की आत्मा या प्रमुख तत्त्व बना हो रहता है। उसकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता।

हर्बट रीड के विचार में किसी कवि का महत्त्व उसके काव्य बिम्बों की शक्ति और मौलिकता से ही निर्णीत हो सकता है।³ इसी प्रकार लविस

---

of the thing' seen in mind s eye, a mental construct which can be scrutinized and even recalled, bearing some structural relation (it is supposed) to the thing seen —George Whalley Poetic process, p 7

—उमा अष्ट वश द्वारा उद्धृत

1 A study of images endeavours to arrest you and make you continuously see a physical thing, to prevent glading through an abstract process — T F Hulme Speculations, p 135　　—छाया काव्य पृ० ।

2 If (image) is a picture made out of words An epithet, a metaphor, a simile may create an image, or an image may be presented to us in a phrase or passage on the face of it purely descriptive conveying to our imagination something more than the accurate reflection of an external reality

3 Mr Herbert Read 'We should always be prepared to judge a poet by the force and originality of his metaphors

महाशय ड्राइडन का मत उद्धृत करते हुए कहते हैं कि बिम्ब-निर्माण अपने आप में कविता का प्राण और उसका उज्ज्वल पक्ष है[1]।

टनम हबट रीड आदि ने उचन तो इमेज का महत्त्व-प्रकाशन करते हैं पर लेविस की अपनी परिभाषा बिम्ब का स्थूल स्वरूप बतलाती है।

अखौरी ब्रजनंदन प्रसाद थोर्नडाइक का मत उद्धृत करते हैं कि वस्तु, गुण एवं परिस्थितियों का जो सचमुच में किसी विशेष समय में उपस्थित नहीं हैं, भावात्मक बोध ही बिम्ब है।[2]

उनकी अपनी निष्कृष्ट परिभाषा है कि मनुष्य मस्तिष्क में संवेदनात्मक अनुभवों का बिना किसी बाह्य एन्द्रिय उत्तेजना का पुनर्निर्माण ही बिम्ब है।

आगे चल कर उनका कहना है कि—काव्यात्मक बिम्ब आदर्श भावना-सम्पृक्त एक शब्दचित्र है जिसमें ऐन्द्रिक एन्वय निहित है और जिसके प्रभाव-स्वरूप आनन्द की उत्पत्ति होती है।

आधुनिक युग के हिन्दी के समर्थ आलोचक डा० नगेन्द्र का कथन है—

(बिम्ब का मूल विषय मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार का हो सकता है। अर्थात् पदार्थ का भी बिम्ब हो सकता है और गुण का भी, किन्तु उसका अपना रूप मूर्त ही होता है अमूर्त बिम्ब नहीं होता। जिन बिम्बों को अमूर्त माना जाता है वे अचाक्षुष होते हैं अगोचर नहीं होते।)

काव्य बिम्ब दूसरी कोटि के ही बिम्ब हैं जो उद्दीपक पदार्थ की अनुपस्थिति में कल्पना के द्वारा उद्बुद्ध हो जिनमें ऐन्द्रियतत्त्व परोक्ष रूप में विद्यमान रहता है।

संस्कृत साहित्यशास्त्र की लक्षणा और व्यञ्जना इसी कल्पनात्मक प्रयोग के माध्यम-उपकरण हैं। सामान्य बिम्ब से काव्य-बिम्ब में यह भेद होता है कि (१) इसका निर्माण सक्रिय या सर्जनात्मक कल्पना से होता है, और (२) इसके मूल में राग की प्रेरणा अनिवार्य रहती है।

---

1 Dryden Imaging is, in itself the very bright and life of Poetry — C Day Lewis The Poetic Image pp 17 18

2 Images are feelings of Things qualities and conditions of all sorts as not present

—Elements of Psychology, Thorndike p 43

३ अखौरी ब्रजनन्दन प्रसाद काव्यात्मक बिम्ब पृ० ५०

वही, पृ० २६

इस प्रकार काव्य बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है ।

एम० एस० भट्टाचार्य ने आर० ए० रिचर्ड्स के अनुसार काव्य बिम्ब को मुद्रित शब्दों से अप्रत्यक्ष रूप से व्यञ्जित अन्तर्दृष्टिगत चित्र माना है ।[2]

इन परिभाषाओं के अनुसार इमेज या काव्य बिम्ब ऐसे चित्र होते हैं जो किसी तूलिका से न बनकर या कैमरे से न खिंचकर कवि की रचना में तैयार किए जाते हैं । कल्पना से इनमें रंग भरे जाते हैं और इनकी रेखाओं का आकार भावनाओं से बनता है[3] । शब्द और अर्थ इस चित्र के मुख्य उपकरण हैं । सामान्य चित्र चित्रकार की भावनाओं को अभिव्यक्त करता हुआ केवल द्रष्टा के चक्षुरिन्द्रिय को तृप्त या आनन्दित करता है किन्तु काव्य का शब्दचित्र तन्मयता में कर्णेन्द्रिय को, वर्णित गन्ध की अनुभूति से घ्राणेन्द्रिय को, ध्वनियों की मसृणता से त्वगिन्द्रिय को भी और कार्य की रूपकल्पना से चक्षुरिन्द्रिय को भी तृप्त करता है ।

---

१ नगेन्द्र का० बिम्ब पृ० ५६

2 Visual images which are called free images are pictures in the mind's eye indirectly suggested by the printed words and are the outcome of the law of association. When these words impress the visual organs and corresponding images are produced on the mind other images which have often been found connected with the latter naturally appear in the region of consciousness —Pict Poetry p 16

3 द०—The commonest type of image is a visual one and many more images which may seem unsensuous have still in fact some faint visual association adhering to them. But obviously an image may derive from and appeal to other senses than that of sight

—Lewis The Poetic Image

and

तु०—Images however beautiful—do not of themselves characterize the poet. They become proofs of original genius only as far as they are modified by a predominent passion or by associated thoughts or images awakened by that passion —The Poetic Image

कॉलरिज लेविस द्वारा उद्धृत पृ० १०

इस तृप्ति का मूल है उस शब्दचित्र के अन्तर में निहित कवि की राग-वृत्ति उसका संवेदन या मनोवेग जिसके स्पर्श के बिना वह चित्र सर्वथा निर्जीव और निष्प्राण प्रतीत होगा। कवि की रागवृत्ति के कारण ही भौतिक जगत् का नगण्य पदार्थ भी काव्य का विषय बन कर सामाजिक का प्रत्यक्ष प्रतीति के साथ-साथ भावनाङ्कित बन पाता है। मेघ भाप और धुएँ का बना निर्जीव पदार्थ समान रूप से इङ्गलैण्ड में शैली का, जर्मनी में शिलर का चीन में सीकांग का और भारत में कालिदास आदि कवियों का भावाद्रिक्त बना कर उनमें अत्यन्त उत्कृष्ट कृतियाँ लिखी गयीं। इन सभी कवियों में से कोई भी उसके भौतिक रूप से अपरिचित न था किन्तु उनकी रागवृत्ति ने ही उसमें प्राण-प्रतिष्ठा कर दी। उससे दूत और डाकिये का काम भी ले लिया गया। यह कोई विस्मय की बात नहीं। कवि की भावना में वह जादू है जो कि घृणित पदार्थ को भी रम्य रूप देता है, निर्जीव को सजीव और सजीव को निर्जीव बना डालता है। वस्तुतः भौतिक पदार्थों के साथ जब कवि का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है प्रत्यक्षीकरण के साथ संवेदन भी मिल जाता है, प्रस्तुत विषय और छन्द का एकीकरण हो जाता है तब एक काव्य-बिम्ब प्रस्तुत होता है जिसके प्रभाव में पाठक वस्तु और प्रभाव का साक्षात्कार करता है।

यहाँ पर प्रश्न उठाया गया है राग और रस का परस्पर क्या सम्बन्ध है? काव्य में रस को प्रधान तत्त्व या प्रयोजन माना गया है? यदि हम काव्य-बिम्ब को रस की अपेक्षा गौण मानेंगे तो क्या वह गुणीभूत व्यंग्य होगा?

यह प्रश्न इस प्रसङ्ग में सर्वथा असङ्गत है। क्योंकि रस काव्यशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। यदि उसको सामान्य अर्थ में आनन्दमात्र के लिए प्रयुक्त किया जाए जैसा कि हमने आगे प्रस्तुत किया है,[२] तब भले ही राग के साथ उसका अभेद स्वीकार कर लें। अन्यथा जो प्रक्रिया काव्य शास्त्रियों ने रस की निष्पत्ति के लिए स्वीकार की है, उसके अनुसार रस और राग सर्वथा पृथक् तत्त्व हैं।

वास्तव में राग का तात्पर्य है किसी वस्तु के प्रति रुझान, आकर्षण, उसमें रुचि लेना। प्रणय के प्रसङ्ग में भी आचार्यों ने नायक और नायिका के परस्पर प्रथम आकर्षण को राग की संज्ञा दी है।[३] क्या हम वहाँ भी राग को रस से

---

१ भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।
व्यवहारयति यथेष्ट सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥—ध्वन्यालोक पृ० ४९८
२ पृ० ६७ टिप्पण ६५
३ आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः ।—सा० द० ३,१९५

अभिन्न मानते हैं वस्तु वर्णन या बिम्ब निर्माण में राग का प्रेरणा का तात्पर्य है वर्ण्य वस्तु के प्रति कवि का विशेष आकर्षण जिसे हम दूसरे शब्दों में रति भी कह सकते हैं। यही रति परिपुष्ट और पुष्पित होकर रसान्तर में विभिन्न रसों का रूप धारण करती है। अन्त में जो कवि के रस का सम्पूर्ण भावों का बीज बनाया है उसका तात्पर्य वह मूल रागवृत्ति ही है जो कवि के हृदय में सदा सन्निहित रहती है। इसी के कारण विश्व के सम्पूर्ण प्राणियों के साथ कवि की आत्मीय चेतना जुड़ जाती है आलम्बन और विभाव की सामग्री जुट जाने पर सवादी स्वर एकत्रित हो जाते हैं। हृदय की तन्त्री एक समरस राग अलापना आरम्भ कर देती है सम्पूर्ण वातावरण आनन्दमय बन जाता है। एक चमत्कारमयी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें वर्णित विषय सभी ओर से आलोकित हो उठता है। इसी को वाल्मीकि के शब्दों में प्रत्यक्षमिव दर्शितम्[३] कह सकते हैं। यही पारलौकिक स्थिति पारिभाषिक रस की स्थिति है।

आगे यह स्पष्ट किया गया है कि बिम्ब कैसे व्यङ्ग्य होता है तो कहा व्यञ्जना[३] यह कवि की विवक्षा पर निर्भर है। पुनः जब व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना चलती है तो उसमें परस्पर गुण प्रधान भाव भी आता ही है। यहाँ पर वस्तुवर्णन वाच्यायमान होगा और उसके माध्यम से अन्य भाव आदि व्यङ्ग्य होगा उसी का चमत्कार प्रधान होगा तो वस्तु-वर्णन-सम्बन्धी बिम्ब गुणीभूत होगा और रस भावादि प्रधान। यदि काव्य का तात्पर्य वाच्य रूप में वर्णित पदार्थों तक ही सीमित है तब गुणीभूत व्यङ्ग्य का प्रश्न ही नहीं उठता।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार काव्य रचना के लिए इतना ही अपेक्षित नहीं है कि प्रयुक्त शब्द में किसी अर्थ का अवबोध हो जाय। उसके लिए आवश्यक है कि वर्णित या प्रतिपादित वस्तु का बिम्ब-ग्रहण पाठक या श्रोता को हो जाय। बिम्ब-ग्रहण तभी सम्भव है जब कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण से वर्ण्य वस्तुओं के अंग प्रत्यंग वर्ण आकृति तथा उसके आसपास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण प्रस्तुत करे।[४]

---

१ यथा वाजादि भवन्ति वृक्षा वृक्षात् पत्र फल तथा
सथा मूल रसा सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिता। —नाशा० ६ ३८
चिरनिव तमप्यत्र प्रत्यक्षमिव दर्शितम्। —वा० १ ४ १८
३ प० १७२ १८५
४ चिन्तामणि १४५ १४७।

यद्यपि इमेज की परिभाषा देते समय समीक्षकों ने Graphic शब्द का प्रयोग किया है परन्तु उसमें तात्पर्य बिम्ब का चित्रमय होना है स्वयं चित्र नहीं, चित्रकार जिस प्रकार अपने चित्र में किसी वस्तु को चित्रित करके रंग देकर उसे मूर्त करता है, काव्यकार भी उसी प्रकार अपनी रचना में अपने भाव का मूर्तीकरण करता है। पर दोनों के रूप में अन्तर है। जहां चित्र का फलक सीमित होता है, वहाँ काव्य का व्यापक होता है। चित्र में चित्रित वस्तु का सीमित प्रतिबिम्ब अंकित किया जाता है पर काव्य में पूर्ण और संश्लिष्ट। प्रत्युत वह जितना अधिक संश्लिष्ट होगा उतना ही काव्यमय होगा।[1]

बिम्ब के उपकरण—काव्य में ये बिम्ब किस प्रकार निर्मित होते हैं, यह प्रश्न भी उठता है। जब हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि काव्य की चरम परिणति उसमें *अभिव्यक्त भावों, विचारों और संवेदना को मूर्त रूप देने में है* तो यह भी स्वीकार करना होगा कि उस मूर्तिकरण का प्रधान उपकरण शब्द ही होगा। क्योंकि भाषा शब्दों से ही बनती है। काव्य या साहित्य भाषा का उत्कृष्टतम एवं परिपक्व फल है। इस प्रयोजन के लिए भले ही वाचक शब्दों का प्रयोग किया जाय अथवा द्योतकों का या सांकेतिकों का परन्तु कार्य शब्दों से ही निष्पन्न होता है। यह अवश्य है कि यदि सांकेतिक शब्द दुरूह होंगे तो उन से भाव-सम्प्रेषण का मुख्य प्रयोजन सिद्ध न हो पायगा। लिखित वस्तुमात्र लेखक के उन संकेतों को समझने में समर्थ व्यक्ति के उपयोग की वस्तु रह जायगी। अतः शब्द कवि के विवक्षित भाव को अभिव्यक्त करने एवं सामाजिक तक पहुँचाने में समर्थ होने चाहिये। यद्यपि कुछ काव्यकार इस बात पर बल देने लगे हैं कि जनसामान्य की भाषा ही काव्य की भाषा होनी

---

१ तु०—Since a picture represents an image only a surface it is not for the picture to represent every aspect, or any motion at all, yet it is poetic to do so, because when these things are also represented, then more things are represented in the object then when they are not, and hence, the representing is extensively clearer Therefore in poetic images more things tend toward unity than pictures Hence, a poem is more perfect than a picture

—Baumgarton-Reflection on Poetry, P 52

—उमा अष्टवश द्वारा छायावादोत्तर काव्य में बिम्ब विधान, पृ० ५ पर उद्धृत।

है पर यह पक्ष सर्वसम्मत नहीं है। जब हम काव्य की भाषा को संवेदनों की भाषा कहते हैं, इतिहास, विज्ञान और राजनीति या अर्थशास्त्र की शब्दावली से पृथक् स्वीकार करते हैं तब जन-सामान्य की भाषा कहाँ रही ? यदि इस पर यह तर्क दिया जाय कि शब्द तो वे ही प्रयुक्त होते हैं जिन का सभी लोग प्रयोग करते हैं तो यह भी युक्तिसंगत नहीं। कारण यह है कि शब्द अर्थ के प्रकाश में ही अपना महत्त्व प्रकट करता है। जब वह जन-सामान्य का सुबोध से हटकर अन्य अर्थ का बोध करायेगा तो मानना होगा कि तदर्थवाचक शब्द पृथक् ही है। भाषाशास्त्री इसी आधार पर शब्द की प्रकृति का निर्णय करते हैं। उदाहरण के लिए 'काम' शब्द को लें। सामान्य रूप में काम शब्द जब कर्म का वाचक होगा तो निश्चय ही वह मैथुन वाचक 'काम' शब्द से पृथक् होगा। भले ही दोनों शब्द ध्वनि में समान हैं। इसी आधार पर मीमांसकों ने अर्थ का भेद होने पर शब्द का भी भेद स्वीकार किया था।[2] तभी कबीर के निम्नलिखित पद्य की सार्थकता होगी—

काम काम सब कोइ कहै काम न चीन्हे कोय।
जेती मन की कल्पना काम कहावै सोय॥

इस प्रकार जनसामान्य द्वारा व्यवहृत भाषा और काव्य की भाषा में परस्पर भेद सिद्ध हो जाता है। अन्यथा शब्दों के वाचक, लक्षक और व्यञ्जक भेद स्वीकार करने का क्या प्रयोजन ?

जब शब्दों के साथ कवि या साहित्यकार की संवेदना का सम्बन्ध जुड़ जाता है भाषा रागात्मक बन जाती है, वह श्रवणेन्द्रिय के साथ हृदय का भी स्पर्श

---

१ तु०—एक वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक की भाषा अरूप (Abstract) होता है और कवि की भाषा रूपपूर्ण (full of forms) अर्थात् एक दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक की भाषा से हमारे मस्तिष्क में किसी रूप का सृजन नहीं होता, बल्कि रूपहीन विचारों का ही जागृति होती है लेकिन एक कवि की भाषा से हमारे मस्तिष्क में केवल भावनाएँ ही नहीं उठती बल्कि उन भावनाओं का पूर्ण स्वरूप उभर आता है। इसी कारण काव्य की भाषा किसी प्रकार के सिद्धान्त निरूपण में व्यवहार में आने वाली भाषा से पृथक् होती है।

—अघोरी ब्रजनन्दन प्रसाद—काव्यात्मक बिम्ब पृ० २१

२ तु०—अर्थभेदन शब्दभेद का०प्र० पृ० ६२२

करती है। फलस्वरूप उसमें लेखक के संवेदनों का अनुभव कराने की सामर्थ्य भी भर जाती है। इसलिये अब कवि की भाषा चित्रभाषा कही जाती है। उसमें इतनी शक्ति होती है कि उसके शब्द ऐन्द्रिय संवेदनों का पाठक तक सम्प्रेषण करते है। पर इसके लिये आवश्यक यह होता है कि पाठक भी कवि की रागात्मक अनुभूति के साथ-साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करें। उसके अभाव में कवि की भाषा सामान्य व्यक्ति के लिये पहेली बन जाएगी।

इस चित्र भाषा का प्रत्येक पद *भाव-गर्भित होता है। जिस प्रकार मुख में रखा पान धीरे-धीरे आस्वादन द्वारा विभिन्न रसों का अनुभव कराता है,* इसी प्रकार पर्यालोचन के द्वारा काव्यगत वचनों की तहें उखड़ती जाती है और भिन्न-भिन्न अर्थों का संसार पाठक की अन्तर्दृष्टि के समक्ष खुलता जाता है।[1]

फलत इन काव्यबिम्बों का प्रधान उपकरण वह चित्र भाषा है जिसका निर्माण वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों से होता है। दूसरा सूक्ष्म उपकरण है संवेदन। प्रयुक्त शब्दों के साथ यदि कवि की अनुभूति न जुड़ी होगी तो वे शब्द सर्वथा निष्प्राण होंगे। वे अभिलषित प्रभाव जगाने में असमर्थ सिद्ध होंगे।

इसके अतिरिक्त उपमान और प्रतीक भी बिम्ब-निर्माण के साधन है। पाश्चात्य समीक्षकों ने तो औपम्यभावमूलक मैटाफर को इमेज का पर्यायवाचक ही मान लिया है[2]। कारण यह है कि समान वस्तु के प्रकाश में वर्ण्य वस्तु का

---

१ तु०—It is a great thing, indeed to make a proper use of these poetical forms as also of compounds and strange words But the greatest thing by far is to be a master of Metaphor It is the one thing that can not be leakout from others, and it is also a sign of genius, since a good Metaphor implies an intuitive perception of the similarity in dissimilars Aristotle on the Art of Poetry —Ingram Bywater, p 78

२ तु०—काव्यात्मक बिम्बों से साधारणत हमें यह बोध होता है कि ये शब्दों द्वारा निर्मित चित्र होते है। किसी भी रूपक अथवा उपमा से हम ऐसे शब्दचित्र गढ़ सकते है। ऐसे शब्दों अथवा पंक्तियों के द्वारा भी शब्दों के ये चित्र निर्मित होते है जो बाह्य स्तर पर भाव-वर्णनात्मक प्रतीत होते है। —अखौरी काव्या, बिम्ब, पृ० ५५

रूप, रग, आकार-प्रकार सब प्रकाश में आ जाता है। उदाहरण के लिए किसी समय दिल्ली के चादनी चौक बाजार के मध्य विक्टोरिया की प्रतिमा से उपहास के लिए किसी स्त्री की तुलना करने पर प्रतिमा की भाति वह स्त्री भी रूप से काली कलूटी, शरीर से भारी और वेडौल चौन एव अत्यन्त स्थूल होने से कुछ करन घरने म असमथ सूचित हुई। इसी प्रकार जब हम As black as coal कहते है तो उपमान coal के कालेपन के प्रकाश म वर्ण्य पदार्थ के कालेपन की गहराई श्रोता के समक्ष उभर आती है। दोना का यह सम्मिलित चित्र उभर आता है।

इसके अतिरिक्त प्रतीक या symbol भी इन बिम्बो के साधक है। यद्यपि प्रतीक और बिम्ब दोनो शब्दो को साथ-साथ भी रखा जाता है यथापि पदार्थ का मूर्तीकरण प्रतीको द्वारा भी होता है। ये प्रतीक साङ्केतिक शब्द ही होते है जो कि दीर्घ परम्परा से किसी विशिष्ट अर्थ म रूढ हो गये है। उनके मूल म कही पर प्रयोजन तो कही सादृश्य निहित रहता है[1]।

इसके अतिरिक्त ध्वनि (नाद सौ दय) ताल लय, छन्द आदि भी बिम्ब के निर्माण म सहायक होते हैं। अनुप्रास अनुकरणात्मक ध्वनियाँ सब मिलकर एक काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करते है।

डा० नगेन्द्र का कहना है कि उपमान बिम्ब रचना का साधन है, सादृश्य-विधान उपमान की सहायता से होता है[2]। उपमा और रूपक इमेज या बिम्ब के रूप स्वीकार कर लेने पर उपमान स्वत ही बिम्ब का साधन सिद्ध हो जाता है।

---

१ तु०—प्रतीक वास्तव म स्थिरता प्राप्त रूपक ही होत हैं। परन्तु रूपको मे ऐसी स्थिरता दो प्रकार म आ पाती है। कुछ एस रूपक होत है जिनकी प्रारम्भिक साङ्केतिक विविधता समाप्त हो जाती है और जो अततोगत्वा मात्र एक चिह्न भर रह जाते है। दूसरी ओर कुछ रूपको की साङ्केतिकता और अर्थविविधता बची रहती है और क्रमिक प्रयोग के कारण उनमे और भी शक्तियाँ भर जाती हैं। पहले प्रकार के प्रतीको म ब्लाक सिम्बल (Block symbol) तथा दूसरे प्रकार के रूपको म टेन्सिव सिम्बल (Tensive symbol) का निर्माण होता है। —वही पृ० १००

२ काव्य-बिम्ब पृ० ७

बिम्ब या इमेज के निर्माण का एक प्रमुख साधन कल्पना या इमेजिनशन है। इसके द्वारा कवि एक ओर वर्ण्य वस्तु को छाया रूप देता है, दूसरी ओर उसकी सहायता से स्मृति एव सस्कारो द्वारा नये रूपों की सृष्टि करता है। एच्० काडवैल कल्पना शक्ति का सवप्रमुख कार्य चित्र-निर्माण मानते है। ये चित्र *उन पदार्थो के होते है जिनको प्रत्यक्ष नही देखा जाता अथवा पृथ्वी पर जिनकी* की सत्ता भी नही होती । सन्तुलित दृष्टिकोण मे सोचने पर यह बात स्पष्ट होती है कि अपनी कल्पना शक्ति से जिस प्रभाव का कवि बोध करता है, वह दूसरे ही क्षण उसके अवचेतन मे सगृहीत अनुभूतियों तथा भावनाओ से एकीकृत हो जाता है और तदुपरान्त जिन बिम्बों की वह सृष्टि करता है वे मूर्त रूप तथा भाव दोनों से सम्पृक्त रहते है। इस प्रकार कल्पना कवि-हृदय की सहानुभूति-विस्तृति मे उत्पन्न वह शक्ति है जो ऐन्द्रिय बोधो को कवि की अनुभूतियो एव भावनाओ से एकीकृत कर वैसे काव्यात्मक बिम्बो की सृष्टि का कारण बनती है जिनमे रूप-योजना के साथ-साथ भाव-योजना भी सलग्न रहती है।

वास्तव मे वस्तु-वर्णन मे जहाँ कवि का यत्न रूप-योजना मे रहता है, उसके मूल मे उसकी रागात्मक वृत्ति अथवा दूसरे शब्दो मे रति निहित रहती है। पाठक जब उस रति का अनुभव करता है तभी वह कवि के साथ तादात्म्य स्थापित करके बिम्ब का ग्रहण करने मे समर्थ होता है। यह प्रत्यक्ष देखने मे *आता है कि एक वस्तु रागात्मिका वृत्ति के स्पर्श के कारण ही सुन्दर अथवा* भावो को आन्दोलित करने मे समर्थ प्रतीत होती है अन्यथा नही। उदाहरण के लिए एक सुकुमार कुसुम मे कवि अथवा उसकी अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करने वाले पाठक को किसी कामिनी के गुदगुदाने वाले कमनीय कलेवर की छाया दिखाई देती है पर उस वृत्ति के बिना एक वैज्ञानिक उस कुसुम के वर्ण एव स्निग्धता का विश्लेषण करता हुआ परीक्षण के लिए उसे खण्डश करके मसल कर फेंक देगा। उसके लिए वह पुष्प एक जड पदार्थ ही है। इसी कारण रसानुभूति केवल सहृदयो की होती है।[2]

---

1 The first and most familiar functions of imagination is the pictorial power, the power of creating images not actually visible or even existent

— Quoted in 'Topics and Opinions's, pp 196

२ तु० — तैश्चाय प्रकषप्राप्तै सप्तार्चिरर्चिश्चयैरिव प्रकाशमान श्रृगारिणामव स्वदत इति। — श्रृगार प्रकाश भाग २, पृ० ४३१

लाक्षणिक एवं व्यञ्जक पदावली भी इमेज निर्माण में अत्यन्त सहायक होती हैं। वस्तु-ध्वनि तो व्यंग्य पदार्थ का प्रत्यक्षीकरण कराती ही है, रसध्वनि में भी भाव का प्रत्यक्षीकरण होता है। भाव का प्रत्यक्षीकरण वस्तु के रूप में न होकर अनुभूति के रूप में होता है।

इसके अतिरिक्त वर्ण्य पदार्थ का मानवीकरण भी इसमें सहायक होता है। कवि प्राकृतिक पदार्थों में चेतना अनुभूतियों का साक्षात्कार करता है, उन्हें मानवी चेष्टाएँ करता बनाता है। अमूर्त भावनाओं के प्रत्यक्षीकरण के लिए मानवीकरण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

मनोविज्ञान से सम्बन्ध—पाश्चात्य समीक्षक इमेज का सम्बन्ध मनोविज्ञान में मानते हैं। पश्चिम के फ्रायड जग एडलर सदृश दार्शनिकों ने काव्य प्रक्रिया के मूल में मनोविज्ञान को निश्चित स्वीकार किया है और अलग-अलग दृष्टिकोण से उसकी पद्धति का विवेचन किया है। मनोविज्ञान के अनुसार पदार्थों के बिम्ब दो प्रकार के माने हैं—१ वस्तुरूप २ भावगत रूप। वस्तुगत रूप इन्द्रिय ग्राह्य होते हैं। वह प्रकाशकीय तन्त्र द्वारा पदार्थ का दृष्टि पटल पर अंकित दृष्टिबिम्ब होता है। अभिचित्र या प्रकाशकीय तन्त्र का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। भौतिक पदार्थों को देखने के पश्चात् द्रष्टा का संवेदन अनुभूति एवं भावना में सन्निविष्ट होकर ऐन्द्रिय बिम्ब में परिवर्तित हो जाता है।

बिम्ब का भावात्मक रूप मानसबिम्ब होता है। जब पहले देखी गई वस्तु वर्तमान काल में उपस्थित न रहने पर भी अपने या घटना के प्रभाव से मानस में प्रतिबिम्बित सी होती है उसी प्रतिबिम्ब को भावगत बिम्ब या इमेज कहते हैं। यद्यपि बिम्ब लौकिक पदार्थों का ही मानस छवि होता है तथापि उनसे सर्वथा भिन्न होते हैं। क्योंकि पदार्थों का प्रत्यक्ष स्पष्ट होता है किन्तु बिम्ब धूमिल होता है। पर चिन्तन की गहराई के साथ-साथ उसका रूप स्पष्ट से स्पष्टतर होता जाता है।

किन्तु इस स्पष्टीकरण में बिम्ब का विचार या धारणा से टकराव होता प्रतीत होता है। क्योंकि बिम्ब भी मानस व्यापार का परिणाम है और विचार एवं धारणा भी। परन्तु यथार्थ में दोनों में तात्त्विक भेद है। बिम्ब मूर्त होता है जबकि विचार अमूर्त होते हैं। बौद्धिक चिन्तन का कोई बिम्ब नहीं बनता। क्रोचे के अनुसार बिम्ब और धारणा आत्मा की दो प्रक्रियाएँ या दो प्रवृत्तियों

की सृष्टि है। बिम्ब का सम्बन्ध किसी रूपवान् पदार्थ से होता है जबकि धारणा का अरूप से होता है।

ये बिम्ब प्रत्यक्ष और परोक्ष अनुभवों से सम्बद्ध होने के कारण दो प्रकार के होते है। मनोविश्लेषण शास्त्र के अनुसार स्वप्न बिम्ब, तन्द्रा बिम्ब एवं मिथ्या प्रत्यक्ष बिम्ब अवचेतन या अचेतन मनोविज्ञान से सम्बद्ध होते है।

कुछ परम्परागत आद्यबिम्ब होते है जो कि युग के अनुसार आनुवंशिक चेतना पर आश्रित सामूहिक अवचेतन के अंग होते है।

प्लेटो ने दार्शनिक दृष्टि से विवेचन करते हुए संसार की सभी कृतियों को वास्तविक पदार्थों का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया है। सत्य रूप मूल होता है तो कारीगर अनुकरण द्वारा उसकी प्रतिच्छवि तैयार करता है। कलाकार उसका भी अनुकरण करता है जो वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़ता है।[२]

शैवाद्वैत में भी कहा गया है कि आत्मा एक दर्पण है। चेतन उसमें संसार के पदार्थों को प्रतिच्छाया की भांति प्रतीत कराता है।[३]

नगेन्द्र के अनुसार सांसारिक पदार्थों के प्रत्यक्ष अनुभव से जो मानस बिम्ब होते है वे ही काव्य बिम्ब के बनते है।[४]

प्रक्रिया—एक पाठक और श्रोता के मस्तिष्क में इमेज कैसे बनती है, इसका विवरण आई०ए० रिचर्ड्स ने इस प्रकार दिया है—

There are first the visual sensations of the printed words These are followed by images directly suggested by the sensations themselves Free images i e not directly connected with the words come next Then there are references to, or Thinkings of various things Emotions are the outcome of all these The visual sensations of words have ' Other companions so closely tied to them as to be only with difficulty disconnected The chief of these are the auditory images—the sound of the words in the mind s ear and the image of articulation—the feel

---

१ नगेन्द्र काव्य बिम्ब—पृ० २७-२८

२ वही, पृ० ३०

३ चेतनो हि स्वात्म-दर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवत् आभासयति।
वही, पृ० ३१ पर उद्धृत।

४ वही, पृ० ३४

in lips, mouth and throat, of what the words would be like to speak[1]

इसके अनुसार बाह्य पदार्थों का वर्णन पढ़कर पाठक या श्रोता के मस्तिष्क में पहले छपे शब्दों का प्रत्यक्षानुभव होता है। उससे उत्पन्न संवेदन के द्वारा सीधे बिम्ब बन जाते हैं। इसके पश्चात् चिन्तन अथवा पर्यालोचन से स्वतन्त्र बिम्ब बनते हैं। ध्वनि या नाद के चित्र में सहायक होते हैं।

यह तो ठीक है कि वर्ण्य वस्तु का प्रत्यक्षीकरण पाठक या श्रोता को होता है। अतः उसके मस्तिष्क या मानस में बनने वाले बिम्बों की यही प्रक्रिया है। नगेन्द्र का कथन है कि काव्य-बिम्बों के उपकरण प्रत्यक्ष बिम्ब होते हैं।[2] यह रिचर्ड्स के कथन से दूर नहीं है। अमूर्त भावों की अनुभूति के मूर्तीकरण के लिए प्रत्यक्ष बिम्बों का प्रयोग अपेक्षित होता है। परन्तु कवि इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये किस प्रक्रिया का आश्रय लेता है यह भी विचारणीय है। अरस्तु के इस सम्बन्ध में विचार प्रक्रिया की अपेक्षा उपकरणों पर अधिक प्रकाश डालते हैं। उसके अनुसार अनुकरणकर्ता आकृति एवं रंग का प्रयोग करते हैं। इनकी सहायता से वे अनेक आकृतियाँ बनाते हैं। कुछ इसके लिये वाणी का भी प्रयोग करते हैं। सब मिलाकर वे लय भाषा और परस्पर समन्वय का प्रयोग में लाते हैं।[3]

इसमें पहले चित्रकार या मूर्तिकार की ओर सङ्केत है तो उत्तरार्ध में कवि और सङ्गीतकार के लिए। भाषा लय और विचारों अथवा इनकी परिणति में समन्वय यह अवश्य काव्य बिम्ब के निर्माण के लिए उपयोगी सङ्केत है।

कुमार विमल नगेन्द्र की आलोचना करते हुए इस प्रसङ्ग में लिखते हैं—

मेरी धारणा यह है कि बिम्ब-विधान कला का क्रिया-पक्ष है जो

---

१ प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म पृ० ११८-१९ में पिक्टो, पोयट्री, पृ० १६ पर उद्धत।

२ काव्य बिम्ब पृ० ३४

3 Just as form and colour are used as means by some who (whether by art or constant practice) imitate and portray many things by their aid, and the voice is used by other, so also in the above mentioned group of arts, the means with them as a whole are rhythem, language and harmony used however either single or in certain combinations
—Arist on the Art of Poetry, p 23-24

सृजनात्मक कल्पना से सम्बन्ध रखता है। कला-जगत् में कल्पना के विकास की एक सरणि है। कल्पना में बिम्ब का आविर्भाव होता है और बिम्बों में प्रतीकों का। जब कल्पना मूर्त रूप धारण करती है, तब बिम्बों की सृष्टि होती है और जब बिम्ब प्रतिमित या व्युत्पन्न अथवा प्रयोग के पौनःपुन्य से किसी निश्चित अर्थ में निर्धारित हो जाते हैं तब उनसे प्रतीकों का निर्माण होता है। अतः *कला विवेचन की तात्त्विक दृष्टि से बिम्ब कल्पना और प्रतीक का मध्यस्थ है।* दूसरी बात यह है कि बिम्ब विधान में मूर्तता, सादृश्य और ऐंद्रिय बोध की अनिवार्य उपस्थिति रहती है। जो बिम्ब जितना ही ऐंद्रिय रहता है उतना ही सशक्त होता है। कारण वस्तु विशेष के प्रति ऐंद्रिय आकर्षण ही कलाकार की कल्पना को अनुकूल बिम्ब-विधान की ओर प्रेरित करता है। यद्यपि बिम्ब-विधान के समय कलाकार के समक्ष केवल वस्तु बोध ही नहीं रहता बल्कि विभिन्न प्रकार के साहचर्यों, संवेदनों अथवा प्रभावों का भी सातत्य रहता है। इस तरह कला-जगत् के बिम्ब इन्द्रिय-संनिकर्ष में आई हुई वस्तुमात्र का नहीं, वस्तु के विशेष और विविध भाव-सम्बन्धों को भी मूर्तिमान् करते हैं। फल-स्वरूप उत्कृष्ट बिम्ब कवि या कलाकार के घनीभूत संवेगों से संश्लिष्ट रहता है।

इस विवेचन में कुछ बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में और कुछ बिम्बों के उपकरणों के सम्बन्ध में कहा गया है। यह अवश्य स्वीकार किया है कि बिम्बों का अनुभव भले ही पाठक या श्रोता को होता है परन्तु उनकी निर्मिति की प्रक्रिया कवि से ही आरम्भ होती है। क्योंकि जब तक वह अंतर्दृष्टि में उस वर्ण्य का प्रत्यक्षीकरण नहीं करेगा, तब तक काव्य में उसको प्रत्यक्षवत् आबद्ध कैसे करेगा? इसी लिये बिम्बों में कवि के अनुभवों और संवेदनों का संश्लेषण आवश्यक माना गया है।[1] वस्तुतः शब्दों को प्राणवान् उसके संवेदन ही करते हैं। अन्यथा उसके द्वारा प्रयुक्त शब्द भी उन्हीं ध्वनियों से बने होते हैं जिनसे इतिहासकार या रिपोर्टर के शब्द।

यथार्थ में अनुभूति सूक्ष्म और हृदय-संवेद्य होने के कारण शब्द से सीधे तौर पर प्रकट नहीं की जा सकती। इस प्रयोजन के लिए कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। इसमें उपयुक्त वातावरण की सृष्टि होती है। पुनः इसके लिए अभिव्यक्ति-समर्थ शब्दों और ध्वनियों के चयन हेतु अभ्यास के सातत्य की अपेक्षा होती है। प्रतिभाशाली कवि की रचना में इस प्रकार के शब्द

---

१ डा० कुमार विमल—काव्यबिम्ब : एक अनुशीलन (नगेन्द्र : साधना के आयाम) पृ० १३१-३२

रचनात्मक प्रतिभा के प्रभाव से स्वयं प्रस्फुटित होते हैं जो कि अमूर्त विचारों को प्रकाशित कर सकें या स्वरूप प्रदान कर सकें।[1]

आइ०ए० रिचर्ड्स ने काव्य बिम्बों पर मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करते हुए बतलाया है कि काव्य बिम्ब की पूर्ण निष्पत्ति एकाएक न होकर शृङ्खलात्मक रूप में होती है जिसमें परस्पर सम्बद्ध अनेक बिम्ब होते हैं। इन सबको यथाक्रम ६ की संख्या में रखा गया है—

(१) मुद्रित शब्दों का प्रत्यक्ष अनुभव।

(२) उन अनुभूतियों से अत्यन्त सम्पृक्त बिम्ब।

(३) अपेक्षाकृत स्वतन्त्र बिम्ब।

(४) सङ्केत या विभिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध में इन विचार।

(५) मनोभाव।

(६) प्रभावुक इच्छा या सङ्कल्पात्मिका प्रवृत्ति।

यह प्रक्रिया शब्दों के चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण से आरम्भ होकर विभिन्न वस्तुओं के सम्पर्क से उद्भावित मनोभावों की प्रतिक्रियात्मक चेष्टाओं या मानसिक क्षोभ तक निरन्तर चलता है।

इसमें अध्ययन से निष्पन्न चाक्षुष बिम्ब (visual images) शब्दों को सुनने से बने श्रावण बिम्ब इस परम्परा में बने स्वतन्त्र स्मृति बिम्ब विभिन्न धारणाएं उनमें प्रभावित मनोभावों एवं मनोवेगों की उद्भूति और उनकी प्रतिक्रिया स्वरूप व्यापारकलाप का सङ्कलन सब सम्मिलित हैं।[2]

---

1 Language is not a readymade thing but a continuous process it is the ever repeated labour of the human mind to utilize articulated sounds to express thoughts

—Cassier—An Essay on Man 168

and—Words brought together by creative intution could explode in a dynamic image much more provocative in result than the impulsion of abstract thoughts grouping for words to give them countenan e Editor Sydney Brown

—Dictionary of French Liberation pp 326 37

—छायावादोत्तर काव्य में बिम्ब में उद्धृत पृ० १३

२ प्रिंसिपल्स आफ लिटररी क्रिटिसिज्म—(१९७६ संस्करण) दि अनालाइसिस आव ए पोयम पृ० ८६-१०२

बिम्बों का महत्त्व—पाश्चात्य समीक्षक काव्य में बिम्ब-रचना को बहुत महत्त्व देते हैं। पीछे एज्रा पाउण्ड का मत उद्धृत किया जा चुका है। उसने बिम्बनिर्माण को कवि की सबसे बड़ी सफलता माना है। लेविस इमेज का प्रभाव बताता हुआ कहता है कि इमेज किसी अंश में एक शब्दों में बना ऐन्द्रिय एवं भावात्मक चित्र है, वह कुछ सीमा तक लाक्षणिक होता है, उसकी तह में मानवी मनोभाव छिपा रहता है। वह पाठक में कवि के भावात्मक संवेगों को सम्प्रेषित या संक्रान्त करता है।[1] इस कथन में आरम्भिक अंश इमेज का स्वरूप बताता है तो अन्तिम अंश उसका प्रभाव। इसी में इमेज का महत्त्व अन्तर्निहित है। काव्य कवि की भावनाओं को पाठक या श्रोता तक पहुँचाता है और इस कार्य में बिम्ब उसका असाधारण उपकरण बन जाता है। अन्यत्र वही एच० डब्ल्यू० गैराड का मत उद्धृत करता है जिसके अनुसार मानव आरम्भ में ही कवि था, उसके मुह से पहले पहल जो वस्तुओं के नाम निकले वे उसके प्रत्यक्षात्मक अनुभव थे।[2] कीट्स तो यहां तक आगे बढ़ गया कि वह सम्पूर्ण काव्यात्मक सृष्टि को एक इमेज स्वीकार करता है।[3] शैले जब इमेजिनेशन को चारित्रिक शिव का सबसे बड़ा उपकरण स्वीकार करता है तो प्रकारान्तर से इमेज के ही गीत गाता है। मैक्नीस जब केवल कवि को काव्यात्मक सत्य का एकमात्र वक्ता घोषित करता है तो उसका अभिप्राय भी यही है कि कवि इमेजिनेशन या सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा पदार्थों का सत्य स्वरूप प्रत्यक्षायित करके सत्य का उद्घाटन करता है।[4]

---

1 The poetic image is a more or less sensuous picture in words, to some degree metaphorical, with an undernote of some human emotion in its context but also charged with and releasing into the Reader a special poetic emotion or passion which—no it won't do, the thing has got out of hand —The Poetic Image p 22

2 Once upon a time (says Mr H W Garrod) the word was fresh, to speak was to be a poet to name objects our inspiration and metaphor dropped from the inventive mouths of men like some natural exudation of the vivid senses
—वही, पृ० २५ पर उद्धृत

3 Keats has contrived to suggest the whole complex act of Poetic creation in a single image —वही पृ० २७

4 Others can tell lies more efficiently, no one except the poet can give us Poetic truth —Mac Neice
—वही, पृ० ३१ पर उद्धृत

एम० के० काफमैन तो उस कवि को कवि ही मानने को उद्यत नहीं जो अपने भावों को इमेज के रूप में परिणत न कर सके[1]।

टी० एफ० ह्यूम के अनुसार बिम्बात्मक काव्य पाठक की चित्तवृत्ति को आकृष्ट कर लेता है और कोरी प्रक्रिया में नहीं भटकने देता[2]। काव्य में बिम्ब की महत्ता उस समय अतिवाद को पहुँच जाता है जबकि काव्य और बिम्ब में अभेद की स्थापना होता है[3]।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य समीक्षक कविता में बिम्ब योजना को बहुत महत्त्व देते हैं परन्तु उनकी दृष्टि में यह कवि का एक अतिरिक्त कौशल है कविता का अभिन्न पक्ष नहीं।

भारतीय काव्यशास्त्र और काव्यबिम्ब—सामान्य रूप से आधुनिक भारतीय विचारक चाहे वे अंग्रेजी-साहित्य के अध्येता हों या हिन्दी के यह धारणा रखते हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्री इस बिम्ब की धारणा से अपरिचित थे। एक लेखक ने तो यहाँ तक लिखा है कि भारतीय आचार्यों का रस के प्रति अधिक आग्रह था। इसलिए इस ओर उनकी दृष्टि नहीं गई[4]। अन्य समीक्षक ने यह तो स्वीकार किया है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में जहाँ तहाँ बिम्ब-सम्बन्धी धारणा के संकेत मिलते हैं। अलङ्कारों के प्रसङ्ग में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव की चर्चा होती है। यह उपमानात्मक भाव का वाचक है। किन्तु संस्कृत काव्य शास्त्र में अप्रस्तुत विधान में ही बिम्ब भावना का स्पर्श है जबकि आधुनिक कवि प्रस्तुत का भी बिम्ब निर्माण करते हैं। लक्षणा और व्यञ्जना तथा ध्वनि

1 The poet is he with whom feelings develop into images and the images themselves into words which translate them while obeying the laws of rhythem

—S K Coffman—Imagism, p 66

—छायावादोत्तर काव्य में बिम्ब पृ० १६

2 A poetry of images endevours to arrest you and to make you continuously see a physical thing to prevent you gliding through an abstract process

T F Hulme—Speculations p 135

—उमा अष्टवंश द्वारा उद्धृत पृ० ५

3 Poetry is imagery and imagery is sensation

—R H Fogle—The imagery of Keats & shelly p 5.

—छायावादोत्तर काव्य में बिम्ब पृ० ७

४ अखौरी काव्यबिम्ब पृ० ४४

उपचारमूलक सारे ही अलङ्कार इस बिम्ब विधान के साधन हैं। नगेन्द्र ने प्राचीन आचार्यों की बिम्ब भावना की तुलना आधुनिक समीक्षकों से करते हुए प्राचीनों की कृतियों में केवल अप्रस्तुत विधान बतलाया जबकि आधुनिकों की विशेषता बताई है कि वे प्रस्तुत विधान की योजना से भी बिम्बनिर्माण करते हैं[1]। इस सम्बन्ध में उन्होंने बिहारी कवि का एक दोहा प्रस्तुत किया है—

सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात।
मनहुँ नीलमनि-सैल पर आतप परयो प्रभात॥

उनका कथन है कि इस दोहे में उपमेय और उपमान दोनों पक्षों के वर्णन से पूर्ण बिम्ब की सृष्टि होती है। उनका अभिप्राय यह लक्षित होता है कि प्राचीन आचार्यों की दृष्टि इस तथ्य पर नहीं गई थी। किन्तु वे यह भी जानते ही हैं कि यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। उत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ प्रस्तुत में अप्रस्तुत की सम्भावना की जाये। दोहे के पूर्वार्ध में उपमेय पक्ष है उत्तरार्ध में उपमान। श्रीकृष्ण जो श्याम वर्ण हैं उन्होंने पीताम्बर ओढ़ा हुआ है। उससे ऐसा दृश्य बनता है जैसा नीलम के पर्वत पर प्रातःकालीन धूप पड़ने से बनता है। इस प्रकार यह वस्तूत्प्रेक्षा का उदाहरण है। इस उत्प्रेक्षा में उपमेय में उपमान का अध्यवसान भी होता है तथा कि उपमान का अधःकरण—उसकी गौणता का प्रतिपादन करने से भी हो जाता है[2]। उत्प्रेक्षा में उपमेय और उपमान का सादृश्य यथा आदि शब्दों से वाच्य नहीं होता। मानो कहने से आपातत दोनों में अभेद की प्रतीति होती है। इस प्रकार उपमेय और उपमान दोनों ही साथ साथ रखे जाते हैं। दोनों के साहचर्य से ही बिम्ब की सृष्टि सम्भव है। इसके अभाव में उत्प्रेक्षा ही सम्भव नहीं होगा। उदाहरण के लिए श्लोक है—

बिहारी के दोहे से संस्कृत पद्य की तुलना—

करे कुरङ्गकदृशश्चञ्चल चेलाञ्चलो भाति।
सपताकः कनकमयो विजयस्तम्भः स्मरस्येव[3]॥

यहाँ किसी सुन्दरी का [illegible] गोरा-गोरा चिकना उपमेय है। उस पर से साड़ी की किनारी रह रह कर हवा में उड़ रही है। कवि उसमें कामदेव के

---

१ काव्यबिम्ब पृ० ४१

२ विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः।
अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रचक्षते॥ —सा० द० १० पृ० ३२३

३ वही पृ० ३१६

विजयध्वज के सुवर्ण-स्तम्भ (Pole) की कल्पना करता है जिसके ऊपर झण्डा फहरा रहा हो। यहाँ गोरी पिंडली की जो सर्वथा गोल है, समानता विजय-स्तम्भ से की गई है जो सोने का बना होने के कारण रंग में एक रूप है। पवन में उड़ता साड़ी का किनारा पताका के समकक्ष है। झण्डे का वस्त्र यदि हवा न चलने से नीचे लटका हुआ हो तो उसका खम्भा ऊपर के भाग में ढका रहता है। जब वह फहराने लगता है तो स्तम्भ का उतना अंश दिखाई देने लगता है। सुन्दरी की पिंडलियाँ भी साड़ी का अञ्चल हटने के कारण ही दिखाई दे रही हैं। अब यहाँ पूर्व उद्धृत दोहे से तुलना की जाय कि समर्थतर बिम्ब कौन-सा है। बिम्ब की एक बड़ी विशेषता यह बताई गई है कि उसमें क्रिया (Action) होना आवश्यक है।[1] प्रस्तुत पद्य में साड़ी की किनारी का हिलना चञ्चल शब्द के द्वारा वाच्य है किन्तु पताका का हिलना सामर्थ्य से व्यङ्ग्य है। इस प्रकार निष्पक्ष समीक्षक यह निस्सन्देह स्वीकार करेंगे कि बिहारी के दोहे की अपेक्षा इस पद्य का बिम्ब समर्थतर और पूर्णतर है। पहले में केवल प्रतिफलनात्मक है जबकि दूसरे में सक्रिय। अब इन आलोचकों से पूछना है कि इसमें प्रस्तुत-विधान है या नहीं और यह प्रस्तुत-विधान की कल्पना भी क्या पश्चिम से ही आई है? इस उत्प्रेक्षा अलङ्कार की सद्भावना क्या आधुनिक समीक्षकों ने की है? इसी प्रकार एक बिम्ब-कल्पना का उदाहरण कालिदास की लेखनी से उद्धृत किया जाता है—

> भव हृदय साभिलाषं, सम्प्रति सन्देह-निर्णयो जातः ।
> आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ।।[2]

इसको समझने के लिए प्रसङ्ग पर दृष्टि डालना आवश्यक है। राजा दुष्यन्त कण्व के आश्रम में शकुन्तला को देखता है और उस पर मुग्ध हो जाता

---

1 Whatever the process and whatever the stages of this transformation may be, the pictorial image, in the real sense of the term does not emerge till its completion And pictorial poetry must evoke in the reader a pictorial image as explained above, including picturespace and suggestion of planes and volume or three—dimensional space It is thus different from reflective or even narrative poetry where the theme is either abstract idea, faling or passion on the one hand or movement or action on the other

—Pictorial Poetry, p 17

२ शाकु० १ २७

है। किन्तु मर्यादा का अंकुश उसे नियन्त्रित रखता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार क्षत्रिय का ब्राह्मण-कन्या के साथ विवाह प्रतिलोम होने से प्रतिषिद्ध है।[1] जिस प्रकार हिन्दू-समाज में विवाह-सम्बन्ध निश्चित करने से पूर्व कन्या एवं वर के कुल आदि की छानबीन करना आवश्यक समझा जाता है, राजा उसी प्रकार शकुन्तला कण्व की औरस कन्या है या पालिता इसकी पूछताछ करता है। क्योंकि औरस होने पर उससे विवाह की सम्भावना नहीं हो सकती। सम्भवतः ब्राह्मण-कन्या के साथ क्षत्रिय के विवाह का ययाति का निदर्शन उसके मस्तिष्क में नहीं था,[2] प्रत्युत दण्ड और अरजा का भयङ्कर काण्ड उसकी स्मृति में था कि अरजा तो शुक्र की कन्या थी, और दण्ड ने बलात्कार किया, फलस्वरूप उसके राज्य का नाश हो गया।[3] इसलिए उसका मानस हानि की सम्भावना से आतङ्कित था। पर जब उसे यह ज्ञात हो गया कि वह वस्तुतः क्षत्रिय विश्वामित्र और अप्सरा मेनका के समागम से उत्पन्न हुई है,[4] तो पितृवंश एवं मातृवंश दोनों ओर से ही ब्राह्मणत्व की आशङ्का का निराकरण हो गया। इससे दुष्यन्त के हृदय का बोझ उतर गया, मनोरथपूर्ति की आशा उभर आई। आतङ्क की निवृत्ति और आशा के उदय से उत्पन्न भावसन्धि का जो अपूर्व आनन्दात्मक अनुभव उसे हुआ होगा, सीधे शब्दों में उसकी अभिव्यक्ति कैसे सम्भव होती? कवि बिम्ब-योजना से इसे अभिव्यक्त करता है कि जिसे वह आग समझ रहा था वह तो छुआ जा सकने वाला रत्न निकला। इस बिम्ब की गम्भीरता और पुष्टि पृष्ठभूमि से होती है। अग्नि दाहक होने से स्पर्श के योग्य नहीं होता है। उसे छूने डर लगता है क्योंकि हानि का आतङ्क सामने रहता है। रत्न इसके विपरीत शीतल, मसृण और रमणीय वस्तु होने से सुखद होता है। शकुन्तला को पहले अग्नितुल्य विवाह के अयोग्य समझा था जबकि वह रत्न के समान उत्तम निकली जिसको पाने की प्रत्येक व्यक्ति कामना कर सकता है।

यहाँ शकुन्तला की आकृति, रंग-रूप आदि किसी का अग्नि या रत्न के

---

१ तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम् ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्या स्वा शूद्रजन्मनः ॥ —या० स्मृ० आचा० १ ५७

२ न ब्राह्मणो मे भविता हस्तग्राहो महाभुज ।
कचस्य बार्हस्पत्यस्य शापाद् यमशपं पुरा ॥ —भा०पु० ९ १८ २२

३ वा०रा० ८० ८१

४ मानुषीषु कथं नु स्यादस्य रूपस्य सम्भवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥ —शाकु० १ २५

साथ समानता नहीं है। यदि सौन्दर्य की चमक-दमक और रत्न का साम्य स्वीकार भी कर लें तो भी आतङ्क का भाव जो अग्नि की सभावना में उत्पन्न होता है, केवल प्रभाव-साम्य से उद्‌भूत है। यह बिम्ब परिणति में शकुन्तला के रूप आदि का अनुभव कुछ नहीं कराता प्रत्युत दुष्यन्त की मानस अनुभूति का ही ज्ञान कराता है। इसलिये मन में अमूर्त की अनुभूति ही इसका फल है। यद्यपि इसमें अध्यवसान का भाव है किन्तु वह रूप आदि का साम्य लेकर नहीं है। सर्वनाम पद, तद् और इद नपुसक लिङ्ग होने के कारण रत्न का ही सङ्केतित करते हैं, शकुन्तला को नहीं। उसका ज्ञान तो प्रसङ्ग के कारण सर्वथा बौद्धिक है।

इस प्रकार की समर्थ बिम्ब-योजना का भाव यदि कालिदास के मस्तिष्क में न होता तो इसकी सृष्टि कभी भी न होती।

आनन्द और चमत्कार—अस्तु। काव्य का मुख्य प्रयोजन भारतीय आचार्यों ने निरतिशयानन्द-प्राप्ति स्वीकार किया है। उस आनन्द का मूल चमत्कार है।[1] चमत्कार का आज का तद्‌भव शब्द चौंकना अथवा चमक है। दोनों का अर्थ यद्यपि पृथक् है तथापि हैं मूलतः इसी शब्द से सम्बद्ध। मनुष्य किसी अप्रत्याशित बात को सुनकर चौंकता है परन्तु यदि उसे सुनकर सुख की अनुभूति हो तो चेहरा चमक उठता है। हृदय का उल्लास मुख पर उतर आता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। काव्य में कविप्रतिभा-प्रसूत किसी बात को पढ़कर या सुनकर उसके अप्रत्याशित होने से पाठक या श्रोता विस्मय में चमत्कृत होता है और उल्लास का अनुभव करता है। आनन्द सत्त्व गुण की प्रधानता में होता है और सत्त्व गुण का स्वरूप प्रकाश या ज्ञानात्मक है।[2] काव्य क्योंकि शब्द-निर्मित होता है, अतः सारा व्यापार उसमें शाब्दिक ही रहता है। वाक्यगत शब्द व्याकरणशास्त्र के अनुसार पद कहलाता है।[3] उसका अर्थ वस्तुतः कोई विषय न होकर वह वस्तु है जिसके लिए उस पद का प्रयोग किया जाता है। यही कारण है कि सांसारिक भोज्य आदि वस्तुओं के लिए पदार्थ शब्द का व्यवहार होता है। क्योंकि वक्ता का तात्पर्य तत्तत्पदबोध्य वस्तु से रहता है। उदाहरण के लिए कोई भोजनार्थी भोजन के लिए बैठा हो उसके लिए भोज्य पदार्थ लाने को कहने पर केवल पद का भाव समझाने से उसका प्रयोजन सिद्ध

१ सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मय। —सा० द० ३, २

२ सत्त्व लघु प्रकाशकम् सा० का० १३

३ सुप्तिङन्त पदम्। —पा० १, ४ १४

स्मृति-बिम्ब सम्भव नहीं है न वस्तु के स्वरूप का ही ज्ञान हो सकता है। जैसे न्यायदर्शन में घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर अनुव्यवसाय में घट के ज्ञान की प्रतीति मानी गई है।[1] उस समय "कम्बुग्रीवादिमान् घट" यह ज्ञान होने पर ही कालान्तर में बोद्धा के मस्तिष्क में तादृश आकृतिमान् घट की स्मृति उभरती है। इसी प्रकार काव्यगत वर्णन सुनकर या पढ़कर शब्दों के माध्यम से उनके वाच्य पदार्थ की आकृति सहसा सामाजिक के समक्ष उपस्थित सी हो जाय तो वह चमत्कृत हो उठता है। यदि ऐसा न हो तो समझना चाहिए कि उस काव्यार्थ का बोध नहीं हुआ। न ही आनन्द की उपलब्धि हुई। इसी कारण जगन्नाथ ने काव्य के शरीरभूत शब्द के लिए रमणीय अर्थ का प्रतिपादक होना आवश्यक घोषित किया।[2]

यहां शब्दार्थ, रीति वृत्ति गुण अलंकार चमत्कार की उत्पत्ति के साधन होने से उनके साथ तो चमत्कार का जन्य-जनक भाव सम्बन्ध होगा परन्तु रस की प्रधानता को और चमत्कार को रस का प्राण मानने पर रस ही मुख्य ठहरेगा और चमत्कार साधन।

यह चमत्कार वस्तु के यथार्थ वर्णन से भी होता है और कल्पना से नवोद्भावित वर्णन में भी सम्भव है। यथार्थ वर्णन के भी प्रतिभा प्रसूत होने पर प्रत्यक्षवत् भासित होने से चमत्कार होता है। इसके लिए वर्ण्य की आकृति वेषभूषा चेष्टा आदि सब प्रत्यक्ष-से होने आवश्यक हैं। इसका उदाहरण उत्प्रेक्षा के प्रसङ्ग में दिया जा चुका है।[3] कल्पना प्रसूत पदार्थ सत्ता में न रहने पर भी पाठक या श्रोता को वास्तविक ही प्रतीत होता है। इसका प्रमाण बाण की कादम्बरी में गन्धर्व-लोक के वर्णन प्रसङ्ग में कादम्बरी के महल का अतिरञ्जित वर्णन है। दार्शनिक लोग यद्यपि गन्धर्व नगर की सत्ता अवास्तविक मानते हैं तथापि काव्य जगत् में वह वास्तविक ही है। क्योंकि एक सिद्धान्त यह है कि वस्तु का सर्वथा सद्भाव न रहने पर भी यदि शब्द का प्रयोग कर दिया

अत्र हि 'स्मरामीति' या स्मृतिरुपदर्शिता सा न तार्किक-प्रसिद्धा पूर्वमतस्य अस्यानुभूतत्वात्। अपि तु प्रतिभानात्मक यथार्थ-साक्षात्कार स्वभावाऽनुमितिः। अभि० भा०। पृ० २७६

१ तन्नैयायिका जानन्ति प्रत्यक्षतया ज्ञानमनुमीयते। मुरारिमिश्राणां मतेऽनुव्यवसायेन ज्ञानं गृह्यते। सिद्धा० मु० (ज्वालाप्रसाद गौड़ टीका) भाग १, पृ १२६

२ रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रस०।

३ देखें, टि० ६३ पृ० ७२

जाता है तो शब्द उसका ज्ञान कराता ही है।[1] यह आपाततः परस्पर विरोधी बात लगती है। जब वस्तु है नहीं तो उसका ज्ञान कैसा होगा और यदि ज्ञान होता है तो उसकी असत्ता कैसे हुई? क्योंकि असत् की सत्ता सम्भव नहीं और जिसकी सत्ता है, उसे असत् कौन कहेगा।[2] पर लोक में यह देखने को मिलता है कि सर्प न रहने पर भी रस्सी को साँप समझने वाला उसे देख कर भयभीत होता है, मरु-मरीचिका में जल न रहने पर भी मृग, जल के लिए इधर-उधर भागता है। यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि नाटक में हम मुख्य पात्र के न रहने पर भी और यह जान कर भी कि अभिनेता यहाँ अमुक पात्र की भूमिका में है, रामादि का अभिनय देखकर रसानुभव करते हैं। संस्कृत-साहित्य में ही नहीं, अन्य भाषाओं के साहित्य में भी यह बात देखने को मिलती है। अंग्रेजी के कवि कोलरिज की काव्यकृति "कुबला खाँ" सर्वथा कल्पना-प्रसूत एवं स्वप्नकृति मानी जाती है। उपन्यास और कथा के पात्र एवं घटनास्थल सर्वथा कल्पित होकर भी वास्तविक प्रतीत होते हैं। तो क्या आश्चर्य है कि काव्य में प्रयुक्त शब्द पदार्थ का ज्ञान करायें। यह तो कवि के कौशल पर निर्भर है कि वह पाठक को वस्तु का ज्ञान कराने में कहाँ तक समर्थ होता है। फलतः काव्य-रचना करते समय कवि के समक्ष दो प्रमुख बातें रहती हैं—वर्णित पदार्थ को सामान्य होने पर भी रम्य रूप प्रदान करके भासित करना तथा अपनी प्रतिभा के द्वारा एक नई सृष्टि खड़ी करना। आचार्य अभिनव गुप्त कवि और सहृदय दोनों को भाव-भूमि में भासित होने वाली भारती के सार महिमा इन्हीं शब्दों में ख्यापित करते हैं।[3]

दुर्भाग्य से आज प्राचीन मनीषी और अभिनव गुप्त के साहित्यगुरु भट्ट तौत का अमूल्य ग्रन्थरत्न काव्य-कौतुक सुलभ नहीं है। केवल कोहनूर के कणों की भाँति उसके कुछ पद्य जहाँ-तहाँ अपनी आभा आलोकित कर रहे हैं। वह सुलभ होता तो सम्भव है, बिम्ब के विषय में आधुनिक समीक्षकों को यह भ्रान्ति

१ अत्यन्ताऽसत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि। कुमारिल द्वारा श्लोकवार्तिक में (श्लोक ६ पृ० ४६ चौख० सं०)

२ नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। गीता २, १६

३ अपूर्वं यद् वस्तु प्रथयति विना कारण-कलां
जगद् ग्राव-प्रख्यं निजरसभरात् सारयति च।
क्रमात् प्रख्योपाख्या प्रसरसुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कवि-सहृदयाख्यं विजयते ॥ —ला० प०

न होती । तौत न स्पष्ट शब्दो मे कवि को ऋषि घोषित किया है ।[1] क्योंकि ऋषि की भाति कवि भी त्रिकालदर्शी या क्रान्तद्रष्टा होता है । क्रान्तद्रष्टा त्रिकालाबाधित ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को कहते हैं । कवि यदि स्वय पदार्थों का साक्षात्कार करेगा तभी उनका प्रत्यक्षवत् वर्णन करने म समर्थ होगा ।[2]

कवि शब्द की व्युत्पत्ति कुङ् शब्दे[3] या कवृ वर्णे धातु[4] स की जाती है । प्रथम के अनुसार शब्द-व्यापार करने वाला कवि कहलायेगा । यद्यपि एक प्रेसकम्पोजिटर भी अक्षरो को जोडकर शब्द व्यापार करता है और कवि भी । शब्दो को जोडकर पुस्तकें बनाने के कारण दोनो समान प्रतीत होते हैं तथापि दोनो म निश्चित ही अन्तर मानना होगा । पहले का अर्थ म कोई सम्बन्ध नहीं होता जबकि दूसरे का अर्थ के बिना निर्वाह नहीं । दूसरी व्युत्पत्ति म वर्णन करने वाला कवि होता है । वर्णन का अर्थ वर्ण-योजना करे तो अक्षरो को जोडने वाला प्रेसकम्पोजिटर पुन कवि कहलाने का अधिकारी हो जायेगा । अत वर्ण का अर्थ रङ्ग (colour) भी लेना होगा । तभी अङ्गराग के लिए वर्णक शब्द का प्रयोग होता है । कम्पोजिटर केवल अक्षरो स काम लेता है, उसका अर्थ स कोई सम्बन्ध नहीं । अन्यथा वह ईश्वर की रचना को 'छ मर चना न कर देता । इसके विपरीत कवि यथार्थ वस्तु को भी अपनी प्रतिभा के प्रभाव स नया रङ्ग देकर अपूर्व की भाति प्रस्तुत करता है । उसका किया वर्णन प्रेसकम्पोजिटर की भाति घटना का विवरण मात्र न होकर 'लोकोत्तर वर्णनामय'[5] होता है । इस कवि की कृति ही काव्य कहलाती है । भट्ट-तौत के अनुसार वाल्मीकि के मुख से जब तक यह 'वर्णना' उद्भूत नहीं हो गई तब तक काव्य का उदय नहीं हुआ । कवि कृत यह वर्णना ही वर्णित वस्तु

---

१ नानृषि कविरित्युक्तं ऋषिश्च किल दर्शनात् ।
विचित्र भाव धर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम् ।। —काव्यानु० पृ० ४३२

२ तु०—करबदरसदृशमखिलं भुवनतलं यत्प्रसादतः कवयः ।
पश्यन्ति सूक्ष्ममतयः सा जयति सरस्वती देवी ।।
सुबन्धु वा० दत्ता १ १

३ कुङ् शब्दे धातुपाठ १०४१ (मा० सिद्धा० पृ २६४)

४ कवृ वर्णे (धा० ३८०) तस्य शब्दश्च कवृ वर्ण इत्यस्य धातो काव्यकर्मणो रूपम् । काव्या० पृ० २१

५ लोकोत्तरवर्णनानिपुणकवि कर्म । —काव्यप्र० का०, १, २

६ स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठित कवि । दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुति । तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुने । नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना ।। (काव्यानु० पृ० ४३२) —कास० पृ० १८

का प्रत्यक्षीकरण करती है। यही प्रत्यक्षीकरण का भाव आधुनिक हिन्दी साहित्य में बिम्ब-विधान के नाम से और अंग्रेजी साहित्य में इमेजरी के रूप में प्रचलित है।

गोपाल भट्ट का मत—काव्यार्थ की प्रत्यक्षकल्पता के प्राचीन आचार्यों का अभिमत होने का प्रमाण वामन कृत काव्यालङ्कार सूत्र पर कामधेनु टीका के रचयिता गोपेन्द्र त्रिपुर हर भूपाल अथवा गोपेन्द्र तिप्प भूपाल कृत आत्मा शब्द की व्याख्या में उद्धृत गोपाल भट्ट का वचन है। रेवाप्रसाद द्विवेदी ने इन्हें काव्यप्रकाश पर साहित्यचूडामणि व्याख्या के लेखक से अभिन्न ठहराते हुए इनका समय गोपेन्द्र तिप्पहर भूपाल के समय १४२३-४६ ई० से एक शताब्दी पूर्व अनुमानित किया है[1]। इस व्याख्या में गोपाल भट्ट ने—

करङ्ग-गात्र-कल्प-शब्दार्थ-वाक्य-वैलक्षण्य-प्रकटन-प्रगल्भं कञ्चन स्फुरत्ताहेतु-स्वभावोऽत्रात्मत्युच्यते।

इन शब्दों में "स्फुरत्ताहेतु-स्वभाव" इस विशेषण से प्रतिपादित किया है कि आत्मतत्त्व के रूप में स्वीकृत धर्म से काव्य स्फुरणशील हो जाता है। स्फुरण का अर्थ चमकना या भासमान होना है। प्रत्यक्ष होकर ही कोई वस्तु चमक या भासित हो सकती है। वामन ने रीति को अन्यत्र चित्र का रेखा-रूप कहा है[2]। वास्तव में रेखाओं की विशिष्ट योजना ही चित्र का प्राणरूप होता है। रंग भरने से वह स्पष्ट हो उठता है। काव्य क्योंकि शब्दार्थयुगल से बनता है उसकी यथास्थान योजना रीति कहलाती है। काव्यार्थ का सजीव या वास्तव चित्र की भाँति प्रत्यक्ष होना ही रीति के आत्मत्वेन कथन का प्रयोजन है।

काव्य बिम्ब बनाम काव्यदोष—इस प्रकार कवि का काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने का उद्देश्य अपनी काव्यवस्तु को प्रत्यक्षकल्प बनाना ही है। इस प्रयोजन से प्राचीन आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से चमत्कार उत्पन्न करने वाले विभिन्न तत्त्वों का अपने ग्रन्थों में विवेचन किया है। उनमें उपयुक्त शब्द और अर्थ जो कि काव्य या कविता के शरीर अथवा स्वरूपघटक तत्त्व माने गए हैं[3] पहले आते हैं। विवक्षित अर्थ को अभिव्यक्त करने में सक्षम शब्द ही काव्य में प्रयुक्त होते हैं। इस कार्य में अक्षम अथवा बाधक या विपरीत एवं

---

१ बेचन झा द्वारा अनूदित काव्यालङ्कार सूत्र व्याख्या कामधेनु की भूमिका। —पृ० ४३

२ तदा सुरेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितम्। —कासूवृ०, १,२,१३

३ काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्। —सादo १६ प०

अनभिप्रेत रीति को नाम देकर उन वर्णों व शब्दों में वह चमत्कार माना जाता है। इसलिए चमत्कार के बाधक तत्वों को ही काव्य शास्त्र में काव्य दोष के नाम से पुकारा गया है। जिस प्रकार किसी स्वादिष्ट पदार्थ को खाते समय उसमें अवांछित पदार्थ आ जाने से स्वाद मारा जाता है इसी प्रकार [illegible] काव्य दोष आ जाने से काव्य के मुख्य अर्थ—रस या चमत्कार के आस्वादन में बाधा पड़ जाती है। उदाहरण के लिए कालिदास के निम्न पद्य को लें—

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥[2]

यह पद्य ताडका वध के प्रसङ्ग का है। कवि ने ताडका राक्षसी के जैसे भयङ्कर रूप का वर्णन किया है उसके अनुसार उसका वध करना एक अप्रतिम साहसी मनस्वी का ही कार्य हो सकता है। इस प्रसङ्ग में दोनों पक्षों के हृदय में उग्रता रोष और उत्साह की अपेक्षा होती है न कि स्नेह और सरसता की। अतः शृङ्गारी भाव की अभिव्यञ्जना यहाँ किसी प्रकार अनुचित प्रतीत होती है जैसे चन्दन के बीच में कोमल वस्तु। इसीलिए इस स्थल में अमतपरार्थता दोष स्वीकार किया गया है[3]।

रस और चमत्कार—इस प्रसङ्ग में एक बात स्पष्ट कर देने योग्य है। यद्यपि पारिभाषिक अर्थ में रस स्थायी के विभावादि से समन्वित होने पर परिपाक का अनुभव के लिए प्रयुक्त होता है तथापि चमत्कार प्राण होने से उसे भी व्यापक और सङ्कुचित दोनों अर्थों में लेना होगा। रस्यते इति रसः[4] इस व्युत्पत्ति के अनुसार चमत्काराधायक तत्त्व मात्र को रस माना जा सकता है। इसी दृष्टिकोण से रस को काव्य की आत्मा मानना अधिक युक्तिसंगत है।

---

१ मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः ।

—का० प्र० का० ०१

उद्देश्य प्रतीति विघातकत्वं दोषत्वमिति शब्दार्थः । उद्देश्या च प्रतीती रसवत्यविलम्बितानपकृष्टरसविषया च नीरसे त्वविलम्बिता चमत्कारिणी चार्थ विषया । तथा च तादृश प्रतीति विघातकत्वं सर्वेषामविशिष्टम् ।

का० प्रदी० पृ०, २८५

२ र० वं० ११ २०

३ अत्र प्रकृत रस विरुद्धस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽपरोऽर्थः ।

—का० प्र० का० पृ० ३२५

४ अभि भा० १ पृ० २६५

चमत्कारवादी आचार्य गुण, अलङ्कार, वक्रता आदि को काव्य मे प्रधानता देने पर भी समान भाव से रस का महत्त्व इसीलिए स्वीकार करते हैं[1]। दण्डी, भामह, उद्‌भट आदि आचार्य रस को अलङ्कारों के मध्य इसी कारण गिनते हैं[2]। फलतः इस व्यापक दृष्टि से सभी चमत्काराधायक तत्त्व रस की परिधि के अन्तर्गत हो सकते हैं और इससे विश्वनाथ का रस को काव्य की आत्मा[3] घोषित करना अधिक सगत हो जाता है। सम्भवतः मम्मट ने अपने काव्यलक्षण मे रस की चर्चा इसीलिए न की हो। सङ्कुचित अर्थ मे रस शब्द सम्प्रदाया-नुमत पारिभाषिक अर्थ मे ही ग्राह्य होगा।

इस सङ्कुचित अर्थ मे भी प्रत्यक्षीकरण वाला बिम्ब का भाव सिद्धान्ता-नुमत है। भट्टतौत का कहना है कि रसानुभूति के अवसर पर वर्णना एवं भोग तथा कल्पना के आधार पर सभी पदार्थ प्रत्यक्षकल्प हो जाते हैं[4]। प्रत्यक्षकल्प कहने का आशय यही है कि उनका ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष न होकर भावात्मक प्रत्यक्ष या मानस प्रत्यक्ष ही होता है जिसे आधुनिक समीक्षक मानस-बिम्ब कहते हैं[5]।

चमत्कार के अपेक्षित तत्त्व—इस चमत्कार की प्रतीति एवं रक्षा के लिए शब्द-प्रयोग, रस-योजना, अलङ्कार, छन्द आदि के प्रयोग मे औचित्य-रक्षा भी आवश्यक मानी गई है। औचित्य का विवेचन इसी दृष्टि से किया गया है कि इस चमत्कार की प्रतीति मे बाधा न हो। भरत आदि सभी आचार्य औचित्य के निर्वाह पर बल देते हैं[6]।

---

१ काव्यस्यात्मनि सङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः ॥

—व्यवि०, १,२६

२ रसवद् दर्शित-स्पष्टशृङ्गारादि रसम्। भाका० ३, ६ "मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः" दण्डी० काद० १ ५१

३ सा० द० १,३

४ वर्णनोत्कलिता भोग-प्रौढोक्त्या सम्यगर्पिता।
उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः ॥

—अभिभा० १, पृ०, २४०-४१

५ अखौरी-काव्या —बि० पृ०, ६८

६ वयोऽनुरूपः कुशलस्तु वेषो वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥

—ना० शा० १३,६४

क्षेमेन्द्र ने इस चमत्कार के दस प्रकार गिनाये हैं—आलोचनापेक्षता आलोचना निरपेक्षता शब्द-गत अर्थगत अलङ्कारगत रसगत या प्रख्यात वृत्तिगत[1]। उसकी तुलना में विश्वेश्वर ने मात्र चमत्कारविधायक तत्त्व स्वीकार किये हैं। उनके अनुसार रस गुण रीति वृत्ति शय्या पाक और अलङ्कार इन सातों की ठीक ठीक योजना होने से ही काव्य का पूरा स्वरूप उभरता है[2]। दण्डी वामन भोज इनमें से एक एक या दो अथवा तीन तत्त्वों को ही प्रधानता देते हैं किन्तु इसमें काव्य में एकाङ्गिता आती है अतः इन सातों तत्त्वों की ठीक ठीक योजना से काव्य एक साम्राज्य की भाँति शोभित होता है[3]।

यहाँ दण्डी की चर्चा इसलिए है कि वह काव्य के दो प्रकार मानता है—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति[4] भोज ने रसोक्ति नामक एक प्रकार और स्वीकार किया है[5] वस्तुतः अलङ्कार प्रधान काव्य के लिये वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग है। किन्तु वक्रता जिसमें प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती ऐसे अलङ्कार वर्ग के लिए स्वभावोक्ति की संज्ञा दी गई है। व्यंग्य मूलक सूक्ष्मादि अलंकार भी इस प्रकार में अन्तर्हित हो सकते हैं। यहाँ तक कि सन्धि सन्ध्यङ्ग और लक्षण आदि सभी ऐसे तत्त्व जो काव्य में चमत्कार की सृष्टि करते हैं दण्डी की दृष्टि में अलङ्कार की सीमा में आ जाते हैं दण्डी के समय तक ध्वनि सिद्धान्त का विकास नहीं हुआ था। अतः इन आचार्यों ने उसकी पृथक गणना नहीं की है

आचार्य वामन बिम्ब सदृश शब्दों का प्रयोग तो नहीं करते हैं परन्तु चमत्कार की धारणा उनके मस्तिष्क में अवश्य थी। चमत्कार के लिये ही वे

---

१ कविकण्ठा० (का०भा०गु० ४) पृ० १२६

२ गुण रीति रस वृत्ति पाक शय्यामलङ्कृतिम।
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः। च० च० पृ० १

३ गुणरीतिरसवृत्तिपाकशय्यादिभिः समस्तैः।
एकाङ्गतैव काव्यस्य कथिता दण्डिकादिभिः॥
गुण सपारमानस्य नीयश्चाङ्गानि याहु भोजराट्।
सप्ताङ्ग सङ्गतं काव्यं साम्राज्यमिव भासते। वही पृ० १

४ भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥ काद० २ ३६३

५ वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वाभावोक्तिश्च वाङ्मयम्। सर० ५ ८

६ काद० २ ३६७

शोभा और सौन्दर्य शब्द का प्रयोग करते हैं[1]। इसी लिए काव्य शब्द का अभिधेय वे परिनिष्ठित अर्थ में गुण और अलङ्कारों से सम्स्कृत शब्द और अर्थ स्वीकार करते हैं[2]। अलङ्कार शब्द की व्युत्पत्ति वे 'अलङ्कारणम्-अलङ्कार" भाव में घ प्रत्यय से तथा "अलङ्क्रियन काव्यम् एभिर्" इस करणार्थक व्युत्पत्ति से उपमादि के अर्थ में करते हैं।[3] पहले में सौन्दर्य एवम् अलङ्कार दोनों अभिन्न हैं, दूसरे में वे सौन्दर्य के साधन हैं। इस प्रकार अलङ्कार और बिम्ब दोनों का अभेद भी सिद्ध हो जाता है।

इस सौंदर्य की योजना दोषों के निराकरण व गुणों तथा अलङ्कारों के ग्रहण से सम्भव होती है[4]। गुणों का काव्यात्मस्थानीय रीति से गहरा सम्बन्ध है[5]। "आत्मा" शब्द से वामन का क्या अभिप्राय हो सकता है? आत्मा का अर्थ शरीर तो वामन को अभीष्ट नहीं है, यह उन्हीं के शब्दों में स्पष्ट हो जाता है। शरीर के प्रधान तत्त्व आत्मा की भांति वे रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं। पुनः काव्य शब्द में शब्द और अर्थ के समुच्चय का ग्रहण करते हैं। रीति की परिभाषा विशेष प्रकार की पदयोजना ही है। तब पद योजना और शब्दार्थ में भेद क्या रहा? देहात्मवादी दर्शनों को छोड़कर शेष में तो आत्मा शरीरी आदि शब्दों से अभिहित होकर सर्वथा पृथक् तत्त्व सिद्ध होता है। जब कहा गया है कि जिसके द्वारा यह शरीर रस, गन्ध, स्पर्श आदि का ग्रहण करता है जो शरीर का अधिष्ठाता है, वह आत्मा है[6]। तभी मुञ्ज से इषीका के पार्थक्य की भांति शरीर से आत्मा को पृथक्

---

१ काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः । — कामसू०, ३,१,१
सौन्दर्यमलङ्कारः । —वही, १ १ २

२ काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते ।
भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते । —वही, १ १ १ सूत्र की वृत्ति

३ अलङ्कृतिरलङ्कारः । करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते ।
—वही, १,१ २

४ स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम् । —वही, १ १ ३

५ *रीतिरात्मा काव्यस्य । वही १,२ ६, विशिष्टपदरचना रीतिः ।*
विशेषो गुणात्मा । —वही, १ २ ७-८

६ येन रूप रस गन्ध शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद् वै तत् ॥ —कठो , ४,३

करने की बात सङ्गत होती है। उसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए विश्वनाथ ने आत्मा को प्राणाधायक तत्त्व कहा है[2]। पर वामन के कथन से तो प्रतीत होता है कि पदों का सुनियोजित ढङ्ग से एक साथ रखने से जो एक अपूर्वता सी आ जाती है, वही काव्यत्व है। यह तो बौद्ध दर्शन में जो आत्मा का स्वरूप है, उसके निकट बैठता है। क्योंकि बौद्ध दर्शन आत्मा को रूप वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान का समुच्चय मात्र स्वीकार करता है[3] तो फिर वर्धमान सिद्ध होते हैं। स्पष्ट ही है कि रस एवं ध्वनि सिद्धान्त का उदय न होने तक इन आचार्यों की काव्य-स्वरूप सम्बन्धी धारणा अस्पष्ट सी थी। सामान्य रूप से शब्द और अर्थ को काव्य का स्वरूप-घटक तत्त्व मानते हुए भी कुछ विशेष प्रकार के शब्दार्थ को ही वे काव्य की उपादेय सामग्री स्वीकार करते थे। इसलिए रीति को काव्य की आत्मा मानने का मत शिथिल ही है।

अस्तु काव्य में सौंदर्य का आधान कैसे होता है? शोभा और उसमें अधिक चटकीलापन पदावली में स्थित गुण और अलङ्कार से ही आते हैं। गुण रीति के विशेष या स्वरूप हैं। शब्दगत और अर्थगत होने से गुण रीति के उपादानभूत शब्द और अर्थ में वैशिष्ट्य लाते हैं। यह वैशिष्ट्य कुन्तक और आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित लावण्य से अभिन्न ही प्रतीत होता है। क्योंकि दोनों के ही अनुसार वह नारी के अङ्गों के समुदित रूप में चमकने वाला एक आकर्षण है जो उत्पन्न तो शरीर से ही होता है पर दीखता उससे पृथक् ही है।[4]

इन सभी तत्त्वों का उपयोग बिम्ब के निर्माण में होता है यह पृथक् कहने की आवश्यकता नहीं है। रीतियों में काव्य की स्थिति उसी प्रकार बताई गई

---

१ अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। —कठो ६ १७

२ रस एवात्मा जीवनाधायको यस्य तेन विना तस्य काव्यत्वाभावस्य प्रतिपादितत्वात्। —सा० द० १

३ तु० दुःखसंसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च॥ सदस०

४ तु० वर्णविन्यासविच्छित्तिपदसंधानसम्पदा।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते॥ वक्रो० १ ३२

तथा—प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥
—ध्वन्या० १,४

है जैसे कि रेखाओं से चित्र।[1] इसका तात्पर्य यह हुआ कि चित्र में आकार रेखाओं से बनता है, रंग और पालिश उस चित्र में उसकी आकृतियों की स्पष्टता और उपयुक्तता भी उसे प्रदान करते हैं। इसी प्रकार पद-योजना से काव्य का निर्माण होता है। परन्तु गुणों से विशिष्ट पद द्वारा तो वह काव्यरूपी चित्र और स्पष्ट हो जायगा। अलंकारों से उसमें चमक और सजीवता आती है।

चित्रकला का उद्देश्य यही समझा जाता है कि चित्र का दर्शक यह भूल जाय कि वह चित्र देख रहा है। उसे चित्रगत पदार्थ सजीव या वास्तविक प्रतीत हों। इसी लिए श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य को विशेष महत्त्व दिया जाता है। वामन ने भी रूपक में अभिनय से चित्रपट की भाँति वास्तविकता का भाव स्वीकार किया है।

चित्र जिस प्रकार सुकुमार और भयंकर होता है उसी प्रकार पदों का होता है। सुकुमार पदार्थों की आकृति को उभारने के लिए मसृण व चटकीले रंगों का प्रयोग किया जाता है परन्तु जंगल, सिंह आदि भयंकर चीजों या किसी राक्षस की आकृति उभारने के लिए काले, धूसर व फीके रंगों का प्रयोग ही उपयुक्त रहता है। इसी प्रकार वामन आदि आचार्यों की रचना में सुकुमार एवं ललित पदबंध ही उपयोगी रहता है, इसके विपरीत क्रोध, घृणा, शौर्य और भय की अभिव्यक्ति के लिए संयुक्त एवं परुष पदबन्ध प्रभावशाली रहता है। इसी अवस्था में वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली इन तीन रीतियों को स्वीकार किया गया है। इनमें वैदर्भी सुकुमारतम है, प्रेम, करुण सदृश कोमल भावों के लिए यही उपयुक्त होती है। इसमें समास का सर्वथा अभाव या अल्प एवं लघु समास ही स्वीकार किये हैं[2]। पर एक विरोध इसकी मान्यता में आता है। एक ओर तो माधुर्य के शब्द गुण होने की स्थिति में उसका स्वरूप पृथक्पदत्व होता है,[3] ओज का गाढबन्ध या समासयुक्त होना है[4]। वैदर्भी में उभय दशा गुणों की स्थिति स्वीकार की गई है[5]। ऐसी स्थिति में उसमें सर्वथा समासों

---

१ एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति।
—का०सू० १,२,१३

२ माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥ —साद० ८ ३

३ पृथक्पदत्वं माधुर्यम्। —कासूवृ० ३,१,२१

४ गाढबन्धत्वमोजः। —वही, ३ १,५

५ तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्। —वही, १ २ १६

जिस प्रकार गुण शब्दगत और अर्थगत हैं उसी प्रकार अलङ्कार। ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा न होने पर भी उसके वाचक शब्दों का प्रयोग तो ये आचार्य भी करते ही थे। इसलिये काव्य में रस-भावादि अभिव्यक्ति की मान्यता उन्होंने कान्तिगुण के नाम से दी है।[1]

सारांश में वामन का रीति-विवेचन और उसके प्रसङ्ग में गुण व अलङ्कारों का निरूपण उस महान् काव्य-चित्र की पूर्णता के लिए है। विशेष अभिव्यक्ति की सामर्थ्य वाले शब्द और अर्थ, उनमें सम्पादित गुण और अलङ्कार उस चित्र के उपादान और असाधारण निमित्त कारण हैं। उनकी समन्विति चित्र की निष्पत्ति के लिए नितान्त अनिवार्य है। यह निष्पत्ति जब पूर्णता को प्राप्त हो जाती है तो उस अवस्था को आचार्य वामन ने पाक की संज्ञा दी है[2]। उसी पाक में कवि की पूर्णता परिलक्षित होती है। काव्य-बिम्ब की दृष्टि से वामन-निर्दिष्ट पाक का विस्तृत विवेचन अध्याय ७ के अन्त में किया गया है।

इस प्रकार चमत्कार-योजना द्वारा प्राचीन साहित्य-शास्त्र बिम्ब-विधान के सारे प्रपञ्च को अपने बीच में समेटे हुए है।

गद्यकाव्य और बिम्ब – यहाँ एक भ्रान्ति का निराकरण करना और आवश्यक है। बिम्ब के प्रसङ्ग में यह कहा गया है कि बिम्ब-योजना पद्य में ही हो सकती है, गद्य में नहीं। क्योंकि पद्य में जो संगीतात्मकता रहती है वह गद्य में सम्भव नहीं है।[3] परन्तु यह भी ठीक नहीं। जो लेखक चित्र और वस्तु में नाद और लय की सृष्टि मानता है[4] गद्य में भी लय-तान की स्थिति स्वीकार करता है,[5] वह गद्य में बिम्ब का अभाव माने यह आश्चर्य की बात है। बाण का गद्य काव्य इन बिम्ब-रत्नों का भण्डार है।

---

१ दीप्तरसत्वं कान्तिः। वही ३ २,१५

२ गुणस्फुटत्व-साकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते॥ उसी पर श्लोक

३ गद्य में आन्तरिक संगीत की प्रवाहपूर्ण गतिमयता नहीं होती, इसका वास्तविक स्वरूप व्याख्यात्मक होता है। ऐसी स्थिति में जैसी मेरी धारणा है, एक गद्य-रचना में विभिन्न बिम्बों का वह परस्पर विलयन सम्भव नहीं जो एक कविता में है। —काव्या०बि० पृ० ६३

४ चित्रकला और वास्तुकला में भी नाद और लय पूर्णतः समाविष्ट हैं।
—वही, पृ० १५८

५ वही, पृ० १४८

६ मिश्रित विम्ब—इनमें अनेक शब्दों के संगठन से किसी एक पूर्ण विम्ब का अनुभव होता है। जैसे—लाल कान्ति।

७ संश्लिष्ट विम्ब—इनमें अनेक शब्दों से एक साथ कई विम्ब बनते हैं। जैसे—अलिगुंजित उपवन।

८ मिश्रित निष्काय विम्ब—जब बहुत से शब्दों का एक संगठन बन जिसमें एक ही निष्काय विम्ब बने। उसमें कोई पूर्णता न हो। जैसे न्यायपूर्ण, दयालुता।

९ संश्लिष्ट निष्काय विम्ब—शब्दों का ऐसा संगठन जिसमें कई निष्काय विम्ब बनें किन्तु कोई पूर्ण न हो। जैसे सच्चा दान, पवित्र प्रेम।

१० निष्काय मिश्रित एवं निष्काय संश्लिष्ट विम्ब—ऐसा संश्लिष्ट या मिश्रित विम्ब जिसमें अमूर्त विधान विम्ब से अधिक महत्व का हो या जिसमें एक या अनेक विम्ब अमूर्त विधान की विशेषता निर्धारित करते हों। जैसे स्वर्णिम, मदीरता।

वास्तव में देखा जाय तो इस वर्गीकरण में पर्याप्त अस्पष्टता है। जैसे द्वितीय, चतुर्थ और पञ्चम में अन्तर स्पष्ट नहीं है। तीनों ही भावात्मक हैं। इसी प्रकार ८ और ९वां परस्पर मिलते जुलते हैं। इनकी विभाजक रेखा स्पष्ट नहीं है। पुनः सामान्य रूप से दयालुता आदि से क्या विम्ब बनता यह बोधगम्य नहीं है। इसमें भी अनुभूतिमात्र ही होगी। इस कारण यह वर्गीकरण पूर्णतः मान्य नहीं है। अचौरी ब्रजनन्दन स्वयं ६ प्रकार के विम्ब स्वीकार करते हैं—१ उपमा, २ रूपक, ३ मूर्त-विधान ४ अमूर्त-विधान ५ आकृति विम्ब, ६ ध्वनि विम्ब[2]। इनमें पांचवें और छठे प्रकार को वे हीन कोटि का मानते हैं। इसके अतिरिक्त वे विचार-प्रधान और भाव प्रधान ये दो श्रेणियां भी मानते हैं। परन्तु प्रतीकों के प्रसङ्ग में उन्होंने साम्यवगान विम्ब की भी चर्चा की है।[3] उनको उपमा और रूपक में तो डाला नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में उनका अन्तर्भाव किसमें होगा, यह स्पष्ट नहीं है।

इसके अतिरिक्त वे एक अन्य वर्गीकरण भी प्रस्तुत करते हैं। उसके

---

१ काव्या० बि० पृ० ७५-७६ पर *The Poetic Pattern pp 90 91* से उद्धृत।

२ वही, पृ० १०६

३ का० विम्ब० पृ० १०२

अनुसार बिम्बों की तीन श्रेणियां मानी हैं—१ प्राथमिक २ माध्यमिक ३ त्रितय (सम्भवत तृतीय)

१ सांसारिक पदार्थों से ऐन्द्रिय सम्पर्क होने पर उसके प्रभाव से घटित होने वाला बिम्ब।

२ प्राथमिक बिम्बों से नवीन बिम्बों की जो सृष्टि होती है वह इस श्रेणी में आती है। इनका सांसारिक पदार्थों से सम्मिकरण तो नहीं होता किन्तु प्राथमिक बिम्बों की सहायता से मर्मोद्घाटन होता है।

३ इन माध्यमिक बिम्बों से तृतीय बिम्ब बनते हैं। इनमें वास्तविक संसार के निगूढ तत्त्वों में निहित सूक्ष्म तत्त्वों का समावेश होता है।

इस वर्गीकरण में भी खींचतान स्पष्ट दिखाई देती है।

एक वर्गीकरण युग के अनुसार है। आधुनिक युग के मनोविज्ञानवादी समीक्षक फ्रायड और एडलर के साथ युग या जुग का भी नाम आता है। इनके अनुसार काव्य बिम्ब तीन प्रकार के होते हैं। इनका स्वरूप विवेचन इस प्रकार किया गया है—

मनुष्य का समग्र व्यक्तित्व मनोपा (P yche) के रूप में होता है। उसके तीन स्तर हैं—

१ सर्वोत्कृष्ट क्रियाशील स्तर चेतन जिसमें उसका अहं (Ego) निवास करता है।

२ सम्पूर्ण व्यक्तित्व का केन्द्र वैयक्तिक अचेतन (Personal unc ns ciousness) इसमें मानव की विस्मृत प्रारम्भिक अनुभवों की समग्रता निहित रहती है।

३ निम्नतम एवं मस्तिष्क के गठित सामूहिक अचेतन (Collective ucconsciousness)। इसमें व्यक्तित्व के वैयक्तिक गुणों का लोप हो जाता है। पैतृक मस्तिष्क शिल्प (Inherited brain structure) सम्पूर्ण मानवता में समान रूप से व्याप्त हैं।

इन में प्रथम स्तर में भौतिक पदार्थों के साथ इन्द्रिय सम्पर्क होने से ऐन्द्रिय बिम्ब बनते हैं। द्वितीय स्तर में संस्कार और स्मृति के आधार पर बौद्धिक स्तर के नवीन बिम्ब बनते हैं। तृतीय स्तर में आदि बिम्ब काम

१ काव्य बिम्ब पृ० १०६

२ वही पृ० ११७-१२०

करते है। किसी समाज मे दीर्घ परम्परा मे चली आई पुराण कथाओ, धार्मिक-सस्कारो का स्थायी प्रभाव रहता है। उनमे प्रेरणा लेकर रूपक कथाएँ लिखी जाती है। जैसे भारतीय साहित्य में आत्मा का प्रतीक हस और ससार का प्रतीक सेमल का फूल है।

लेविस की दृष्टि से बिम्ब भेद—लेविस महाशय ने अपने बहुमूल्य ग्रन्थ "दि पोयटिक इमेज" मे इमेज के तीन ही प्रकार गिनाये है। उनमे पहला जीवित बिम्ब (Living Image) है। इसका आधार समकालिक युग की दैनिक एव प्रत्यक्ष होने वाली वस्तुओ के पर्यवेक्षण से मस्तिष्क पर पडने वाला प्रभाव एव स्मृति है।[1] यह इस सिद्धान्त के अनुसार है कि कवि की उत्तम रचना मे उसके व्यक्तित्व एव समकालिक युग का प्रभाव हो। इसका तात्पर्य यह है कि समकालिक युग की विभिन्न परिस्थितिया का कवि के मानस पर जो प्रभाव पडता है, स्मृतियो और सस्कारो के आधार पर उसके मनोवेगो को प्रेरणा मिलती है। उससे नित्य नवीन बिम्बो की रचना होती है। उत्तरकाल के अध्येता उन बिम्बो के सहारे कवि की समकालिक परिस्थितिया का ज्ञान करते हैं।

द्वितीय खण्डित बिम्ब (Broken Image) है। जब कवि अपने मनोवेग, अनुभूति और धारणा के प्रकाशन के लिये कुछ ऐसे प्रतीको का प्रयोग करता है जिन्ह वही समझ सकता है, तब उन प्रतीको से कोई पूर्ण बिम्ब नही बनता है। यह समकालिक परिस्थितियो के कारण कवि के विशृङ्खल जीवन का परिणाम है। इसमे तार्किकता और उसके अनिर्णीत अन्त का प्रभाव छिपा होता है। फलस्वरूप जब कवि का अपना अन्तस् ही विशृखल एव खण्डित हो, वह काव्य मे एक पूर्ण एव सुसगठित चित्र कैसे प्रस्तुत कर सकता है।[2]

तृतीय शाश्वत बिम्ब—समकालीन घटनाओ एव दृश्यो को देख कर कवि जो प्रभाव लेकर वर्णित करता है, उसकी तह मे कुछ सार्वभौम और सर्वयुगीन सत्य भी छिपे रहते हैं जिनका कवि अभिव्यञ्जन करता है। इनका आधार

---

1 The poet of course cannot be picking his images with an eye on postevity He should be happy enough if he can give pleasure to his own generation

—The Poetic Image p 92

2 If A poem brilliant perhaps in the detail piercing deep perhaps with its momentary intutions, but unsatisfying in the round, an incomplete Poem a heap of broken images —Ibid p 124

जाति की चिरन्तन परम्पराएँ रहती है जिनका प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप म हमारे मस्तिष्क पर बना रहता है।[1] उनके प्रतीक बिम्ब बन कर काव्य म प्रस्तुत करना होता है।

लेविस महाशय द्वारा निर्दिष्ट इन बिम्बा म अन्तिम पिछले वर्गीकरणा क आदिबिम्ब मे अभिन्न है। वस्तुत इन बिम्बा के साथ साथ परिभाषा भी बडे विवेचन क साथ दे दी गई है। परन्तु इनके स्वरूप विवेचन क पश्चात भी बिम्ब क स्वरूप की कोई निश्चित धारणा बनानी कठिन है। मूत और अमूत बिम्बा की चर्चा भी नही की गइ है।

नगेन्द्र सम्मत बिम्ब भेद—डा० नगेन्द्र ने इन बिम्बा का वर्गीकरण ५ भदा म किया ह।[2]

१ ऐन्द्रिय बिम्ब—दृश्य श्रव्य स्पृश्य घ्रातव्य रस्य।
२ लक्षित एव उपलक्षित—लक्षित (स्पष्ट या मूत) उपलक्षित (प्रौशाक्लिष्ट)
३ सरल एव सश्लिष्ट—मुक्तक रचनाआ म सरल अनेक बिम्बा म मिश्रित एव जटिल।
४ खण्डित और समाकलित—घटना या प्रबन्धात्मक। खण्डित अनुभूतिया पूण बिम्ब (तु० माग निरग परम्परित)
५ वस्तु परक व स्वच्छन्द—इस श्रणी म यथाथ परक रोमानी एव प्रकल्पित बिम्बा की गणना होती ह।

इनक अतिरिक्त आद्य बिम्ब एव स्मृति बिम्ब भी माने है जो कि अय बिम्बा क उपादान होत है। कुछ न बौद्धिक बिम्ब भी स्वीकार किया है और उसका स्वरूप धारणा अथवा प्रत्ययमान माना है। किन्तु धारणा बिम्ब का विपरीतार्थक शब्द है।[3] उसम मूर्तीकरण सभव नही। अत बौद्धिक बिम्ब को

---

1 They are the reprints preserved in the great memory, of innumerable repetitions of certain modes of experience Like those deep sunken prehistoric earth works which are invisible to a man standing upon them yet whose configuration s may be observed from an aircraft flying high above They are apprehended only by the estatic distanced impersonal vision of art
—Ibid p 142

२ काव्य बिम्ब पृ० १७
३ वही पृ० १८

अमूर्त बिम्ब तो माना जा सकता है। कुछ लोग प्रज्ञात्मक बिम्ब एवं भाव-बिम्ब भी मानते हैं। इसी प्रकार कुछ ने गतिबिम्ब भी स्वीकार किया है। परन्तु नगेन्द्र उसमें रूप और शब्दों के तत्त्व की अधिकता होने से उसे स्वीकार नहीं करते।[1]

इसी प्रसङ्ग में उन्होंने पन्त के एक बिम्ब नितम्बमयीवीणा का उदाहरण दिया है और उसे चाक्षुष बिम्ब पर आधारित माना है। इस बिम्ब का औचित्य विचारणीय है। यदि संस्कृत काव्यों की भांति इस बिम्ब में नितम्ब की गोलाई का सूचन ही अभीष्ट है जैसा कि प्राचीन तुलना में "रथ-चक्र" की गुलाई सामान्य[2] धर्म है, तब तो बिम्ब कोई सशक्त नहीं कहा जा सकता। यदि नितम्ब के साथ ग्रीवा तक का भाग समानता का विषय है तो भी वीणा के साथ रूप-साम्य कुछ सशक्त नहीं। वीणा के साथ तुलना का औचित्य ध्वनि से बनता है जैसे बाण का बिम्ब "दन्त वीणा"[3] सर्दी के समय में कितना सार्थक है इसे आलोचक स्वयं विचार कर सकते हैं। यदि नितम्बमयी वीणा के बिम्ब में कवि को ध्वनि का भाव भी अभीष्ट है तो निश्चय ही जुगुप्सित भाव का प्रत्यायक होने से अश्लील दोष ही बनता है। चलते समय यदि हिलते नितम्बों पर कवि की दृष्टि है तो निश्चय वीणा के साथ उसका साम्य असमर्थ है।

उमा अष्टवंश का मत—उमा अष्टवंश सभी बिम्बों का तीन भेदों में समाहार करती हैं[4]—

रूपात्मक, भावात्मक, क्रियात्मक

वस्तुतः वर्गीकरण करते समय दो बातें ध्यान में रखनी आवश्यक हैं—

१ बिम्बों का स्वरूपात्मक वैशिष्ट्य २ प्रक्रियात्मक वैशिष्ट्य जब तक उनके उपादान स्वरूप निर्माण-प्रक्रिया और मूल भावना का ज्ञान नहीं हो पायेगा, तब तक उनका परस्पर भेद स्पष्ट नहीं होगा।

संस्कृत काव्य शास्त्र के आधार पर स्थूल भेद—संस्कृत साहित्य शास्त्र के आधार पर बिम्ब के भेद स्थूल दृष्टि से निम्न प्रकार से बनते हैं—

---

१ काव्य-बिम्ब पृ० १६

२ पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृत् मिहिरस्यन्दनचक्रशिक्षया।
विधिरेकक-चक्रचारिणं किमु निर्मित्सति मान्मथं रथम्॥ नैष २,३८

३ दन्तावीणोपदेशाचार्या हर्षच०, पृ० ७६५

४ छाया काव्य में बिम्ब-विधान, पृ० १६

मूर्त बिम्ब अमूर्त बिम्ब पूर्ण बिम्ब खण्ड बिम्ब नाद बिम्ब संश्लिष्ट बिम्ब अस्पष्ट अथवा धूमिल बिम्ब। ये शुद्ध स्वरूप के आधार पर वर्गीकृत हैं।

प्रक्रिया के आधार पर बिम्बों को हम तीन भेदों में बाँट सकते हैं—

प्रस्तुत विधान से बने अप्रस्तुत विधान से बने व बिम्ब प्रतिबिम्बभाव से बने बिम्ब। प्रथम में प्रसङ्ग के अनुसार किसी वस्तु व्यक्ति स्थान दृश्य आदि का वर्णन स्वभावोक्ति व भाविक अलङ्कार के स्थल वाच्यार्थ के साथ ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से बनने वाले बिम्ब हैं। द्वितीय के अन्तर्गत लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ से बनने वाले बिम्ब साध्यवसान बिम्ब प्रतीकात्मक बिम्ब समासोक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा सूक्ष्मालङ्कार में बने बिम्ब एवं तत्सदृश अलङ्कारों में बने बिम्ब भी आते हैं।

बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव की श्रेणी में सादृश्य भाव को लेकर बने बिम्ब आते हैं।

उसमें उपमा रूपक उत्प्रेक्षा दृष्टान्त तुल्ययोगिता प्रतिवस्तूपमा निदर्शना स्मरण सन्देह साम्य मूलक अलङ्कारों में बने बिम्ब एवं नाद बिम्ब या ध्वनिचित्र सबका अन्तर्भाव हो जाता है।

आधुनिक समीक्षकों के अनुसार अप्रस्तुत विधान साम्य मूलक अलङ्कारों में होता है। क्योंकि वे प्रस्तुत की तुलना में अप्रस्तुत की योजना करने में बिम्ब का निर्मिति स्वीकार करते हैं। किन्तु प्रस्तुत के चित्रण के बिना केवल अप्रस्तुत चित्रण अप्रस्तुत प्रशंसा अथवा अतिशयोक्ति के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ होता है? क्योंकि अप्रस्तुत का स्वरूप बिम्बित होने पर उसकी प्रतिच्छाया के रूप में प्रस्तुत का भी बिम्बन होता है या यों कहें कि मस्तिष्क में अप्रस्तुत के बिम्ब के प्रकाश में प्रस्तुत का स्वरूप भी स्पष्ट हो कर प्रतिबिम्बित होता है। अतः उपमा आदि में शब्द से उपमेय और उपमान दोनों का उपादान होता है। दोनों का साधर्म्य शब्द से स्पष्ट होने पर ही उनकी समानता समझ में आती है। उसमें दोनों का ही बिम्बन होता है। अतः प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही के वाच्य होने के कारण साम्य मूलक अलङ्कारों में प्रस्तुताप्रस्तुत दोनों की ही योजना होती है केवल अप्रस्तुत की नहीं। जैसे पूर्वोदाहृत दोहे में पीताम्बर धारी कृष्ण और नीलमणि के पर्वत का साम्य स्पष्ट है।

प्रत्येक अलङ्कार बिम्ब—अलङ्कारतत्त्व बिम्ब योजना का असाधारण उपकरण है। यदि कहा जाय कि प्रत्येक अलङ्कार अपने आप में एक बिम्ब है तो कोई अयुक्ति न होगी। आज तक संस्कृत साहित्य में अलङ्कारों की

इयत्ता निर्धारित नही हो सकी है। भरत के समय मे उनकी सख्या मे वृद्धि होती रही। यह १२० तक पहुँची। किन्तु काव्य-ग्रन्थो मे अभी भी अनेक ऐसी चमत्कार—"पूर्ण उक्तियाँ मिलती है जिनको अब तक स्वीकृत किसी अलट्कार की परिधि मे नही रखा जा सकता। अलट्कार का सामान्य लक्षण चमत्कारजनकता[2] स्वीकृत होने के कारण कोई मनीषी यह दावा नही कर सकता कि ये नवीन अलट्कार मान्य नही। क्योकि अलट्कार उक्ति-प्रकार-विशेष के अतिरिक्त कुछ नही है।[3] अत जहा भी उक्ति-वैचित्र्य, नवीनतम या वक्रोक्तिकृत चमत्कार मिलेगा, वही अलट्कारत्व स्वीकार करना पडेगा। अन्यथा दूसरो द्वारा स्वीकृत अलट्कारो को आप भी कह सकते है कि हमे ये मान्य नही। इस प्रकार नवीन अलड्कारो की सभावनाए समाप्त नही हुई है। यह स्थिति तो अलट्कारो की है। रस की दशा कोई भिन्न नही है। अकेले श्रृड्गार रस के अनन्त भेदो की सभावना स्वीकृत है। फिर गुण, रीति, वृत्ति, पाक, शय्या इनका चमत्कार पृथक रह गया। इनके भेद-प्रभेद करे तो 'नौ शत पूत सवा लख नाती' वाली स्थिति बन जाएगी। फिर अनेक का तो यहा तक कहना है "प्रत्येक काव्य ही एक बिम्ब है।[4] इस दृष्टि मे तो बिम्बो की सख्या काव्य-प्रकारो के साथ-साथ बढती जाएगी और उन का वर्गीकरण सभव ही न रहेगा। उस दशा मे उनके स्वरूप का निर्धारण करना कठिन हो जाता है। अत एक सामान्य आधार परिगणन के लिए बनाना नितरा आवश्यक है। वह निम्न प्रकार से है—

१ त्व राजा भव भरत स्वय नराणा वन्यानामहमपि राजराण् मृगाणाम्। गच्छ त्व पुरवरमद्य सम्प्रहृष्ट सहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान् प्रवेक्ष्ये ॥ छाया ते दिनकर भा प्रबाधमान वषत्र भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम्। एतेषामहमपि काननद्रुमाणा छाया तामतिशयिन सुखी श्रयिष्ये ॥ शत्रुघ्न कुशलमतिस्तु ते सहाय सौमित्रिमम विदित प्रधानमित्रम्। चत्वारस्तनयवरा वय नरेन्द्र सत्यस्थ भरत चराम मा विषीद ॥

—वाग २ ६६,१७-१६

२ रसादि भिन्न-व्यट्ग्य भिन्नत्वे सति शब्दार्थान्यतरनिष्ठा या विषयितासम्बन्ध प्रावच्छिन्ना चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता तदवच्छेदकत्वम् (अलड्कारत्वम्)। चि०मी०, पृ० ३४

३ अभिधानाप्रकारविशेषा एव चालकारा। रुय्यक असं०—पृ० ८

४ तु० As a matter of fact there can by no poetry without poetical image —Sudhi Sankar Bhattacharya-Imagery in Mahabharata p 31

काव्य-बिम्ब
शब्द-मूलक
अर्थमूलक
उभय-मूलक (पार्श्व)
नादानुकृति
संगीत-मूलक
वाच्यार्थमूलक
लक्ष्यार्थ मूलक
व्यङ्ग्यार्थ मूलक
शब्दावृत्तिमूलक
छन्द
राग
वस्तु-ध्वनि मूलक
अलङ्कार-ध्वनिमूलक
रसभावध्वनिमूलक
वर्णावृत्ति
पदावृत्ति
वाक्यवृत्ति
यमक
लाटानुप्रास
यमक
लाटानुप्रास
प्रतीक-मूलक
शय्या
रीति
वृत्ति
श्रुत्यनुप्रास
वृत्त्यनुप्रास
छेकानुप्रास

इस वर्गीकरण पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के जितने प्रकार हैं, उतने ही बिम्ब हैं। चमत्कार की विधाओं में अकेले अलङ्कारों की ही सीमा नहीं है। सभी कारणों से इन बिम्बों की पूर्णतः गणना कठिन होगी। अतः इस प्रसङ्ग को सुबोध बनाने के लिए विशेष यत्न की अपेक्षा है।

समन्वय — यहाँ संस्कृत साहित्यशास्त्र के अनुसार दिखाये गये अधिकांश बिम्ब ऐसे हैं जो कि आधुनिक समीक्षा-शास्त्र-सम्मत बिम्बों से भी मेल खाते हैं। वस्तुतः इस प्रश्न पर पिछले पृष्ठों में दिये गये विवेचन से ज्ञात होता है कि आधुनिक समीक्षकों में मतैक्य नहीं है। तो भी काव्य-सामान्य में पाये जाने वाले सभी प्रकार के काव्य-बिम्ब इनमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। उदाहरण के लिए अमूर्त बिम्ब में मानस निरपेक्ष भाव या विचार सभी प्रकार के बिम्ब अन्तर्हित हैं। मूर्त में ऐन्द्रिय संवेदन से उत्पन्न बिम्ब आ जाते हैं। नाद बिम्ब ध्वनि चित्र (Sound picture) का ही दूसरा नाम है। संश्लिष्ट बिम्ब (Complex image) से पृथक् नहीं है। अस्पष्ट बिम्ब होरेटन-सम्मत निरपेक्ष बिम्ब के समान है। पूर्ण बिम्ब मिश्रित बिम्ब सदृश है। विभिन्न अलङ्कारों के प्रयोग से बनने वाले बिम्ब इन्हीं में आ जाते हैं। इनके स्वरूप, विशेषता और उपयुक्त उदाहरण अगले अध्यायों में विस्तार से दिये जा रहे हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बिम्ब-विषयक धारणा प्राचीन संस्कृत साहित्य में पूर्णरूप से विद्यमान थी। कवि और आचार्य उससे परिचित थे। किन्तु आधुनिक समीक्षा शास्त्र की भाँति वह पृथक् विवेचन की वस्तु न थी। विश्वेश्वर प्रतिपादित चमत्कार के स्रोत कारण अलङ्कार शास्त्र के विषय रहे हैं। इसका पृथक् नाम से भी स्वीकृत है ही। ध्वनि यद्यपि शुद्ध अलङ्कारवादियों की दृष्टि में पृथक् तत्त्व न था, सम्भवतः विश्वेश्वर ने इसीलिए चमत्कार के कारणों में नहीं गिना। अतः ही दोष प्रसङ्ग में उसके उदाहरणादि देकर उसे मान्यता प्रदान की है।

द्वितीय परिच्छेद

प्राचीन संस्कृत काव्य में काव्य-बिम्बों के आदर्श

शास्त्रकारों का सिद्धान्त है कि लक्ष्य और लक्षण दोनों के सम्मिलन से शास्त्र का निर्माण होता है[1]। किसी सिद्धान्त की चर्चा करते ही उसकी प्रामाणिकता और निदर्शन का प्रश्न उठता है। पाणिनि ने अपने समकालिक प्रयोगों को देखकर ही व्याकरण की रचना की थी। आनन्दवर्धन ने भी ध्वनि सिद्धान्त की पुष्टि के लिए रामायण और महाभारत सदृश महाकाव्यों में उपलब्ध उदाहरणों को ही प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किया था[2]। अतः काव्य-बिम्ब के शास्त्रीय विवेचन में पूर्व प्राचीन साहित्य में विद्यमान उसकी दीर्घपरम्परा के कुछ निदर्शन स्थाली-पुलाक-न्याय से यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

संस्कृत काव्य का आधार वैदिक कविता है, इस विषय में सभी मनीषी एकमत हैं। इसलिए सर्वप्रथम एक दृष्टि वैदिक काव्य पर डालनी होगी। इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम ऋग्वेद से कुछ उदाहरण यहाँ रखते हैं—

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रतिभद्राय भद्रम्[3]॥

यहाँ उषःकाल, अनन्तर सूर्योदय का वर्णन है। परन्तु शब्दावली में उदयमान सूर्य की समता किसी सुन्दरी के पीछे-पीछे जाने युवक से की गई है। सारी ऋचा का अर्थ समझते ही सहृदय पाठक की अन्तर्दृष्टि के समक्ष ऐसा दृश्य घूम जाता है जिसमें कहीं लगे बड़े मेले में नागर खेल-तमाशे में मनोरञ्जन कर रहे हों और उस अवसर पर कोई युवक किसी सुन्दरी का अनुगमन कर रहा हो।

---

१ लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तु-सिद्धिः। अज्ञातकर्तृक

२ अयं च रामायण-महाभारत-प्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।
—ध्वन्या, पृ०, ३८

३ ऋग्, १, ११५,२

इस प्रकार इस ऋचा में उपमा अलङ्कार की सहायता से सुन्दर बिम्ब की सृष्टि हुई है। उत्तरार्ध वातावरण को प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार—

अवेयमश्वैद युवतिः पुरस्ताद् युङ्क्ते गवामरुणानामनीकम्।
वि नूनमुच्छादसति प्रकेतुर्गृहं गृहमुपतिष्ठाते अग्निः[1]।

यहाँ अरुणोदय का वर्णन है। आकाश में चारों ओर लाल लाल आभा छिटक रही है, रात में झुटपुटा समाप्त हो रहा है और प्रकाश-प्रसार के साथ-साथ घर-घर में यज्ञ-वेदियों में अग्नि प्रज्वलित किया जा रहा है।

इस शुद्ध प्राकृतिक वर्णन के पीछे व्यञ्जना से प्रभात वेला में घर घर में चूल्हे जलने और किसी ग्राम-तरुणी के रक्त वर्ण की गौओं को चरने के लिए छोड़ने का बिम्ब भासित होता है। इस बिम्ब में तरुणी के आकार आदि स्पष्ट न होने से यह अपूर्ण या अस्पष्ट ही है।

अथर्ववेद का निम्न मन्त्र वस्तुतः मेघ गीत सा प्रतीत होता है जिसमें मेघ को मानव की भांति सम्बोधित करके गर्जन, कड़कने, समुद्र को क्षुब्ध करने एवं बरस कर भूमि को तर करने को कहा जा रहा है—

अभिक्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्ग्धि।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम्[2]॥

इसमें आधुनिक सामूहिक घोष (नारेबाजी) की स्पष्ट अभिव्यञ्जना हो रही है।

प्रतीकात्मक बिम्बों की तो वेद में भरमार ही है। यजुर्वेद का निम्नलिखित मन्त्र इसका अच्छा निदर्शन है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये[3]॥

यह ध्वनिमूलक बिम्ब का अच्छा उदाहरण है। वाच्यार्थ के अनुसार सूर्य-मण्डल सुवर्णपात्र है जिसमें ब्रह्म के प्रतीक सूर्य का वास्तविक स्वरूप आवृत है। उस किरण-समूह रूप आवरण के हटने पर ही वह सत्य रूप दृष्टिगोचर हो सकता है। यह आधिभौतिक अर्थ है।

---

१ ऋग्वेद १ १२८, ११
२ अथ०, ४ १५ ६
३ यजु०, ४० १६

आधिदैविक अर्थ के अनुसार सूर्यनारायण का वास्तविक रूप इस दुर्दर्श रश्मि-समूह से आवृत है। इस आवरण को हटाने ही उनका सत्य रूप दृष्टिगत हो सकता है।

तीसरा आध्यात्मिक अर्थ और है कि बाहर से अतिसुन्दर प्रतीत होने वाला यह शरीर स्वर्णपात्र है जिसके भीतर मलमूत्र आदि घृणित पदार्थ जो इस देह का यथार्थ रूप है, छिपा है। ज्ञान के द्वारा उस आवरण का भेदन करके देखो, तब यथार्थ का ज्ञान होगा कि जिस शरीर के लिए हम इतना मरते हैं, वस्तुतः वह घृणित पदार्थों से भरा है।

इसके अतिरिक्त एक सामान्य अर्थ का और भान होता है कि यहाँ सत्य सदा स्वर्णपात्र या ऊपरी आकर्षण—माया (नकली पालिश) से ढका है। उस नकली मुलम्मे को उतारने के बाद ही इसका यथार्थरूप जो आपातमात्र में मनोहर है, प्रतीत हो पाता है। तभी मानव की मोहनिद्रा टूटती है।

इस प्रकार हिरण्मय पात्र (ढक्कन) ही यहाँ प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

जय और नारद के समन्वित बिम्ब का जिसमें संग्रामार्थ बाजे गाजे के साथ जाती हुई देव-सेना का चित्र उभरता है, उत्तम निदर्शन निम्नलिखित पंक्तियों में है। इसमें वीर रस की व्यञ्जना, शब्द और अर्थ का परिपाक असाधारण रूप से हृदय को आकृष्ट करता है—

> **गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा।**
> **इमꣳ सजाता अनुवीरयध्वमिन्द्रꣳ सखायो अनु सꣳरभध्वम्॥**
> **अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।**
> **दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्योऽस्माकꣳ सेना अवतु प्रयुत्सु॥**
> **इन्द्र आसान्नेता बृहस्पति दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।**
> **देवसेनानामभिभञ्जतीनाञ्जयन्तीनाम्मरुतो यन्त्वग्रम्॥**
> **इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानाम्मरुता शर्द्ध उग्रम्।**
> **महामनसा भुवनच्यवाना घोषो देवानाञ्जयतामुदस्थात्[1]॥**

इनमें विजयिनी सेनाओं का अदम्य उत्साह, विजय का सिंहनाद, अपने सेनापति इन्द्र के बल और साहस की प्रशंसा करके उसकी ओजो-वृद्धि करते हुए उसके नेतृत्व में अटूट विश्वास एक साथ सम्मिश्र से रस जाते हैं। यह

---

१ यजुर्वेद, १७, ३८-४१

ऐसा सम्निष्ट बिम्ब है जो कि किसी भी उत्कृष्ट काव्य बिम्ब से टक्कर ले सकता है।

मर्माणि ते वर्मणाऽऽच्छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानुवस्ताम्।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वा नु देवा मदन्तु[1]॥

यहाँ मर्माणि वर्मणा इतने अंश में वर्म-कवच की मर्मर ध्वनि वर्मधारण को मूर्त बना रही है।

साध्यवसान और आद्य बिम्ब तो वैदिक काव्य में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। इसका उत्तम निदर्शन अस्यवामीय सूक्त है। उसके प्रतीकों के आधार पर सत्याभास आदि लौकिक काव्यों में भी कई बिम्ब उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिए संवत्सर चक्र का परिचय देने वाला एक प्रौढ़ मन्त्र यह है—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः[2]॥

वर्ष भर में बारह महीनों का चक्र (Circle) संस्कृत साहित्य में परम्परागत है। इस मन्त्र में इसी चक्र का वर्णन यास्क कृत व्याख्यान से पुष्ट हो जाता है[3]।

इसी परम्परा के प्रतीकात्मक बिम्ब उपनिषदों में भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ उपनिषद् का निम्नलिखित वाक्य योग दर्शन में प्रसिद्ध सामरस के रूप का आधार सम्मत करता है—

अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना[4]॥

इस मन्त्र को हम आदि बिम्ब का अच्छा आदर्श मान सकते हैं। ब्रह्मरन्ध्र में अधोमुख बिन्दु से सामरस टपकता है जिसको पान करने के लिए योगी द्वारा खेचरी मुद्रा की साधना करते हुए प्राण को उस तक पहुँचाया जाता है। इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए उपनिषत्कार ने अर्वाग् बिल आदि पारिभाषिक शब्दों का अर्थ संकेतित किया है[5]। योग मार्ग से परिचित व्यक्ति इन संकेतों

---

१ यजुर्वेद १ ४९
२ ऋग्० १ १६४ २
३ षष्टिश्च ह त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः —नि०, ४,२७
४ बृह० २ २ ३
५ वही।

में भली प्रकार समझ सकते है। शङ्कर ने भी इसे गोलमोल ही करके समझाया है। पर इतना स्पष्ट है कि यह अर्वाग्बिल चमस सिर या खोपडी है। योग-शास्त्र के अनुसार उसके मध्य ब्रह्मरन्ध्र है। इसका सङ्केत भी तैत्तिरीय उपनिषद् मे मिलता है[1]। उसमे सिर और कपाल के मध्य स्तन के आकार का लटकता हुआ माँस खण्ड ही इन्दु-बिन्दु-साम रस का स्रोत है। उसमे टपकने वाली बिन्दु को साधक गण चाटते है। इसी प्रकार उसके तीर पर स्थित सात ऋषि आख, नाक, कान आदि इन्द्रिया ही है[2]।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल मे अश्वि-सूक्त मे वही उच्च बुध्न चमस उच्च-बुध्न अवत (कूप) के नाम से पुकारा गया है। यहा उससे क्षरित होने वाले सोम रस को "आप" कहकर सूचित किया है[3]। इसी प्रकार इस शरीर के लिए पुर शब्द का प्रयोग पाया जाता है[4]। अथर्ववेद म तो उसे अयोध्या ही कहा है[5]। ऋग्वेद मे चर्चित गङ्गा, यमुना आदि नदियों का[6] योग-परक व्याख्या मे इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा आदि नाडियो का प्रतीक स्वीकार किया गया है।[7] अश्वत्थ वृक्ष पीपल को कहते है परन्तु परम्परा से वह ससार व ब्रह्म के प्रतीक के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। शिक्षाप्रद आख्यानो मे हम सदृश प्रतीक वेदो से पुराणो तक फैले हुए है।[8]

---

१ स य एषोऽन्तर्हृदय आकाश। तस्मिन्नय पुरुषो मनोमय। अमृतो हिरण्मय। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते, सेन्द्रयोनि। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। —तैत्ति०उप० १,५

२ बृह० २ २ ४

३ परावत नासत्या नुदेथामुच्चाबुध्न चक्रथुर्जिह्मबारम्।
क्षरन्नापो नयनाय राये सहस्रशस्तृष्यतो गोतमस्य॥ —ऋक् १,११६,६

४ नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्। गीता ५ १३

५ अष्टाचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या।
तस्या हिरण्मय कोश स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृत॥ अथ० १०,२,३१

६ ऋग् १०,६५,५

७ इडा भगवती गगा पिगला यमुना नदी। हयोप्र० ३,११०

८ द्र० ११ अध्या० टि० २४, २६ तथा
एक पाद नोत्खिदति सलिलाद्धस उच्चरन्।
यदग स तमुत्खिदेन् नैवाद्य न श्व स्यान्न रात्री॥
नाह स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन॥ अथ० ११,४, (६)

मलिन बिम्ब का प्रतिबिम्ब है। दर्पण के लिये "अन्ध" शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है जो उसके सर्वथा कान्तिहीन दौर्भाग्य आदि अनेक धर्मों को ध्वनित करता है। इसकी तह में शीताधिक्य के कारण चन्द्रमा के प्रकाश का सुखद न लगना सौभाग्य शब्द से व्यञ्जित है। इसके कारण एक ओर स्थूल चन्द्र-मण्डल की मलिनता और शैत्य की सिहरन के मध्य सूर्य की धूप के सुखद स्पर्श की अनुभूति होती है, दूसरी ओर दशा परिवर्तन के कारण मलिन मुख और उदास किसी व्यक्ति की आकृति का बिम्ब भी बनता है। "रविसङ्क्रान्त-सौभाग्य" यह विशेषण तुलनात्मक बिम्ब भी प्रस्तुत करता है जिसमें अपने प्रतिद्वन्द्वी की उन्नति एवं लोकप्रियता के प्रकाश में अपनी दशा को देखकर गहरे अवसाद और असूया की तीव्र अनुभूति का भाव-बिम्ब उसमें सन्निविष्ट करता है। लोचन के शब्द किसी मात्रा में इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं[1]।

भाव-बिम्ब का एक उत्कृष्ट उदाहरण अयोध्या काण्ड में मिलता है। अयोध्या लौट कर सुमन्त्र दशरथ को राम लक्ष्मण और सीता के सन्देश सुना रहे हैं। राम और लक्ष्मण के वाचिक सन्देश के बाद वह सीता की मूक विषादमयी अवस्था का चित्र ही खींच देता है—

> जानकी तु महाराज निःश्वसन्ती तपस्विनी।
> भूतोपहतचित्तेव विष्ठिता विस्मिता स्थिता॥
> अदृष्टपूर्वव्यसना राजपुत्री यशस्विनी।
> तेन दुःखेन रुदती नैव मां किञ्चिदब्रवीत्[2]॥

इसका पजसा एम०बी० आयङ्गार ने मुक्त कण्ठ से की है[3]। यहां उस

---

१ अन्ध इति चारुत्वदृष्टि। जात्यन्धस्यापि गर्भे दृष्ट्युपघातात्। अन्धत्वस्य पुरोऽपि न पश्यत्यात्मप्रतिबिम्बकाराऽन्धायस्य न त्वन्धतम। इह त आदर्शस्यान्धत्वमारोप्यमाणमपि न सह्यम। अन्धशब्दोऽत्र पदार्थस्फुटी-करणाऽशक्तत्व नष्टदृष्टिगत निमित्तीकृत्यादर्श लक्षणया प्रतिपादयति। असाधारण विच्छाय वानुपयोगित्वादिसमजानमसम्य प्रयाजन व्यनक्ति।
—लो०पृ० १७२

२ वा०रा० २, ५८, ३४-३५

3 Who sat out for woods with her husband and had first time an experience of woes facing her Memories of the happy past were still in mind She was standing at the bank of Ganga and gazing towards Ayodhya with eyes full of tears She is presented as a symbol of life destined

विषण्ण मुद्रा में स्थित सीता का तो चाक्षुष बिम्ब है किन्तु उसके पश्चात उसके हृदय में स्थित दशा परिवर्तन के कारण हुए घोर अवसाद का अनुभूति का भाव बिम्ब बनता है जो कहीं अधिक मार्मिक है। यह अमूर्त बिम्ब अत्यन्त प्रभावशाली है।

मूर्त की तुलना अमूर्त पदार्थ के साथ करके जो बिम्ब बनता है उसके उदाहरणों की भी कमी नहीं है। हनुमान वानरों के समक्ष सीता की दयनीय अवस्था का वर्णन करते हुए उसकी तुलना प्रतिपदा तिथि के दिन स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति की विद्या से करते हैं—

सा प्रकृत्यैव तन्वङ्गी तद्वियोगाच्च कर्शिता।
प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता[1] ॥

यह शास्त्रीय उपमा है। धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित है कि प्रतिपदा के दिन जो व्यक्ति स्वाध्याय करता है उसकी विद्या विस्मृत हो जाती है[2]। यद्यपि कुछ संस्कार उसके मस्तिष्क में बने रहते हैं परन्तु जैसा शास्त्र उपस्थित रहना चाहिये वैसा नहीं रहता अतः ज्ञान-स्वरूप होने से विद्या अमूर्त है जबकि सीता मूर्त है। इस तुलना से सीता की क्षीणावस्था चित्र रूप में बिम्बित हो जाती है।

रामायण की भांति महाभारत में भी काव्य बिम्बों की न्यूनता नहीं है भले ही उसमें वैषयिक गम्भीरता हो। रात्रि-युद्ध के प्रसङ्ग में चन्द्रोदयवर्णन का एक आकर्षक चित्र है—

ततः कुमुद-नाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलङ्कृता॥
ततो मुहूर्ताद् भगवान् पुरस्ताच्छशलक्षणः।
अरुणं दर्शयामास ग्रसञ्ज्योतिः प्रभः प्रभुः॥

---

to suffering Here is silence more eloquent than speech The whole of the back ground is brighter than colour or painting This is description which has passed the stage of painting It is statuary in words solid as marble
— M V Iyengar The Poetry of Valmiki (Mysore) p 207

१ वा०रा० ५ ५६ ३५

२ अहोरात्रयो सन्ध्यो पर्वसु च नाधीयीत।
उभयोरपि पक्षयोरष्टम्यौ तिथिद्वयं चतुर्दशी प्रतिपच्चेति। अथाऽष्टमीद्वयं चतुर्दशी-द्वयं प्रतिपद्द्वयं च गृहीतं भवति। बौधा० ध०सू० १ ११ ३४

अरुणस्य तु तस्यानु जातरूपसमप्रभम्।
रश्मिजालं महच्चन्द्रो मन्दं मन्दमवासृजत्[1] ॥

इस उदाहरण में रामायण के—

ततोऽरुण-परिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनी गण्डपाण्डुताम्[2] ॥

इस चन्द्रोदयवर्णन का सा रोमानीपन तो नहीं है। उसके विपरीत तादात्म्यभाव से प्राकृतिक व्यापार का निरीक्षण है। चन्द्रोदय से पूर्व क्षितिज में लालिमा छाती है, तदनन्तर चन्द्र-बिम्ब दिखाई देता है। उसका प्रकाश धीरे-धीरे फैलता है। इस प्राकृतिक छटा का वर्णन तो ठीक है पर यह वर्णन कोई संश्लिष्ट बिम्ब प्रस्तुत नहीं करता। इसकी अपेक्षा पाण्डवों की मृत्यु के समाचार से मन में प्रसन्न किन्तु बाहर से विपण्ण धृतराष्ट्र की आन्तरिक अवस्था का बिम्बन निम्न पद्य में उपमा के माध्यम से अच्छा हुआ है—

अन्तर्हृष्टमनाश्चासौ बहिर्दुःखसमन्वितः।
अन्तःशीतो बहिश्चोष्णो ग्रीष्मेऽगाधह्रदो यथा[3] ॥

संसार के सभी प्राणियों का कालचक्र के पाश में बँधा होने एवं दिनरात जन्मने और मरते रहने की स्थिति का निम्न पद्य में रूपक अलङ्कार के द्वारा सफलता से गुम्फन हुआ है—

अस्मिन्महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रि दिनेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता[4] ॥

लाक्षणिक वक्रता द्वारा बिम्ब-योजना भी इस आर्ष काव्य में मिलती है। जैसे—

धृतिः क्षमा दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः[5] ॥

यहाँ धृति आदि अमूर्त भावों को लक्ष्मी का संवर्धक न कह कर समिधा कहा है। धृत्यादि अमूर्त भावों से लक्ष्मी की वृद्धि सहज-बोध्य नहीं है परन्तु

---

१ मभा० ७, ५६, ४२
२ वा०रा०।
३ मभा० १,१४८८,१ (प्रक्षेप)
४ वही ३,३२,६६
५ वही (बड़ौदा) ५,३८,३८

समिधा डालने में अग्नि का सदा तेज़ होना प्रत्यक्ष व्यापार है। उसके चाक्षुष बिम्ब में श्रीवृद्धि का अमूर्त भाव भी मूर्त हो उठा है। यह निष्काय बिम्ब का अच्छा उदाहरण है।

वर्ण्य वस्तु का यथार्थ और साङ्ग वर्णन उसका शब्दचित्र प्रस्तुत करने के लिए किया जाता है। काव्यशास्त्र में इसके लिए अर्थव्यक्ति गुण[1] अथवा स्वभावोक्ति[2] अलङ्कार का विधान है। इनके द्वारा वर्ण्य का साक्षात्कल्प स्वरूप चित्रण संभव होता है। जैसे—

> कुमारी चापि पाञ्चाली वेदिमध्यात् समुत्थिता ।
> सुभगा दर्शनीयाङ्गी सा स्वसितायतलोचना ॥
> श्यामा पद्मपलाशाक्षी नीलकुञ्चितमूर्धजा ।
> ताम्रतुङ्गनखी सुभ्रूश्चारुवृत्तपयोधरा ॥[3]

इसमें यद्यपि वर्ण्य द्रौपदी का पूरा शब्दचित्र तो नहीं उभर पाया है तथापि अपूर्ण चित्र अवश्य बन सका है। उसका वर्ण, नेत्रों की नीलिमा, विशालता, काले घुंघराले केश, लाल एवं नुकीले नख, धनुषाकार भवें, गोल और कठिन उरोज ये लक्षण सामुद्रिक के अनुसार वर्णित हैं। इनसे द्रौपदी के रूप और शारीरिक संगठन का कुछ भान अवश्य संभव है।

प्रतीकात्मक आदि बिम्बों का भी इसमें अभाव नहीं है। उसका एक निदर्शन—

> द्व्यंशिनो द्वादशाङ्गस्य चतुर्विंशतिपर्वणः ।
> यस्त्रिषष्टिशतारस्य वेदार्थं स परः कविः ॥[4]

यह पद्य है। इसमें वर्ष का सङ्केत है। अस्य वामीय सूक्त (ऋक् १.१६४) में चर्चित संवत्सर चक्र का ही इसमें आभास है। पर चक्र का नाम नहीं आया है। इस प्रकार के प्रतीकात्मक पद्य कूट श्लोकों के नाम से इस महाकाव्य में बिखरे पड़े हैं। यह ठीक है कि महाभारत के चित्र इतने रंगीन और स्पष्ट नहीं हैं जितने कि रामायण के[5] किन्तु इसका कारण महाभारत

---

१ अर्थव्यक्तिर्वस्तुस्वभावस्फुटत्वम्। सा॰द॰ पृ॰ २६८

२ स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्। का॰प्र॰का॰ १०.१११
म॰भा॰ १.१६६.४४-४५

४ वही ४.२१.५३

5 On this point Vyasa differs from Valmiki unlike the latter he simply presents a faithful description of the actions and passions of the outer world without projecting his own self on them or without inter mingling them with the passions of his characters the creatures of his muse —Sudhi Sankar Bhattacharya Im in Maha p 89

की शान्तरस-प्रधानता है। जहा कवि उस गम्भीरता का त्याग देता है वहाँ उसके बिम्बो मे भी ग्लानि आ जाती है। जैसे—

> अय स रशनोत्कर्षी पीन स्तन-विमर्दन ।
> नाम्यूरु-जघन स्पर्शी नीवी-विस्र सन कर ।[1]

यह श्लोक श्रृगार-गर्भित करुण की अनुभूति कराता है। यहा मेखला का खींचना कुचमदन नाभि आदि गुप्त स्थानो का छूना एव नीवी-ग्रंथि-मोचन सदृश अतीत के काम क्रीडा सम्बन्धी व्यापार मूतबिम्ब प्रस्तुत करते है जो वस्तुत अब स्मृति-बिम्ब है। किन्तु पति की मृत्यु के कारण भावी जीवन के लिये उपहासमात्र रह गये है व अब सदा चुभ काटे की भाति टीस उत्पन्न करने वाले ही होंगे। इस प्रकार श्रृगार व्यापार अतीत के सुखमय क्षणो की तुलना म भविष्य की महाविभीषिका का भावगम्य करा रहे है। यह एक सशक्त भाव-बिम्ब है जो कि स्मृति-बिम्ब से सश्लिष्ट है।

प्राचीन सस्कृत-साहित्य मे रामायण और महाभारत के अनन्तर पुराणो की गणना होती है। इनम भी काव्य-गुणो के लिये श्रीमद भागवत की सर्वाधिक प्रतिष्ठा है। वह एक स बढकर एक काव्य-बिम्बो से पूर्ण है। अत आदश के रूप मे कुछ यहा पर प्रस्तुत है उनमे सवप्रथम भीष्म-कृत श्रीकृष्ण स्तुति म अत्यन्त उत्कृष्ट काव्य-बिम्ब देते है—

> इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्वत पुङ्गवे विभूम्नि ।
> स्वसुखमुपगते क्वचिद् विहर्तु प्रकृतिमुपेयुषि यद् भव-प्रवाह ॥
> त्रिभुवनकमन तमालवर्ण रविकर गौर-वराम्बर दधाने ।
> वपुरलककुलावृताननाब्ज विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥
> युधि तुरग रजो विधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।
> मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥
> सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये निजपरयोर्बलयो रथ निवेश्य ।
> स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा हृतवति पार्थ सखे रतिर्ममास्तु ॥[2]

इन पद्यो मे स आरम्भ के दो मे श्रीकृष्ण क स्वरूप वेष, घुँघराले बालो—जिन पर रण भूमि मे घोडो के दौडने से धूल पडी है, हाथ मे चाबुक, मुख पर स्वेदबिन्दु इन सब का स्पष्ट शब्दचित्र है। तृतीय पद्य मे भीष्म के बाणो से विक्षत कृष्ण के शरीर पर रक्त कण भी दीख रहे है।

---

१ महाभारत ११, २६, १७

२ भागु० १, ६, ३३-३६

इन नाना पद्या म प्रस्तुत शब्द चित्र स्थिर हैं। चतुर्थ म गत्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया गया है। उसम गीता क प्रथम अध्याय म वर्णित रणभूमि का दृश्य आखा क सम्मुख प्रत्यक्ष हो जाता है। अर्जुन क वचन सुन कर रथ को हाक कर दोनों सेनाओं क मध्य म खड़ा करना और सेना पर अपनी दृष्टि डालना य क्रियाएँ शब्दा एव भावना क रंग म रग कर मूर्त हो उठी हैं।

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थ ।
धृत रथचरणो भया च्चलदगु हरिरिव हन्तुमिभ गतोत्तरीय ।।
शित विशिखहतो विशीर्णदस क्षतज परिप्लुत आततायिनो मे ।
प्रसभमभिससार मद वधार्थ स भवतु मे भगवान गतिर्मुकुन्द ।।[1]

इन पद्या म एक क बाद दूसरा दृश्य बदलता जाता है। महाभारत क भीष्मपर्व का कथा मानो चित्रबद्ध हो गई है। भक्त की भक्ति भावना न उसम गहरा रंग भर दिया है। यद्यपि यहा पदावली अधिक सुकुमार नहीं है, प्र न न्द्र स्थ ह ण सदृश संयुक्त कर्कश ध्वनियां भी आ गई ह परन्तु पुष्पिताग्रा छद की लय क प्रवाह म भाग कर उन की कर्कशता समाप्त हो गई है। यह लय म रंगीन शब्द भाव और रूप सबका संश्लिष्ट पूर्ण काव्य बिम्ब है। इस व्यापक सर्वांगपूर्ण और सशक्त बिम्ब बहुत कम देखन म आत हैं।

गोपवेषधारी बालक कृष्ण का एक रंगीन चित्र स्वभावोक्ति अलंकार क रूप म दिखलाय हैं—

बिभ्रद वेणु जठर पटयो श्रृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवल तत्फलान्यङ्गुलीषु ।
तिष्ठन मध्ये स्व परिसुहृदो हासयन नर्मभि स्वै
स्वर्ग्ये लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग बालकेली ।।[2]

इसी प्रकार एक चित्र विष्णु क मोहिनी-स्वरूप का है जो शंकर को दिखाने क लिए धारण किया था। इस शब्द चित्र में न कवल मोहिनी क असाधारण रूप का मूर्त बनाया गया है अपितु उसकी गतिविधि हावभाव और चेष्टा भी शब्द क माध्यम म मूर्त बनाय गय हैं।

ततो ददर्शोपवने वरस्त्रिय विचित्र-पुष्पारुणपल्लवद्रुमे ।
विक्रीडतीं कन्दुकलीलया लसद दुकूल पर्यस्तनितम्बमेखलाम् ।।

---

१ भागवत पुराण १ ९ ३७ ३८
२ वही, १० १३ ११

आवर्तनोद्वर्तन कम्पितस्तन-प्रकृष्ट-हारोरुभरै पदे पदे ।
प्रभज्यमानामिव मध्यतश्चलत्पदप्रवाल नयतीं ततस्तत ।।
दिक्षु भ्रमत्कन्दुकचापलैर्भृश प्रोद्विग्नतारायतलोललोचनाम् ।
स्वकर्ण विभ्राजित-कुण्डलोल्लसत-कपोल-नीलालकमण्डिताननाम् ।
श्लथद्दुकूल कबरीं च विच्युता सन्नह्यतीं वामकरेण वल्गुना ।
विनिघ्नतीमन्यकरेण कन्दुक विमोहयन्तीं जगदात्ममायया ।।[1]

इस काव्य-बिम्ब की विशेषता यह है कि मोहिनी का आकर्षक व्यक्तित्व ही नहीं अपितु कन्दुक-क्रीडा का अभिनय, एक हाथ में अपने केशबन्ध (जूडे) को पकडने आदि की चेष्टाएँ भी साथ-साथ बिम्बित है। यह अत्यन्त ऐन्द्रिय, हृदय में प्रयत्नरूप से भावनाओं को उभारने वाला शब्द-चित्र है। शृगार के आलम्बन विभाव का वर्णन होने से सुकुमार पदावली की योजना उसमे और भी हृद्यता का आधान कर रही है।

इसी पुराण का एक अन्य सशक्त चित्र श्रीकृष्ण के रासविहार के प्रसङ्ग से है। विरह विकल गोपियाँ सहसा अन्तर्हित श्रीकृष्ण को खोजती हुई यमुना-तीर-स्थित वन मे इधर उधर भटकती हुई एक मृगी से प्रश्न करती है—

अप्येणपत्न्युपगत प्रिययेह गात्रैस्
तन्वन् दृशा सखि सुनिर्वृतिमच्युतो व ।
कान्ताङ्गसङ्गकुच-कुङ्कुमरञ्जिताया
कुन्द-स्रज कुलपतेरिह वाति गन्ध ।।[2]

यह भाव और ध्वनियों का सश्लिष्ट चित्र है। पद्य का भावार्थ गोपिकाओं की प्रिय-दर्शन के लिये आकुलता को अभिव्यक्त कर रहा है। साथ में "कुन्द-स्रज" और "कुलपते" उत्तरार्द्ध मे आये इन पदो मे क्रमश स्त्रीलिंग और पुल्लिंग के कारण नायक-नायिका-व्यवहार की प्रतीति हो रही है। "कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जिताया" पद मे कुन्दस्रक् रूप नायिका के श्रीकृष्ण के अगसग या गाढ आलिंगन से होने वाले मदन की ध्वनि की अभिव्यक्ति पञ्चम एव प्रथम अथवा तृतीय वर्ण के सयोग से उत्पन्न कोमल ध्वनि से होती है। क्योंकि कुन्द की माला अत्यन्त कोमल और सरस होती है, उसमे ममर की ध्वनि न होकर क्षीण मिसमिसाहट का ही शब्द सभव है। उसका अनुकरण इन सयुक्त ध्वनियो से किया गया है। अत उससे समासोक्ति एव सूक्ष्म

---

१ भागवतपुराण, ८, १२, १८-२१

२ वही, १०, ३०, ११

अलंकार में आलिंगन एवं ...मक सुख का भाव चित्र और माघ में कुन्द कुसुम का मधुर गन्ध का घ्राण बिम्ब प्रस्तुत होता है।

...कालीन संस्कृत साहित्य में भी इस प्रकार के काव्यबिम्बों की न्यूनता नहीं है। कवि कालिदास के काव्य इस प्रकार के काव्यबिम्बों के भण्डार हैं। ...न कुमारसम्भव का निम्नश्लोक ध्वनि-मूलक काव्य बिम्ब का सुन्दर उदाहरण है—

> स्थिता क्षण पक्ष्मसु ताडिताधरा पयोधरोत्सेधनिपात चूर्णिता ।
> वलीषु तस्या स्खलिता प्रपेदिरे क्रमेण नाभि प्रथमोद बिन्दव ॥[२]

यह पद्य पार्वती की तपस्या के प्रसंग में उद्धृत है। पर्याय अलंकार के द्वारा इसका चाक्षुष बिम्ब वर्षा की बूंदों का वर्णन है जो कि पार्वती की पलकों अधरों ...ओं उरोजों त्रिवलियों में होकर गुजरती हुई नाभि में जा गिरती हैं। वर्णन इतना यथार्थ है कि अनन्तर में दृष्टि के जलकण कुछ क्षणों के लिए पलकों पर टिके दिखाई देते हैं। तदनन्तर उनको अधरों पर ठहरना लक्षित होता है। तत्पश्चात उरोजों पर गिर कर वे मोती चूर्ण जैसे दिखाई देते हैं। तब वे क्षण जलधारा में बदलती लखती है जो कि उदरवलियों में सिमटती हुई नाभिकुण्ड तक पहुंचती है। यह तो स्थूल चित्र है जो वाच्यार्थ में बना है। उसकी तह में अन्य चित्र उभरता है समाधिस्थ पार्वती की समाधि मुद्रा का। योग शास्त्रीय नियम के अनुसार समाधि अवस्था में पार्वती के नयन नासिका के अग्रभाग पर टिके होने से अधखुले हैं। ...नम शिवाय के पञ्चाक्षर मन्त्र का ...पाठ जाप करने से मुंह कुछ खुला है। अत जलकण ...पर के ओठ पर ही पड़ते हैं। पार्वती सीधी तन कर बैठी हुई हैं इस कारण मानो आगे को उभरा हुआ है। फलस्वरूप उसके नीचे उदरवलियां लक्षित हो रही हैं। नाभि मुद्रा उसमें भी नीचे है। पद्मासन बाँधकर बैठी होने से शरीर की स्थिरता ही भाग लक्ष्य है। यह द्वितीय चित्र है जो कि ध्वनित है।

...सकी तह में अब एक और सुन्दरतम चित्र दृष्टि गोचर होता है जिसमें पार्वती के शरीर के अप्रतिम सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। ...समें वाच्यार्थ सहायक है। उसके द्वारा यह द्योतित है कि पार्वती की घनी और सूक्ष्म पलकों की

---

[१] विशेष द्र० Shiv Prasad Bhardwaj—Poetic Imagery in Bhagavata Purana VIJ XIII (1975) Vishvabandhu Vol pp

[२] कुम ५ २४

कोमल ऊपरी होंठो की, उभरे हुए कठोर उरोजों की निम्न उदरवलियों की व गहरी नाभि तथा कृश मध्यदेश का[1]।

अभिज्ञानशाकुन्तल में भागते हुए मृग का वर्णन मूर्त बिम्ब का उत्तम निदर्शन है। इसमें मृग का मुड़-२ कर पीछा करते रथ की ओर देखना, पिछले भाग से सिमट कर अगले भाग को लम्बा करना, हाँफने के कारण खुले मुख से दाभ के अधखाये टुकड़ों का भाग में बिखरते जाना, लम्बी कुलाचे भरने में भूमि पर पैर बहुत कम रखना आदि क्रिया सर्वथा स्वाभाविक है और प्रत्यक्षवत् दिखाई दे रही है[2]।

यह शब्दचित्र इतना सजीव है कि एक चित्र भी पीछे जैसे दृश्य झाँकता हो। उदाहरण के लिए मृग के पिछले भाग का अगले भाग में सिमटना एक ऐसा सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत करता है, मानो कोई व्यक्ति डर कर अपने आगे स्थित दूसरे व्यक्ति के पीछे दुबक रहा हो। मृग के भागने की क्रिया के बिम्ब की तह में उसके भय की भावानुभूति है जो कि गत्यात्मक रूप में भाव-बिम्ब प्रस्तुत कर रहा है। कालिदास को दीपशिखा की उपाधि दिलाने वाला एक उपमा अलङ्कार के प्रयोग के रूप में कीर्ति स्तम्भ पद्य भी मूर्त और अमूर्त दोनों का सम्मिश्रित चित्र है। उसमें पहला मूर्त बिम्ब स्वयंवर मण्डप के दृश्य का है। छठे सर्ग के आरम्भ में कवि ने जो वातावरण बनाया है, उसकी पृष्ठ-भूमि में रखते हुए दीपशिखा के समान जगमगाती राजकुमारी इन्दुमती का परिचारिका सुनन्दा के साथ सजधज कर पङ्क्तिबद्ध नरेशों के पास एक एक कर घूमने का व्यापक दृश्य बनता है। उसका मध्य बिन्दु है राजकुमारी का किसी एक राजा के पास जा कर कुछ क्षणों के लिए खड़ा होना और पुनः उसे छोड़कर आगे बढ़ जाना। इन्दुमती के पास पहुँचने पर स्वयंवरार्थी राजा के मन पर क्या प्रतिक्रिया होती है अथवा उसके सान्निध्य से उस प्रत्याशी पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका कवि ने व्यञ्जना-प्रिय होने से कोई सङ्केत नहीं दिया। उसकी व्यञ्जना दूसरी उपमा के द्वारा होती है। जैसे आजकल का

---

१ तु० चित्रमी० पृ० २५

२ ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥

—शाकु० १.७

छायाकार पहले उल्टा चित्र (Negative) बनाता है और तब उसे सीधा करता है, कवि भी प्रस्तुत पद्य में पहले विपरीत चित्र रख रहा है जो कि विपरीत प्रतिक्रिया को स्पष्ट करता है। उसके प्रकाश में ही ऊपर सटे केंद्रित प्रभाव की व्यञ्जना होती है।

ह तो पहले स्थूल चित्र में पतिवरा इन्दुमती जो स्वयं विधाता का विधानातिशय थी और स्वयंवर के अवसर पर प्रसाधना से चलती फिरती दीप शिखा सी प्रतीत हो रही थी, उसके सान्निध्य में प्रत्याशी राजा कितना चमक उठा होगा, इसकी कल्पना किसी चमकीली वस्तु पर प्रकाश की किरण फेंक कर उस वस्तु के चमकने रूप में ही हो सकती है। द्वितीय उपमा में उपमान रूप राज-मार्गस्थ प्रासाद जो पहले अन्धकार में डूबा हुआ था सञ्चारिणी दीपशिखा के निकट आने पर आलोकित हो उठा। यह पक्ष व्यंग्य है वाच्य नहीं। वस्तुतः कवि द्वारा प्रस्तुत यह शब्दचित्र विद्युत-प्रभा से रात नगर आलो-कित नगरों में स्पष्ट समय में नहीं आ सकता। इसके लिए उस समय की कल्पना करनी होगी जबकि विद्युत न थी सन्ध्याकाल के पश्चात् नगर अन्धकार में निमग्न हो जाते थे। यामिक गण हाथ में काचदीप लटकाये गली-गली घूमते थे। उनकी लालटेन का प्रकाश कुछ क्षणों के लिए मार्गस्थ भवन पर पड़ता और वह द्योतित हो उठता था। पर यामिक के आगे बढ़ने पर दीप का प्रकाश भवन से दूर हो जाता और वह पहले से भी अधिक अन्धकार में निमग्न हो जाता।

यह मूर्त बिम्ब है और डा० राम प्रताप के अनुसार[2] मूर्त उपमेय की मूर्त उपमान से तुलना का निदर्शन है। कवि ने यामिक के आने पर दीपशिखा के प्रकाश से भवन के आलोकित हो जाने की बात नहीं कही। पर जो कुछ कहा है, उससे ही इसकी व्यञ्जना होती है। लौकिक अनुभव है कि अन्धकार तब तक घना प्रतीत नहीं होता जब तक पहले प्रकाश को न देखें। प्रकाश से सहसा अन्धकार में जाने पर कुछ समय के लिए वहां पहले से भी अधिक अन्धकार का अनुभव होता है। तथ्यवादी कवि ने इसी लिए प्रकाश

---

[1] सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥

—रघु० ६.६७

[2] महाकवि कालिदासस्य काव्येषु काव्यबिम्बम्, यूनिवर्सिटी रिव्यू जम्मू का कालिदास विशेषांक (१९७३) पृ० २३

पड़ने के समय भवन के आलोकित होने की चर्चा नहीं की। अत इन्दुमती का सान्निध्य पा कर प्रत्याशी राजा की बाह्य शोभा जैसी हुई होगी, वह कल्पना में ही क्षेय है। इस प्रकार आभा होती है, इसका प्रमाण कालिदास का ही वचन है। जैसे—

देखो—(चन्द्रमालोक्य) एष रोहिणीयोगेन अधिक शोभते भगवान् मृगलाञ्छन।

चेटी—नून सम्पत्स्यते भट्टिनीसहितस्य भर्तु विशेषरमणीयता। जैसा काव्य-बिम्ब कवि ने यहां प्रस्तुत किया है, वही उसे उपर्युक्त स्थल में भी अभीष्ट है पर उसे व्यङ्ग्य ही रहने दिया है।

इस स्थूल बिम्ब में आकर्षक दूसरा अमूर्त या भाव-बिम्ब है। इन्दुमती के निकट आने से पूर्व जो प्रत्याशी आशा-निराशा की लहरों में झूल रहा था, पास आते ही एक बार आशा में चमक उठा। मन की स्थिति आकृति पर झलक उठती है। उस समय उस राजा की दशा राज-मार्गस्थ प्रासाद की नीचे जा यामिक के काव्य दीप का प्रकाश पड़ने से हुई थी। पर आगे ही क्षण राजकुमारी के आगे बढ़ जाने से उसके मन में घोर अवसाद भर गया। नैराश्य और अवसाद की मलिन छाया उसकी आकृति पर स्पष्ट दिखाई दे रही थी। पर उसका यथार्थ अनुभव यामिक की लालटेन का प्रकाश पुन हट जाने से पूर्व से भी अधिक प्रतीत होने वाले घोर अन्धकार में होता है जिसमें वह शानदार भवन सर्वथा डूब ही गया। यह उपमा तो मूर्त से मूर्त की है पर इसकी तह में मूर्त से अमूर्त की उपमा छिपी है। क्योंकि घोर नैराश्य और अवसाद उपमेय है और अमूर्त है जबकि अन्धकार दृश्य होने से मूर्त है।[2]

गाढ़ रूप से अमूर्त भावना की तुलना सूक्ष्म व्यापार से करके प्रस्तुत किये मानस बिम्ब का निदर्शन मालविकाग्निमित्र से मिलता है। नृत्य समाप्त होने के पश्चात् नायिका के चले जाने पर छायी उदासी को राजा आंखों की तकदीर

---

१ विक्रमा० ३ पृ० १२५

२ तु० सञ्चारिणी दीपशिखेव The standard of Comparison (उपमान) befitting Indumati is an image of refulgence and stately movement नरेन्द्रमार्गाट्ट is an image of a tall, majestic figure deserving of a king

—L S Bhandare Im of Kalidasa p 6

पहले हृदय की प्रसन्नताओं के सारे अवसर समाप्त होने एवं धैर्य के सारे द्वार बन्द होने की अवस्था से उपमित करता है।

इसकी विशेषता यह है कि मालविका का अदर्शन आपाततः स्थूल प्रतीत होता है किन्तु यहाँ समय समय अदर्शन की अवस्था है जो नायक के हृदय की विकलता का व्यञ्जक है। उसके गहरे प्रभाव का ज्ञान इन तीन संभावनाओं से कराया गया है। इन अवसरों के द्वारा भाग्य के अस्तमन के कारण होने वाली अवस्था से उसको अभेद बनाया है। इसी प्रकार भविष्य में प्रसन्नता के सारे अवसर समाप्त होने और धैर्य के द्वार बन्द हो जाने के व्यापार के माध्यम से उसके परिणामस्वरूप होने वाली दुःखद परिस्थिति का भान होता है। यह क्योंकि मानसिक अवस्था का चित्रण है जो कि सूक्ष्म है अतः यह वस्तुतः अनुभूति या अमूर्त बिम्ब का उदाहरण है।[1]

काव्यों में वर्ण्य पात्रों के अङ्ग प्रत्यङ्ग का वर्णन कर आकृति बिम्ब प्रस्तुत किए जाते हैं। कभी स्वभावोक्ति अलङ्कार के द्वारा तो कभी साम्यमूलक अलङ्कार के द्वारा यह कार्य सम्पन्न किया जाता है। साम्य मूलक अलङ्कारों में तो बिम्ब प्रतिबिम्बभाव मूलक इसमें अधिक उपयोगी होते हैं। जैसे दर्पण में मुख की छाया देखकर उसकी स्थिति का ज्ञान होता है इसी प्रकार उपमान के स्वरूप में उपमेय का यथार्थस्वरूप स्पष्ट होता है। कालिदास के रघुवंश में ऐसा सुन्दर आकृतिबिम्ब निम्न श्लोक के रूप में उपलब्ध होता है—

> पाण्ड्योऽयमंसार्पित-लम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
> आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः॥[2]

इस पद्य में इन्दुमती के स्वयंवर में उपस्थित श्यामवर्ण किन्तु रक्तचन्दन का अङ्गराग लगाये और गले में कंधे तक मोतियों का हार पहने पाण्डव नरेश के आकार का यथार्थ स्वरूप प्रभातकालीन सूर्य की किरणों से रक्त शिखर वाले एवं प्रवाहित झरनों से श्वेत परिसर वाले हिमाचल के साथ बिम्ब प्रतिबिम्ब-भाव से चित्रित किया गया है।

मल्लिनाथ के अनुसार यह कालिदास की कल्पना की उड़ान का अच्छा

---

१ आर्यास्तमयमिवाऽऽहृदयस्य महोत्सवावसानमिव।
द्वारपिधानमिव धृतेर्मन्ये तस्यास्तिरस्करणम्॥

—मालवि० २।११

२ रघु० ६।६१

उदाहरण है।[1] यहां उपमेय और उपमान दोनों के मूर्त होने से यह बिम्ब पूर्णत चाक्षुष बिम्ब पर आधारित है।

चाक्षुष और नाद दोनों का सम्मिलित बिम्ब निम्नलिखित पद्य में देखने को मिलता है --

> वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणि काञ्चीगुणाया
> संसर्पन्त्या स्खलित सुभग दर्शितावर्त नाभेः ।
> निर्विन्ध्याया पथि भव रसाभ्यन्तर सन्निपत्य
> स्त्रीणामाद्य प्रणयवचन विभ्रमो हि प्रियेषु ॥[2]

यहां निर्विन्ध्या नदी को एक कामाकुला रमणी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह मतवाली चाल में इठला कर चल रही है या भावावेग में अपनी नाभिमुद्रा का प्रदर्शन कर रही है। यहां चाक्षुष बिम्ब के द्वारा इस प्रकार की रमणी का समानान्तर मूर्त बिम्ब बनता है। साथ में प्रथम चरण में 'विहगश्रेणि काञ्चीगुणाया' इनन अश म मेखला की घण्टियों की रुनझुन का अनुकरण करके नाद-बिम्ब भी है। "रसाभ्यन्तर" में श्लेष अलङ्कार द्वितीय बिम्ब की पुष्टि करता है। इस प्रकार चाक्षुष और नाद दोनों बिम्ब साथ-साथ चलते है। यह भी ई० नेविस द्वारा उदाहृत निम्न समन्वित बिम्ब में सर्वथा मेल खाता है—

> Cranking their jarring melonchoiy Cry
> Through the long journey of the cheerless sky [3]

यहां सारस का वर्णन चाक्षुष बिम्ब बनाता है किन्तु साथ में उनकी ध्वनि का अनुकरण कर्णेन्द्रियग्राह्य है।

भारवि —भारवि ने काव्य में भी कई सुन्दर काव्य-बिम्ब देखने को मिलते हैं। उनमें एक कल्पना पर आधारित ऐसा शब्द चित्र है जिसने उन्हें "आतपत्र-भारवि" के नाम से प्रख्यात कर दिया। उसमें भूकम्पिनी के पराग के चारों

---

१ पाण्ड्यावासम—This is imagination soaring high to the very summit of the Himalayas In portraying the king of Pandya Country Kalidasa in his inspired mood of mind, rises to sublimity as he does in depicting Himalayas in Kum 1 1

—Im of Kal p 26

२ मेघ० १,२८

3 Poe Im p 18

और पवन में उड़ने से इन्द्रकील पर्वत पर स्वर्णिम छत्र छा जाने की कल्पना विलक्षण है जो इस प्रकार का अद्भुत चित्र प्रस्तुत करती है[1]।

परिणाम-सुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन् वचसि क्षतौजसाम् ।
अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ॥[2]

यह बौद्धिक बिम्ब का निदर्शन है, वस्तु की आकृति की अपेक्षा उसके प्रभाव का बिम्बन कराना है। यह अस्पष्ट या धूमिल बिम्ब का अच्छा उदाहरण है। श्लेष अलङ्कार ने बिम्ब को विशेष रंग दिया है।

भाव और नाद के सामञ्जस्य से श्रवण बिम्ब का उदाहरण निम्न लिखित पद्य है—

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया
वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः ।
गाण्डीवी कनक-शिलानिभं भुजाभ्या—
माजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः ॥[3]

किरात-वेषधारी शिव के साथ नियुद्ध करते अर्जुन का यह मूर्त चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसमें पूर्वार्ध में मगर के पानी की धारा से वेग से ऊपर की ओर जाने का नादानुकरण है तो उत्तरार्ध में जोर से शङ्कर के वक्षःस्थल पर कराघात की ध्वनि "आजघ्ने" क्रिया से प्रतिध्वनित होती है।

यहाँ यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से "आजघान" होना चाहिये और वैयाकरणों ने कुछ समाधान भी प्रस्तुत किए हैं तथापि काव्यानुगुणता को देखते हुए यही प्रयोग उपयुक्त है। इसमें तलप्रहार के धमाके का सफल अनुकरण होता है।

---

१ उत्फुल्ल-स्थल-नलिनीवनादमुष्मादुद्धूतः सरसिज-सम्भवः परागः ।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ॥
—किरा० ५,३९

२ वही २४

३ वही १७, ६३

४ तु०—कथं तर्हि 'आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः' इति भारविः। "आहत्य मा रघूत्तमम्" इति भट्टिश्च। प्रमाद एवायमिति भागवृत्तिः। प्राप्येत्यध्याहारो वा। ल्यब्लोपे पञ्चमीति तु ल्यबन्ततदर्थाविनैवगतिनियत तद्विषयम्। भेत्तुमित्यादि तुमुन्नन्ताध्याहारो वास्तु। समीपमेत्येति वा।
—सि० कौ० आ०म० भाग १, पृ० ४०८

भोलाशङ्कर व्यास ने भारवि की कविता में नादानुकृति का इसको विरल निदर्शन स्वीकार किया है[1]।

माघ—माघ को घंटामाघ की उपाधि दिलाने वाला निम्नलिखित पद्य भी एक अच्छा संश्लिष्ट बिम्ब प्रस्तुत करता है—

उदयति विततोर्ध्वरश्मि रज्जावहिमरुचौ हिम-धाम्नि याति चाऽस्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बि घण्टा द्वयपरिवारित वारणेन्द्र लीलाम्[2]॥

इसमें एक चित्र रैवतक पर्वत का है जिसके एक ओर उदित होता सूर्य दिखाई दे रहा है उसकी फैली हुई किरणें रश्मियाँ सी लगती हैं, दूसरी ओर अस्त होता चन्द्र-मण्डल दिखाई दे रहा है। दूसरा चित्र हाथी का है जिसके दोनों ओर घण्टे लटक रहे हैं। यहाँ विशालकाय गजेन्द्र और पर्वत आकार के अनुपात में परस्पर समान हैं। उदयकालिक सूर्यमण्डल एवं अस्तकालिक चन्द्र-मण्डल अनुपात की दृष्टि से घण्टा के बराबर लगते हैं। इस प्रकार यहाँ दोनों का बिम्ब-प्रति-बिम्बभाव है।

माघ का एक सशक्त मूर्तबिम्ब उदयमान सूर्य का है जिसे रूपक अलङ्कार के द्वारा शिशु के रूप में प्रस्तुत किया गया है—

उदयशिखरि-शृङ्ग-प्राङ्गणेष्वेव रिङ्गन्
सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः
परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्य[3]॥

माघ शब्द और अर्थ दोनों के समन्वित प्रयोग के पक्षपाती थे[4]। इसका अनुसरण अपनी बिम्ब-योजना में भली प्रकार किया है। क्रुद्ध शिशुपाल की उग्रता की अभिव्यक्ति के लिये वे उसी प्रकार के शब्द एवं छंद का प्रयोग करते हैं जिससे बिम्ब सशक्त हो जाता है—

कृतसंनिधानमिव तस्य पुनरपि तृतीयचक्षुषा।
क्रूरमजनि कुटिलभ्रुभृकुटी कठोरितललाटमाननम्[5]।'

---

१ कविदर्शन पृ० १२८-१२९

२ शिव० ४, २०

३ वही ११, ४७

४ शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते। वही २, ८६

५ वही १५, ५

माघ का एक सुन्दर काव्य बिम्ब द्वारका-वर्णन के प्रसङ्ग में है। भवनों की कपातपाली में बैठ नकली कबूतरों को वास्तविक समझकर उन्हें पकड़ने के लिये लम्बे चुपचाप लेटे बिल्ले को भी लोग नकली ही समझते हैं। यहाँ मूर्ति और वास्तु कला का उत्कृष्ट रूप ध्वनित करता है। यहाँ "आयत-निश्चलाङ्ग" यह विशेषण बिल्ले की मुद्रा को मूर्त कर रहा है। 'चित्रमया' पद सहसा पक्षियों पर झपटने की संभावना को बिम्बित करता है।

श्रीहर्ष—वृहत्त्रयी के कवियों में चूडामणि श्रीहर्ष चमत्कारवादी कवि होने के कारण काव्य बिम्बों के निर्माण में सिद्धहस्त थे। उनके महाकाव्य नैषधीय-चरित में हमें ऐसा बिम्ब भी मिलता है जिसमें पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के सन्निकर्ष का अनुभव होता है।

लतावलालास्य कला गुरुस्तरु प्रसून-गन्धोत्कर पश्यतोहर।
असेवताम् मधुर घवारिणि प्रणीतलीला-प्लवनो वनानिल[2]॥

यहाँ लता के लास्य में चाक्षुष 'प्रसून-गन्ध' में घ्राण सम्बन्धी मधुगन्ध-वारिणि में रस, प्रणीतलीलाप्लवन में शीतल स्पर्श पवन के जलक्रीडा करने में एवं 'लीलाप्लवनो वनानिल' इन ध्वनियों में पाँचों एन्द्रिय बिम्बों का प्रत्यक्ष होता है। इसके अतिरिक्त रूपक अलङ्कार में जो कि परम्परित है, नृत्यदर्शन का दृश्य एवं 'प्रणीतलीलाप्लवन' इस अंश में जल में छलांग लगाकर क्रीडा करने आदि का बिम्ब भी बनता है जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः ये खण्ड बिम्ब हैं। इसी प्रकार—

नृपाय तस्मै हिमित वनानिलै सुधीकृत पुष्परसैरहमह।
विनिर्मित केतक रेणुभि सित वियोगिने दत्त न कौमुदी मुद[3]॥

इस पद्य में 'हिमित' में शीतल स्पर्श का 'पुष्प-रसैः सुधीकृत' में सुगन्ध व मधुर रस का, 'केतक रेणुभि सित' में रूप का एन्द्रिय बिम्ब बनता है। सबको मिला कर चान्दनी का मिश्रित बिम्ब बनता है।

पयोधिलक्ष्मीमपि केलि-पल्वले रिरसु हसीकलनाद-सादरम।
स तत्र चित्र विचरन्तमन्तिके हिरण्मय हसमबोधि नैषध[4]॥

---

१ चित्रमया कृत्रिम पत्रि पङ्क्ति का कपोत-पालीषु निकेतनानाम्।
मार्जारमप्यायत निश्चलाङ्ग यस्या जन कृत्रिममेव मेने॥—वही ३, ५१

२ नै०च० १ १०६

३ वही १, ९९

४ वही १, ११७

इसमें स्वर्णिम हंस के चाक्षुष बिम्ब के अतिरिक्त हिरण्मय पुरुष आत्मा का आदि बिम्ब भी बनता है। इसका आधार उपनिषदों व वेदान्त ग्रन्थों में वर्णित हिरण्मय पुरुष जिसे हंस भी कहा गया है, की परम्परागत चर्चा है[1]।

इसी काव्य में स्वभावोक्ति अलङ्कार के द्वारा सोते हुए हंस का शब्द चित्र प्रस्तुत किया गया है। जैसे—

अथावलम्व्य क्षणमेकपादिकां तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः
स तिर्यगावर्जितकन्धरः शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्लमालसः[2]॥

पक्षी सोता हुआ इसी मुद्रा में दीखता है। अतः यह बड़ा स्वाभाविक बिम्ब है।

श्रीहर्ष नादानुकृति में बनने वाले और संश्लिष्ट एवं मिश्र बिम्बों के निर्माण में सिद्ध-हस्त हैं। हंस के नल द्वारा पकड़ लिए जाने पर तालाब के तीर पर बैठे अन्य सभी पक्षी आकाश में उड़ गये और चू चू के स्वर में चह-चहाने लगे। पक्षियों के उड़ जाने से उस सर की शोभा जाती रही। कवि उस शोभा की कल्पना में मानवीकरण करता हुआ हंसों को लक्ष्मी या शोभा के चरणों की पायल बतलाता है। काव्यों में परम्परागत हंसों और नूपुरों के स्वर की समानता प्रसिद्ध है।

पतत्रिणा तद् रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम्।
चलत्पदाम्भोरुह नूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली[3]॥

इसमें एक दृश्य तो जोहड़ के ऊपर गगन में जोर जोर से चहचहाते हंसों की कतार का बिम्ब बनाता है। 'चुकूज कूले कलहंस मण्डली'' इतने अंश में आई ध्वनियां हंसों के शब्द की नादानुकृति द्वारा उसका बिम्ब बनाती हैं। इस प्रकार श्रव्य और चाक्षुष दोनों बिम्बों का मिश्रण है।

हंस के विलाप में करुण और वत्सल दोनों रसों में सम्मिलित अनुभूति-बिम्ब है जो कि बहुत मार्मिक है[4]।

---

१ योऽयमादित्ये हिरण्मयः पुरुषः हिरण्यकेशः हिरण्यश्मश्रुरा प्रणखात् सर्व एव सुवर्णः। —छान्दो० १, ६६

२ नैष० १, १२१

३ वही १, १२७

४ मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे त्वां करुणा रुणद्धि नो॥
मुहूर्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः सुतशोकसागरः॥
—वही, १, ३५-३६

सुखद होता है या नहीं। इसी प्रकार हेमन्त में जब ठण्डी हवा के झोंके चलते हैं तो छुरी की भांति काटते से प्रतीत होते हैं। क्योंकि वास्तविक सर्दी की अमहयता उन्हीं से होती है जो कि ओढ़ने के वस्त्रों को भी शीतल कर देती है। उसके तीखेपन की तुलना कुटिल व्यक्ति के दिखावे से भरे आलिङ्गन से की है। इसकी सशक्तता और यथार्थता भी अनुभव-वेद्य है। जिस व्यक्ति के सम्बन्ध में यह ज्ञात हो जाता है कि वह परोक्ष में हमारी जड़ काटता है और सामने बनावटी प्रेम और आदर दिखाता है तो उससे घृणा और चिढ़ हो जाती है, उसकी निर्दोष बात में भी दोष दिखाई देता है और उससे बात करने या उसके पास बैठने को भी मन नहीं चाहता। वही यदि आदर बाहरी प्रेम दिखाता हुआ आलिङ्गन करता है तो वह आलिङ्गन घृणा और चिढ़ को और भड़काता है। इस अनुभव की दृष्टि से रखकर विचार करें तो शीतकाल का तीखापन सहज ही बोधगम्य हो जाता है। तृतीय चरण में सर्दी के दिनों के सूर्य का तेज क्षीण-वित्त मनुष्य के आदेश के तुल्य बताया है। यहां कवि का आशय धूप की अप्रभावकता (in effectiveness) से है। धन की गर्मी रहने तक मनुष्य के वचन में कड़क भी होती है और लोग उसको हानि लाभ पहुँचाने में समर्थ जानते हैं, अतः चुपचाप उसके आदेश का पालन करते हैं। किन्तु धनहीन व्यक्ति किसी का न कुछ बना सकता है न बिगाड़ सकता है। इसलिए उसकी बात की सब उपेक्षा कर देते हैं। इस प्रकार उस व्यक्ति की आज्ञा के समान सर्दी की धूप प्रभावहीन बताई है। शीतकाल में चन्द्रमा कान्तिहीन और फीका फीका-सा रहता है पुनः शीतलता के कारण सुहाता भी नहीं है। विरहिणी का मुख भी चिन्ता और दुःख के कारण सूखा-सूखा निष्प्रभ हो जाता है। वह भी उतना आनन्ददायक नहीं होता।

यहां आपाततः उपमेय चारों मूर्त हैं किन्तु उपमान अमूर्त हैं। पर पर्यालोचन में उपमेय भी अमूर्त ही हैं। क्योंकि वायु की आंच का ताप या सेक वस्तुतः उपमेय है जो वधू के रोष में समानता रखता है। इस प्रकार यह उपमा प्रभाव-साम्य को लेकर वास्तवौपम्य के अन्तर्गत आती है। इसके बिम्ब बौद्धिक या अनुभूति रूप बनते हैं। उपमेय पक्ष में प्रथम द्वितीय स्पर्श-बिम्ब प्रस्तुत करते हैं किन्तु उपमान पक्ष में अनुभूति बिम्ब, तृतीय में प्रस्तुत पक्ष में दृश्य या चाक्षुष बिम्ब का बोध होता है, पर्यालोचन में अनुभूति का बिम्ब बनता है, अप्रस्तुत पक्ष में भी आपाततः श्रव्य बिम्ब बनेगा किन्तु परिणति अनुभूति में ही होगी। चतुर्थ चरण में भी आपाततः दोनों पक्षों में चाक्षुष बिम्ब बनता है परन्तु परिणाम में आनन्दाभाव का अनुभूति बिम्ब ही बनता है। सब मिलाकर शीतकाल की तीक्ष्णता का जो सामूहिक अनुभव होता है वह अमूर्त

संश्लिष्ट बिम्ब है। कवि ने यहाँ छन्द भी हरिणी चुना है जिसमें आरम्भ में संकोच और बाद में मृगी की कुलाँच की सी गति तीव्र होती है। उपमेय और उपमाना का भी आभासिक रूप मन्द होता है किन्तु तीव्र होता है। अतः लय का भी बिम्ब बनता है जो कि शायद बिम्बों को अधिक प्रभावी बना देता है।

ध्वनिबिम्ब प्रस्तुत करने में संस्कृत कवियों में सर्वाधिक सफलता भवभूति को मिली है। वे भावानुरूप शब्द-योजना में प्रत्याशित प्रभाव उत्पन्न करने में बहुत समर्थ सिद्ध हुए हैं। मालतीमाधव में वर्णित प्रेत का रूप अनुरूप ध्वनियों और छन्द के द्वारा अपने स्वरूप का बिम्ब तो स्पष्ट करता ही है साथ में अभीष्ट बीभत्स रस की अभिव्यक्ति में भी समर्थ है[१]।

इसकी विशेषता यह है कि इसमें श्रव्य चाक्षुष गन्ध रस और शब्द पाँचों एन्द्रिय बिम्ब बनते हैं। स्रग्धरा छन्द के द्वारा मरभुक्खे प्रेत का कठिनाई से मिले आहार के शीघ्र समाप्त करने का आवेग भी बिम्बित होता है। कर्कश ध्वनियों से चमड़ी उधेड़ने में या हड्डी तोड़ने में होने वाली ध्वनि का अनुकरण भी होता है। इस प्रकार यहाँ भी प्रथमतः एन्द्रियबिम्ब बनते हैं और पश्चात् अनुभूत्यात्मक भाव बनता है।

इसी प्रकार चन्द्रकेतु के सैनिक के प्रति लव के क्रोध की अभिव्यक्ति एवं रौद्र के परिपाक के लिए उग्रता प्रकाशन-समर्थ वर्णों का प्रयोग है[२]।

इस पद्य की ध्वनियाँ भी एक साथ कई बिम्ब प्रस्तुत करती हैं। अपने धनुष की तुलना लव सैनिकों को खाने में संलग्न काल के मुख से करता है। धनुष की लपलपाती डोरी उसकी जीभ बनाई गई है धनुष की दोनों अटनियाँ बड़ी-बड़ी दाढ़ें हैं डोरी से निकला शब्द गुंजन की प्रतिध्वनि प्रस्तुत करता है। तृतीय चरण में 'ग्रास प्रसक्त-सद' हसदृश ध्वनियाँ दबादब खाने में होने वाली ससला-

---

१ उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा—
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का—
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति।—मा०मा० ५ १६

२ ज्या जिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्र—
मुद्भूरि घोरघनघर्घरघोषमेतत्।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्र—
जृम्भाविडम्बि विकटोदरमस्तु चापम्॥ —उ०च० ४, २९

हट की श्रुति देती है। इसमें भयंकर आकृति वाले एक विशाल राक्षस के मुख का बिम्ब बन जाता है।

पद्यकाव्य में ही नहीं, गद्यकाव्य में भी इसी प्रकार के एक से एक सुंदर काव्य बिम्ब उपलब्ध होते हैं। बाण के काव्य तो ऐसे बिम्बों के भण्डार हैं। उनमें प्रसंग के अनुसार मानवी भावनाओं के संवेदन की रंगीनी भरी है। जैसे पुण्डरीक के साथ प्रणय वृत्तान्त के वर्णन के संदर्भ में सन्ध्या का वर्णन कादम्बरी की मानसिक अवस्था के अनुरूप ही है। इसमें सूर्य के ढलने से लेकर उसके छिपने तक का यथार्थ वर्णन साथ का पूर्ण संश्लिष्ट बिम्ब प्रस्तुत करता है। बाण का एक अन्य काव्य बिम्ब—

"मग्नांशुक-पटान्त-तनुताम्रलेखालाञ्छितलावण्यकुब्जिकावर्जितराजत-राजहंसस्य समुद्गीर्णेन पयसा"[2]

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार एक जड़ाऊ कृति है। इसमें तत्कालीन वास्तुकला की अद्भुत झांकी दिखाई गई है। खम्भे पर बनी हुई एक अष्टवर्षीया दासी की प्रतिमा के हाथ में चांदी का राजहंस के सदृश मुख वाला भृङ्गार पकड़ाया हुआ है। उसके बदन पर चिपकी चोली की लाल किनारी से उसका सौन्दर्य और निखर आया है। उस भृङ्गार से पानी की धार निकल रही है। यह एक स्पष्ट बिम्ब है। यद्यपि श्लेष अलंकार के द्वारा इसके पांच अर्थ निकाले गये हैं तथापि उन सभी से पृथक् पृथक् वस्तु-चित्र बनते हैं। इस प्रकार के बिम्ब विरले ही होंगे।[3]

---

१ अथ मदीयेनेव हृदयेन कुसुमरागमविभागे लोहितायति गगनतलावलम्बिनि रवि-बिम्बे, सरागदिवसकरदर्शनानुरक्तायां कृत-कमलशयनायामनङ्गा-तुरायामिव पाण्डुना व्रजन्त्यामनपलक्ष्याम्, गैरिक-गिरिमिलितप्रपात-पाटलेषु कमलवनेभ्य उत्थाय वन गज-यूथेष्विव पुञ्जीभवत्सु भास्कर-किरणेषु, गगनावतारविश्रामलालसमाना रविरथवाजिना ह्रेषाह्रेषा-रवप्रति-शब्दकेन सह विशति मेरुगिरि-गह्वर वासरे, मुकुलितरक्तपङ्कज पुट-प्रविष्ट-मधुकरविरीषु विरह-मूर्च्छान्धकारि-हृदयास्विव प्रारब्धनिमीलनासु पद्मिनीषु, ग्रासीकृत-सामान्य मृणाललता-विवरम्भकामिनानीव परस्परहृदया-न्यादाय विघटमानेषु रथाङ्गनाम्ना युगलेषु ।

—का०पृ० २८२

२ हर्ष० पृ० ५३३-३४

३ ह०च० एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ९९-१०२

ये विभिन्न प्रकार के बिम्बा के उदाहरण इस बात के प्रमाण है कि सस्कृत के कवि बिम्ब-सम्बन्धी धारणा मे परिचित ही नही ये बल्कि उनके निर्माण मे अत्यन्त दक्ष ये। वे काव्य क लिये उनकी सत्ता अनिवार्य मानते थे। क्या प्रकृति और क्या लाक-जीवन यहा तक कि भावनाआ के सूक्ष्म क्षेत्र मे भी उन की कविता काव्यबिम्बो म सजीव है। गद्य और पद्य दोनो प्रकार के काव्य इन बिम्बा मे प्राणवान् हैं। इस लिये सस्कृत के कविया और आचार्यों को काव्य-बिम्ब की भावना स अपरिचित समझना या उनक महत्त्व को समझने मे असमथ मानना भ्रान्ति के अतिरिक्त कुछ नही है।

तृतीय परिच्छेद

चमत्कार, कल्पना एवं अलङ्कार

चमत्कार का तारतम्य—पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि वेद से लेकर श्रीहर्ष तक सभी कवियों की काव्य-रचनाएँ बिम्ब के उदाहरणों से भरी पड़ी हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्र में भी उसके लक्षण, भेद-प्रभेद अवश्य विवेचित हुए होंगे। अतः काव्यशास्त्र में उपलब्ध सामग्री के आधार पर काव्य-बिम्ब के भेद-प्रभेद एवं उसके लिए आवश्यक तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

प्रथम अध्याय में हम स्थापना कर चुके हैं कि आज जिसे काव्य-बिम्ब के नाम से पुकारा जाता है, काव्यशास्त्र में उसे चमत्कार नाम से व्यवहृत किया जाता है। जिसमें चमत्कार की मात्रा अधिक होती है, उस काव्य को उत्तम, जिसमें उससे कुछ कम होती है, उसे मध्यम, जिसमें और कम होती है वह अधम घोषित किया गया है। परन्तु काव्यत्व उन सभी में है। जिसमें चमत्कार का सर्वथा अभाव है उसे काव्य ही स्वीकार नहीं किया गया है।[1]

आचार्यों ने *व्यंग्य-प्रधान कृति को उत्तम काव्य घोषित किया है,*[2] गुणीभूत व्यंग्य वाली उक्ति को मध्यम[3] एवं व्यंग्य के चमत्कार की अत्यन्त दुर्बोधता अथवा सर्वबोध्यता से युक्त रचना को अधम या घटिया माना है।[4] जगन्नाथ को इससे संतोष नहीं हुआ और उन्होंने चार भेद मानते हुए प्राचीनों द्वारा

---

१ तु०—चारुत्वोत्कर्ष-निबन्धना हि वाच्य-व्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।
—ध्वन्या० पृ० ११४

२ वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।
—साद० ५, १

३ अपरंतु गुणीभूत-व्यङ्ग्य वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये। तत्र स्यादितराङ्ग काक्वाक्षिप्त च वाच्यसिद्ध्यङ्गम्॥ सन्दिग्धप्राधान्य तुल्य-प्राधान्यमस्फुटमगूढम्। वही ४, १३-१४

४ शब्दचित्र वाच्य-चित्रमव्यङ्ग्य त्ववर स्मृतम्॥ —काप्रका० १, ५

अधम माने गए काव्य प्रकार को मध्यम और अधम दो श्रेणियों म विभक्त कर दिया

चित्रकाव्य—ध्वनिवादियों ने स्फटव्यग्य-स्पर्श रहित काव्य को चित्र काव्य कहा है।[1] वे भी शब्द चित्र और अर्थ चित्र इन दो भेदो म विभक्त है।[2] शब्द चित्र उसे स्वीकार किया है जिसम कवि का सारा प्रयत्न शब्द की योजना पर ही केन्द्रित रहता है अर्थ व रहन पर भी या तो उसम सौन्दर्य न हो हो भी तो गुप्त खजाने म रख रत्न की आभा की भाति सुखबोध्य न हो।[4]

इसके विपरीत अर्थ चित्र म कवि का यत्न क्या कहना है के स्थान पर कम करना है पर अधिक केन्द्रित होता है। इसको हम दूसरे शब्दो म यह सकते है एवं सौन्दर्य निसर्गजात है जो कि उचित आभरण वस्त्र भूषणादि म और निखर जाता है वह उत्तम समझा जाता है दूसरा अडकार वस्त्र भूषणो की अधिकता एव पाउडर सुरमा आदि आवश्यकता म अधिक तथा कर प्रस्तुत किया जाता है वह कभी बार भोन्डा और अरुचिकर भी बन जाता है जब यह दूसरे प्रकार का यत्नज सौन्दर्य काव्य म उत्पन्न किया जाता है तब अर्थचित्र की सृष्टि होती है।

काव्य भेदों का औचित्य अब यहा विचारणीय प्रश्न यह है कि जब काव्य का मूलतत्त्व चमत्कार है और नाना या चारो प्रकारो म चमत्कार की सत्ता है तो उत्तम और अधम मध्यम श्रेणिया बनाने म क्या औचित्य है। आचार्यो ने आनन्दप्रदता काव्य का मुख्य धर्म माना है या निरतिशयानन्द प्राप्ति को एक स्वर म काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है। चमत्कार आनन्द का स्रोत है अथवा आनन्द म जनित है तो फिर भी इन प्रत्येक काव्य भेदो

---

१ कश्चिदिमानपि चतुरो भेदानगणयत् तेषु मध्यमाधमभावेन त्रिविधमेव काव्यमाचक्षते तत्राथचित्रशब्दविशेषणाभ्यमन्त्रमयुक्तं वक्तुम। तारतम्यस्य स्फुटमुपलब्ध । —रस० १

२ प्रधानगुणभावाभ्या व्यग्यस्यैव व्यवस्थित । उभे-काव्य ततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते । —ध्वन्या ३ ४१

३ अगूढम अस्फुटम । ऊपर टिप्पण ६

४ वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृति । —भाका० १ ३६

५ चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत । चच पृ० १ तथा च तथाहि लोकसकल विघ्न विनिमुक्ता सवित्तिरव चमत्कार निर्वेश रसास्वादन भोग समापत्तिलय विश्रान्त्यादि शब्दैरभिधीयते । —तत्रालौकिक चमत्कारात्मा रसास्वाद स्मृत्यनुभाव-लौकिक-सवादनविलक्षण एव।
—अभि०भा भा० १ पृ० २४०

से उसकी सिद्धि होती ही है। पुनः उत्तम, मध्यम और अधम यह श्रेणी या वर्ग-भेद क्या ?

प्रश्न बड़ा तर्क-संगत लगता है और इस युग में जबकि वर्ग-हीन समाज की स्थापना का नारा लगाया जा रहा हो, जीवन और व्यवहार में विषमता की विभाजक दीवारें ढाकर बलपूर्वक समानता लाने का यत्न किया जा रहा हो किन्तु स्वयं और भी अधिक वैषम्य उत्पन्न किया जा रहा हो। जब लौकिक जीवन में यह समानता संभव नहीं तो काव्य में ही कैसे होगी। भोज्य पदार्थ एक से एक अच्छे हों पर सबको समान रूप में रखें, यह तो संभव नहीं। चटपटा खाने वाले को मीठा अथवा सतुलित नमक मिर्च वाला पदार्थ भी रुचिकर नहीं लगता। इसी प्रकार एक आमिषभोजी स्वादिष्ट से स्वादिष्ट शाकाहारी भोजन को छोड़कर सामिष भोजन में ही स्वाद का अनुभव करता है। यहाँ तक कि गन्ने के रस से बने, खजूर या ताड़ के फल के रस से बने गुड़ में माधुर्य एक सा नहीं रहता। पुनः चीनी मिश्री, बताशे, शहद और द्राक्ष की मिठास में भी वर्गविशेष पायी जाती है तब शुद्ध रूप से भावना से सम्बन्ध रखने वाले काव्य के चमत्कार में तारतम्य क्या न होगा और यदि चमत्कार में तारतम्य होगा तो स्वयं ही उत्कृष्ट और निकृष्ट का भेद आ जायगा।

काव्य भावलोक की वस्तु— इसके अतिरिक्त यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि काव्य का सम्बन्ध मनोवेगों एवं संवेदन के साथ है। वह अन्तर्जगत की व्याख्या है जो कि तार्किक विश्लेषण से न होकर अनुभूति के द्वारा सम्पादित की जाती है। अनुभूति हृदय की वस्तु है और सहृदय-संवेद्य होती है। यह सहृदयता कोई बाजारू वस्तु न होकर भावनाश्रित एवं केवल भावुक व्यक्तियों तक सीमित रहती है। लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है कि काव्य और संगीत में बहुत से लोग रुचि रखते हैं तो अनेक इसे समय का अपव्यय मात्र मानते हैं। कवि स्वयं भावुक होता है और भावना के उद्वेलित होने पर काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है। आनन्दवर्द्धन ने रस-भावादि-स्पर्शरहित काव्य को अवास्तविक काव्य कहा।[1] रमारञ्जन मुखर्जी भी जो कि प्रत्येक कविता को एक

---

१ व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनि-संज्ञित-काव्य-प्रकारः गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता, ततोऽन्यद् रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थ-विशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्।

—ध्वन्या०, पृ० ४९५

बिम्ब स्वीकार करते हैं रसभावादि के अभाव में खण्डित बिम्ब मानते हैं।[1] इस लिए ही समीक्षक काव्य में भाव-तत्त्व की बुद्धितत्त्व से अधिकता स्वीकार करते हैं। यद्यपि एक पक्ष बुद्धिवाद में भी सौन्दर्य एवं आनन्द की सत्ता स्वीकार करता है और इसके प्रमाणस्वरूप टी०एस० इलियट जैसे आधुनिक कवियों की कविता का निदर्शन प्रस्तुत करता है तथापि इसमें भावना की गौणता सिद्ध नहीं हो जाती। संस्कृत साहित्य में भी ऐसे बौद्धिकता प्रधान कवियों की न्यूनता नहीं रही है। जब कोई कवि किसी धर्म या ज्ञान का प्रचार करने के लिए काव्य रचना करता है तो उसके काव्य में बौद्धिकता ही प्रधान होगी। भावुकता या यों कहिए कवित्व का पक्ष गौण होगा। उदाहरण के लिए बौद्ध कवि अश्वघोष में काव्य प्रतिभा रहने पर भी उसे कालिदास आदि का सा यश क्यों नहीं मिला? कारण यही है कि उसका बुद्धचरित आदि में अन्त तक दार्शनिकता से लदा हुआ है। सौन्दरनन्द में भी वह स्पष्ट रूप से और ईमानदारी से यह स्वीकार करता है कि इस काव्य की रचना मनुष्यों को ज्ञान प्रदान करने के लिए की है।[2] पाण्डित्य के भार से लदे काव्यों की रचना करने वाले भारवि, माघ और श्रीहर्ष को कविकुल गुरु की उपाधि क्यों नहीं मिली? क्यों जयदेव ने उनको प्रशस्ति में स्थान नहीं दिया।[3] क्या इनमें कवित्व प्रतिभा नहीं थी? थी अवश्य परन्तु उनका कवित्व पाण्डित्य के भार

1 Employment of this device in th s mann^r apprehanded by the exponent of the Doctrin^e of Dhvani leads to a broken image which though presenting graceful thought fails to provide for a common meeting ground between the exper encer and his related spirits

—Ima in Poetry p 164

२ इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृति
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत् काव्यधर्मात् कृतम्
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥

—सौ०न० १८ ६३

३ यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय ॥

—प्रस०प्रस्ता० २२

से दब गया था। पाठक शास्त्रीय प्रपंच की झाड़ी में उलझे अपने आंचल को छुड़ाने में रह जाता है और रस की धारा बह जाती है। हाँ, जो लोग उसी प्रकार के काव्य को पसंद करते हैं, उनके लिए बृहत्त्रयीकार और सुबन्धु सदृश श्लेष-प्रधान कवि ही उत्तम हैं। क्योंकि वे उनकी मस्तिष्क-कण्डू के शमन में समर्थ होते हैं- कालिदास-सदृश कवियों की कविता उन्हें बच्चों की सी लगती है। इस रुचि और रीति के भेद के कारण ही राजशेखर ने कवियों का वर्ग विभाजन करते हुए ऐसे कवियों को शास्त्रकवि कहा है।[1]

इसका तात्पर्य यह नहीं कि कालिदास आदि के काव्य में पाण्डित्य का सर्वथा अभाव है। वे भी समाज की नीति एवं सत्य की शिक्षा देते हैं। किन्तु उनके काव्य में यह शिक्षा का रूप मुखर नहीं होता है। यह किसी से छिपा नहीं है कि सत्य के दर्शन हल्के आवरण में जितने भले लगते हैं, उतने निरावृत रूप में नहीं। वेद में भी इसका सङ्केत स्पष्ट है कि सत्य चर्मचक्षु से देखने की वस्तु नहीं है, उसके लिए सूक्ष्म दृष्टि चाहिए[2]। कमनीय से कमनीय नारी-कलेवर विवस्त्र अवस्था में एक मात्र ख़ुमार भरिये या वासना में अन्धे पशुवृत्ति मनुष्य को ही आकर्षक लग सकता है। अन्य के लिए वह विरूप एवं घृणाजनक ही होगा। परन्तु वही वस्त्राभरणादि में मनमोहक बन जाता है। उसके जिस अंग को किसी कवि ने मेंढक के फटे पेट के तुल्य बताया था और उसके प्रति आकर्षण रखने वाले मनुष्य को कृमि से अधिक स्वीकार नहीं किया[3] उसी को दूसरा कवि अमृत-सरोवर कहता है[4]। पहला घृणा और निर्वेद उत्पन्न करता है तो दूसरा रागवृत्ति जगाता है। वाल्मीकि भी रावण के अन्तःपुर में सोई हुई उनकी

---

1 यच्छास्त्रकवि काव्ये रसमम्पदं विच्छिनत्ति। यत्काव्यकवि शास्त्रं तर्ककर्कशमप्यर्थ-मुक्ति-वैचित्र्येण श्नथयति। —काव्यमी० पृ० ५५

२ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ —यजु० ४०, १६

३ उत्तानोच्छून-मण्डूक-पाटितोदरसन्निभे। क्लेदिनि स्त्रीव्रणे सक्तिः कृमेः कस्य न जायते। —का०प्रका०उ० ३०७

४ अमुष्मिल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघन-भागे निपतितः। तदङ्गाङ्गाराणां प्रथमपिशुना नाभिकुहरे शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलि-वपुः॥ —वही, उ० ४३२

पाठक या श्रोता के हृदय को अभिभूत नहीं करती। इसी की तुलना में यदि उसी कवि का हृदय चित्रण देखा जाय[1] तो वह अत्यन्त सशक्त है और पाठक एवं श्रोता के हृदय में करुण रस को जगाता है। इसलिए पहला जहाँ केवल बाह्य आकर्षण उत्पन्न करता है दूसरा भाव सम्प्रेषण भी। उसका संवेदन व्यापक और सार्वभौम है। इसलिए रस भाव ध्वनि को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है। उसमें भी करुण रस जो कि हृदय की पीड़ा को प्रकट करता है अधिक मार्मिक है। वह ऐसा शाश्वत और सार्वभौम भाव है कि गन्धर्व देव मुनि मनुष्य पशु और पक्षी सभी को किसी न किसी रूप में अवश्य आन्दोलित करता है। यही कारण है भारतीय आचार्यों ने यदि काव्य की उत्पत्ति का मूल उसी के स्थायी शोक को स्वीकार किया[2] है तो महाकवि शैली ने दर्द भरे गीतों को सर्वोत्तम घोषित किया[3]। ग्रीक आचार्यों ने दुःखान्त नाटक या ट्रेजडी को अधिक महत्ता दी[4] तो भवभूति ने करुण को ही एक मात्र रस माना[5]। भोज ने शृंगार को एकमात्र रस मानते हुए भी[6] विप्रलम्भ शृंगार के

---

१ सदकपुत्रा जनता जगतः स नव प्रसूतिवन्द्या तपस्विनी।
गतिस्तयारस्य जगन्मदय नहा विधे त्वां करुणा रुणद्धि नो॥ वही १, १३५
सदयस दशमृणानमन्तर प्रिय कियद्-दूर इति स्वयादिन।
विरानयन्त्या रुदनाश्च पतिण प्रिय स क्षोद्रमविना तव क्षण॥
—वही १, १४७
सुता यथाहूय विराय सङ्गतैविधाय कम्प्राणि सुखानि सम्प्रति।
कथासु शिष्यधर्ममिति प्रमीय स स्नुतस्य सवाद बुबुधे नृपात्मुण॥
—वही, १, १८२

२ काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ ध्वन्या० १, ५

3 We look before and after
And pine for what is not
Our sincerest laughter
With some pain is Fraught
Our Sweetest songs are those
That tell of saddest thought —P B Shelly The Skylark

४ सा०शि० पृ० ३० पंक्ति २-३

५ एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा—
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥ —उ०रा० ३, ४७

६ शृंगारहास्यकरुणाद्भुतवीररौद्रबीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्न
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु शृंगारमेव रसनाद् रसमामनाम॥
—शृं०प्र० भाग १, ७

भेद को करुण संज्ञा दी[1]। यहाँ तक कह दिया गया कि जब तक वियोग शृंगार का चित्रण न हो तब तक संयोग शृंगार की पुष्टि नहीं होती[2]। भरत मुनि ने लोक में गर्ह्य समझी जाने वाली परकीया रति का अधिक तीव्र बताया[3]। इसका कारण यही है कि इस भाव का प्रभाव अधिक गहरा और मर्मस्पर्शी होता है। विश्व भर में अमर वाल्मीकि-रामायण, महाभारत, अभिज्ञानशाकुन्तल, उत्तररामचरित और मेघदूत इस वेदना की अभिव्यंजना और मार्मिकता के कारण ही विख्यात हैं। संभव है, कुछ पाठकों को महाभारत में वेदना की बात या शाकुन्तल में करुण की मार्मिकता[4] की बात अटपटी लगे परन्तु मैं इस बात को पुनः दृढ़ता से कहता हूँ। भले ही महाभारत में वीरघोष की गम्भीर ध्वनि सुनाई देती है, किन्तु उसका अन्त किस प्रकार है, यह देखने की आवश्यकता है। वह पाठक के हृदय पर नियति की प्रबलता और संसार की अनित्यता की छाप छोड़ जाता है। अभिज्ञान शाकुन्तल की महत्ता तृतीय अंक तक के भाग में नहीं है। शकुन्तला सी सुन्दरियाँ तो विश्व साहित्य में हेलेन, क्लियोपेट्रा और जूलियट के रूप में सैकड़ों मिल जायेंगी और उनके काम व्यापार आज के सस्ते अश्लील साहित्य में और अधिक नग्न रूप में वर्णित मिलेंगे। वस्तुतः चतुर्थ अंक में उसकी मार्मिकता आरम्भ होती है और सातवें अंक में पुनर्मिलन में उसका पर्यवसान होता है।

संसार में युद्ध और कलह किस जाति और समाज में नहीं होते? इतना व्यापक होने पर भी वीररस-प्रधान साहित्य शृंगार-प्रधान साहित्य की तुलना में न्यून है। यहाँ तक कि विरक्ति-प्रधान जैन धर्म के अनुयायी आचार्यों ने युद्धवीर को हिंसाप्रधान होने से मान्यता नहीं दी[5]। पर शृंगार रस का त्याग नहीं किया। यहाँ तक कि उनके पुराणों में एक पत्नीव्रत के लिए प्रसिद्ध राम और लक्ष्मण की भी सहस्रों पत्नियाँ गिनाई गई हैं[6]। शृंगार की विजय-दुन्दुभि बजने

---

१ लोकान्तरगते यूनि वल्लभे वल्लभा यदा।
भृशं दुःखायते दीना करुणः स तदोच्यते ॥ —म०क०, ५, ५०

२ न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते। —वही, ५ ५२

३ यद् वामाभिनिवेशित्वं यतश्चैव निवार्यते।
दुर्लभत्वं च यन्नार्याः सा कामस्य रतिः परा। —नाशा०(निशा) २२, १६६

४ तु०—शाकुन्तले चतुर्थोऽङ्कः कालिदासो विशिष्यते। अज्ञात

५ अनुयोगद्वारसूत्र V Raghawan Number of Rasas p 180

6 A critical study of Paumacariyam—Dr K R Chande p 113 & 115

में इससे अधिक प्रमाण क्या चाहिए? इसका हेतु क्या है? यही कि उसका मूल प्रेम ऐसा भाव है जो कि देव, दानव, ऋषि-मुनि, मनुष्य, तिर्यक् सभी को प्रभावित करता है। यह सत्य इस बात को सिद्ध करता है कि भावानुभूतियाँ ही हृदय का आन्दोलित करती हैं और उनके सशक्त एवं सफल चित्रण से काव्य में चमत्कार की उत्पत्ति अधिक होती है। ऐसा काव्य जीवन के अधिक समीप आता है। इसीलिए आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठा दी। किन्तु विचारोत्तेजन के द्वारा बौद्धिक तृप्ति देने वाले साहित्य की उपेक्षा न करते हुए वस्तुध्वनि को भी महत्त्व दिया, भले ही यह किसी को नहीं भी सुहाया[1]। विचार की अपेक्षा उसके प्रकाशन का प्रकार कुछ गौण होता है, इसलिए रीति, वृत्ति और अलंकार आदि को ध्वनि की तुलना में नीचे स्थान दिया है।

इस गौण-प्रधान-भाव का मूल चमत्कार का तारतम्य है। यह चमत्कार विलक्षणता, वैचित्र्य और नवीनता पर आधारित है। इसलिए गुण, वक्रोक्ति, अलंकार और कल्पना उसके प्रधान उपकरण कहे जा सकते हैं।

इसलिए काव्य का मूल आधार चमत्कार है जिसके उत्पादन के लिए कवि की प्रतिभा का प्रयोग होता है। चमत्कार का सामान्य लक्षण संकेत रूप में पहले परिच्छेद में प्रस्तुत किया जा चुका है।[2] अन्य अलंकारशास्त्री भी सीधे शब्दों में या प्रकारान्तर से उस चमत्कार को प्रधानता देते हैं। भरत जब काव्य के हृदयावर्जन की बात करते हैं[3] तो उस चमत्कार की ओर ही संकेत करते हैं। क्योंकि वही हृदय को आवर्जित करने में समर्थ होता है। उन्होंने स्पष्ट रूप में चमत्कार शब्द का प्रयोग नहीं किया है। परन्तु "विभान्ति"[4]

---

१ तु०—यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्-"काव्यस्यात्मा ध्वनिः" इति, तत् किं वस्त्वलंकाररसादिलक्षणस्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा उत रसादिरूपमात्रो वा नाद्यः प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः अन्यथा "देवदत्तो ग्रामं याति" इति वाक्ये तद्-भृत्यस्य तदनुसरणरूपव्यंग्यावगतेरपि काव्यत्वं स्यात्। अस्त्विति चेन्न। रसवत एव काव्यत्वाङ्गीकारात्।

—साद, पृ० १७

२ देखें अ० १, टिप्प०

३ अभूतपूर्वो योऽन्यत्र सादृश्यात् परिकल्पितः।
तत्काव्यं हृदयग्राही सालंकार इति स्मृतः॥

—शा०ना० १६,१८

४ स भूषितो बहु विभान्ति हि काव्यबन्धाः। वही १६, १२२

"भान्ति"[1] "हृदयग्राही"[2] "शोभा जनयन्ति"[3] "शोभन्ते"[4] "रञ्जयेन्मन"[5] आदि पदों के द्वारा उसका अवबोध कराया है। वस्तुत आचार्य कुन्तक से पूर्व स्पष्ट शब्दों में चमत्कार शब्द का प्रयोग किसी भी काव्य शास्त्री ने नहीं किया है। प्रत्युत इस अर्थ में शोभा, अलकार[6], "अलकृति"[7] चारुत्व[8] सदृश शब्दों को प्रयुक्त करते हैं। कुन्तक ने शोभा का अर्थ सौन्दर्य करते हुए उसमें युक्त होने को सहृदयहृदयाह्लादकत्व कहा है जो कि निष्कर्ष में चमत्कारकता ही सिद्ध होती है।[10] आचार्य भामह जहां तहाँ अलकार[11], चारु[12] आदि शब्दों से उसका सकेत करते हैं। कहीं कहीं अतिशय[13] शब्दों के द्वारा भी इसका सकेत किया है। वक्रोक्ति को उसका प्रमुख उपकरण स्वीकार किया है।[14] इस प्रसग में यह ध्यान देने योग्य बात है कि भामह ने उपमा के प्रत्युदाहरण के रूप में जो श्लोक उद्धृत किया है[15] उसके दोषग्रस्त होने का कारण यही है कि उसमें श्रीकृष्ण की तुलना मेघ से करके कवि ने बिम्ब बनाने का यत्न किया है। श्रीकृष्ण ने पीत वस्त्र धारण किया है जो कि पवन से आन्दोलित है, हाथ में

---

१ युक्त्या न भान्ति ललिता भरत-प्रयोगा । वही १८, १२३

२ द्र० टिप्पण० ३६

३ न शोभा जनयन्ति हि। —नाशा० १५, १४७

४ वेश्या इव न शोभन्ते वमण्डलुधरैर्द्विजै । —वही १६, १२२

५ उदात्तमपि यत् काव्य स्यादट गै परिवर्जितम् ।
हीनत्वात्तु प्रयोगस्य न सता रञ्जयेन्मन ॥ —वही १६, ५२-५३

६ देखें टिप्पणी ४६

७ इति वाचामलकारा दर्शिता पूर्वसूरिभि । —का०द० २, ७१

८ वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृति । —भाका० १, ३६

९ उत्तमन्तरेणाशक्य यत्तच्चारुत्व प्रकाशयन्। —ध्वन्या० १, १५

१० शोभा सौन्दयमुच्यते। तया शालते श्लाघते य स शोभाशाली, तस्य भाव शोभाशालिता। सैव च सहृदयाह्लादकारिता। वजी० २४ प०

११ उपमादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदित । —भाका० १, १३

१२ न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्। —वही १, ३६

१३ यस्यातिशयवानर्थ कथ सोऽसम्भवो मत । —वही २, ८१

१४ सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्या कविना कार्य कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ —वही २, ८५

१५ स मारुताकम्पितपीत-वासा बिभ्रत्सलील शशिभासमब्जम् ।
यदुप्रवीर प्रगृहीतशाङ्ग सेन्द्रायुधो मेघ इवावभासे ॥ —वही २, ४३

शख लिये हैं दूसरे हाथ म धनुष है। इस प्रकार उपमेय पक्ष का चित्र ता पूरा है पर उपमानपक्ष का नहा। क्योंकि मेघ म पीनवस्त्र और शख का समानान्तर काइ पदार्थ नहीं है। विद्युत और बलाका का निर्देश और किया जाता ता चित्र पूर्ण बन जाता। इस न्यूनता का सकेत भामह न यह कहकर किया है कि इस पद्य म इन्द्र धनुष का ग्रहण करन म धनुष ता दिखा दिया किन्तु वस्त्र और शख का ग्रहण न करन म औपम्यहीन है।[1] वस्तुत उपमेय पक्ष म वस्त्र और शख का स्पष्ट निर्देश होने म भामह का स्पष्टीकरण असगत लगता है। अत वास शङ्खानुपादानात का अर्थ यह करना होगा कि वस्त्र और शख क समानान्तर अन्य वस्तुओ का शब्द म कथन न करन क कारण। अन्यथा हान कैसे हाता? यथार्थ म समीक्षा गद्य म जिस प्रकार सरलता और स्पष्टता म सभव है इस प्रकार पद्य म जिस प्रकार सरलता और स्पष्टता म सभव है उस प्रकार पद्य म नहा भामह न आलाचना क लिए पद्य का प्रयाग किया तो विवक्षित आशय उतना स्पष्ट नहा हो सका।

इसी श्लाक म दर्शितम पद भी ध्यान देन याग्य है। जब उपमेय पक्ष म स्पष्ट रूप स प्रगृहीत है ता इस पद्य म धनुर्ग्रहण की चर्चा कर ही दी ता शक्रचाप क ग्रहण म उसका दर्शन कैसे हुआ? अत अन्यथानुपपत्ति म कवि का विवक्षित यही है कि इन्द्रधनुष क ग्रहण म उपमेय-पक्ष क धनुष का ता प्रत्यक्षीकरण हो गया है। क्योंकि उपमानपक्ष का चित्र पाठक क मस्तिष्क म उभर आन पर उसके प्रकाश म उपमेय पक्ष का चित्र स्पष्ट हाता है अन्यथा उपमा देन का प्रयोजन ही क्या रहा। यह स्पष्ट रूप म खण्डित बिम्ब का दिग्दर्शन है। भामह की आलोचना भी इस भावना की ओर सकेत करती है।

ऐसा असभव बिम्ब का उदाहरण एक और है। किसी योद्धा क गोलाकार धनुष म छूटी बाणा की वर्षा की तुलना कुण्डल म घिर सूर्य बिम्ब स गिरती हुई जलती जल की धाराओ स की गई है।[2] भामह इसकी आलोचना करत हुए कहत हैं कि भला सूर्य मण्डल स जलती हुई जलधाराओ का पतन कैसे सभव है। क्योंकि पानी कितना ही क्यो न खौल रहा हो वह आग की भाति कभी नहीं जल सकता। हा यदि उसम गैसोय द्रव्य अथवा पटास नफ्था आदि कोई

1 शक्रचापग्रहादव दर्शित किल कार्मुकम्।
वास शङ्खानुपादानाद् धानमित्यभिधीयते ॥ —वही २ ४४

2 निष्पतुरास्यादिव तस्य दीप्ता शरा धनुर्मण्डलमध्यभाज ।
जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्धभाज परिवेषिणोऽर्कात् ॥ —वही २ ४८

आग्नेय तेल मिला हुआ हो तो बात दूसरी है। किन्तु भले ही आधुनिक विज्ञान सूर्य में जलने वाली गैसों का अस्तित्व मानता हो पर उससे ज्वालाकार जलधाराओं का निर्गमन वह भी स्वीकार नहीं करता। यह भी कल्पना करना कठिन है कि उक्त कवि महाशय के मस्तिष्क में यह बात रही होगी कि सूर्य आग का गोला है या उसमें जलने वाली गैसें भरी हैं। इस प्रकार जब सूर्यमण्डल में जलती अग्निधारा का पतन संभव नहीं तो धनुर्मण्डल में निकलते चमचमाते बाणों का स्वरूप कैसे स्पष्ट होगा? इस प्रकार बिम्ब न बनने से उपमा अलंकार यहाँ संभव नहीं है।[1]

"अतिशय" शब्द यद्यपि आतिशय्य का वाचक है परन्तु प्रकृत में उसका प्रयोग चमत्कार के लिए ही प्रतीत होता है। भामह का कहना है कि जिसका अर्थ वस्तुतः चमत्कारवान् होगा वह असंभव कैसे कहा जा सकता है। उपमा और उत्प्रेक्षा में इस चमत्कारकता की अपेक्षा रहती है।[2] इस प्रसंग में पुनः ऐसा उदाहरण देते हैं जिसमें उपमेय पक्ष में एक अंग की न्यूनता से बिम्ब अपूर्ण रह गया है। किसी कवि ने पीताम्बरधारी और हाथ में धनुष लिए श्रीकृष्ण के सुन्दर एवं भीषण शरीर की तुलना ऐसे मेघ से की है जिसके मध्य में विद्युत् चमक रही है, इन्द्रधनुष भी विद्यमान है। चन्द्रमा का भी उसमें सम्पर्क हो रहा है। यहाँ विद्युत् से पीताम्बर का, इन्द्रधनुष से शार्ङ्ग का साम्य है पर मेघ में श्याम वर्ण वाले श्रीकृष्ण के हाथ में शङ्ख की स्थिति बतानी चाहिए जिसे कवि भूल गया है। इसलिए बिम्ब खण्डित रह गया है।[3]

इसी चमत्कार के कारण लोकोत्तर विषय के वाचक वचन में अतिशयोक्ति अलंकार स्वीकार किया है। उसमें वाग्वैदग्ध्य के अस्तित्व के कारण वक्रोक्ति

---

१ कथं पाताऽम्बुधाराणां ज्वलन्तीनां विवस्वतः।
असंभवादयं युक्त्या तेनाऽसंभव उच्यते॥ —वही २, ४६

२ यस्यातिशयवानर्थः कथं सोऽसंभवो मतः।
इष्टं चातिशयार्थत्वमुपमोत्प्रेक्षयोर्यथा॥ —वही २, ५१

३ स पीतवासाः प्रगृहीत-शार्ङ्गो मनोज्ञ-भीमं वपुराप कृष्णः।
शतह्रदेन्द्रायुधवान् निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः॥ —वही २, ५८

४ तु०—शशिनो ग्रहणादेतदाधिक्यं दिश न ह्ययम्।
निर्दिष्ट उपमेयेऽर्थे वाच्यो वा जलजोऽत्र तु॥ —वही २, ५९

की सत्ता स्वीकार की है और प्रत्येक अलंकार में वक्रोक्ति का होना अनिवार्य माना गया है।

दण्डी भी चमत्कार शब्द से परिचित नहीं हैं। इसके लिए शोभा शब्द का प्रयोग करते हैं। शोभा शब्द दीप्त्यर्थक शुभ धातु से बनता है।[2] दीप्ति का अर्थ भी दमकना या चमकना होता है। चमक शब्द भी चमत्कार से ही निकला है। चमक प्रकाश रूप होना है और शब्द प्रतिपाद्य भाव प्रकाशित होना— अन्तश्चक्षु के प्रत्यक्ष होना यहाँ शोभा का तात्पर्य सिद्ध होता है। तभी काव्य के शोभाकारक धर्मों को अलंकार घोषित किया है।[3]

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय प्रश्न है कि इन अलंकारवादी आचार्यों की दृष्टि में रस का क्या स्वरूप था। रसवद् आदि अलंकार स्वीकार करने से यह तो निश्चित है कि उनके समय में आनन्दवर्धनादि का अभिमत रस का स्वरूप निर्धारित नहीं हो पाया था। आस्वाद्यते इति रसः यह व्युत्पत्ति उनको भी अभीष्ट था ही। इसके आस्वाद रूप होने से और चमत्कार एवं आह्लाद में अभेद होने से रस चमत्कार का वाचक सिद्ध होता है।[5] इस कारण दण्डी द्वारा प्रतिपादित मधुर के लक्षण में रसवद्वचन का अर्थ चमत्कारपूर्ण वाक्य ही लेना उचित है।[4] इसलिए अनुप्रासयुक्त रचना को रसावह कहना

---

१ भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ।
 भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिस्तामनङ्कारतया यथा ॥ —२ ८१
 सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
 यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ —२, ८५

२ शुभ दीप्तौ —धातु० ७५०

३ काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते । —काद० २ १

४ द्र०—The word Rasa possesses an ambiguity of denotation a particular rasa is said to lie in a given literary work as a sweet taste or a bitter taste may lie in a given food or drink The Connoisseur of poetry is also said to have a rasa (a taste) for the poetry he enjoys much as a wine taster has a taste for wine "
 —Prof Daniel H H Ingalls
 के० कृष्णमूर्ति द्वारा अनूदित वक्रोक्तिजीवित संस्करण की भूमिका पृ० ३८ पर उद्धृत ।

५ मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।
 येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ —काद० १ २१

मगत हो जाता है। अन्यथा केवल अनुप्रास की योजना में शृंगारादि रसों की अभिव्यक्ति कैसे सम्भव होगी ?[1] वाणी के अलंकार कहने से इन आचार्यों की अलंकारों के सम्बन्ध में चमत्कार एवं बिम्ब सम्बन्धी धारणा की पुष्टि हो जाती है। इसीलिए स्थान स्थान पर लोकातिरता के वाचक शब्दों का प्रयोग उनके लिए किया गया है।[2] यहाँ तक कि संगीत सन्ध्यंग, लक्षण आदि सभी काव्यांगों को चमत्कार का आधायक होने से अलंकार स्वीकार कर लिया है।[3]

उद्भट, वामन और रुद्रट ये तीनों आचार्य भी चमत्कार शब्द का प्रयोग नहीं करते। उद्भट ने भी 'वाचाम्' अलंकार कहकर शोभाधायक धर्मों को अलंकार स्वीकार किया है।[4] उनके व्याख्याकार प्रतिहारेन्दुराज अलंकारों को काव्य का शोभावह धर्म बताते हैं।[5] रस और भाव को वे अतिशय मात्रा में काव्य का शोभाधायक धर्म मानते हैं। उनमें सर्वत्र शोभा शब्द का प्रयोग चमत्कार के अर्थ में ही मानना चाहिए। भाविक अलंकार के प्रसंग में वे स्पष्ट ही चमत्कार शब्द का प्रयोग करते हैं। इसका कारण भी अतीतकाल में शरीर के भूषण धारण में हुए शोभातिशय का प्रत्यक्षप्राय होना है।[7]

———— ————

१ यया कयापि श्रुत्या यत् समानमनुभूयते ।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥ —वही १ ५२

२ लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षितः ।
योऽर्थस्तेनातितुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जनाः ॥ —वही १ ८६

तथा—विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा ॥ वही २ २१४

३ यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः ॥ —वही २ ३६७

४ द्वयन एवालङ्कारो वाचां केश्चिदुदाहृता । काव्यालं०स १, २

५ तस्याश्चालङ्कारा अलंकाराश्चेतोहारित्व लब्धमेव काव्यशोभावहाना धर्माणां गुणव्यतिरिक्तत्वे सत्यलङ्कारत्वात् । —काव्यालंसवृत्ति पृ० २८२

६ रसानां भावानां च काव्यशोभातिशय-हेतुत्वात् किं काव्यालंकारत्वमुत काव्य जीवितत्वमिति न विचार्यते ग्रन्थगौरवभयात् । —वही पृ० ३५७

७ काव्य-जीवितत्वमिति न विचार्यते ग्रन्थगौरवभयात् । —वही पृ० ३५७
तेनात्र साम्प्रतिकप्रध्वंसाभावापलक्षितत्वादभूषणसम्बन्धा व्यतीतोऽप्यत्यद्-भुतो योऽसौ वपुःप्रकर्षस्तद्वशेन प्रत्यक्ष इव कविनोपनिबद्ध । तथैव चासौ सहृदयानां चमत्कारमावहति । —पृ० ४ ६

वामन गुणा का काव्य की शाभा बनान वाला धम मानत हैं तथा अल-कारा का उस म वृद्धि करन वाला।[1] रुद्रट न चमत्कार क लिए सवत्र चारु या चारुत्व का प्रयाग किया है।[2] कवि क वचना का जलत तथा चमचमाता निर्दोष शब्द प्रयागा स युक्त हाना आवश्यक माना है।[3]

आनन्दवधन ना सवत्र चमत्कार क अथ म चारुत्व[4] और चारुत्वाल्प-निबन्धन[5] चमत्कारम्प्रकता क लिए प्रयुक्त करत ह। कहीं-कहीं विच्छित्ति शब्द भी इसी आशय म व्यवहृत किया है। वहीं कहीं इसी आशय म छाया शब्द भी अपनाया गया है।[6] इसलिए गणपतिमहाशय हीरा का यह कथन कि सवप्रथम चमत्कार शब्द का प्रयोग आनन्दवधन न किया है असत्य सिद्ध हा जाता है। उन्हान यह भी लिखा है कि चमत्कार सम्प्रदाय क प्रवतक चमत्कार चन्द्रिकाकार विश्वेश्वर थ।[8] परन्तु यह भी मान्य नहीं हा सकता। क्योंकि चमत्कार की मान्यता भरत क समय स ही चली आ रही थी। अन्तर इतना ही है कि भरत भामह वामन आदि आचाय अलंकार आदि कुछ धर्मों का ही चमत्कार का आधायक मानत रह ह। रसवादी आचार्यों न रस या ध्वनि को ही चारुत्वजनक कहा किन्तु विश्वेश्वर न रस गुण आदि साता तत्त्वा का चमत्कार का हतु कहा है। इस लिए उन्हान साता तत्त्वा स समन्वित काव्य

१ काव्यस्य शाभाधायका धमा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलंकारा। —कामूवृ० ३ १ १ २

२ तस्यामार्गनिमाना मार्गग्रहणाच्च चारुण करण। —रु का० ११४

३ रचना चारुत्व चत्र शब्दगुण मनिवा चारुत्वम। —वही १८
ज्वलदुज्ज्वल-वाक् प्रसर सरस कुवन महाकवि काव्यम। —वही १४
नमि साधु ज्वलत ददाप्यमानाऽलंकारयोगात उज्ज्वला निमला दोषा भावात। —वही पृ० ५

४ काव्यस्य हि ललिताचितसंनिवेशचारुण ध्वन्या पृ० ४५

५ चारुत्वात्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययो प्राधान्य विवक्षा। —वही पृ० ११४

६ विच्छित्ति शाभिनैकेन भूषणनव कामिनी। —वही पृ० ३०२

७ नजन्त काम पुरा छाया यानि ध्वयन्त गतान्तरा। —वही २ ४८

८ भा सा श का पृ० ५०८

९ वही

१० गुण रीति रस वृत्ति पाक शय्यामदन्कृतिम।
सप्तैतानि चमत्कार-कारण ब्रुवत बुधा ॥ चच० पृ० २

को साम्राज्य के तुल्य बतलाया।[1] पर इस का अर्थ यह तो नहीं कि उन से पूर्व चमत्कार की धारणा ही न थी या किसी ने चमत्कार का महत्त्व ही नहीं दिया था। जब कि पूर्वोक्त प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि चमत्कार की मान्यता शब्दान्तर से प्राचीन समय से ही चली आ रही थी।

अन्य प्रमाण यह है कि काव्य के प्रयोजन के रूप में आनन्द या प्रीति को सभी ने स्वीकार किया है। चमत्कार आनन्द या उसका उत्पादक साधन माना गया है। शोभा, अलङ्कार अतिशय और चारुत्व उस आनन्द या प्रीति के साधन हैं। इस प्रकार से यह चमत्कार के वाचक स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। कुन्तक तो स्पष्टरूप से अपने ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन चमत्कार के साधन वैचित्र्य की निष्पत्ति ही बताते हैं। ग्रन्थ को भी काव्य का अलङ्कार-चमत्कार हेतु घोषित किया है।[2]

अभिनव गुप्त ने रसानुभूति आदि के प्रसङ्ग में चमत्कार को अत्यन्त महत्त्व दिया है। वे रसास्वाद का लोकोत्तर चमत्कार से अभेद स्वीकार करते हैं।[3] चमत्कार का मनोवैज्ञानिक स्वरूप क्या है, इसको बतलाने वाले अभिनव गुप्त ही हैं। ऐसी स्थिति में विश्वेश्वर को चमत्कार-सम्प्रदाय का प्रवर्तक मानना युक्ति-सङ्गत प्रतीत नहीं होता।

अस्तु, चमत्कार अथवा उसके समानार्थक शब्दों का प्रयोजन एक ही है आह्लाद का उत्पादन। सत्त्वोद्रेक-जन्य आह्लाद के प्रकाश स्वरूप होने से[4] पढ़ सुनकर अवबुद्ध पदार्थ साक्षात् भासमान हो उठता है।

चमत्कार के कारण पीछे गिनाये जा चुके हैं। कुन्तक ने इन सभी का समाहार वक्रोक्ति में कर दिया है। कारण यह है कि अनाकस्मामान्य कथन में

---

१ गुणादीनां वाक्यशोभाकृतौ साधर्म्यप्रयोगतः।
एकाङ्गनेव काव्यस्य कथिता कुब्जकादिभिः।
गुणभूषारसानस्य श्रीण्यङ्गान्याह भोजराट्।
सप्ताङ्ग-सङ्गतं काव्यं साम्राज्यमिव भासते ॥
—वही पृ० २,३

२ लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्य-सिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥ —वक्रो० १,२

३ द्र० अ० १, टि० ६४

४ सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
—सांका १३

हो वैदग्ध्य या वक्रोक्ति अथवा वैचित्र्य के दर्शन होते हैं। किन्तु जिस प्रकार पकवान कहने से विभिन्न स्वादिष्ट पदार्थों की समष्टि का बोध भले ही हो जाय पर व्यष्टि में प्रत्येक का ज्ञान संभव नहीं नहीं रचित में नावना अपने अभिरुचित पदार्थ का ज्ञान संभव नहीं उसी प्रकार केवल वक्रोक्ति शब्द से चमत्कार के सब साधनों का समष्टिगत बोध ही संभव है व्यष्टिगत नहीं। अतः विश्वेश्वर द्वारा गिनाये गये सभी चमत्कार साधनों का पृथक्-पृथक् निरूपण एवं विवेचन अपेक्षित है।

विश्वेश्वर ने ध्वनि को चमत्कार के कारणों में नहीं गिनाया अतः ही दोष प्रसंग में इसके कुछ भेदों की चर्चा की है। परन्तु पीछे उदाहृत स्थिता क्षण आदि कालिदासीय पद्य में हम बिम्ब निर्माण में ध्वनि की उपादेयता स्पष्ट रूप से देख चुके हैं। ध्वन्यर्थ के बिना वर्ग द्वितीय और तृतीय बिम्ब की प्राप्ति संभव ही नहीं होती। रस और भाव के अमूर्त बिम्ब भी ध्वनि से ही बनते हैं। अनेक अलंकारों में चमत्कार गुणीभूत व्यंग्य से ही आता है। शब्द चमत्कार तो ध्वन्यात्मक होता ही है। अतः बिम्ब निर्माण में ध्वनि के उपयोग पर भी स्वतंत्र अध्याय में विवेचन ही उपयुक्त रहेगा।

चित्र काव्य

काव्य के अन्य चमत्कारमय रूपों पर विचार करने के पश्चात् पुनः चित्र काव्य पर आते हैं। सामान्य रूप से ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकार प्रधान काव्य को जिसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता नहीं रहती चित्र काव्य के नाम से पुकारा है। *सामान्य रूप से चित्र ऐसी कलाकृति को कहा जाता है जिसमें वर्ण* रेखा आदि के माध्यम से कोई आकृति उभारी जाती है जो द्रष्टा के मानस में विस्मय आदि भावों के उद्बोधन में समर्थ हो।[2] विस्मय का आधान करने में आह्लाद की भी संभावना होगी और उसमें चमत्कार की। कभी कभी विरूप

---

१ रसभावादि-तात्पर्यरहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ। तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं यथा दुष्करयमकादि। वाच्यचित्रं ततः शब्दचित्रादन्यद् व्यंग्यार्थसंस्पर्शरहितं प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसादितात्पर्यरहितमुत्प्रेक्षादि॥ —ध्वन्या० ४६५

२ हिन्दी शब्द सागर भाग ३ —पृ० १५३३ स्तम्भ १

की प्रतीति होने से भी किसी वस्तु को विचित्र कह देते हैं क्योंकि वह स्वाभाविकेतर होती है।

चित्र में एक बात और होती है—चित्रित पदार्थ की निर्जीवता। वह गति, चेष्टा आदि से शून्य होता है। अतः उसको अवास्तविक एवं दर्शनमात्ररम्य समझा जाता है। आधुनिक युग में चलचित्र और नाटक में यह अन्तर स्पष्ट अनुभव किया जाता है। यद्यपि चलचित्र में अनेक ऐसे दृश्य जो प्रत्यक्ष नाटक में दिखाने सम्भव नहीं भी दिखाये जाते हैं जिनके कारण वह वास्तविकता के अधिक निकट आ जाता है तथापि प्रत्यक्ष रङ्गमञ्च की अपेक्षा उसे अवास्तविक ही अनुभव किया जाता है।

अब इन बातों के प्रकाश में चित्रकाव्य पर विचार करें तो कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। जहाँ कवि का लक्ष्य केवल अलङ्कार योजना तक सीमित रहता है, शब्द और अर्थ की सुनियत योजना के द्वारा वह बाह्य उक्ति वैचित्र्य से युक्त कोई बात कहता है। जैसे रस-भावादि की अनुभूति का स्पर्श न होने से अन्तस्तल की गहराई को छूने वाली कोई बात नहीं रहती। काव्य में जब मनोवेगों के विश्लेषण और पाठक में उनको उभारने की बात नहीं होती है तो वाच्यालङ्कार के चमत्कार से युक्त काव्य में इस विशेषता का अभाव रहने से वह वास्तविक रूप में काव्य कहे जाने का अधिकारी नहीं रहेगा। इस कारण विश्वनाथ ने रस-भावादि से रहित किन्तु गुणाभिव्यञ्जक शब्दों, रीति वृत्ति और शब्दार्थलङ्कारों से युक्त रचना में काव्यत्व-व्यवहार-गौण रूप में ही स्वीकार किया है।[1] पर काव्यत्व का सर्वथा अभाव उसमें नहीं बताया है। कारण यह कि चमत्कार की उत्पादकता तो उसमें भी है ही। आनन्दवर्धन भी उसको आलेख्य-प्रख्य अर्थात् चित्रतुल्य काव्य कहते हैं। उनका तात्पर्य यही है कि जैसे चित्रलिखित मनुष्य आकारमात्र से मनुष्य होता है, प्राणप्रतिष्ठा न होने के कारण उसमें वस्तुतः मनुष्यत्व का व्यवहार नहीं होता, इसी प्रकार चित्र-काव्य वास्तविक काव्य नहीं समझा जाता। यह कथन रस शब्द की सङ्कुचित सीमा को लेकर है। साथ ही एसे बाह्य चमत्कार-प्रधान काव्य के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जिसका चमत्कार केवल ऊपरी वाहवाही उत्पन्न करने वाला है, अन्तस्तल को स्पर्श नहीं करता। पर जहाँ वाच्यालङ्कारमात्र

---

१ यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जक-वर्णसद्भावाद् दोषाभावादलङ्कार सद्भावाच्च काव्यत्व-व्यवहारः रसादिमत्काव्यबन्ध-साम्याद् गौण एव।

—सा० द० पृ० १८

का चमत्कार रहने पर भी सहृदय को कुछ सोचने को हो, ऐसी कृति को काव्य मानना दुराग्रहमात्र होगा। जैसे—

स्वयं पञ्चमुखः पुत्रौ षडानन गजाननौ
दिगम्बर कथं जीवेदन्नपूर्णा न चेद् गृहे ॥[1]

इस पद्य में किसी कवि ने हास्य के लिए शङ्करजी के परिवार का लक्ष्य बनाया है। सामान्य पाठक इस उपहास की उक्तिमात्र कह कर हँस देगा। परन्तु यह जब पारिवारिक समस्या को प्रस्तुत करता प्रतीत होता है तो सोचने के लिए पाठक को विवश कर देता है। यहाँ अनेक मुखों का कथन पारिवारिक सदस्यों के बहुत खाने वाला होने की ओर सङ्केत करता है तथा दिगम्बरत्व निर्धनता का सूचक है। घर में अन्नपूर्णा का होना सुगृहिणीत्व का निर्देश करता है। इस प्रकार परिष्कृत अर्थ निकलता है कि गृहपति शङ्कर स्वयं पाँच मुख वाले हैं (पाँचों मुखों को खाना तो चाहिए) कार्तिकेय के भी छः मुँह हैं (उन्हें और अधिक खाना चाहिए) दूसरे पुत्र (गणेश) का मुँह हाथी का है (हाथी की भांति खाने वाले हैं) और गृहपति इतना निर्धन है कि दिगम्बर है (पहनने-लज्जा निवारण के लिए वस्त्र भी नहीं है खाने की बात तो अलग रही) ऐसी स्थिति में वह कैसे जी सकता है जो घर में अन्नपूर्णा (घर की सुव्यवस्था से भरा रखने वाली पत्नी) न हो। यहाँ परिहास तो आपातमात्र में है। पर्यवसान में तो गम्भीरता ही है। इसमें चमत्कार का अभाव कौन कह सकता है? इस प्रकार वाच्यालङ्कार चित्रकाव्य में गिन गए हैं। चित्र शब्द की एक व्याख्या है—जो विवक्षित अर्थ को चित्रित (Graphic) बना दे। प्राचीनकाल में जब चित्रलिपि प्रचलित थी विवक्षित भाव चित्र द्वारा ही प्रदर्शित किया जाता था। यह सामर्थ्य अलङ्कारों में ही है कि वे वर्ण्य विषय को चित्रित या मूर्त कर दें। इसलिए शृङ्गार आदि रस प्रधान प्रसङ्गों में अलङ्कारों का प्रयोग वर्जित नहीं है। केवल उनकी प्रयत्न-साध्यता (पृथग् निवर्त्यता) को वर्जित किया है।[2] क्योंकि कवि का यत्न यदि अलङ्कारयोजना पर केन्द्रित हो जाएगा तो मुख्य बिन्दु जीवन की समस्या या रस-भावादि की उपेक्षा हो जाएगी। जैसे प्रहेलिका आदि में देखा जाता है।[3]

---

१ चित्रमादित्य राय —काव्य-समीक्षा पृ० ७०

२ रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥ —ध्वन्या० २,१६

३ रस-समवधानेन विभावादि-घटनामेव कुर्वतस्तन्नान्तरीयकतया यमकमादधति स एवात्रालङ्कारो रसमार्गे नान्यः। तेन वीराद्भुतरसेष्वपि यमकादि-

ये चित्र भी दो प्रकार का माना गया है—

१ शब्द-चित्र

२ अर्थ-चित्र

शब्दचित्र में अनुप्रास, यमक, खड्गादिबन्ध सदृश की गणना है। शृङ्गार आदि ध्वनि-प्रधान काव्यों में इस प्रकार के शब्द-चित्रों की योजना वर्जित की है। उसका कारण यही है कि वे दुष्कर होते हैं। प्रयत्न-साध्य होने के कारण कवि का सारा ध्यान उनकी योजना पर केन्द्रित हो जाता है। रसादि की अपेक्षा हो जाती है। दूसरी बात यह है कि पाठक या श्रोता उन अलङ्कारों को गाँठ ही खोलता रह जाएगा, रस भाव की गहराई तक वह पहुँच ही न पायेगा।[1] परन्तु जिनको इस प्रकार की रचना में ही आनन्दानुभूति होती है, उनके लिए वर्जना कैसी ? क्योंकि लोक में सब प्रकार की रुचि वाले व्यक्ति हैं। रहा भी है।

क्रमेलक निन्दति कोमलेच्छु क्रमेलक कण्टकलम्पटस्तम।[2]

यही कारण है कि वीर आदि रसों में उनका वर्जन नहीं किया गया है। भारवि, माघ जैसे कवियों ने युद्ध के प्रसङ्ग में ही उन खड्गबन्धादि चित्रों की योजना की है। पर हमारी दृष्टि में वहाँ भी दुष्कर बन्धों की योजना रसानुभूति में विलम्ब ही करेगी[3] वर्जना करना चाहिए, इसका अर्थ यह तो नहीं कि उसमें कटकर पत्थर मिला दिए जायें।

वस्तु, शान्त, करुण आदि में भी जहाँ अर्थावबोध में बाधा न होती हो, सहज में आये यमक या श्लेष भी दोष नहीं होते। 'यदि वर्ण योजना के द्वारा विवक्षित भाव मूर्त होता हो तो अनुप्रास एवं यमक जैसे अलङ्कार रस की

कवे प्रतिपत्तुश्च रसविघ्नकार्येव सर्वत्र। गड्डरिकाप्रवाहोपहतसहृदय-धुराधिरोहणविहीनलोकावर्जनाभिप्रायेण तु मया शृङ्गारे विप्रलम्भे च विशेषत इत्युक्तमिति भाव — लो०, पृ० २२०

१ तु०—शब्द-चित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नादृयन्त तदादियन्ते कवय। तत्र विचारणीयमतोवोपलक्ष्यते इति शब्दचित्राशमपहायार्थचित्रमीमांसा प्रसन्न-विस्तीर्णा प्रस्तूयते। —चिमी० पृ० ३०

२ नैо च०, ६,१०४

३ तु०टि०, ६३

एवं उर्वशी कालिदास की कल्पना में विधाता की अद्भुत सृष्टि बन गई। दूसरा तत्त्व विचार है। इसके बिना काव्य खोखला होगा। भावना अनुभूति की वस्तु है। दूसरे भावना का कार्य है—पर्यालोचन। इसी के द्वारा काव्य के भावों व अर्थों की परत खुलती है। इसके पश्चात् शैली आती है। इसके अनन्तर देखा जाता है कि विवक्षित विषय को किस रूप में प्रस्तुत करना है। इसमें एकविधता सम्भव नहीं है और अन्त में आता है तोष या आनन्द। इसी में कवि का सारा प्रयत्न निहित होता है। यदि पाठक का या श्रोता को उसके पठन या सुनने से काव्य के मुख्य प्रयोजन आनन्द की अनुभूति हो गई तो चित्रकाव्य में कमी क्या रही? किन्तु मिश्र जी अलङ्कार को शैली में गिन कर उसका क्षेत्र सङ्कुचित कर देते हैं। अलङ्कार जब चित्र काव्य के रूप में रमणीय है तब उसमें पांचों तत्त्वों के निहित होने पर ही उसकी पूर्णता होगी। उसे यदि एक उपकरण के रूप में गिन लिया गया तो वह लक्ष्य कैसे रहेगा? वस्तुतः अलङ्कार की महत्ता तभी है जब कि उसमें पांचों तत्त्व हों। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये तत्त्व उसमें नहीं होते। अन्यथा उसमें वह चमत्कार का सामर्थ्य आयेगा ही कहां जो उसका मुख्य प्रयोजन है।

वस्तुतः चित्रकाव्य में चमत्कार का आधान करता हुआ काव्य-बिम्ब के निर्माण में सहायक होने से उपेक्षणीय नहीं है। काव्य बिम्ब तभी बनता है जब कि अलङ्कारों के प्रयोग के साथ भावना या अनुभूति का भी स्पर्श हो। वही सहृदयों के हृदय में भाव का सम्प्रेषण कर पाता है और कविकर्म का उद्देश्य भी तभी पूरा होता है। ध्वनिवादियों ने ऐसे ही चित्रकाव्य को अधम बताया है जिसके निर्माण में कवि रस भावादि के प्रति उदासीन होकर प्रवृत्त होता है।

कल्पना

काव्य बिम्ब के निर्माण में नियत भावना एवं अलङ्कार आदि के साथ-साथ कल्पना की अपेक्षा होती है। कल्पना शब्द क्लृप् धातु से बनता है। एक क्लृप् धातु का अर्थ सामर्थ्य है तो दूसरी अवकल्कन अर्थ में प्रयुक्त होती है।[2] अवकल्कन का एक अर्थ चिन्तन भी है। कल्पना का सम्बन्ध इन दोनों धातुओं से ही है अथवा यों कहें कि यह शब्द इन दोनों ही अर्थों को आत्मसात किये हुए है।

---

१ क्लृपू सामर्थ्ये पाधा० ७६२

२ भुवाऽवकल्कने। पाधा० १७४८। अवकल्कनं मिश्रीकरणमित्यन्ये। चिन्तनमित्यन्ये। क्लृपश्च। पाधा० १७४९

सामान्य रूप से लोक में कल्पना का अर्थ लिया जाता है—लोक में असिद्ध वस्तु के होने की बात करना। जैसे कपोल-कल्पना शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार कल्पना शब्द साधारणतः मिथ्या का वाचक समझा जाता है। किन्तु यह तो मानना ही होगा, उसमें यह सामर्थ्य है कि सर्वथा लोक में अविद्यमान समझी जाने वाली वस्तु को अस्तित्व में ले आये। उसके प्रभाव से ही तार्किक लोग अपने पक्ष को सिद्ध करते हैं। कवि नये कथानक एवं दृश्य आदि का निर्माण करता है। इसी कारण कल्पनाशक्ति भी कहलाती है।

कल्पना के लिए चिन्तन आवश्यक है। उसके बिना मनुष्य कोई कल्पना नहीं कर सकता। आचार्य मम्मट आदि ने इसीलिए शास्त्रादिपरिशीलन की कवि के लिए अपेक्षा स्वीकार की है। फलतः कल्पना चिन्तन और निर्माण दोनों प्रकार की शक्तियों का समन्वित रूप है। तभी उसके साहित्य में नये-नये विचार उद्बुद्ध होते हैं और नये संसार का साक्षात्कार होता है। इसी कल्पना शक्ति के कारण वह अपने काव्य-संसार का प्रजापति कहलाता है।

कल्पना का अर्थ मण्डन या अलङ्करण भी है। इसके द्वारा काव्य को अलङ्कृत या चमत्कारपूर्ण बनाया जाता है। वामन, दण्डी आदि कवियों द्वारा प्रयुक्त शोभा शब्द की वास्तविक सङ्गति यही होती है। कालिदास ने यौवन का सङ्कलन अनाहार्य भूषण के रूप में किया,[2] अथवा इन्दुमती को "विधाता का विधानातिशय कहा"[3] यह कल्पना का ही चमत्कार है। इसी के द्वारा पूर्ववर्णित अर्थ को नवीनता देकर प्रस्तुत किया जाता है अथवा उसके आधार पर सर्वथा लोकातिक्रान्त वस्तु की सृष्टि की जाती है। इसी कारण प्राचीन आचार्य कल्पना के लिए सम्भावना, उद्भावना, उत्प्रेक्षण, उत्पादन, प्रौढोक्ति सदृश शब्दों का भी प्रयोग करते हैं।[4]

इसका तात्पर्य यह नहीं कि कल्पना शब्द का प्रयोग उन्होंने नहीं किया है। उसका या उससे सीधे सम्बद्ध शब्दों का जहाँ तहाँ प्रयोग देखने को मिलता

१ का०प्र०का० ४,२

२ असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ।। कुस० १,३१

३ तस्मिन् विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये । रघु ६, ११

४ प्रत्यक्षं कल्पनापोढं मनोऽर्थादिति केचन ।
कल्पना नाम जात्यादियोजना प्रतिजानते ।। —भाम० ५,६

हैं। भामह, आनन्दवर्धन, रुद्रट[1] उनके व्याख्याकार नमिसाधु जहाँ तहाँ उत्प्रेक्षा कल्पितोपमा[3] कल्प्यते[4] कल्पनम्[5], परिकल्प्य[6] सदृश प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार सम्भावना के दो रूप बताये गये हैं—१ सम्भव की सम्भावना २ असम्भव की सम्भावना।

मुखमणींदुना भाति पूर्णचन्द्र इवापरः।[7]

में लोक में सम्भव मुख की द्वितीय चन्द्र के रूप में सम्भावना की गई है। इसके विपरीत किंशुक के पुष्प में वसन्त के संयोग से उत्पन्न वनस्थलियों के स्तनों पर हुए नखक्षतों की सम्भावना दूसरे प्रकार की है।[8] सारा ही काव्य इस प्रकार उत्तरोत्तर कल्पनाओं से भरा पड़ा है। कादम्बरी में हेमकूट पर्वत पर स्थित गन्धर्वनगर और कादम्बरी के प्रासाद में वर्णित सौन्दर्य व अतुल समृद्धि इस सम्भावना या कल्पना शक्ति का ही परिणाम है। कवि की नित्य नवनवोन्मेष-शाली बुद्धि ही प्रतिभा मानी गई है। उस शक्ति से अनुप्राणित जीता जागता वर्णन करने में निपुण व्यक्ति ही कवि कहा जाता है। नागेश भट्ट के अनुसार उसमें नवनवार्थानुसन्धान की सामर्थ्य रहती है। अन्तर्दृष्टि के नये-नये रहस्यों का उद्घाटन ही प्रतिभान कहा जाता है। राजशेखर ने इसीलिए प्रतिभा को कवि के हृदय में शब्द-समूह, अर्थ-समूह, अलंकार, वचन या प्रकार आदि

---

१ उत्प्रेक्षितया। ध्वन्या० पृ० ४०४ व्यापारान्तरकल्पनया। वही पृ० ४१५

२ सा कल्पितोपमाख्या यैरुपमेय विशेषणैरुक्तम्। रुद्रट० ४,१३
नमि साधु—यैः सादृश्यैः परस्परंश्च विशेषण युक्तमुपमेय तादृग्भिरेव तत्सदृशैश्चोपमानमपि युक्तं यस्याः सा कल्पितोपमाख्या। पृ० २५१

३ अकृतविशेषणमेकं यस्मादुभयोस्तदन्यवैधर्म्यम्।
सम्भवति कल्पितायामुत्पाद्या च नान्यत्र। वही ११,२९

४ यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिधा।
अविवक्षितसामान्या कल्प्यत इति स्मरक प्रथितम्। वही ४,३४

५ यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्। काव्यप्रका० १० १००

६ न तर्हि न इति परिकल्प्यैवमुक्तम्। ध्वन्या० पृ० ३२

७ सादृ० १ पृ ३१

८ बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥ —कुम० ३,२९

९ प्रतिभा च नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिः। तदुक्तम्— प्रज्ञा नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा मता। इति नवनवोन्मेषो जन्मान्तरीयतदीयजनस्त्व-ज्ञानजन्यसंस्कारादेव। —वैसिम० पृ० १३३

शब्दतत्त्वों का उद्भासन करने वाली बताया है।[1] आनन्दवर्धन इसे कवियों की नई दृष्टि कहते हैं।[2] तथा व्यक्तिविवेककार भगवान् शङ्कर के तृतीय नेत्र के नाम से अभिहित करते हैं। इस दृष्टि से ही कवि ब्रह्माण्ड भर के पदार्थों का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। रस प्रतीति के अनुकूल शब्द और अर्थ के चिन्तन में कवि के अन्तर्मन के समाधिस्थ होने पर चैतन्य के स्पर्श से अवबुद्ध प्रकृष्ट ज्ञानात्मिका बुद्धि ही प्रतिभा कही जाती है।[3]

राजशेखर ने प्रतिभा को कारयित्री और भावयित्री इन दो भेदों में विभक्त किया है। कारयित्री प्रतिभा कवि को कवित्व की सामर्थ्य प्रदान करती है। किंतु भावयित्री आलोचक की विभूति है। बिना इस भावयित्री प्रतिभा के आलोचक कवि की भाव-सम्पदा को नहीं समझ सकता।

कारयित्री प्रतिभा भी तीन प्रकार की गिनाई गई है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। इनमें सहजा जन्मजात होती है। आहार्या इसी जन्म में विद्याभ्यासादि के द्वारा और पूर्व जन्म के संस्कारों के मेल से उत्पन्न होती है। दोनों में अन्तर यही है कि सहजा के उद्बोधन के लिए अधिक यत्न की आवश्यकता नहीं होती। कर्णपूर आदि जन्मान्ध होने पर भी उत्कृष्ट काव्य शक्ति से सम्पन्न थे। यही स्थिति कुमारदास की बताई गई है। वे भी अन्धे होने पर भी उत्कृष्ट कवि हुए हैं। आहार्या में विद्या आदि एवं अभ्यास के द्वारा पूर्वजन्म के संस्कारों को जगाना पड़ता है। मन्त्र-तन्त्रादि की दीक्षा लेकर उसकी साधना से प्राप्त होने वाली प्रतिभा को राजशेखर औपदेशिकी कहते हैं।[4] वस्तुतः देखा जाय तो दो ही प्रकार की प्रतिभा माननी चाहिए—सहजा

---

१ या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। —काव्यमी० ४ पृ० २५

२ या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थ-विषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
— ध्वन्या० पृ० ५०८-५ ९

३ रसानुगुण-शब्दार्थचिन्तास्तिमित-चेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥ —व्यवि० २, ११७-११८

४ सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च। जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा। जन्मसंस्कारयोनिराहार्या। मन्त्रतन्त्राद्युपदेश-प्रभवा औपदेशिकी।
—काव्यमी०, १४

और आहार्या। क्योंकि स्वाभाविक से भिन्न आहार्य ही हुई तो ही वह मन्त्र-तन्त्र आदि से उत्पादित हो या विद्याभ्यास से। यह अवश्य है कि मन्त्र आदि चमत्कारी उपायों से उद्भूत प्रतिभा उत्कृष्ट होगी। जैसे किसी महापुरुष के शक्तिपात से या सारस्वत कवच के साधन से थोड़ी शिक्षा होने पर भी कवित्व शक्ति जागृत हो जाती है। परन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास आदि के द्वारा अर्जित काव्य शक्ति परिष्कृत से नहीं होगी। सम्भवतः अग्निपुराण के निम्न पद्य में इसीलिए वैदुष्य और कवित्व को पृथक्-पृथक् गिनाया गया है—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥

पुराणों में शङ्कर के तृतीय नेत्र को अग्निरूप कहा है। प्रकाश अग्नि के निरुक्त में प्रकाशन और दाह दो कार्य बताये गये हैं। ज्ञान या विवेक है जिससे काम या उच्छृङ्खलता का दाह किया जाता है।

यही प्रतिभा शक्ति कल्पना है। जो काव्य के रचना-शक्ति के रूप में गये हैं वे ही प्रतिभा के हैं। वाक्यपदीय में कल्पना को अविद्या शक्ति से अभिन्न माना है जो कि सृष्टि के समग्र प्रपञ्च की जननी है। वेदान्त में अविद्या ही नाम रूप क्रमात्मिका सृष्टि के लिए उत्तरदायी मानी गई है।[3] ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी अविद्या को कल्पना शक्ति के नाम से पुकारा है।[4]

पाश्चात्य समीक्षक कल्पना के लिए इमेजिनेशन और फैन्सी इन दो शब्दों का प्रयोग करते हैं। फैंसी का सम्बन्ध फैन्टसी शब्द से जोड़ा जाता है। कालरिज ने इमेजिनेशन और फैंसी दोनों में अन्तर माना है। इमेजिनेशन के उसने दो भेद माने हैं—प्राइमरी या आरम्भिक २ सैकण्डरी या उत्तरकाल कल्पना।

---

१ अग्निपुराण (रामलाल वर्मा द्वारा सम्पादित काव्य शास्त्रीय भाग) ४ २

२ कल्पना चाविद्याशक्तिः सा तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वाच्या। मूर्तिक्रिया विवर्तावविद्याशक्तिप्रवृत्तिमात्रम् तौ विद्यात्मनि तत्त्वान्यत्वाभ्यामना ख्येयौ। एतद्धि अविद्याया अविद्यात्वम्। वाक० पृ० ४११

३ यत्तत्प्रमावविद्या चिन्मात्र-सम्बन्धिनी तावद्ब्रह्मणा विभजन् तथापि ब्रह्म-स्वरूपमुपस्थ्य जीवभाग एव पक्षपातिनी संसारं जनयन्ति यथा मुखमात्रसम्बन्धि दर्पणादिकं बिम्बप्रतिबिम्बौ विभज्य प्रतिबिम्ब भाग एवातिशयमादधाति तद्वत्। विप्रम० पृ० ४८

४ स्मृतिशक्तिर्ज्ञानशक्तिर्बुद्धिशक्तिस्वरूपिणी।
प्रतिभा कल्पना शक्तिर्याच तस्यै नमो नमः ॥ ब्रवै०ख० १ १६, १७

इनमें प्रथम लौकिक प्रत्यक्षानुभवों का साधन होकर सृष्टि की शाश्वत पुनरावृत्ति के रूप में चमत्कार दिखाती है। दूसरी प्रथम की प्रतिध्वनि होकर नवनिर्माण में अधिक समर्थ होती है। प्रथम के निकट होने पर भी कार्यप्रणाली एवं स्तर में पृथक् होती है। फैन्सी स्मृति पर आधारित और यान्त्रिक होती है।[1]

आइ० ए० रिचर्ड्स ने इमेजिनेशन के छः अर्थ दिये हैं। उनमें काव्य-बिम्बों का निर्माण, रूपक, उपमा आदि अलङ्कारों का प्रयोग, दूसरों की विचारशक्ति को अपने शब्दों में प्रस्तुत करना, नवीन उद्भावना व सामान्य रूप से विखरी सामग्री को साथ-साथ सजोना, मनोवेगों और भावनाओं का परस्पर समन्वय आते हैं। इनमें सामान्यरूप से कल्पना में होने वाले सभी कार्य आ गये हैं।[2]

विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि इमेजिनेशन के जो भी अर्थ बताये हैं, सभी प्रतिभा पर घटित होते हैं। उसके द्वारा लोक-सत्यों के साक्षात्कार की क्षमता आती है तथा नवीन रूप में उन्हें पुनः प्रस्तुत करना, नव निर्माण भी सम्भव होता है। जब कल्पना का शक्ति के रूप में ग्रहण किया जाता है।[3] तो पूर्व प्रतिपादित सामर्थ्य एवं चिन्तन दोनों का उसमें समाहार हो जाता है। इसी लिए आचार्यों ने प्रतिभा को शक्ति के नाम से पुकारा है। उसे सहजा और औपाधिकी दो भेदों में बाटा है। योगी जिस प्रकार समाधि में सत्य का साक्षात्कार करते हैं, कवि प्रतिभा के द्वारा उसी प्रकार उसका अवलोकन करता है। सहजा इसीलिए विशेष महत्व रखती है।[4]

इसके प्रभाव से कवि की दृष्टि से विश्व का कोई भी रहस्य छिपा नहीं रहता।[5] शैवागम में भी उसे विश्व का उन्मीलन करने वाली शक्ति कहा गया है। साधना में उसका विमर्श होता है। विमर्श तत्त्वख्याति के लिए पारिभाषिक शब्द है।[6]

---

१ वि० अ० रा० – कास० पृ० १३ १४ पर उद्धृत।

2 Prin Lit Cri L G 188 189

३ शक्तिर्निपुणता लोक शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्। —काप्रकाे० १,३

४ प्रतिभा सहजौपाधिकी चेति द्विधा, सावरणक्षयोपशममात्रात् सहजा सवितुरिव प्रकाशस्वभावस्यात्मनाऽभ्रपटल ज्ञानावर्णीयाद्यावरणम् तस्यादितस्य क्षयेऽनुदितस्योपशमे च य प्रकाशाविर्भाव सा सहजा प्रतिभा।
—कानु० पृ० ५ ६

५ यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्ता तां वन्दे प्रतिभां शिवाम्॥

६ विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाऽहमिति स्फुरणम्। (वल० दे० उ० साशा ८० भाग, १, पृ० ३३१) काम० पृ० ६

मे उद्भूत चमत्कार और व्युत्पत्ति-कृत चमत्कार में अन्तर अवश्य होगा। पहले में बुद्धिगम्यता, अनुल्बणता और स्वाभाविकता का अनुभव होगा। दूसरा क्लिष्ट-कल्पना और खींचतान में उत्पन्न होने के कारण स्वाभाविकता से रहित होगा। वह पण्डितों को आवर्जित कर सकता है सहृदयों को नहीं। नैषधीय चरित के चतुर्थ सर्ग में दमयन्ती का विरह-वर्णन इस का उदाहरण है। कवि दमयन्ती की विरहावस्था का वर्णन कर रहा है। वह महाकाव्य की नायिका है कवि की उसके प्रति समवेदना होगी तभी उसके साथ साधारणीकरण से पाठक या श्रोता की उसके प्रति समवेदना जागृत हो सकती है। पर यदि स्वयं कवि कल्पनालोक में विचरण करने लगे और नायिका को उपहास की पात्री बना दे तो पाठक या श्रोता की क्या तो समवेदना उद्भूत होगी और क्या साधारणीकरण होगा? साधारणीकरण भी होगा तो वह भी नायिका का उपहास ही करेगा। उदाहरण के लिए—

> निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम्।
> मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु निविश्य हृदि स्थितः॥

यहां कवि कहना चाहता है कि पाव में कोई छीन यदि घुस जाती है तो भी बहुत कष्ट होता है। उस नाजुक के दिल में तो पहाड़ घुस गया था, उस बेचारी को कष्ट क्यों न होता?[1]

यहां विचार करने योग्य बात यह है कि तीखे सिरे वाली वस्तु में तो अन्दर घुसने की योग्यता होती है चौड़ी में नहीं। पर्वत विशाल और फैलाव में चौड़ा होता है। इसलिए उसमें हृदय के अन्दर घुसने की योग्यता कहां से आ गई। उसके भार से वह अवश्य दब सकती है। इस प्रकार कवि का तीर ही निशाने पर नहीं बैठा तो उसने प्रभाव क्या उत्पन्न करना था? श्रोता या पाठक को तो हँसी आ गई क्या उस मृदुतनु की उस "पहाड" के घुसने से हड्डी-पसली भी बची होगी?

यहां "अवनिभृत्" शब्द में निहित श्लेष के मोह ने कवि की उड़ान को सर्वथा हास्यास्पद बना दिया है। इसमें भी चमत्कृत होने वाले "रसिक महाशय" को भला अन्य कवि की कविता कैसे मोह सकती है। इसकी तुलना में माघ के निम्न पद्य को लें जिसमें श्लेष के चमत्कार से ही ईर्ष्या भाव की सहज अनुभूति होती है—

---

१ नै०च०, ४, ११

> मधु स्पृहमितामिवालिनादैर्वितरसि न कलिका किमर्थमेनाम्।
> वसतिमुपगतेन धाम्नि तस्याः शठ ! कलिरेष महांस्त्वयाद्य दत्तः ॥[1]

यहाँ 'कलि' शब्द में विद्यमान श्लेष एवं 'कलिका' में विद्यमान 'क' प्रत्यय दोनों अभिधया में निहित वैषम्य की अनुभूति गम्य तथा मूर्त करता हुआ खण्डिता नायिका के हृदय गत क्षोभ की अभिव्यंजना में कितना सक्षम हुआ है यह सहृदयता ही जान सकती है।

इसी प्रकार—

> दूरं मुक्तालतया बिससितया विप्रलोभ्यमानो मे।
> हंस इव दर्शिताशो मानसजन्मा त्वया नीतः ॥[2]

बाण के इस पद्य में व्यापक रूप में विद्यमान होता हुआ भी श्लेष अलंकार उपमा का उपकरण बनकर अपने चमत्कार से पुण्डरीक के तीव्र कामसन्ताप का अनुभव कराने में समर्थ हुआ है। यहाँ कवि का ध्यान दूर की कौड़ी लाने में न होकर पार्श्वनायक की भावाभिव्यक्ति पर केन्द्रित है। केवल व्युत्पत्ति व अभ्यास से जनित प्रतिभा और सहजा में जो अन्तर होता है वह इसमें स्पष्ट हो जाता है।

प्रतिभाशाली कवि के लिए राजशेखर ने बुद्धि को आवश्यक बताया है। बुद्धि के भी तीन भेद गिनाये हैं—स्मृति, मति और प्रज्ञा। बीते हुए विषय का स्मरण करने वाली बुद्धि स्मृति कहलाती है, वर्तमान विषय का मनन करने वाली बुद्धि मति होती है और भावी विषय का ज्ञान लेने वाली बुद्धि प्रज्ञा होती है। कवि की तीनों ही प्रकार की बुद्धि उपकार करती है। क्योंकि उनके प्रभाव से कवि गुरु से शास्त्र आदि की शिक्षा प्राप्त करने को उत्सुक रहता है, अवसर मिलने पर पदार्थ ज्ञान को तल्लीन होकर सुनता है, समझता है और चिन्तन करके मन में जमाता है, उसके आधार पर तर्क वितर्क के द्वारा पर्यालोचन से और अधिक तत्त्वज्ञान को प्राप्त करता है, उससे ग्राह्य के ग्रहण और अग्राह्य के त्याग के द्वारा सार मात्र में एकनिष्ठ होता है।[3] यहाँ तीनों प्रकार

---

१ शिशु० ७.५८

२ काद० महाश्वेता वृत्तान्त

३ त्रिधा च सा स्मृतिर्मतिः प्रज्ञेति। अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृतिः। वर्तमानस्य मन्त्री मतिः। अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति। सा त्रिप्रकाराऽपि कवीनामुपकर्त्री। तया बुद्धिमान् शुश्रूषते शृणोति गृह्णाति, धारयति विजानात्यूहतेऽपोहति तत्त्वं चाभिनिविशते। —का०मी० ४

की बुद्धियों के कार्य गिनाये हैं, वस्तुतः ये कवि के बिम्ब-निर्माण-सामर्थ्य की ओर संकेत करते हैं। क्रान्तदर्शी कवि के लिए त्रिकालवर्ती पदार्थों का साक्षात्करण आवश्यक है। अथ शब्द के वस्तुतः विभिन्न विषय के मानस बोध को सूचित करता है। वह मानस बोध बोध्य वस्तु की आकृति के साथ ही होता है। तभी व्यक्ति-विवेककार का कथन भी सङ्गत होता है कि प्रतिभा रूपी तृतीय नेत्र के प्रभाव से ही कवि त्रैलोक्यवर्ती भावों का प्रत्यक्षीकरण करता है।[1] यह प्रत्यक्षीकरण अन्तर्दृष्टि से ही होगा जो कि अभिनव की मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतिपत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

सामान्य व्यक्ति स्थूलदर्शी होने से प्रत्यक्षवत्ल वस्तु को भी नहीं देख सकता, सूक्ष्मदर्शी कवि समाधिस्थ योगी की भांति पदार्थ की तह में पहुँच कर उसके परोक्षतत्त्व को भी साक्षात्कृत करता है। इसीलिए स्वभावोक्ति अलङ्कार के लक्षण में प्रयुक्त[2] "दुरूहार्थ"[3] शब्द के स्पष्टीकरण में "कविमात्रवेद्यो" कहा गया है।[4] इसी तात्पर्य से "मतिदर्पणे कवीनां विश्वं प्रतिफलति" "विश्वरूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः" सदृश वचन अस्तित्व में आये हैं। यह अन्तर्दर्शन और अपनी असाधारणकृति के द्वारा उस साक्षात्कृत विश्व का दर्शन सहृदय को कराना कवि की कारयित्री प्रतिभा का कार्य है तथा अपनी रचना में अनपेक्षित वस्तु को न आने देना भावयित्री प्रतिभा का। दोनों का सन्तुलित प्रयोग साहित्य में मणिकाञ्चन संयोग ला देता है जो कि यदा कदा ही पाया जाता है।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि कवि की प्रतिभा-शक्ति ही वस्तुतः कल्पना-शक्ति है। उसकी सहायता से कवि अपने काव्य में नई नई उद्भावनाएँ करता है।[5] परम्परा से चले आये विचारों एवं आख्यानों को सर्वथा नये रूप में ढाल कर संसार के समक्ष मौलिक रूप में प्रस्तुत कर देता है, उसी के बल पर वह

---

१ प्र०टि० १२२

२ इत्यादि वाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत् प्रतीतिरुपजायते।
—अभिभा०, १, पृ० २७६

३ स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्। —सारद०, १०

४ दुरूहयोः कविमात्रवेद्ययोरर्थस्य डिम्भादेः स्वयोस्तदेकाश्रययोश्चेष्टास्वरूपयो
—वही वृत्ति पृ० ३६५

५ आरोपस्य अविद्यमान-पदार्थस्य अव्यवस्थितस्य अपत्र प्रतिभासस्य मानसव्यापार प्रतिभा।
—वाचस्पत्यम् पृ० १८२०

प्राणियों के अन्तर्मन के रहस्य खोलता है और वाणी का विषय बनाकर संसार के लिए सुबोध करता है, दुर्दश पदार्थों को भी काव्यशक्ति के द्वारा मूर्त रूप देकर सबके लिए प्रत्यक्ष कर देता है, अलङ्कार आदि के सन्तुलित प्रयोग से एक अद्भुत संसार खड़ा कर सकता है। कवि की वाणी की इस अद्भुत शक्ति को *विभिन्न शब्दों में सराहा गया है—*

अतहिए वितहद्दिठए व्व हिअअम्मि जा णिवेसेइ।
अत्थ विसेसे सा जअइ विकड-कइ-गोअरा वाणी॥

अतथास्थितानपि तथा संस्थितानिव हृदये [या निवेशयति। अर्थविशेषान् सा जयति विकट-कवि-गोचरा वाणी।[1]

१ ध्वन्या० —पृ० ५२७

चतुर्थ परिच्छेद

शब्दार्थ-बोध व काव्य-बिम्ब

शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध—व्यावहारिक जगत् और विशेष कर वाङ्मय में सभी प्रकार के ज्ञान शब्द में होते हैं।[1] सामाजिक प्राणी होने के नाते मानव का तो कार्य शब्द के बिना चलता ही नहीं पशु भी आवश्यकता पड़ने पर या भाववश में शब्द का प्रयोग करते ही हैं। वस्तुओं को दिखाकर या चित्र निर्देश द्वारा भी यह कार्य सम्भव नहीं। क्योंकि लौकिक पदार्थों की अनन्तता है और मानव की शक्ति सीमित है। इसी कारण शास्त्र में वस्तु का स्वरूप-निरूपण किया जाता है जिससे एक परिभाषा के द्वारा तदाकारक समस्त पदार्थों का बोध हो जाता है।[2]

भाव प्रकाशन के लिये यद्यपि साङ्केतिक भाषाएँ भी बनी हैं परन्तु सङ्केत को जानने वाले ही उनका अर्थ समझ सकते हैं। ध्वन्यात्मक शब्द में आशय का बोध सम्भव होने के कारण दूरभाष, तार, रेडियो आदि के द्वारा आज दूरस्थ व्यक्ति के साथ भी सम्पर्क स्थापित करना सम्भव हो गया है। राष्ट्रों के गुप्तचर घने जंगलों व दुर्गम पर्वतशिखरों पर बैठे अपने राष्ट्र से शब्द के द्वारा सम्पर्क स्थापित करते हैं।

पर यह कार्य तभी सम्भव है जब कि प्रयुक्त शब्द किसी आशय का ज्ञान कराये। अन्यथा प्रमत्त-भणित में विद्वान् पुरुष द्वारा उच्चारित शब्द में कोई अन्तर न होगा। इसीलिए जो शब्द किसी प्रकार का बोध नहीं कराता, उसे निरर्थक कहते हैं। शब्द से जो आशय जाना जाता है, वह उसका अर्थ कहलाता है। भले ही शब्द ध्वनि रूप में हो या लिपि रूप में पर जब वह अपने ग्रहण से किसी प्रकार का बोध कराए तो वह सार्थक कहा जाता है और उससे जो ज्ञान हुआ, वह उसका अर्थ माना जाता है। जैसे मानव कहने से दो हाथ, दो पाँव बिना सींग और पूँछ वाले जीव का बोध होता है।

---

१ न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ —वाप० १, १२८

२ तु०—ऋद्धयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ॥ —विदुर्ग भा० पृ० १०

शब्द और अर्थ का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? एक शब्द का उच्चारण करने से वही अर्थ क्यों लिया जाता है अन्य क्यों नहीं ? पुनः क्या दोनों का यह सम्बन्ध नित्य है या अनित्य, ये कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिन पर चिरकाल से विचार होता रहा है और आज भी भाषाशास्त्री इस पर विचार करते हैं।

इस प्रसंग में से प्रथम विवाद शब्दों की नित्यता और अनित्यता को लेकर है। शब्द क्योंकि गकारादिध्वनियों का समुच्चय है उनके उच्चारण एवं अर्थबोध में पूर्व-पश्चाद् भाविता निश्चित है। एक वर्ण का उच्चारण करने पर उसमें पूर्ववर्ती ध्वनि का प्रध्वंसाभाव होने से अर्थबोध के अवसर तक प्रायः सभी ध्वनियों का अवसान हो जाने से अर्थबोध किसका होगा ? यह शब्दानित्यता वादियों का कथन है, जिसकी प्रतिध्वनि यास्क द्वारा उठाये गये औदुम्बरायण के पूर्वपक्ष में मिलती है।[1] बौद्ध दर्शन इस प्रकार इस मत को मानने वाला है। क्योंकि उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु द्वितीय क्षण में नष्ट हो जाती है।[2] इसके विपरीत श्रुति में विश्वास रखने वाले व्याकरण दर्शन एवं शैव दर्शन दोनों शब्द को नित्य मानते हैं। उनके अनुसार केवल श्रूयमाण गकारादि ध्वनियाँ अनित्य होती हैं। अन्यथा संस्कारवश उनका नित्य रूप जो अर्थाववोध कराता है आकाश में एवं मस्तिष्क में सुरक्षित रहता है। इस कारण जहाँ व्याकरण दर्शन शब्द को ब्रह्म मानता हुआ उसका अर्थ से नित्य सम्बन्ध स्वीकार करता है।[3] शैव दर्शन शब्द को पार्वती और अर्थ को शिव रूप मानकर दोनों को तात्त्विक दृष्टि से अभिन्न मानता है। इच्छा, ज्ञान क्रियात्मिक शक्ति का स्पन्दन भौतिक सृष्टि की भाँति वाङ्मय की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है।[4] कालिदास

---

१ इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः। तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते। —नि० १.२

२ असदर्थो ह्यनित्यार्थः। त्रिविधाह्यनित्यार्थः। असदर्थः उत्पादव्ययार्थः, समलामलतार्थश्च। —मध्या०वि०शा०आ०मत्रेय कारिका पृ० ८८

३ सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। —महा० १

तथा—अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं तदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ —वाप० १, १

४ या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः॥ —प्रत्य० पृ० १११

तथा—शब्दस्वरूपमखिलं धत्ते शर्वस्य वल्लभा।
अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते बालेन्दुशेखरः॥
—शिपु० जगदीशचन्द्र कृत चि०मी० भूमिका

के शब्दों मे इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है।[1] गोस्वामी तुलसीदास ने शब्द-अर्थ का परस्पर सम्बन्ध जल और तरङ्ग का सा बताया है।[2] इस प्रकार इनके अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध निश्चित है और शब्द का उच्चारण होने पर वह किसी निश्चित अर्थ का बोध कराता है। बोध-पञ्चदशिका में शक्ति और शक्तिमान् का अग्नि और उसके दाहक धर्म के समान अभेद सम्बन्ध माना गया है।[3] विमर्श की चर्चा पहले आ चुकी है। परा नामक सूक्ष्म वाग्रूप अर्थ-वाचात्मक ही है जो कि सदा सूक्ष्म रहता है।[4] न्यायदर्शन सूक्ष्म शब्द को नित्य मानने पर भी ध्वन्यात्मक को उत्पत्तिलयात्मक होने से अनित्य ही मानता है। पर सूक्ष्म शब्द के पूर्वोक्त मार्ग से नित्य अर्थानुविद्ध रहने से निरर्थकता प्रमाणित नहीं होती। वेदान्तदर्शन ब्रह्म को ही नित्य मानने के कारण शाब्दिक प्रपञ्च को अनित्य मानने वाला है परन्तु 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' आदि श्रुति-वाक्यों को प्रमाण मानने के कारण उसका शब्दानित्यत्ववाद असारसिद्ध हो जाता है। अन्यथा अखण्ड वाक्य स्फोट मानने का क्या अर्थ ?

शब्दानित्यत्ववादी इस सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार शब्दों को साङ्केतिक अर्थ लोगों ने दिये हैं। इसलिए न वे पारमार्थिक हैं और न नित्य। भामह के शब्दों में यह मत स्पष्ट हुआ है।[5] इस मत को मानने पर पदविभाग की कल्पना[7] एवं सात स्वरों में अनन्त सङ्गीत की भांति ६३ या ६४ वर्णों में[8] विशाल वाङ्मय के प्रसार की बात भी सङ्गत नहीं होती।[9] इसी प्रकार

---

१ वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ ॥ —रघु० १, १

२ गिरा अरथ जलबीचिसम कहियत भिन्न न भिन्न । —रामचमा० १, १८

३ शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव ।
—बोध० ३ रामचन्द्र द्विवेदि कृत अल० मी० पृ० ६१ उद्धृत

४ सा विमर्श-रूपैव परमार्थ-चमत्कृतिः ।
सैव सारं पदार्थानां परा वागभिधीयते ॥ —विमर्शिनी पृ० २

५ विप्रम० ४, १

६ भावा० ६, ६-७,६,१४

७ चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । नि० १

८ त्रिषष्टिश्चतुष्षष्टिर्वा वर्णाः शम्भु-मते मताः । पाशि० ५

९ वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव ।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो गेयस्येव विचित्रता ॥ शिव० २, ७२

शब्दों को वाचक द्योतक और निरर्थक तीन श्रेणियों में विभक्त करने का क्या प्रयोजन है? इतना होने पर भी कुछ दर्शन शब्द प्रमाणक हैं तो कुछ अर्थ-प्रमाणक। जैसे वैयाकरण शब्द को प्रमाण मानकर चलते हैं तो नैयायिक अर्थ को। यास्क ने निर्वचन के प्रसङ्ग में अर्थनित्य होने का निर्देश दिया है[2]। लक्षणा की परिभाषा में अर्पिता शब्द का प्रयोग परम्परा में भी शब्दों का अर्थ निर्धारित होने की सूचना देता[3] है।

इस विवाद को देखते हुए निष्कर्ष निकलता है कि शब्द को नित्य या अनित्य मानने पर भी उससे अर्थबोध तो स्वीकार करना ही पड़ता है। अर्थबोध की दृष्टि से ही शब्द को यौगिक रूढ और योगरूढि वाचक द्योतक एवं निरर्थक इन श्रेणियों में बाँटा है। नैयायिक लोग उपसर्गों को द्योतक जबकि च आदि निपातों को वाचक मानते हैं[4]। किन्तु वैयाकरण निपातों को द्योतक ही मानते हैं। यास्क इसके विपरीत उन्हें वाचक और निरर्थक इन दो श्रेणियों में विभक्त करते हैं[5]।

इसका आधार यह है कि उनके प्रयोग में किसी-न-किसी अर्थ का बोध तो होता ही है। उपसर्ग भी धातु के साथ जुड़कर उसका अर्थ बदलते हैं। वह

---

१ क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत।
सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पद-पूरणः ॥ विदु० भा० पृ० ५०

२ अथानवित्यर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन। —नि० २ १

३ साद० २ ५

४ तु प्रादयो द्योतकाश्चादयो वाचका इति नैयायिकमतमयुक्तं वैषम्ये बीजाभावादिति ध्वनयन्निपातानां द्योतकत्वं समर्थयते—
द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयस्तथा।
उपास्यते हरिहरौ लकारो दृश्यते यथा ॥ कौभ० वैभूसा० ९
तथा—उपसर्गास्तात्पर्यग्राहक इत्यस्तु। तथा तात्पर्यग्राहकत्वमेव द्योतकत्वम् इति। एतच्चादिष्वपि तुल्यम्। —वही पृ० ३७०

५ अथ निपाताः। उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति (क) अप्युपमार्थे (ख) अपि कर्मोपसंग्रहार्थे (ग) अपि पदपूरणाः। —नि० १ ४

६ उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः। तद् य एषु पदार्थः प्राहुरिमं तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम्। —नि० १ ३

उन्हीं का अर्थ है। वैयाकरण भी उपसर्ग से धातु के अर्थ का परिवर्तन मानते हैं[1]।

यहाँ यह आपत्ति उठती है कि यदि निपात वाचक हैं तो एक ही निपात के कई अर्थ क्या होते हैं। जैसे किल शब्द का स्थानानुसार से पुष्टि, प्रश्न, वितर्क आदि अर्थ भेद होता है[2]। खलु के निषेधार्थ, प्रश्नार्थ एवं पदपूरण जैसे प्रकार आदि है, यह क्यों[3]? पर इसका आधार अर्थभेद से शब्द-भेद की मान्यता का सिद्धान्त है[4]।

इस प्रकार शब्द और अर्थ का वाच्यवाचक भाव या द्योत्य-द्योतक भाव सम्बन्ध बनता है। मम्मट ने स्पष्ट कहा है कि शब्द अर्थ का प्रकाशन करता है, उसका कारक नहीं है[5]। कारण स्पष्ट है। कारक वह होता है जो नायनियत वृत्ति प्रागभाव को दूर करता है। इसके विपरीत अर्थ शब्द में पहले से विद्यमान है। तभी शब्द में ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दोनों धर्मों की स्थिति बनाई है। श्रवणेन्द्रिय के साथ ध्वनि का सन्निकर्ष होने से शब्द का ग्रहण होता है, यह उसका ध्वन्यात्मक रूप है। लिपिगत रूप का ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा होगा। पर इतने से शब्द का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो जाता। वह दीप की भाँति घट-पटादि का बोध कराता है। अतः वह ग्राहक है। रेवाप्रसाद द्विवेदी शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध शरीर और वस्त्र का मानते हैं[7]।

अर्थ क्या है

शब्द का अर्थ क्या है? अर्थ की व्युत्पत्ति अभिनव गुप्त ने मत से अभ्यर्थ

---

१ उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहार-संहार-विहार परिहारवत्॥ —सि॰ कौ॰ भा॰ २, पृ॰ ३४

२ पु॰ किलेति विद्या-प्रकर्षे। एवं किलेति। अथापि 'न ननु" इत्यनाभ्यां सम्प्रयुज्यतेऽनुपृष्टे। नि॰ १,५

३ खल्विति च। खलु कृत्वा। खलु कृतम्। अथापि पदपूरण। एवं खलु तद् बभूवेति। वही १,५

४ अर्थभेदेन शब्द-भेद। का॰ प्र॰ का॰ ४२२

५ शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वम्। का॰ प्र॰ का॰ पृ॰ २१२

६ ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्व-शब्दाना पृथगेते व्यवस्थिते॥ वाप॰ १,५५

७ सामुसि॰ भ॰ पृ॰ १४-१५

इष्यते इत्यर्थः[1] होती है। नागेश भट्ट ने अर्थ की परिभाषा शब्द से जिस वस्तु का साक्षात्कार होता है वह की है[2]। महाभाष्यकार ने भी कहा है कि जिसका उच्चारण करने से सास्ना लांगूलादि से युक्त शरीरधारी का ज्ञान होता है, वही शब्द है[3]। इस कथन से नाम्य निकलता है कि गो शब्द है। परन्तु गो शब्द स्वयं तो जातिवाचक है। उसके श्रवण मात्र से तो गोत्व जाति का ग्रहण होगा। वक्ता का तात्पर्य जाति से तो नहीं हो सकता। इसलिए पुरःस्थानपुरुषन्याय में प्रश्न के मध्य में उठता है कि शब्द का अर्थ क्या है अथवा शब्द का उच्चारण करने से श्रोता को किसकी उपस्थिति होती है क्योंकि शब्द या तो जाति का वाचक होगा जैसे गावादि, या तद्गत धर्म का वाचक होगा। जैसे शुक्लत्व चलत्वादि, या द्रव्य का होगा जो उसकी संज्ञा या वैयक्तिक विशेष है। अब 'गां दोग्धि पयः' में जातिवाचक गो शब्द से सामूहिक जाति का सामान्य प्रयासत्ति से बोध होने के कारण वक्ता का अभीष्ट अर्थ तो नहीं निकलता, क्योंकि दोग्धा की सामर्थ्य से बाहर है कि यावन्मात्र गोपदवाच्य जाति का दुह सके। गोगत शुक्लत्वादि गुण और चलत्वादि क्रिया भी दोहन क्रिया का विषय सम्भव नहीं। इस समस्या के कारण सभी दर्शनों ने इस प्रश्न पर अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया है। पतञ्जलि ने शब्दों की प्रवृत्ति जाति गुण क्रिया द्रव्यात्मक चतुर्विध मानी है।

शक्तिग्रह—शब्द से ज्ञान वाले अर्थबोध को शास्त्रीय परिभाषा में संकेत ग्रह या शक्तिग्रह कहा गया है। इसी प्रकार शक्तिग्रह को अर्थबोध में कारणता मानी गई है।[4] पूर्वोक्त प्रकार से शक्तिग्रह जाति या व्यक्ति किसमें होता है इस पर दार्शनिकों में मतभेद है। जैसे मीमांसक जाति में शक्ति मानते हैं परन्तु दोहन आदि क्रिया का विषय जाति न हो सकने से व्यक्ति का आक्षेप किया है।[5] नैयायिक लोग जाति विशिष्ट व्यक्ति में शक्ति-ग्रह स्वीकार करते हैं। साहित्य दर्शन जाति गुण, क्रिया और द्रव्य इन उपाधियों में शक्तिग्रह मानता है।

---

१ अभिभा० पृ० ३४३ भा० १

२ अर्थत्वं शब्दजन्यसाक्षात्कार-विषयत्वम्। का० प्र० उ० पृ० २४४

३ महा० १,१

४ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः इति महाभाष्यकारः।
—का० प्र का० २, पृ० ३४

५ अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारकः सम्बन्धः शक्तिः। —तसदी० पृ० १०३

६ गवादिशब्दानां जातावेव शक्तिः। विशेषणतया जातेः प्रथममुपस्थितत्वात्। व्यक्तिलाभस्त्वाक्षेपादिति केचित्। —तसदी० १०४ २५

बौद्धदर्शन अतद्व्यावृत्ति-रूप अपोह में शक्तिग्रह पर बल देता है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन में इस सम्बन्ध में विभिन्न मतों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार वैदिक जाति को, सांख्यानुयायी व्यक्ति को, वैयाकरण दोनों को, जैन अवयव-संस्थान-रचना रूप आकृति को और नैयायिक तीनों को ही शब्दार्थ मानते हैं।[1] रामानुज-वेदान्त में जाति में ही शक्तिग्रह माना जाता है, व्यक्ति में तो स्वरूप से रहती ही है।[2] व्यक्ति-शक्तिवाद का खण्डन आनन्त्य और व्यभिचार दोष के आ पड़ने के आधार पर किया जाता है। क्योंकि भूत और भविष्यत् की अनन्त व्यक्तियों में एक साथ शक्तिग्रह संभव नहीं है। क्योंकि अनन्त बार शक्तिग्रह करने में गौरव होगा, यदि वह सिर्फ एक बार एक व्यक्ति में शक्तिग्रह हो जाय, बाद में अन्य व्यक्तियों का ग्रहण स्वतः हो जायगा तो शक्तिग्रह के अवबोध की कारणता के नियम में व्यभिचार हो जायगा। "गौ शुक्लश्चलो डित्थः" कहने में व्यक्ति का ही बोध होने पर चारों पर्यायवाची शब्द हो जायेंगे और जातिगुण-क्रिया-द्रव्यात्मक विषयविभाग संभव न होगा।[3]

पदों का परस्पर अन्वयबोध—शक्तिग्रह ज्ञान के पश्चात् एक वाक्य में आने वाले अनेक पदों का परस्पर सम्बन्ध कैसे होगा यह प्रश्न उठता है। इस सम्बन्ध में मीमांसा दर्शन में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दो सिद्धान्त सामने आते हैं। अभिहितान्वयवाद तो अभिधा से अन्वय-बोध असंभव मानकर इसके लिए तात्पर्य नामक वृत्ति स्वीकार करता है। पर अन्विताभिधानवाद परस्पर अन्वित पदों में ही शक्तिग्रह को मान्यता देता है। इस विषय पर भी दर्शनों में मतैक्य नहीं है। साहित्य-दर्शन पहले रूप स्वीकार करता है पर व्यञ्जना के प्रश्न पर दोनों में मत-भेद है। वेदान्त दर्शन 'तत्त्वमसि' सदृशवाक्यों में भागलक्षणा द्वारा अखण्डार्थबोध मानता है[4] पर रामानुज दर्शन पदोच्चारण में सर्वप्रथम अकेले पदार्थ के ही बोध को अङ्गीकार करता है।[5] विचार करने पर न्याय-दर्शन भी अन्वित में ही शक्तिग्रह मानता है।

---

१ तेन, गामानयेत्यादौ वृद्धव्यवहारेण गवानयनादेर्व्यक्तावेव सम्भवेन जातिविशिष्ट-व्यक्तावेव शक्ति-कल्पनात्। —तर्कदी०, १२५

२ पदवा गवादिपदानां व्यक्तौ शक्तिः स्वरूप-सती न तु ज्ञाता हेतुः। अतएव न्यायमतेऽप्यन्वये शक्तिः स्वरूप-सतीति सिद्धान्तः।
—धर्मराजध्वरीन्द्र वेदान्तपरिभाषा पृ० १६३

३ का०प्र०का०, पृ० ३०-३१

४ विप्रम०, ४, १

५ मेघनादसूरिनयद्युमणि, पृ० १०७

६ द० टि० ३३

अर्थज्ञान साकार या निराकार—इस प्रसङ्ग में महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि शब्द से होने वाला ज्ञान साकार होता है या निराकार या अरूप। यदि कहें कि अरूप होता है तो वाणी का वस्तु के स्वरूप की प्रतिपत्ति कैसे होगी जैसे खण्ड शब्द से श्वेत शकरा का बोध होने पर बोद्धा का मुख मीठा नहीं हो सकता अथवा घट शब्द का अर्थ घड़ा है यह जान कर भी घट का आकार न जानने वाले व्यक्ति के सामने घड़ा देखकर भी यह घड़ा है यह बोध न होगा तथा घट और पट में भेद ज्ञान संभव न होगा। इस कारण वह घट को पट और पट को घट समझ सकता है। इस प्रकार यह अयथार्थ ज्ञान होगा अतः शब्द का ज्ञान साकार होता है ऐसा विभिन्न दर्शन स्वीकार करते हैं इसकी पुष्टि गदाधरदर्शन के पूर्वोद्धृत वचन से हो जाती है। वस्तुतः परिभाषाकार ने भी स्पष्ट कहा है कि घट शब्द से कम्बुग्रीव होने पर बड़े पेंदे और मध्य वाली वस्तु में ही इसका प्रयोग होगा। घट के पेंदे और उदर को देखकर और पृथु बुध्न आदि आकार दर्शन से ही संभव है। इसलिए जब इस प्रकार की आकृति बोद्धा को दिखाई देगी तभी यह घट है इस प्रकार का बोध होगा[2]

न्याय और वैशेषिक के अनुसार भी बोद्धा घट की आकृति को देखकर मन घट ज्ञान लिया' इस प्रकार का अनुव्यवसाय जब करता है तभी उस घट का प्रत्यक्ष हुआ समझा जाता है।[3] यह साकार ज्ञान में ही संभव है निराकार में नहीं।

व्याकरण दर्शन के अनुसार तो पदार्थ के आकार-बोध के बिना शब्द-बोध या स्फोट ही संभव नहीं है गो पद सुनकर बोद्धा को यदि सास्नादि गुणादि आकार वाले शरीर का प्रत्यक्षीकरण होता है यही स्फोट है। वह साक्षात्कारात्मक होता है।

महावैयाकरण भर्तृहरि ने पूर्वपक्ष के रूप में आरम्भ में भले ही यह कहा कि वाचक शब्द घट अपने घटत्व मात्र के बोध तक सीमित है। वह अपने विषय पदार्थ के आकार का भान नहीं करा सकता।[4] पर यहां प्रत्याययति

---

१ द्र० टि० ३६

२ वद० पृ० १८७

३ मुरारिमिश्राणा मतेऽनुव्यवसायेन ज्ञान गृह्यते। सि० मुक्ता० ज्वालाप्रसाद कृत टीका भा० १ पृ० १२६

४ घटादीनां न चाकारान् प्रत्याययति वाचकः।
वस्तुमात्रनिवेशित्वात् तद्गतिर्नान्तरीयका॥ —वाप० २ १२३

क्रिया द्योतन की वाचक है। वाचक शब्द का कार्य अर्थ का अभिधान है, द्योतन नहीं। वह यदि व्यञ्जक बन जाय तभी व्यङ्ग्य अर्थ का बोध करा सकता है। सामान्य रूप में इस वचन में भर्तृहरि वाचक शब्द से वाच्य पदार्थ का आकार-बोध कराने की सामर्थ्य नहीं मानते लगते हैं परन्तु अन्य वचन स्पष्ट ही सूचित करते हैं कि वे पदार्थ के आकार का बोध शब्द में मानते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि शब्द द्वारा प्रतिपादित स्वरूप वाले वन आदि पदार्थों को बुद्धि का विषय हो जाने पर बाद्धा प्रत्यक्षवत् समझता है।[1] इसका तात्पर्य यही निकला कि जब शाब्दबोध हो जाता है तो शब्द द्वारा प्रतिपादित पदार्थ पहले प्रयोक्ता की बुद्धि या ग्राहिका अन्तश्चेतना में निहित हो जाता है, तदनन्तर अन्तर्दृष्टि से समक्ष प्रत्यक्षवत् भासित हो जाता है।

आधुनिक बिम्बवादी समीक्षकों की भी मान्यता यह है कि लौकिक पदार्थ चाक्षुष या इन्द्रिय सन्निकर्ष का विषय बनने के पश्चात् जब तिरोहित हो जाते हैं तो प्रमाता की स्मृति में अङ्कित हो जाते हैं। इन्द्रिय सन्निकर्ष के अन्तर्गत श्रावण सन्निकर्ष भी है। लिखित अक्षरों या शब्दों को पढ़ने पर चाक्षुष सन्निकर्ष ही होगा, पर अर्थबोध तो इन्द्रिय विषय नहीं है। वह बुद्धि का कार्य है। अतः शब्द को पढ़ने या सुनने के पश्चात उसमें द्योतित पदार्थ बुद्धि का विषय बनता है। इस प्रकार मस्तिष्क में उसका संस्कार स्मृति बनकर उभरता है।[2] इस सत्य को वेदान्त परिभाषाकार ने भिन्न शब्दों में स्वीकार किया है।[3]

भर्तृहरि का अन्यत्र कथन है कि ज्ञान में जिस प्रकार स्वयं ज्ञान का और ज्ञेय का स्वरूप दिखाई देता है उसी प्रकार शब्द में उसका अपना रूप और उसके प्रतिपाद्य का रूप भी प्रकाशित होता है। जब शब्दब्रह्मवादी अद्वैत के द्वारा ब्रह्म को ज्ञेय न मानकर स्वयं ज्ञान रूप मान लेते हैं तो ज्ञान और ज्ञेय दोनों में अभेद की प्रतिष्ठा हो जाती है। इसी प्रकार शब्द में उसका ध्वन्यात्मक रूप और उसका प्रतिपाद्य वस्तु जो अर्थ है, अर्धनारीश्वर के देह की भांति अभेद रूप में स्थित है।[4]

---

१ शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥ —वाप०, ३ ७, ५

२ यत्र वाचो निमित्तानि चिह्नानीवाक्षरस्मृतेः।
शब्द-पूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत्॥ —वही १, २०

३ पदानि हि स्वसम्बद्धेष्वर्थेषु स्मृतिं जनयन्ति। —वे प० पृ० ३०

४ आत्म-रूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते॥ —वाप० १, ५०

पुन व्याप्तिज्ञान भी प्रत्यक्ष पर आधारित है। क्योंकि रसोई म अग्नि और धूम का सयोग देखकर ही दोनो के साहचर्य का नियम समझ मे आता है।

उपमान—तृतीय प्रमाण उपमान है।[1] इस प्रकार उपमान अथात् सदृश पदाथ के द्वारा प्रकृत का बोध उपमान कहलाता है। काव्य मे यह प्रमाण उपमा आदि अलंकारो म उपमेय अथवा प्रकृत वस्तु के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिये प्रयुक्त होता है।[2] शास्त्रीय ग्रन्थो म किसी सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिय न्यायो का प्रयोग किया जाता है। उनम भी उपमान का भाव ही छिपा होता है। *जैसे किसी प्रसङ्ग म अनेक पदार्थों का परिगणन करके जब उनमे प्रत्येक* का एक एक करके परिचय दिया जाय तो उसके स्पष्टीकरण के लिए शृङ्ग-ग्राहिका न्याय का उदाहरण देते है। उसका तात्पर्य यह है कि जैसे बहुत सी गौओ को गिनाने के लिए एक एक की सीग पकडकर उसकी गिनती और पहचान कराई जाय इसी प्रकार यहा एक वस्तु को क्रमश लेकर उसका परिचय दिया जाता है।

शब्द—चतुथ प्रमाण शब्द होता है। किसी शास्त्र या आप्त पुरुष के वचन को सामने रखकर उसके द्वारा किसी विषय का ज्ञान किया जाय, उसे शब्द प्रमाण कहते है।[3] जैसे आस्तिक दर्शनो मे वेद के वचन को किसी बात की मान्यता सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। शब्द जब वाक्य म प्रयुक्त होता है तब उसे पद कहा जाता है। पद के अर्थ को पदार्थ, वाक्य के अर्थ को वाक्यार्थ कहते है। पदार्थ और वाक्यार्थ के ज्ञान के लिए दर्शनो की अपनी अपनी मान्यताएँ है।

सांख्य दर्शन के अनुसार चक्षुरादि इन्द्रिय का जब अपने विषय से समर्ग होता है मन का भी विषय के साथ व्यापार होता है। इस मानसिक व्यापार का प्रतिबिम्ब आत्मा या पुरुष म सक्रान्त होता है। चैतन्य का उस मानसवृत्ति के

---

१ उपमितिकरणमुपमानम। तस० उप० प्रक०

२ तु०, जब कविता दृश्य रूप पाकर चित्रकला के निकट आती है तो उसमे मुख्यत तीन बातो की अपेक्षा की जाती है वह यथार्थ चित्रण करे, वह साधक अथवा महत्त्वपूर्ण पक्ष का चित्रण करे तथा वह रागात्मक चित्रण करे। इन तीन अपेक्षाओ की पूर्ति के लिए कवि यथाक्रम इन तीन युक्तियो का मुख्यत अपनाता है बिम्ब उपमान प्रतीक।

— त्रिलोक" चन्द तुलसी परिवेश, मन और साहित्य पृ० २३३

३ तु०, आप्त वाक्य शब्द । आप्तस्तु यथार्थवक्ता । तस० ४

प्रतिबिम्ब में युक्त होना ही प्रत्यक्षज्ञान है। विषय में संसृष्ट इन्द्रिय के साथ विषयस्थान में मन की विषयरूप में वृत्ति हो जाना ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। इसी प्रकार व्याप्तिज्ञान के कारण उत्पन्न "साध्य से विशिष्ट पक्ष है" इस प्रकार जब मन की वृत्ति हो जाती है, इसी को अनुमान प्रमाण कहते हैं। उस प्रकार की मानस वृत्ति का जब चैतन्य में प्रतिबिम्ब प्रतिफलित होता है, उस स्थिति को ही अनुमिति कहते हैं। इसी प्रकार श्रुति अथवा प्रामाणिक कपिल आदि आचार्यों के वचन को सुनकर पदों के अर्थ व साथ संसर्ग के रूप में परिवर्तित मानसिक व्यापार ही शब्द-प्रमाण कहलाता है। चैतन्य का उस मानस वृत्ति के प्रतिबिम्ब में युक्त हो जाना ही शब्द-ज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान की विविध अवस्थाएँ जैसे प्रत्यक्षता, परोक्षता, स्मरण का भ्रम, सन्देह विपर्यय (विपरीत ज्ञान) आदि मानस वृत्ति के ही धर्म होते हैं जो कि आत्मा की चेतना में उसके प्रतिबिम्ब-रूप उपाधि के कारण भासित होते हैं।[1]

इसके अनुसार प्रत्येक प्रकार का ज्ञान चैतन्य में होता है। फलस्वरूप ज्ञेय पद के अर्थ का स्वरूप भी उसमें प्रतिफलित होगा। क्योंकि भावमात्र का प्रतिफलन क्या होता है?

पातञ्जल योगदर्शन में किसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिए असम्भव व्यापार का उदाहरण दिया गया है। जैसे किसी अंधे को मार्ग में पड़ा रत्न मिला। उस को उँगली से रहित हाथ वाले मनुष्य ने माला में गूंथा। कटी गर्दन वाले मनुष्य ने उसे गले में पहना। बिना जीभ के मनुष्य ने उसे चूमा।[2]

तैत्तिरीय आरण्यक के इस सन्दर्भ को आत्मा की सर्वकार्यक्षमता प्रतिपादित करने के लिए उद्धृत किया जाता है। इस आभाणक में स्थूल व्यापार प्रदर्शित हैं जो कि प्रत्यक्ष-दृश्य है। यद्यपि यह लोक में सम्भव नहीं है। तथापि क्योंकि ये व्यापार शब्द में कहे गये हैं, अतः इन्हें सुनकर कल्पना-दृष्टि से ये व्यापार भी किये जाते हुए प्रतीत होंगे। फलतः प्रसङ्ग में वर्णनीय चैतन्य स्वरूप आत्मा या ईश्वर जिह्वा आदि से रहित होता हुआ भी इस प्रकार के सभी असम्भव कार्य कर सकता है। इस प्रकार का आशय इस पूर्वोक्त आभाणक

---

१ सर्वदर्शन-संग्रह पृ० ३२०

२ अन्धो मणिमविन्दत्। तमनङ्गुलिरावयत्। अग्रीवः प्रत्यमुञ्चत्। तमजिह्वा असश्चत।

—तैत्ति० आ० १, ११, ५

जिन पदार्थ का ज्ञान होता है, वही उसका अर्थ माना जाता है।[1] स्मरण पहले हुए अनुभव से मस्तिष्क पर पड़े प्रभाव से उत्पन्न हुआ करता है।[2] जैसे पहले देखे हुए कम्बुग्रीवादिमत् पदार्थ के विषय में पुनः 'घट लाओ' ऐसा कथन सुनने पर श्रोता के मस्तिष्क में घट की आकृति घूम जाती है। इस प्रकार घट शब्द का वाक्यार्थ-ज्ञान साकार होगा, निराकार नहीं। परन्तु 'उष्णो वह्निः' ऐसा कहने पर वह्नि जो द्रव्य है उसका तो रूप भासित हो सकता है। परन्तु उष्णत्व की मूर्तता कैसे भासित होगी ? क्योंकि वह तो गुण है। अतः उसमें उष्ण स्पर्श की अनुभूति ही बोध का विषय होगी।

इसी कारण जाति या व्यक्ति के पदार्थ-ज्ञान के समय 'गौः' कहने से गाय का जातिवाचक अर्थ लेने पर भी आकृति का ही पहले भान होता है। गोत्वजातिमान् अर्थ यह बोध जातिपरक होगा। जो द्रव्य में शक्ति मानते हैं वे तो उस जाति-रूप धर्म से विशिष्ट वस्तु में शक्तिग्रह करेंगे।[4] तब भी शब्द-बोध्य पदार्थ के आकार का ही बोध होगा।

एक ही शब्द उपाधि-भेद से वाचक, लक्षक और व्यञ्जक बन जाता है।[5] इसका कारण यह है कि अर्थ एक रूप ही नहीं हुआ करता। वह अवस्था या परिस्थिति, वक्ता आदि के भेद से भिन्न अर्थ का भी ज्ञान कराता है। जैसे— "सूरज छिप गया" इसका सामान्य अर्थ सूर्य का अस्त होना है जो सभी श्रोताओं को समान रूप से प्रतीत होता है। परन्तु मान लो कोई व्यक्ति बाबावाले से घबराया हुआ सा आकर कहे कि सूरज छिप गया तो सूर्य का अस्त होना मात्र प्रतीत न होकर किसी महापुरुष के निधन का ज्ञान करायेगा।

डा० कपिलदेव द्विवेदी ने सांकेतिक अर्थ के प्रसङ्ग में आई० ए० रिचर्ड्स की पुस्तक मीनिंग आव मीनिंग के आधार पर आग्डेन और रिचर्ड्स

---

१ वाप० २,३२६,४१८

२ संस्कारजन्य ज्ञानं स्मृतिः। —तर्क० प्र० ख०

३ सदम० पृ० ३०७

४ वही पृ० ३०८

५ तु०, अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यात् त्रिविधो मतः।
शब्दोऽपि वाचकस्तद्वल्लक्षको व्यञ्जकस्तथा ॥ —साद० २, २८
वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत्साऽन्यसंभवा ॥ —वही २, १६-१७

का मत दिखाते हुए सिद्ध किया है कि आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों का सांकेतिक अर्थ के सम्बन्ध में वाक्यपदीय से पूर्ण सहमति है। इन दोनों मनीषियों ने अर्थ के १६ लक्षण या अर्थ दिये हैं उनमें कुछ निम्नलिखित हैं—

७ क) अभिमत तथ्य अर्थ है।

ख) संकल्प अर्थ है।

१० ग) किसी संकेत का अभिमत पदार्थ अर्थ है।

घ) जिस अर्थ को कोई बात अभिव्यक्त करती है वह अर्थ है।

१६ अ) व्यक्ति जिस अर्थ को संकेत के द्वारा समझता है।

आ) जिस अर्थ को अपने हृदय में भावना रखता है।

इ) जिस भाव को वक्ता का अभिप्रेत भाव समझता है वह अर्थ है।[1]

शब्दशक्तियाँ

किस शब्द में किस स्थिति में कौन सा अर्थ बोधित होगा इसकी व्यवस्था कैसे होगी यह प्रश्न उठता है। आचार्यों ने इसका उत्तर शक्तियों की मान्यता के रूप में दिया है।[2] इनमें शब्द के उच्चारण करने में जो सीधा अर्थ श्रोता के मस्तिष्क में आता है वह वाच्य कहलाता है। उसका बोध कराने वाली वृत्ति या शक्ति को अभिधा नाम दिया है।[3] किसी भी शब्द को पढ़ने या सुनने के पश्चात् सर्वप्रथम यही शक्ति काम करती है और यही या शब्द का विचार किये बिना किसी अभिप्राय को सर्वाधिक कर देती है। यह सम्पूर्ण शब्द-व्यापार में काम आती है और अर्थ-संसार में प्रवेश का द्वार है। ध्वनिकार ने वाच्यार्थ के बोध में इसका प्रथम द्वार कहा है। जैसे प्रकाश का इच्छुक दीप में तेल और बत्ती जुटाता है तभी उसे प्रकाश का लाभ होता है। इसी प्रकार इस वाच्यार्थ का बोध होने पर ही बाद के अर्थों का ज्ञान होता है।[4] पीछे उद्धृत कालिदास के पद्य स्थिता क्षणं आदि में आरम्भ में प्रथमवृष्टि बिन्दुओं के क्रमिक प्रसार का वर्णन ही बाद में भासित होने वाले अर्थों की कुंजी है। इसी नियम काव्य में रसभावादिरूप अर्थ के वास्तविक प्रत्यय होने पर भी वाच्यार्थ की ही मुख्य

---

१ अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन पृ० ९६ ९७

२ वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः ।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥ —सा० द० २ ३

३ तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा । —वही २ ४

४ आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः ।
तदुपायतया तद्वद् अर्थे वाच्ये तदादृतः ॥ —ध्वन्या० १ ९

कहा गया है।[1] वाच्यालङ्कार इसी वाच्यार्थ के विविध प्रकार हैं जिन्हें आनन्दवर्धन वाग्विकल्प[2] और रुय्यक 'अभिधान-प्रकार-विशेष'[3] के नाम से स्मरण करते हैं। इसी में वैचित्र्य या अनोखापन लाने को वक्रोक्ति की संज्ञा दी गई है।[4] लौकिक जीवन में प्रमुखता से यही अभिधावृत्ति और इसके द्वारा बोधित अर्थ व्यवहार में आते हैं।

यद्यपि अर्थ-बोध के लिये उत्तरदायी सभी व्यापारों के वृत्ति[5] और शक्ति ये शब्द समान रूप से बोधक हैं तथापि बहुधा शक्ति शब्द अभिधा के लिये ही प्रयुक्त होता है। क्या वैयाकरण, क्या नैयायिक और क्या अन्य दार्शनिक, सभी वाच्यार्थबोध के लिये शक्तिग्रह और अभिधा के लिये शक्ति शब्द का ही प्रयोग करते हैं। इसलिये व्यञ्जना के साथ वृत्ति शब्द लगाया जाता है। लक्षणा के साथ शक्ति शब्द का प्रयोग भी होता है। इसका कारण यह भी है कि कुछ दार्शनिक लक्षणा को अभिधा का ही अङ्ग मानते हैं। परन्तु अर्थ में वैशिष्ट्य होने के कारण उसका पृथक् नामकरण किया गया है।

शब्द का सीधा अर्थ अभिधा के द्वारा तो जाना जाता है पर उसका आधार क्या है? शक्तिग्रह के प्रसंग में उसके साधन ८ गिनाये गये हैं जिनमें व्याकरण प्रमुख है[7] क्योंकि शब्द की शल्यक्रिया व्याकरण के द्वारा ही होती है। यास्क

---

१ मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्य। —का० प्र०का० ७ १

२ अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः।
—ध्वन्या० पृ० ४७३

३ अभिधान-प्रकार-विशेषा एव चालङ्काराः।
—अस० (विम० महि०) पृ० २१

४ वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः। —भाका० १, ३६
तथा—उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥ —वजी० १, १०

५ वृत्तीनां विश्रान्तिरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम्। —साद० ५, १

६ स च शब्दो वस्तुतः एकोऽपि तत्तद्वर्णसंस्कारैः प्रतिबिम्बित-तत्तद्रूपोऽनन्त-पदरूपतामापन्न इति सर्वपदरूप सर्वार्थाभिधानशक्तिः।
—वैलम० पृ० २५६

७ शक्ति-ग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्ध-पदस्य वृद्धाः॥
—तसदी० आनन्द झा टीका पृ० ६८

ने तीन प्रकार के शब्द गिनाए हैं—प्रत्यक्षक्रिय परोक्षक्रिय और प्रकल्प्यक्रिय या अविद्यमानक्रिय। इन तीनों भेदों का आधार उनको अभिमत शाकटायन का सिद्धान्त सम्पूर्ण नामार्थों (संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण) को आख्यातज या प्रकृति प्रत्यय के योग से निर्मित होना है। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनको पढ़ने या सुनने से स्पष्ट ही पता लग जाता है कि किस धातु के साथ कौन सा प्रत्यय लगाने से यह शब्द बना है। जैसे अध्यापक शब्द की व्युत्पत्ति अधिपूर्वक इङ् धातु से णिजर्थ में हुई है। इसका बोध होने और ण्वुल् प्रत्यय के संयोग से यह पद बना है यह बोध होते ही अध्यापक का अर्थ 'पढ़ाने वाला' यह समझ में आ जाता है। परन्तु 'घोटक' जैसे शब्द ऐसे हैं जिनमें प्रकृति प्रत्यय का विभाग सम्भव नहीं होता। उनमें भी कुछ तो आख्यातार्थ संज्ञा रूप बन कर जुड़ा होने से क्रिया वाला रूप छिपा तो होता है पर विग्रह करने से वह प्रकाश में आ जाता है। जैसे—राजपुरुष। यह राजन् और पुरुष दो शब्दों को मिलाकर बना है। राजन् राजन्) इस शब्द की व्युत्पत्ति से राजृ दीप्तौ धातु से बना है[2] परन्तु पुरुष शब्द 'पुरि सीदति' इस व्युत्पत्ति से पुर पूर्वक सद् धातु से बना है। उसका प्रत्यक्ष क्रिय पुरिषाद होगा। यदि 'पुरि शेते' यह व्युत्पत्ति करें तो 'पुरिशय' यह प्रत्यक्ष-क्रिय रूप बनेगा। फलतः वर्तमान रूप परोक्ष क्रिय है।[3] परन्तु इन्द्र शब्द में यह प्रकृति और प्रत्यय का विभाग और भी अस्पष्ट है। क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति 'इदं द्रष्टा' (इदमदर्शम) इस रूप में करते हैं तो प्रत्यक्षक्रिय रूप बनता है पर जब वह 'इदन्द्र' बन जाता है तो आख्यातार्थ द्रष्टा भी लुप्त हो गया और 'इन्द्र' बन गया।[4] इसमें 'इदम्' यह सर्वनामांश तो स्पष्ट है इसलिए इसको परोक्षक्रिय की श्रेणी में रखेंगे। पर जब केवल 'इन्द्र' शब्द रह गया तो अब उतनी स्पष्टता भी नहीं रही और वह प्रकल्प्य-क्रिय की श्रेणी में आ गया। इस प्रकार के बहुत से शब्द हैं जिनमें व्याकरण

---

१ तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्त-समयश्च। अनि० १, १२

२ तु० नि० २ ३

३ पुरुष पुरिषाद (पुरि+सद) पुरि शय (पुरि शेते) पूरयतर्वा पूरयत्यन्तर् इत्य तरपुरुषमभिप्रेत्य। —नि० २ ३

४ स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यदिदमदर्शमिती ३
तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः।
—ए०उ० ३, १३ १४

की सीधी प्रक्रिया स्पष्ट नहीं है और उन्हें शिष्ट प्रयोग के कारण साधु मान लिया गया है। ऐसे कुछ शब्दों का समाहार इस श्लोक में किया गया है—

भवेद् वर्णागमाद् धस सिंहो वर्ण-विपर्ययात् ।
गूढोत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात् पृषोदरम् ॥[१]

पाणिनि ने भी बहुत से शब्दों का निर्माण जो लोक में प्रचलित थे परन्तु उनके व्याकरण-नियम के अनुसार ठीक न बैठते थे, निपातन से मान कर उन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया[२]। शब्दों के स्वरूप में इस विभेद को देखकर ही उन्होंने प्रातिपदिकों का स्वरूप-निरूपण तीन पृथक् सूत्रों में किया है। 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'[३] उन शब्दों का निर्देश करता है जिनके प्रकृति-प्रत्यय-योग का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। अन्य दो सूत्र 'सुप्तिङन्तं पदम्'[४], 'कृत्तद्धित समासाश्च', प्रत्यक्षकृत्य और परोक्षकृत्य शब्दों का निर्देश करते हैं। उपसर्ग और निपात भी प्रथम सूत्र के विषयान्तर्गत ही होंगे। अव्यय भी इसी प्रकार के शब्द हैं। फलतः यास्क द्वारा गिनाये गये चारों प्रकार के पदों का इनमें समाहार हो जाता है।

शब्दों के इन भेदों को दृष्टि में रखते हुए आचार्यों ने उन्हें स्वरूप के आधार पर यौगिक, रूढ और योगरूढ इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया है।[७] जिनमें प्रकृति-प्रत्यय के योग के आधार पर ही अर्थ का निर्धारण होता है, वे शब्द यौगिक होते हैं। जैसे कर्ता, पाचक आदि। रूढ वे हैं जिनमें क्रिया का अन्वय रहने पर भी प्रस्तुत अर्थ में योग स्पष्ट नहीं होता। जैसे मण्डप शब्द 'मण्डं पिबन्तीति' इस व्युत्पत्ति से बनता है। परन्तु जब शामियाने के अर्थ में उसका प्रयोग होता है तो यह व्युत्पत्ति साधक प्रतीत नहीं होती। वस्तुतः इस शब्द के मूल में इतिहास या परम्परा है जिसमें व्युत्पत्ति की साधकता सिद्ध

---

१ सि॰कौ॰ (बालमनो॰ लाहौर) पृ॰ ६६३

२ राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः । पा॰ ३ १ ११४

३ पा॰ १ २ ४५

४ पा॰ १ ४ १४

५ पा॰ १ २ ४६

६ चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च । नि॰ १ १

७ अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढिः । अवयवशक्तिमात्रसापेक्षपदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः । —वृवा॰ पृ॰ १-३

होती है, अन्यथा नहीं।[1] इसी प्रकार लावण्य शब्द को लिया जा सकता है। यह लवण शब्द से बना है जिसकी व्युत्पत्ति 'लुनाति' इस अर्थ में छेदनार्थक लू धातु से की जाती है। भाव में 'लवणस्य भाव कर्म वा लावण्य' यह व्युत्पत्ति करके लावण्य शब्द बना जिसका प्रयोग शारीरिक आभा के लिए किया जाता है। इस प्रसङ्ग में नमकीनपना या तीखापन जो लावण्य का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है सङ्गत नहीं बैठता। अतः इन दोनों शब्दों को रूढ मान लिया गया है।

योगरूढ शब्द वे हैं जो यौगिक होने पर भी किसी विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। अप्पय दीक्षित के अनुसार अवयव-शक्ति और समुदाय शक्ति दोनों पर आधारित होकर भी केवल एक अर्थ के वाचक शब्द को योगरूढ कहते हैं।[2] जैसे सुरालय शब्द देव-मन्दिर का वाचक भी है 'सुराणाम् आलयः' इस व्युत्पत्ति से। परन्तु अमरकोश में सुमेरु पर्वत का नाम सुरालय होने[3] से उसमें रूढ है। पुराणों में सुमेरु पर्वत पर लोकपालों की नगरी वर्णित होने से उसे सुरालय कहा जाता है। इस प्रकार पहली व्युत्पत्ति से देवताओं का निवास-स्थान रूप अर्थ प्रतीत होता है। रूढ अर्थ से सुमेरु। इस कारण देव-मन्दिर रूप अर्थ की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार अम्बुज, नीरज, सरसिज, पङ्कज आदि शब्द हैं। क्योंकि इनमें *अम्बुनि, नीरे सरसि वा जायते*, इस व्युत्पत्ति[4] से पानी में उत्पन्न होने वाली किसी भी वस्तु का बोध होना चाहिए। परन्तु वह केवल कमल में रूढ है, मछली, कछुआ, मेंढक या सिंघाड़ा आदि का बोध नहीं कराता। शङ्ख के लिये भामह ने अब्ज शब्द का प्रयोग किया है।[5] पर अनेकों द्वारा इस एक अर्थ में प्रयोग करने से इसे रूढ ही मानना होगा।

---

१ कहा जाता है कि प्राचीन काल में सामूहिक भोजन के लिये जहाँ शामियाना तनते थे ऊपर अवाञ्छित पदार्थ गिरने की आशङ्का से छप्पर बनाया जाता था। नीचे कच्ची जमीन गिरते हुए माड को पी लेती थी। आधुनिक मण्डप में माड पीने जैसी बात तो कुछ नहीं रही है परन्तु ऊपर से ढकने की समानता ज्यों की त्यों है।

२ अवयव-समुदायोभय-शक्तिमात्रैकार्थ-प्रतिपादकत्वं रूढिः। —वृत्ति० पृ० ३

३ अको० १, १, ४६

४ सप्तम्यां जनेर्डः। —पा० ३ २ ९७

५ स मारुतावम्पितपीतवासा विभ्रत्सलील शशिभागमब्जम्। —भाका० २, ४२

जब वाक्य में अभिधा द्वारा बाधित अर्थ संगत न हो तो अर्थ विश्रान्ति बाधित हो जाती है। अतः ऐसे अवसर पर वक्ता के तात्पर्य की प्रतीति के लिये दूसरी वृत्ति का सहारा लेना पड़ता है। उसे लक्षणा कहा जाता है। यह लक्षित अर्थ क्योंकि स्वतः प्रतीत नहीं होता, इसलिये अर्पित कहा जाता है¹। जैसे दीर्घ-श्रवस् शब्द 'दीर्घे श्रवसी यस्य सः' इस व्युत्पत्ति से लम्बे कान वाले गधे के लिये प्रयुक्त होता है। पर यदि किसी मनुष्य को इस नाम से पुकार बैठे तो प्रतीति बाधित हो जायगी। यद्यपि इसका समाधान श्रवस् का अर्थ यश लेकर मानव पक्ष में किया जा सकता है तथापि आपाततः तो मानव के लिये इस शब्द का प्रयोग बाधित ही होगा। फलतः उपचार से यह प्रयोग मानकर गधे के समान नासमझ अर्थ लिया जायगा।

इस लक्षणा वृत्ति के प्रयोग के लिए तीन बातें अपेक्षित होती हैं—

१ मुख्य अर्थ में बाध २ लक्षित अर्थ का मुख्य अर्थ के साथ सम्बन्ध, ३ रूढ़ि या प्रयोजन में से एक निमित्त।

मुख्य अर्थ में बाध दो कारणों से माना जाता है—अन्वयानुपपत्ति और तात्पर्यानुपपत्ति। किसी स्थल में अन्वय अर्थात् शब्दों का परस्पर सम्बन्ध संगत नहीं बैठता। जैसे गंगायां घोषः इस वचन में आभीर-बस्ती का वाचक घोष जो कि महत् और स्थिर पदार्थ का बोधक है, जल-धारा के वाचक गंगा पद के साथ आधेय के रूप में अन्वित है पर यह आधाराधेय सम्बन्ध बनता नहीं। क्योंकि जल की धारा में घोष के अधिकरण की योग्यता नहीं है। अतः आधार के रूप में जिसके अर्थ में गंगा शब्द में सप्तमी विभक्ति आई है, घोष के साथ गंगा का अन्वय नहीं होता।² तात्पर्यानुपपत्ति वहाँ होती है जहाँ शब्दों का परस्पर अन्वय तो हो जाय पर वक्ता का तात्पर्य ठीक प्रतीत न हो।³ जैसे—काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्। इस वाक्य में विभक्ति आदि की दृष्टि से तो पदों का अन्वय

---

१ रूढ़े प्रयोजनाद् वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता। —साद २, ५

२ गङ्गायां घोष इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्यधिकरणतासंभवात् मुख्यार्थस्य बाधः।—मम्मट—शब्दावि० २

३ अन्वय-सम्बन्धो लक्षणा। तस्याश्चार्थोपस्थापकत्वे मुख्यार्थतावच्छेदके तात्पर्य-विषयान्वयितावच्छेदकताया अभावो न तन्त्रम्, शक्यतावच्छेदक-रूपेण लक्ष्यगोचरस्य स्वीकारात्। किन्तु तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदक-रूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावो रूढि-प्रयोजनयोरन्यतरच्च तन्त्रम्। —रग (निस) ५ १४५

ठीक है पर वक्ता का तात्पर्य काक शब्द से कौवे मात्र का बोध होने से सिद्ध नहीं होता। यदि दही किसी पात्र में रखा हुआ हो तो कौवे से तो सुरक्षित है ही फिर वक्ता के पुनः ऐसा कहने का क्या प्रयोजन? अतः काक का अर्थ उपचार से दध्युपघातक-मात्र लिया जाता है जो कि बिल्ली कुत्ते और छोटे बच्चे का बोध भी हो सकता है।

विश्वनाथ आदि आचार्यों ने अन्वयानुपपत्ति में मुख्यार्थबाध माना है तो जगन्नाथ ने तात्पर्य की अनुपपत्ति में। वस्तुतः प्राचीन आचार्य अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का मूल स्वीकार करते थे। नव्य आचार्य तात्पर्यानुपपत्ति को कारण मानते थे। दोनों ही अवस्थाओं में मुख्य अर्थ के साथ अन्य अर्थ का सम्बन्ध होना अपेक्षित है। इसलिए लक्ष्य के साथ सम्बन्ध को भी लक्षणा कहा गया है।[1] अप्पय दीक्षित मुख्य अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से शब्द का अर्थबोधक होना लक्षणा का स्वरूप स्वीकार करते हैं।[2] पर यह शब्द-मात्र का अन्तर है।

जिन सम्बन्धों के कारण शब्द वाच्य अर्थ से अतिरिक्त अर्थ का बोध कराता है, उनमें से सादृश्य भी है।[3] इसे उपचार भी कहते हैं[4] और इस आधार पर की गई लक्षणा गुणों पर आधारित होने से गौणी कहलाती है।[5] पहले आचार्य गौणी को शक्ति नाम से पुकारते थे और उसे लक्षणा के अन्तर्गत स्वीकार नहीं करते थे।

आचार्य वामन ने इस सादृश्य सम्बन्ध के कारण हुए लक्षणा-प्रयोग को वक्रोक्ति नाम दिया है यद्यपि भामह अलङ्कारों के प्रसङ्ग में वक्रोक्ति का महत्त्व स्वीकार कर चुके हैं[8] और वक्रोक्ति में प्रत्येक अलङ्कार की उपयोगिता

---

१ शक्य-सम्बन्धो लक्षणा। त० (निस), पृ० १४५

२ वृवा० पृ० १८

३ अभिधेयेन सामीप्यात् सारूप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥ ना० पृ० २८

४ उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः (पदार्थयोः)
सादृश्यातिशय-महिम्ना भेद-प्रतीतिस्थगनमात्रम्। साद० २ (पृ० ३७)

५ तु० पदन—सादृश्य न सम्बन्ध इति गौणी लक्षणातो भिन्ना।
विशिष्ट-शी-यायस्यैव सम्बन्धात्। वृवा० पृ० १८

६ का० प्र० बा० पृ० ८७

७ सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।　　काव्यालसू० ४,३,८

८ सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ भाका० २.८५

भी दण्डी ने मानी थी[1] तथापि वामन ने जिस तात्पर्य में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग किया था, उधर भामह की दृष्टि न गई थी। कारण यह है कि लक्षणा के रूढ़ा और प्रयोजनवती इन दो रूपों में से रूढ़ा की अर्थचमत्कार की दृष्टि से कोई उपयोगिता नहीं है। परन्तु प्रयोजनवती लक्षणा इस दृष्टि में महत्त्वपूर्ण है। भले ही वामन के समय में ध्वनि-सिद्धान्त न था पर द्योतित अर्थ की भावना अवश्य थी, ऐसा सूचन अनुगमन आदि प्रयोगों से भामह आदि के ग्रंथ में मिलने से माना जा सकता है। ध्वनिसिद्धान्त के अनुसार प्रयोजन व्यंग्य होता है। लाक्षणिक प्रयोग करने में इस प्रकार का अतिरिक्त अर्थ प्रतीत होता है, यह वामन आचार्य भी मानते ही थे। जिस प्रकार ऊपर उदाहृत "दीर्घश्रवा" शब्द का प्रयोग चमत्कारक है।

लक्षणा के अनन्तर तीसरी शब्द शक्ति जो कि व्यङ्ग्य अर्थ का बोध कराती है, व्यञ्जना कही जाती है। 'व्यज्यते प्रकाश्यतेऽनया' इस व्युत्पत्ति में यह वृत्ति उस अर्थ का बोध कराती है जो स्वतः किसी शब्द का नहीं होता। जैसे दीर्घश्रवा का वाच्य अर्थ गधा हुआ। लक्ष्य अर्थ गधे की भांति नासमझ हुआ, व्यंग्य अर्थ इतना नासमझ होना कि समझाने से भी समझ न सके। यह तीसरा अर्थ स्वतः वाचित नहीं है। जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाश में घड़े को बनाता नहीं बल्कि पहले से विद्यमान, पर दिखाई न देते हुए उसको दिखा देता है, इसी प्रकार व्यञ्जना पहले से विद्यमान, पर अन्यथा प्रतीत न होते हुए अर्थ का बोध कराता है।

एक सर्वमान्य सिद्धान्त यह है कि जैसे एक गोली एक बार छूटने के पश्चात् दुबारा नहीं चल सकती, उसी प्रकार शब्दार्थ का बोध कराने वाले ये व्यापार एक स्थान में एक बार काम करके दुबारा काम नहीं आ सकते।[3] तात्पर्य यह है कि एक ही शब्द से भिन्न भिन्न अर्थ निकालने के लिए बारबार वह शब्दशक्ति काम नहीं आ सकती। या तो एक बार में ही वह कई अर्थों का भान करा देगी। अतः एक बार यदि विरत हो गई तो उसी स्थान पर पुनः प्रयुक्त न होगी। गङ्गायां घोषः में अभिधा गङ्गा का अर्थ जलधारा बताकर

---

१ श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्। —का० द० २ ३६३

२ (क) यत्रोक्तं गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः। भामा० २, ७९

(ख) यथाकथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते। का० द० २, १४

(ग) स्वावस्थां सूचयन्त्यत्र कान्त-यात्रा निरूप्यते॥ वही २, १४२

(घ) शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते। कालग० ५ ६

३ शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः। का० प्रदीप २०६, सा० द० २

शान्त हो जाती है। लक्षणा सामीप्य सम्बन्ध के आधार पर गंगा शब्द से गंगातट रूप अर्थ का ज्ञान करा देता है। परन्तु वह भी इतना काम कर चुकने के पश्चात विरत हो जाता है। आगे सम्यार्थबोध आदि शर्तें पूरी न होने से उसके लिए पुनः अवकाश नहीं है[1]। किन्तु एक उत्सुकता तो बनी ही रहती है कि वक्ता ने क्या सोच कर 'गंगातटे घोषः' न कहकर 'गंगायां घोषः' ऐसा प्रयोग किया। उसका तात्पर्य यदि गंगातट से था तो सीधा उसका ही प्रयोग कर देता। अवश्य उसका अभिप्राय और था जो कि 'गंगातटे घोषः' कहने से सिद्ध नहीं होता। कारण यह है कि तट कहने व्यापक होता है। गंगा से दूर यदि घोष की स्थिति हो तो गंगातट पर वहाँ रहने में क्या लाभ? पशुओं को जल आदि पिलाने के लिए दूर से लाना पड़ेगा। यदि घोष शब्द का अर्थ झोपड़ी ले तो उसमें रहने वाले साधु को दूर किनारे पर रहने का क्या लाभ? न वहाँ गंगा की लहरों से शीतल पवन सुलभ होगा और न पवित्रता। सीधा गंगा शब्द का प्रयोग करने से घोष की गंगा से सर्वथा निकट स्थिति सूचित होती है। इससे साधु को नहाने आदि और एकान्त की सुविधा आदि सूचित होती है। इसी बात को 'दीर्घश्रवा' के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। जगन्नाथ ने अपने प्रतिद्वन्द्वी अप्पयदीक्षित के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है। यशस्वी अर्थ में तो वह प्रयोग नहीं कर सकता था। फिर उसने इसी शब्द को क्यों चुना? गधा जैसे शब्द का प्रयोग भी तो कर सकता था पर उसका प्रयोग करने में चमत्कार है। ऐसे विद्वान के प्रत्यक्ष में गधा शब्द से गाली देना अनुचित प्रतीत होता। अतः यह शब्द चुना। केवल समझदार लोग ही इसका गधा रूप अर्थ समझते हैं। लक्षणा से अर्थ निकला 'गधे के समान नासमझ'। व्यंग्य अर्थ होगा कि नाम तो इतना बड़ा है कि बड़े भारी पण्डित हैं पर इतनी सी बात भी नहीं समझ सकते कि दूसरे की बातों में आ गये। इस

---

१ नाभिधा समयाभावाद्धेत्वभावान्न लक्षणा।
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः॥
—का० प्र० का० २, १५-१६

२ तद् रूपकम्। रूपके च बिम्बप्रतिबिम्ब-भावो नास्ति इति केनाप्यालङ्कारिकम्मन्येन प्रलपितस्य दीर्घश्रवस उक्तिरर्थद्वयैव। रस० २३६ (तु० रूपके तु न क्वचिदपि बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मविशिष्टतया विषय-विषयिणोरुपादानम्। चि० मी० १७२)

प्रकार अप्पयदीक्षित का उपहास व्यंग्य है। यह कार्य गधा शब्द का प्रयोग करने से सिद्ध नहीं होता।

यह व्यञ्जनावृत्ति मुख्यत दो प्रकार की है, एक अभिधामूला, दूसरी लक्षणामूला[1]। जब वाच्यार्थ के बाध के तुरन्त बाद व्यंग्य अर्थ का बोध होता है तब अभिधामूलाव्यञ्जना प्रयोग में आती है। पर जब अभिधा और लक्षणा के पश्चात् उसका व्यापार होता है तो वह लक्षणामूला कहलाती है। वे शब्द पर आश्रित होती है। क्योंकि शब्द का परिवर्तन करने पर उसकी अनेकार्थबोधन की शक्ति जाती रहती है। जैसे गंगा या दीर्घश्रवा शब्द को बदलने में।

यहा अभिधामूला व्यञ्जना भी शब्द और अर्थ पर आश्रित दो प्रकार की होती है। उनमें पहली का स्थान अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग है। मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों के मत में जब अभिधा संयोगादि के द्वारा एक नियत अर्थ का बोध कराके विश्रान्त हो जाती है, तब अन्य अर्थ का बोध व्यञ्जना से होता है[2]। यहा अर्थान्तर-बोध एक या अनेक परिवृत्त्यसह शब्दों के प्रयोग पर निर्भर होने से यह शाब्दी व्यञ्जना कहलाती है। इनकी मान्यता यह है कि जब अभिधा एक शब्द में एक साथ अनेक अर्थों का बोध कराती है तब सभी अर्थों के प्रस्तुत होने से श्लेष अलंकार होता है। किन्तु जब अभिधा केवल एक अर्थ का ज्ञान करा कर विश्रान्त हो जाये तब अप्रस्तुत अर्थ का बोध व्यञ्जना से हुआ करता है[3]। पर अप्पयदीक्षित जैसे आचार्य इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते। वे प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही अर्थों के एक शब्द से बोध में श्लेष अलंकार मानते हैं। उनके विचार में प्रकरणादि से अनेकार्थक शब्द के अर्थ में अभिधा का नियमन होने में इतना ही अन्तर पड़ता है कि पहले अधिक प्रसिद्ध अर्थ की प्रतीति होती है बाद में अप्रसिद्ध की। पुनः साथ में प्रयुक्त दूसरे शब्द के सान्निध्य के कारण भी अन्य अर्थ का बोध हो जाता है। उसमें भी अर्थ का निर्णय होता है।[4] जैसे—माघ के 'हरे हिरण्याक्ष पुर सरासुरद्विप-द्विप'[5] आदि पद्य में श्रीकृष्ण के सम्बोध्य होने से "हरे" पद का पहले श्रीकृष्ण

---

१ साद० २, १३

२ का० प्रका० २ १६

३ यत्राभयोरर्थयोर्न्यनात्पय स श्लेष। यत्र त्वेकस्मिन्नेव तत्-सामग्रीमहिम्ना तु द्वितीया प्रतीतिः सा व्यञ्जनेति। वही, पृ० २, ७०

४ वृवा० पृ० १२

५ करोति कंसादिमहीभृता वधाज्जना मृगाणामिव यत्तव स्तवम्।
हरे हिरण्याक्षपुर सरासुरद्विपद्विप प्रत्युत सा तिरस्क्रिया॥
—शिव० १ ३६

या विष्णु रूप अर्थ बोधित होगा। पुन अगले समस्त पद में द्विप शब्द का प्रयोग होने से उसके सानिध्य के कारण 'हरे' का सिंह अर्थ भी बोधित होता है। क्योंकि विष्णु या श्रीकृष्ण का द्वेष्य हाथी न होकर हिरण्याक्ष आदि दैत्य है, अत सिंह अर्थ की प्रतीति के अभाव में द्विप शब्द का प्रयोग ही व्यर्थ सिद्ध होगा। फलस्वरूप यहा हरि शब्द श्रीकृष्ण एव सिंह दोनो अर्थों का वाचक होने से श्लेष अलङ्कार ही बनता है संयोगादि में विरोधिता को भी अभिधा का नियामक गिनाया गया है। सिंह और द्विप का परस्पर विरोध होने से यहाँ हरे पद में सिंह का अर्थ वाच्य होगा। जहा इस प्रकार का अभिधा का नियामक नही होता, वहा भी शब्द प्रस्तुत अर्थ का बोध कराने के पश्चात् स्वभावत अन्य सभ्य या असभ्य अर्थ मे प्रवृत्त होगा ही। जैसे—"यस्यानन यानिरुदारवाचाम" मे विवक्षितार्थ तो योनि शब्द का प्रभव या स्रोत-रूप है परन्तु साथ मे भग रूप असभ्य अर्थ का बोधक होने से दुर्गन्ध का बोध भी होता ही है। ऐसे सभी स्थलो में व्यञ्जना नहीं मानी जा सकती[1]। उनके अनुसार प्रकरण और अप्रकरण में वाच्य दो अर्थों के एक शब्द में बोधित होने के स्थल मे उपमादि अलकार ही व्यग्य होता है। क्योंकि अभिधा यदि शक्ति है अर्थात् उसमें अर्थ-बोधन की सामर्थ्य है तो वह निश्चित ही अप्रस्तुत अर्थ का भी बोध करायेगी। उसे कोई रोक नही सकता। यदि वह शक्ति नही है तो अर्थान्तर को भी कैसे बोधित करेगी।[2] एव जहा भी अश्लीलता-सदृश दोष प्रतीत होता है वहाँ यदि वक्ता का तात्पर्य उसी अर्थ में है तभी उसका बोध होगा अन्यथा नही। उदाहरण के लिए—

> करिहस्तेन सबाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते।
> उपसर्पन् ध्वज पुस साधनान्तर्विराजते।[3]

इस पद्य में यदि वक्ता का तात्पर्य काम-शास्त्रीय विषय से है, तब तो इसे अश्लील अर्थ का बोधक समझा जायेगा। पर यदि रण-विद्या (Military Science) से सम्बद्ध अर्थ ही उसका विवक्षित है तो अश्लील अर्थ की प्रतीति कैसे होगी? इसी प्रकार "या भवत प्रिया" "वनिता गुह्यकेशाना"[4] इन पदो मे कवि का

---

१ रग पृ० १३

२ वही, पृ० १३

३ का० प्र० का० पृ० ३४५

४ विद्यामभ्यस्यतो रात्रावेति या भवत प्रिया।
वनिता गुह्यकेशाना कथ ते पेलवन्धनम्॥ —सक० १, १७

विवक्षित तात्पर्य "या भवानी प्रिया" और 'गुह्यक+ईश" इस अर्थ में है। अभिधा के इसमें नियमित होने पर अन्य अर्थ का बोध कैसे होगा ?

पण्डितराज जगन्नाथ भी इसी मत के पक्षपाती हैं। उनका तर्क भी यही है कि जैसे मणि आदि कृत प्रतिबन्ध के बिना अग्नि सन्निकर्ष में आई प्रत्येक वस्तु का दाहक होना है, इसी प्रकार अभिधा प्रवृत्त और अप्रवृत्त दोनों प्रकार के अर्थों का बोध कराती है।[1] उनकी दृष्टि में शब्द-शक्तिमूल ध्वनि ऐसे स्थल में होगी जहाँ कि अभिधा-प्रतिपादित अर्थ रुढिवाच्य होगा। "रुढिर्योगादबलीयसी" इस सिद्धान्त के अनुसार अभिधाव्यापार रूढ अर्थ में नियन्त्रित होने के पश्चात् यौगिक अर्थ का बोध नहीं करा सकता। अतः उस स्थिति में उसका बोध कराने के लिए व्यञ्जना का ही आश्रय लेना होगा। जैसे—

अबलानां श्रियं हृत्वा वारिवाहैः सहानिशम्।
रमन्ते चपला यत्र स कालः समुपस्थितः[2]॥

यहाँ अबला 'श्री' 'वारिवाह' और 'चपला' स्त्री एवं दुर्बल, सुन्दरता और धन, मेघ और पानी ढोने वाले कहार, बिजली और स्वैरिणी स्त्रियाँ इन दो-दो अर्थों के वाचक हैं। अबला स्त्री अर्थ में, श्री सुन्दरता में, वारिवाह शब्द मेघ में और चपला शब्द विद्युत में रूढ है। यौगिक अर्थ को प्रधान लेने पर तो वह विशेषण रूप होगा और "विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे" इस सिद्धान्त के अनुसार अभिधा का नियन्त्रण उसी में होगा। पर प्रसङ्ग और रूढि के कारण मेघ आदि रूप अर्थ ही प्रधान होता है। फलतः यौगिक अर्थ का बोध व्यञ्जना से ही हो सकता है। जहाँ रूढि और यौगिक का प्रश्न न हो एवं वक्ता का तात्पर्य दोनों अर्थों में हो, वे अभिधा के ही विषय होंगे। जैसे—

"सुरभिमांसं भक्षयत्यायुष्मान्"

यह वाक्य किसी साले या साली के द्वारा अपने बहनोई के लिए परिहास में कहा गया है। यदि अभिधेय अर्थ केवल "सुगन्धित मांस" ही लिया जाय तो अभीष्ट परिहास की सिद्धि नहीं होगी। अतः गोमांस-भक्षण रूप प्रतीयमान अर्थ भी वाच्य ही है, व्यंग्य नहीं। वस्तुतः परिहास के लिए पहले यह दूसरा अर्थ ही प्रतीत होगा पर धर्म-निषिद्ध होने से इसकी स्थिति आपातमात्र है, वाक्यविश्रान्ति तो दूसरे में ही होती है।

---

१ रसगङ्गाधर पृ० ११३
२ वही, पृ० ११६

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देनी अपेक्षित है। अनेकार्थ-बोध के स्थल में प्रकरणादि से अभिधा का नियन्त्रण और अप्रकृत अर्थ का शब्द शक्तिमूल ध्वनि से बोध, यह वाद आचार्य मम्मट ने ही सर्वप्रथम वाक्यपदीय के आधार पर[1] प्रस्तुत किया था और उसे विश्वनाथ आदि ने भी अपनाया। अभिनव गुप्त ने लोचन में इसकी विवेचना पहले ही कर दी थी। अप्पयदीक्षित वाला मत भी उन्होंने दिखला दिया है। किन्तु[2] ध्वन्यालोक में ध्वनि का यह भेद कहीं प्रतिपादित नहीं है। आनन्दवर्द्धन ऐसी स्थिति में अलङ्कार ध्वनि ही स्वीकार करते हैं[3]। मम्मट एवं विश्वनाथ ने अपने उदाहरणों 'भद्रात्मनो'[4] आदि एवं दुर्गालङ्घितविग्रहो[5] में पर्यवसान में उपमालङ्कार को व्यङ्ग्य होना स्वीकार किया है। उससे पूर्व मध्यस्थिति में शब्दशक्तिमूल वस्तु ध्वनि ही

---

१ द्रष्टव्य वाप० २ २८० २ ३१६ २ २८१ २ ३०३ २ ३०६ ३०७

२ लो० पृ० २३८-३९

३ आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥ —ध्वन्या०, २,२१
यस्मादलङ्कारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम्। वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः। —वही पृ० २३५

४ भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्॥
—का०प्र० का० २,१२ (उदा०)

५ दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजं संमीलयंस्तेजसा
प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः॥ —साद० २, ४३

६ प्रकृते भद्रात्मन इत्यत्रोक्तविशेषणविशिष्टहस्तिप्रतीतौ द्वयोरप्यन्यथा—
(क) मिथोऽसम्बद्धत्वे वाक्यभेदापत्तेरुपमाद्वारास्वादानुभवाच्चेनेन महाराजउपमाया अपि प्रतीतिरित्यर्थः। —उद्यो० ६६
(ख) अत्र प्राकरणिकस्योमानाम महादेवीवल्लभभानुदेवनामनृपवर्णने द्वितीयार्थसूचितमप्राकरणिकस्य पार्वतीवल्लभस्य वर्णनमसम्बद्धं मा प्रसाङ्क्षीदितीश्वरभानुदेवयोरुपमानोपमेयभावः कल्प्यते।
—साद० ४ पृ० १३४

मानी है। इससे प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त के समय में भी ये तीनों मत विद्यमान थे।[1]

अप्पय दीक्षित ने इस प्रसङ्ग में नैयायिकों का मत भी उद्धृत किया है। उनके अनुसार यदि अर्थ लोक में पर्याप्त प्रसिद्ध हो तो प्रकरणादि के बिना भी उसकी स्मृति हो ही जायगी।[2] जैसे सुभग आदि शब्दों में भग शब्द के अन्य अर्थ की। परन्तु वह लोकप्रसिद्ध एवं शिष्ट समाजसम्मत अन्य अर्थ में दब जाता है और 'भगिनी' "भगवती' 'वीर्यवान्' "शिवलिङ्ग' सदृश शब्दों में किसी अश्लीलता या कुत्सा की प्रतीति नहीं होती।[3] शास्त्र विशेष में विशिष्ट अर्थ में रूढ होने से भी अश्लीलादि दोष नहीं माने जाते। जैसे-न्यायशास्त्र में लिङ्ग-परामर्श, व्यभिचार सदृश शब्द सामान्य रूप में व्यवहृत होते हैं। तभी किसी ने तार्किकों पर फबती कसी थी—

परामृशन्तो लिङ्गानि व्यभिचार-परायणाः ।
तार्किका यदि विद्वांसो विटैः किमपराध्यते ॥

यहाँ परिहास के अभीष्ट होने से वह अश्लील अर्थ भी विवक्षित है पर उसकी प्रतीति आपातमात्र होती है। अतः ऐसे स्थलों में अभिधा का प्रकरणादि से नियमन सम्भव नहीं है। अतः नैयायिक लिङ्ग या हेतु के द्वारा तात्पर्य का निर्णय करते हैं।

आर्थी व्यञ्जना के प्रसङ्ग में बतलाया गया है कि उसमें व्यङ्ग्य अर्थ का बोध वक्ता, बोद्धव्य (जिससे कहा जा रहा हो—मध्यम पुरुष) वाक्य प्रकरण, प्रस्ताव देश काल, अन्य सन्निधि, चेष्टा आदि की व्यक्तिगत विशेषताओं के आधार पर[4] होता है। इस प्रसङ्ग में एक पद्य प्रायः अधिकांश आचार्यों ने उद्धृत किया है—

---

१ नानार्थस्थले शब्दशक्तिमूलवस्तु ध्वनिवाद
—विस० ५, ? १९६७-६८ पृ० ३१-४०

२ वृवा०, पृ० १५

३ सर्वोनस्य हि लोकेषु न दोषान्वेषणं क्षमम् ।
शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्व-भावना ॥
वस्तुमाहात्म्य-गुप्तस्य पदार्थस्य विभावनात् ।
भगिनी-भगवत्यादि नासभ्यत्वेन भाव्यते ॥ —सव०, पृ० ९८-९९

४ साद०, २, १६-१७

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।[1]

किसी कलहान्तरिता नायिका ने पश्चात्ताप वश पश्चात् अपने ठुकराये हुए पति को मनाकर बुलाने के लिये दूती को उसके पास भेजा पर वह स्वयं उसके साथ सहवास करके लौट आई । उसकी अङ्ग चेष्टा देखकर नायिका सारा रहस्य समझकर भी सबके समक्ष रहस्योद्भेद न होने देने के लिए गूढ सङ्केत में उसे उपालम्भ देती है कि लक्षणा से विदित होता है कि तू उसके पास न जाकर बावली में स्नान करने गई थी । यह वाच्यार्थ औरों के लिए है पर व्यङ्ग्यार्थ है कि तू गई तो उस नीच के पास ही थी पर मेरा सन्देश न देकर स्वयं उससे रमण करने ।

यहाँ बताये गये दूती के लक्षण स्नान एवं सम्भोग दोनों में समान हैं । इसलिए दूती के व्यक्तिगत चरित्र के कारण यह अर्थ प्रतीत होता है । आचार्य मम्मट के अनुसार अधम पद का प्रयोग इस व्यङ्ग्यार्थ के बोध का आधार है ।[2] किन्तु विश्वनाथ ने आरम्भ में विपरीत लक्षणा मानकर बाद में दूती में भोग रूप अर्थ की व्यञ्जना से प्रतीति कही है ।[3]

अप्पय दीक्षित आपातत इस पद्य में लक्षणा को केवल स्नान परक बताते हैं, पश्चात् व्यञ्जना से सम्भोग से घटित करते हैं ।[4] जगन्नाथ ने अत्यन्त कठोर शब्दों में अप्पय दीक्षित का खण्डन करके मम्मट का समर्थन किया है । इस पद्य में वास्तव में दूती के चारित्रिक वैशिष्ट्य से यह व्यङ्ग्य अर्थ निकलता है ।[5]

प्रकरण की विशेषता से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति भट्ट नारायण के निम्न पद्य से होती है —

---

१ का० प्रका० १ (उदा०) २ पृ० १५

२ अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते ।
—वही, पृ० १६

३ अत्र तदन्तिकमेव गतासीति लक्षणया लक्ष्यम् । तस्य च रन्तुमिति व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्य दूतीवैशिष्ट्याद् बोध्यते । —साद०, पृ० ४८

४ चित्रमी० २७ २८

५ रस० पृ० १३ १४

तथाभूता दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनया
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषित वल्कलधरैः
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृत
गुरु खेद खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥[1]

यहा 'तथाभूता' पद सामान्यत 'उस स्थिति मे पडी' इस अर्थ का वाचक है। परन्तु जो प्रसङ्ग चला हुआ है कि कौरवो द्वारा निरन्तर अपकार किये जाते रहने पर भी भाई युधिष्ठिर उनके विरुद्ध कोई कठोर कदम नही उठाना चाहते और उनसे हमारी इच्छा के विरुद्ध सधि करने पर तुले हुए है इसने पद मे ही द्यूत सभा मे सर्वस्वहरण होने के पश्चात् पाञ्चाल देश के महाराज की पुत्री द्रौपदी का जो अपमान हुआ वह सब मूर्त हो जाता है। मम्मट के अनुसार चतुर्थ चरण मे व्यङ्ग्य है।[2]

तात्पर्यावृत्ति—इस प्रकार वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य इन तीनो अर्थो की बोधिका ये तीन शब्दशक्तिया होती है। अभिहितान्वयवादी मीमासक वाक्यार्थ-बोध के लिये तात्पर्य नामक अतिरिक्त वृत्ति स्वीकार करते है।[3] कुछ लोगो ने रसना नाम की वृत्ति रस भाव का ज्ञान कराने के लिये स्वीकार की थी।[4] पर अभिनव गुप्त ने उसकी स्वतन्त्र सत्ता न मानते हुए व्यञ्जना वृत्ति मे उसका अन्तर्भाव किया।[5] विश्वनाथ ने इस अन्तर्भाव की बात न करते हुए केवल *रसना नामक वृत्ति की मान्यता की चर्चा की है।*

तात्पर्य नामक वृत्ति का अस्तित्व माने या न माने परन्तु शब्द-व्यवहार मे तात्पर्यार्थ या वाक्यार्थ, का महत्त्व तो स्वीकार करना ही पडेगा। जब तक वक्ता का आशय स्पष्ट न हो तब तक वाक्यार्थ की विश्रान्ति सभव नही है। उदाहरण के लिये—'विष भक्षय मा चास्य गृहे भुड्क्था' इस वाक्य मे किसी

---

१ वेस०, १, ११

२ अत्र मयि न योग्य खेद कुरुषु तु योग्य इति काकवा प्रकाश्यते।
—का०प्रका०, पृ० ७४

३ तात्पर्याख्या वृत्तिमाहु पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थ तदर्थं च वाक्य तद्बोधक परे॥ —साद०, ४ २

४ रसव्यक्तौ पुनर्वृत्ति रसनाख्या परे विदु। —वही ४, ५

५ प्रतीतिरेव विशिष्टा रसना। लो० पृ० १८७ सा च रसनारूपा प्रतीति-रुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव। —वही पृ० १८८

का विष खाने के लिये तो प्रेरित किया जा रहा है परन्तु किसी व्यक्ति के घर खाने से रोका जा रहा है। वाक्य के पद परस्पर अन्वित हैं अतः मुख्यार्थबाध भी नहीं हो सकता। किसी व्यक्ति को विष खाने के लिये प्रेरित भी नहीं किया जा सकता। अतः विवक्षित आशय इनसे स्पष्ट नहीं होता। पर दोनों वाक्यों को साथ-साथ रखने से वक्ता का आशय यह प्रतीत होता है कि भले ही विष खा लेना पर इस व्यक्ति के घर कभी न खाना। पर किसी के घर खाना खाने के बदले विष खाना कौन पसन्द करेगा और यदि वक्ता हितैषी है तो यह भी नहीं माना जा सकता कि वह अपने बन्धु को विष खाने को विवश करेगा। अतः निष्कर्ष में इसके घर खाना विष खाने से भी बुरा है यह वक्ता का तात्पर्य निकलता है।

विकल्प एवं आहार्य ज्ञान—इस प्रकार के आपात में विरुद्धार्थक या अटपटे वचन काव्य भाषा में बहुधा प्रयुक्त होते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक का इस प्रकार का एक सन्दर्भाग पीछे उद्धृत किया जा चुका है।[2] ऐसे ही लोक में कभी न देखे न सुने द्रव्यों का वाक्य-प्रयोग का विषय बनाया जाता है। जैसे किसी ने कहा—यह वाँझ का पुत्र आकाशकुसुम का शिरोभूषण पहने जा रहा है। सब जानते हैं कि आकाश शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है न बाँझ का पुत्र ही सम्भव है इसी प्रकार अजगर गन्धर्व नाक की स्थिति वाणी का विषय बनती है।[3] जब शब्दों से ये कहे जाते हैं तो कम से कम शाब्दिक जगत् में तो इनकी सत्ता सिद्ध हो ही गई। इस दार्शनिक परिभाषा में अभिधेय-सत्ता के नाम से पुकारा जाता है। जब शब्द के द्वारा कथन होगा तो बुद्धि या ज्ञान का भी विषय होगा।

दार्शनिकों ने ज्ञान को प्रथम दो प्रकार का स्वीकार किया है—यथार्थ और अयथार्थ। पुनः अयथार्थ के तीन भेद होते हैं— संशय-विपर्यय, तर्क। इनमें संशय वहाँ होता है जहाँ एक वस्तु में यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का समान पर अनिश्चयात्मक ज्ञान हो।[4] जैसे—यह रस्सी है या सर्प। संशेता रस्सी समझकर भयभीत भी नहीं होता पर क्योंकि ५० प्रतिशत सर्प का ज्ञान

१ का०प्रका० २।८ १

२ देखो टिप्पण ६८

३ स्वप्नमाये यथा दृष्टं गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥   —माण्डूक्य० ३१

४ एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मप्रकारकं ज्ञानं संशयः।   —तर्क०प्र०उ०

भी है अन्य उसे पकड़ने में भी कतराता है। विपर्यय-विपरीत ज्ञान है जिसे भ्रम भी कहते हैं। जैसे रस्सी को सर्प समझकर भाग उठे।[2] शब्द से किसी बात को सिद्ध करने के लिये अविद्यमान वस्तु की कल्पना विकल्प होता है।[3] इसका स्पष्ट उदाहरण तैत्तिरीय आरण्यक का उद्धरण है।[4] अवास्तविक होने पर भी इस प्रकार के ज्ञानों की सत्ता लोक में है। इसी श्रेणी में आहार्य ज्ञान भी है जो कि जानबूझ कर किया जाता है। जैसे नाटक में हम नट को देखकर भी उसमें रामादि की बुद्धि करते हैं। राम की भूमिका में स्थित व्यक्ति सामने सीता के न रहने पर भी उस सीता मानकर अनुराग आदि की चेष्टा करता है। यदि नाटक में अवास्तविक वस्तु का आहार्य ज्ञान हो तो उसमें अनुमान व्यभिचार आदि के नियम लागू नहीं होते। इसी कारण नैयायिकों ने हेत्वाभास के प्रसङ्ग में आहार्य ज्ञान को पृथक् रखा है।[5]

काव्य में यही आहार्य ज्ञान व्यवहार में आता है। जब हम किसी के मुख की तुलना चन्द्रमा या कमल से करते हैं आंखों की समता खञ्जन पक्षी से, केशपाश की मोर के चन्दों से तो इसका अर्थ यह नहीं कि हम यह नहीं जानते कि यह तुलना यथार्थ नहीं है। तब भी मन में एक अद्भुत चित्र की कल्पना करते हैं। जैसे—

कथमुपरि कलापिनः कलापो विलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दु-खण्डम् ।
कुवलय-युगलं ततो विलोलं तिल-कुसुमं तदधः प्रवालमस्मात् ॥[6]

इसी आहार्य ज्ञान को लेकर 'सूरदास ने देखा एक अनुपम बाग' और कबीर ने "एक अचंभा देखा रे भाई" "एक ज्ञान कहूँ अनहोनी। दादा ने ब्याही पोती" सदृश असंभव कल्पनाएँ की हैं। बाण की कादम्बरी न सही यदि कादम्बरी के भवन का वह भव्य चित्र निकाल दिया जाय तो बचा रहा क्या ? इसी के बल पर दमयन्ती को

---

१ विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । —यो० सू० पा० १, ८

२ तु०—अविद्या अनिया। भो वयस्य, सर्पो मे उपरि पतितः । (सप्रहासम्) कथं दण्डकाष्ठमेतत् । —मालवि० ४ (पृ० ६६)

३ शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । —यो० सू० पा० १, ९

४ द्र० टिप्पण ६१

५ नानुमित्यन्तर्गतज्ञानपदस्यानाहार्याप्रामाण्य ज्ञानानास्कन्दित-निश्चयपरतया तादृशनिश्चयनिष्ठं यादृश-विशिष्ट-विषयकत्वमनुमिति-प्रतिबन्धकतातिरिक्तवृत्तित्वमिति अर्थनाभात इति दिक् । —रामरुद्री पृ० ३३०

६ साद० १० (पृ० ३२३-२४)

'सद्गमशय-गोचरोदरी'[1] और 'द्वयणुकादरी'[2] सदृश विशेषणों में सम्वाहित किया है।

इस प्रकार शब्द के प्रयोग में वाच्य, लक्ष्य व्यङ्ग्य वाक्यार्थ सबका बोध होता है। केवल सगत अर्थवान शब्दों में ही नहीं, अटपटे शब्दों में भी। एक बच्चे की तोतली बोली और शराबी या भावावेश में आये व्यक्ति के वचन भी अर्थ ज्ञान कराते ही हैं। तब ध्वनि के शब्दों में अर्थ न निकलेगा? यहाँ तक कि स्वत चेष्टा में भी विवक्षित आशय का बोध होता है।[3] इसलिये काकु आदि को भी अर्थ निर्णय में सहायक माना गया है।[4]

आइ०ए० रिचर्डस तथा ब्लूम फील्ड

आइ०ए० रिचर्डस ने चार प्रकार के अर्थ बताये हैं—सेन्स, फीलिंग टोन, इन्टेन्शन।[5] इनमें सैंस अभिधेयार्थ का समानार्थक है, फीलिंग मनोभाव या अनुभूति का समानार्थक है। टोन काकु का समानान्तर है जिसमें वक्ता के रुख का ज्ञान होता है। इन्टेन्शन तात्पर्यार्थ ही है।

जिस प्रकार प्रकरण आदि के द्वारा अर्थ निर्धारण भारतीय आचार्यों ने स्वीकार किया है, इसी प्रकार पश्चिमी विचारकों ने। ब्लूमफील्ड ने इस विषय में कहा है—

If we had an accurate knowledge of every speaker s situation and it of every hearer s respon e—we could simply register these two facts as the meaning of any given speech utterance and neatly separate our study from all other domains of knowled e[6]

काव्य बिम्ब से सम्बन्ध

शब्द अर्थ एवं शब्दशक्तियों से सम्बद्ध उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह

---

१ नैष० ४ ४०

२ शृङ्गार-भङ्गसिक-द्वयणुकादरि त्वम। —वही ११ २६

३ सङ्केत-कालमनस विना ज्ञात्वा विदग्धया। हसन्नेत्रार्पिताकूत लीला-पद्म निमीलितम्। —साद० पृ० ४५

४ काकाश्चेष्टादिकस्य च।
वैशिष्ट्याद्यमथ या वाच्यसार्थसम्भवा॥ —वही, २ १६-१७

5 Practical Criticism p 181

६ राम अवध द्विवेदी साहित्य सिद्धान्त पृ० ४८

स्पष्ट हो जाता है कि शब्द-प्रयोग अपने मन के भावों को प्रकट करने के लिये किया जाता है। जो उन शब्दों द्वारा बोधित होता है, वह उसका अर्थ कहलाता है। शब्दशक्तियाँ शब्दों को वह सामर्थ्य प्रदान करती हैं। शब्दों के परस्पर अन्वित होने पर जो पूर्ण परस्पर सम्बद्ध अर्थ बनता है, वही पूर्ण वाक्यार्थ होता है। पदार्थ-बोध का तात्पर्य यही है कि वह साकार होकर श्रोता की अन्तर्दृष्टि के समक्ष प्रत्यक्ष हो जाय। काव्यक्षेत्र में इसी प्रत्यक्षीकरण को बिम्ब की संज्ञा दी जाती है। अभिधा वृत्ति इस बिम्बनिर्माण का सबसे प्रथम उपकरण है। क्योंकि अर्थ की पहली परत उसी के द्वारा खुलती है। यदि वह चमत्कारक या वैचित्र्य लिये होगा तो निश्चय ही सुन्दरता धारण करेगा। इस गुण को लाने के लिए उन विभिन्न प्रकार से प्रकट किया जाता है। ये प्रकार-भेद ही अलङ्कार नाम से पुकारा जाता है। जैसे माघ के—

> आश्लिष्ट-भूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम।
> फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥

इस श्लोक में समुद्र का एक मृगी रोग से ग्रस्त व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें दो बिम्ब बनते हैं। एक मृगी के रोगी का जो कि भूमि पर गिरा हुआ जोर से चिल्ला रहा हो, दोनों हाथों को मोड़ता हुआ इधर उधर मार रहा हो और मुँह से झाग उगल रहा हो। दूसरा चित्र समुद्र का है, जिसके जल की धारा तट की भूमि को छू रही है, पानी का जोर गम्भीर ध्वनि कर रहा है, बड़ी-बड़ी लहरें उछाल मार रही हैं और पानी में झाग उठ रहे हैं। इस प्रकार यह वाक्यार्थ से बना सुन्दर काव्य बिम्ब है।

यह सादृश्यमूलक उत्प्रेक्षा अलङ्कार से बना बिम्ब है। एक अन्य बिम्ब प्यासे हाथी का है जो कि पानी पीने के लिये सूंड को डोहद या नदी में डालता है। किन्तु पानी इतना गीला है कि सूंड को वापिस मोड़ लेता है।[2] यह सीनार्त हाथी की चेष्टा है जिसे बिना किसी अलङ्कार के चित्रित किया गया है। जो लोग स्वभावोक्ति अलङ्कार को स्वीकार करते हैं उनके अनुसार तो यथार्थ चेष्टा चित्रित करने के कारण यहाँ पर स्वभावोक्ति अलङ्कार है। किन्तु कुन्तक आदि के अनुसार जो उसे स्वीकार नहीं करते,[3] यहाँ सीधा सादा

---

१ शिशुपालवध ३ . ७२

२ स्पृगन्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्त-तृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥ —वाल्मी० ३ १६ २१

३ अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते ॥ —वक्रो० १, ११

पर यथार्थ चित्रण है। भोज आदि ने तो अलङ्कारहीन वचन को निरलङ्कार दोष स्वीकार किया है।[1] परन्तु वे भी स्वभावोक्ति को मान्यता देते हैं।[2] जो प्रकृति के यथार्थ चित्रण के प्रेमी हैं, उनके लिये यह अत्यन्त आकर्षक बिना रङ्ग का चित्र है।

भले ही रसवादी और ध्वनि को महत्त्व देने वाले आचार्य ऐसे चित्रों को जिनमें रसभाव आदि का स्पर्श न हो, वास्तविक काव्य न मानें, परन्तु विवक्षित वस्तु का यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने में कवि को असाधारण सफलता मिली है, यह तो मानना ही पड़ेगा। यहां कवि अपने पात्र के माध्यम से तटस्थ भाव में प्रकृति का निरीक्षण कर रहा है। प्रकृति उद्दीपन के रूप में न होकर स्वयं ही आलम्बन रूप में वर्णित हुई है। इसलिये रस भावादि की खोज ही करनी हो तो कवि की प्रकृति-विषयक रति ही मानी जा सकती है। प्रथम उदाहरण में भी कोई रस-भाव आदि व्यङ्ग्य नहीं है। केवल समुद्र विषयक कौतूहल प्रतीत होता है।

कहीं-कहीं रस का स्पर्श होने पर भी चमत्कार वाच्यार्थ से ही प्रतीत होता है। जैसे अमरुक के पद्य में—

> दृष्ट्वैकासन संस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा
> देकस्या नयने पिधाय विहित-क्रीडानुबन्धच्छलः ।
> ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
> मन्तर्हासलसत्कपोल-फलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥[3]

यहां एक नायक के साथ बैठी दो प्रेमिकाओं में प्रेम वर्णित होने से शृङ्गाराभास है परन्तु उसके चमत्कार की अपेक्षा वाच्यार्थ का चमत्कार ही प्रबल है। यहां प्राचीनाभिमत श्लेष गुण है जिसे कि विश्वनाथ ने प्रत्युत वैचित्र्यमात्र और रस की प्रतीति में विलम्ब करने वाला माना है।[4] अतः किसी अलङ्कार का पुट यहां नहीं है पर नायक के व्यापार की वक्रता अवश्य है कि वह अपनी धूर्तता से एक में विशेष प्रेम रखने पर भी दूसरी को रुष्ट नहीं होने देता और शठ होने पर भी दक्षिण बनने का ढोंग करता है। अतः पाठकों का काव्यानन्द उसके व्यापार से आता है, रसाभास से नहीं, यह आग्रह छोड़कर विचार करने से स्पष्ट हो जायगा।

---

१ यदलङ्कार-हीनं तन्निरलङ्कारमुच्यते । —सर० १ ५३

२ वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् । —वही ५, ८

३ अमरु० १९

४ श्लेषो विचित्रता मात्रम् । —साद० ८, १६

यह भी ध्यान में रखने योग्य बात है कि वाक्यार्थज्ञान में आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि को हेतु माना गया है।[1] प्रबन्धकाव्यों में एक पद्य रूप काव्य की अपने आप में विश्रान्ति हो जाने पर उसका अन्य पद्यों से सम्बन्ध का कारण मुख्य रूप से उसकी साकांक्षता ही है। सभी अनेक वाक्य परस्पर अङ्गाङ्गि-भाव से मिलकर महावाक्य बनते हैं। जैसे कि कहा है—

स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ॥[2]

वैयाकरण जब वाक्य में व्यापार की प्रधानता देते हैं तो क्रिया के अन्य बिना वाक्य की विश्रान्ति ही न हो पायगी।[3] उसके अभाव में वाक्य अपूर्ण रहेगा और उसका कोई शाब्द बोध न होगा। यह शाब्द बोध ही बिम्ब प्रस्तुत करता है। इस कारण काव्य शास्त्रियों ने काव्य में क्रिया के दो या इससे अधिक पद्यों में अन्वित होने की अवस्था में युग्मक, सन्दानितक, कलापक एवं कुलक इन अन्वय-सूचक पारिभाषिक शब्दों को मान्यता दी है।[4]

लक्षणा-वैशिष्ट्य—काव्य-व्यापार में विदग्धता की प्रधानता होती है। यह वक्रोक्ति या वक्रता के द्वारा आती है। यहाँ तक कि वाच्यालङ्कार भी वक्रता के स्पर्श से ही चमत्कारक या अलङ्कार बनते हैं। इस वक्रता की मात्रा अधिक लाने के लिए लक्षणा का भी व्यवहार किया जाता है। लक्षणा रूढ़ा और प्रयोजनवती दो प्रकार की होती है। यद्यपि काव्य में कहीं-कहीं रूढ़ा लक्षणा का भी प्रयोग होता है। जैसे अप्पय दीक्षित द्वारा उदाहृत—

लावण्यसागर भुवि प्रणय विशेषा-
दुर्वाम्बुराशि-दुहितुस्तव तर्कयामि।
यत्ता बिभर्षि वपुषा निखिलैः प्रतीकै-
रन्या तु केवलमधोक्षजवक्षसैव ॥[5]

इस पद्य में लावण्य शब्द रूढ़ा लक्षणा का उदाहरण है, परन्तु प्रयोजनवती

---

१ आकांक्षा योग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः। —तस० ४
२ साद० पृ०
३ फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्। —वभूसा० २
४ छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं स्मृतम् ॥ —साद० ६, ३१३-१४
५ वृवा० पृ० १९

के प्रयोग में लक्षणा का विशेष चमत्कार देखने में आता है। विशेषकर रूपक अलंकार एवं अतिशयोक्ति अलंकारों के रूप में। क्योंकि रूपक अलंकार सारोपा लक्षणा पर आधारित है जबकि अतिशयोक्ति साध्यवसाना पर। इन अलंकारों के द्वारा तो यह काव्यबिम्ब में सहायक होती ही है व्यंग्यार्थ के बोध में भी इसका योगदान है क्योंकि लक्षणामूला व्यञ्जना का आधार तो यही वृत्ति है। व्यंग्य अर्थ तो इसमें प्रयोजन के रूप में द्योतित होता है।[2] ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य दोनों भेद लक्षणा पर ही आधारित होते हैं। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा काव्य बिम्ब निर्माण में अत्यन्त सहायक होती है। परन्तु ये अलंकार तो गौणी लक्षणा पर सादृश्यमूलक होने से आश्रित हैं। शुद्धा सारोपा लक्षणा के भी उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

> आपादमाशिखरभारसमेषमङ्ग
> मानन्दसारमरविन्ददृगासमीमम् ।
> अन्तर्मम स्फुरतु सततमन्तरात्म
> नम्भोज लोचन तव श्रित हस्ति दावम् ॥[3]

इस पद्य में भगवान के अङ्गसमूह अर्थात् शरीर के सौन्दर्यातिशयशाली होने से कमनीयता का अतिशय विवक्षित होने पर तो स्वयं आनन्दसार अर्थात् शरीर को आनन्द बनाया गया है। जब भगवान का अङ्ग मूर्त है और आनन्दसार भाव रूप होने से अमूर्त है अतः दोनों का सामानाधिकरण्य कैसे होगा? क्योंकि नियम है—नम नामिकरणयोनामार्थयोरभेदातिरिक्त सम्बन्धो न्युत्पन्न अर्थात् दो समविभक्तिक संज्ञा शब्दों का अभेद से भिन्न सम्बन्ध नहीं बनता। फलतः मुख्यार्थ बाध होने से लक्षणा करना होगा। उसके द्वारा आनन्दसार का लक्ष्यार्थ होगा—अत्यधिक आनन्दप्रद होना। इस प्रकार कार्यकारणभाव सम्बन्ध की कल्पना की गई। आरोप्य और आरोपित दोनों का शब्द से कथन होने के कारण सारोपा लक्षणा है। सादृश्य सम्बन्ध न होने से शुद्धा लक्षणा है। प्रयोजन है अन्य सुन्दर व्यक्तियों के सौन्दर्य से उद्भूत

---

१ विषयिणा अनिगीर्णस्य विषयस्य तेनैव सह तादात्म्यप्रतीतिकृत् सारोपा स्यादेव रूपकादिकबीजम्। —साद० पृ० २३

२ यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया।
—का० प्रका० २, १४ १५

३ वृता० पृ० २२

आनन्द में इस आनन्द की विलक्षणता। इस प्रकार यहाँ अमूर्त आनन्दातिशय का भाव-बिम्ब बनता है। यहाँ कार्य कारणभाव-मूलक हेतु[1] अलङ्कार तो बनता है पर रूपक नहीं। अतः चमत्कार का मूल लक्षणा ही है।

व्यञ्जना के द्वारा काव्य-बिम्ब का निर्माण अनेक रूप में होता है। उनका विस्तृत निरूपण ध्वनि वाले परिच्छेद में किया जायगा। पहले कालिदास का "स्थिता क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः"[2] आदि पद्य उद्धृत किया जा चुका है। उसमें बिना ही लक्षणा के दो बिम्ब व्यञ्जना द्वारा बनते हैं। अथ 'सञ्चारिणी-दीपशिखेव'[3] आदि पद्य में राजाओं के नैराश्य का भाव-बिम्ब भी व्यञ्जना पर पर ही आश्रित है।

---

१ अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह। —साद० १०, ६४

२ कुस० ५, २४

३ रघु० ६, ६८

पञ्चम परिच्छेद

ध्वनि एवं काव्य-बिम्ब

वक्रोक्ति एवं व्यंग्य—सामान्य रूप से सभी विचारकों का मत है कि काव्य की भाषा बोलचाल की साधारण एवं दर्शन, विज्ञान आदि की भाषा से पृथक होती है। साहित्य की भाषा परिष्कृत, आदर्श एवं प्रभावशाली होती है। आधुनिक युग में अंग्रेजी और उसकी देखा देखी हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में भी यह एक वाद चला था कि काव्य या साहित्य की भाषा वही होनी चाहिए जो जन-साधारण के प्रयोग में आती है किन्तु उसका जो प्रभाव रहा, उससे सब परिचित हैं। स्वयं पश्चिमी साहित्य में रोमाण्टिक प्रवृत्ति के उदय के साथ आयी भाषा का अन्तर उसका प्रमाण है। हिन्दी में पन्त, महादेवी और निराला के काव्य की तुलना में मैथिलीशरण गुप्त और बाद के प्रगतिवादी या प्रयोगवादी कवियों के काव्य का जिस प्रकार से स्वागत हुआ, वह सर्वविदित तथ्य है, उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है। संस्कृत वाङ्मय में भी इसी प्रकार दर्शन और विज्ञान की भाषा और काव्य की भाषा में पार्थक्य रहा है। उसका कारण क्या है?

सब जानते हैं कि पर्वतों के पत्थर जलधारा में बह कर घिस कर अपना नुकीलापन छोड़ गोल मटोल हो जाते हैं। इसी प्रकार शब्द लोक के वाग्व्यवहार में घिसकर अपनी व्यञ्जकता खो बैठते हैं। फलस्वरूप वे काव्य में प्रयुक्त होकर ग्राम्य या अश्लील सदृश दोष की सृष्टि करते हैं। आज का यथार्थवादी

चुम्बन देहि मे भार्ये काम-चाण्डालतृप्तये।

कवि भले ही सदृश वाक्य रचना को अच्छी समझे पर सुरुचि वाला साहित्यिक और सामाजिक इसे कभी भी पसन्द न करेगा। ऐसे शब्दों में हृदय को स्पर्श करने की सामर्थ्य नहीं रहती। जिस प्रकार नुकीले पत्थर में ही चुभने की सामर्थ्य रहती है उसी प्रकार वक्रता-पूर्ण शब्द ही श्रोता या पाठक के हृदय में उतर सकता है। जब काव्य को मनोवेगों की भाषा कहते हैं तो सामान्य

---

१ सियाराम तिवारी—साहित्य शास्त्र और काव्य भाषा पृ० १०१-११२
अथिर मादसम के भाषा सम्बन्धी विचार

शब्द तो मानसिक भाव को प्रकट नहीं कर सकता। इसलिए किसी ने कहा कि जो वक्रता से रहित वचन होता है, वह शास्त्र की वस्तु है, वही प्रयुक्त होता है। इसके विपरीत वक्रता-पूर्ण वचन काव्य की सृष्टि करता है।[1]

भोज ने गाम्भीर्य नामक गुण स्वीकार करते हुए उसका स्वरूप ध्वनिमत्ता बताया है।[2] बात स्पष्ट है, जो वचन कुछ गहराई लिए होगा, वह सामान्य जन के वचन की अपेक्षा कुछ भाव छिपाये होगा। सार-पूर्ण वचन वही होता है जो थोड़े शब्दों से बहुत कुछ आशय प्रकट कर सके। यह वक्रता-पूर्ण वचन में ही होता है। एज्रा पाउण्ड ने जो व्यर्थ के शब्दों का प्रयोग न करने का निर्देश किया था[3], उसका तात्पर्य यही है। जब वक्रता का लक्ष्य वाग्व्यवहार होता है, वक्ता का आशय मूर्त हो जाता है। उदाहरण के लिए व्यर्थ न जाने वाली औषध के लिए रामबाण कहना उसके गहरे प्रभाव को व्यक्त करता है। इसी

अहो, अभिजातो वसन्तः[4]।

प्रकार इस उक्ति को लिया जा सकता है। अभिजात शब्द का सामान्य अर्थ कुलीन है। परन्तु बसन्त के सम्बन्ध में यह बात अटपटी लगती है। यदि इस शब्द-प्रयोग के पीछे छिपा आशय देखें तो उक्ति संगत लगेगी। उच्च अभिजन वाले व्यक्ति से आशा की जाती है कि वह सबका अनुकूल हो सुन्दर सुशील हो। इस प्रकार इससे बसन्त ऋतु की सर्व-हृदय-हारिता, पुष्प आदि से आकर्षकता, शीतल मन्द व सुगन्धित पवन से सुखदता अभिव्यञ्जित होती है। इन शब्दों का प्रयोग न करके अभिजात शब्द का यह प्रयोग प्रतीकात्मक है और गहरी भूमिका लिये हुए है। इसी प्रकार कुमारसम्भव में पार्वती के लिए "अभिजातवाचि"[5] विशेषण लाक्षणिक वक्रता लिए है। वाणी के लिए अभिजात शब्द केवल स्वर माधुर्य नहीं, सर्वानुकूल प्रिय एवं शिष्टता-पूर्ण वचन की व्यञ्जना करता है।

मनोभावों को लाख शब्दों में कहें, उनका बोध श्रोता को नहीं हो सकता।

---

१ यत्तु वक्रं वचः शास्त्रे लोके तु वच एव तत्।
वक्रं यदनुरागादौ तत्र काव्यमिति श्रुतिः ॥ स्द०, पृ० ३५

२ ध्वनिमत्ता तु गाम्भीर्यम्। मर्स० १, ७३

3 Twentieth Century Literary Criticism p 60

४ मालवि० ३

५ स्वरेण तस्याममृतस्रुतामा प्रजल्पितायामभिजातवाचि। कुम० १,४५

परन्तु व्यञ्जक शब्द उनको बाध करा देते हैं। जैसे— रामोऽस्मि सर्वं सहे[1] में 'राम' पद वनवासादि दुःख सहस्र सहिष्णुत्व का भाव व्यक्त करता है। 'रामस्य बाहुरसि'[2] इस वचन में राम शब्द आत्मग्लानि की जिस गहनता का अभिव्यक्ति कराता है वह दूसरे अनेक शब्दों में सम्भव नहीं है। इसी प्रकार नौकरी के लिए श्ववृत्ति शब्द कुत्ते के साथ जुड़ा दीनता जुगुप्सा कुत्सा आदि सभी भावनाओं को उसके साथ जोड़ देता है। जिसके कारण सामाजिक अपमान नित्य दुर्गतता का अनुभव और स्वतिरिक्त सर्वथा गर्हितता का भाव ध्वनित होता है।

> रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
> निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ।।[3]

अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि के इस उदाहरण में दर्पण के लिए प्रयुक्त 'अन्ध' शब्द उपहत दृष्टि का वाचक होने से दर्पण में संगत न होता हुआ मालिन्य और प्रतिबिम्बाग्राहित्व में संक्रान्त होकर दौर्भाग्य विच्छायता आदि की व्यञ्जना कराता है।[4]

> ता चावश्य दिवसगणनातत्परामेकपत्नी
> मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसे भ्रातृजायाम् ।।[5]

इस श्लोकार्द्ध में प्रत्येक पद व्यञ्जक है। जैसे 'दिवसगणनातत्पराम्' प्रतीक्षा और विषाद का साधन सूचित करता है। 'एकपत्नीम्' यक्षिणी के पतिव्रत और इसलिए उसकी अनुरागगाढ़ता एवं विरहिणता की व्यञ्जना करता है। अव्यापन्नाम् यत्न की अव्यर्थता का ध्वनित करता है तो अविहतगति शब्द का भाव सूचित करता है कि इस उद्देश्य के लिए मार्ग में निरन्तर चलना पड़ेगा। विलम्ब कर दिया तो सारा ही यत्न और दौड़ धूप व्यर्थ चले जायेंगे। भ्रातृजायाम् पद मेघ और यक्षिणी का परस्पर सम्बन्ध जोड़ता है जिससे ध्वनित होता है कि अपनी भाभी के प्राण बचाने के लिए

---

१ का०प्रका० (उ०) ११३

२ उत्त० ४

३ वाल्मी० ३ १३ १६

४ अन्धशब्दोऽत्र पदार्थस्फुटीकरणासमर्थत्वे नष्टदृष्टिगतं निमित्तीकृत्यादर्शे लक्षणया प्रतिपादयति असाधारणविच्छायत्वादिधर्मजातमस्य प्रयोजनं ध्वनितम्। —लो०, पृ० १७२

५ मेघ० १, १०

तुम्हें यह करना ही चाहिए। यह किसी दूसरे का कार्य न होकर अपना ही काम है। इसलिए इसकी अपेक्षा करनी उचित नहीं है। "प्रथमं" क्रिया नव-परिचय की करणीयता से उसके लिए कौतूहल की सृष्टि करती है। इसमें भाव भरा है कि देवर और भाभी का कैसा मधुर सम्बन्ध होता है, इसका ध्यान करो। प्रत्येक देवर अपनी भाभी को देखना चाहता है, उसमें परिचय के लिए कौतूहल रखता है। पुन जब वह भाभी है तो उसके पास जाने में संकोच कैसा ? तुम कोई गैर तो नहीं हो। आदि आदि भाव इन दो पङ्क्तियों में कूट-कूटकर भरे हैं। इस गम्भीर भाव की अभिव्यञ्जना उपयुक्त शब्द-चयन का परिणाम है।

आचार्य कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त इस अभिव्यक्ति को लक्ष्य करके ही चला था। पर्याय वक्रता और उपचार-वक्रता का विवेचन यही सूचित करता है कि घिसे पिटे शब्दों से उपयुक्त भाव-व्यञ्जना सम्भव नहीं है[1]। जैसे—

दाहोऽम्भ प्रसृतिम्पच प्रचयवान् बाष्प प्रणालोचित
श्वासा प्रेङ्खत-दीप्रदीपलतिका पाण्डिम्नि मग्न वपु ।
किञ्चान्यत्कथयामि रात्रिमखिला त्वद्वर्त्मवातायने
हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्र-महसस्तस्या स्थितिवर्तते[2] ॥

विरहिणी के इस सन्ताप-वर्णन में आन्तरिक दाह के लिए "अम्भ-प्रसृतिम्पच" विशेषण जिस सन्तापातिशय की अभिव्यक्ति करता है, वह सामान्य शब्दों से असम्भव है। वक्रोक्ति की इस व्यञ्जनानुकूलता को देखकर ही आनन्दवर्द्धन ने उसकी सर्वत्र ग्राह्यता का समर्थन किया था। क्योंकि वक्रोक्ति के बिना न इस प्रकार का अर्थचमत्कार सम्भव है न शब्दचमत्कार।

प्राचीन भामह आदि आचार्य इस व्यञ्जना या ध्वनि के सम्बन्ध में मौन हैं पर वक्रता या वक्रोक्ति का महत्त्व वे भी मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं।[3] वामन के "सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति"[4] इस वचन में लक्षणामूला व्यञ्जना का ही निर्देश है। खेद है कि इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का अलङ्कारशास्त्र में स्वागत नहीं हुआ। प्रत्युत विश्वनाथ ने अलङ्कारमात्र कह कर उसका उपहास कर दिया।[5]

---

१ पर्यायवक्रत्वं नाम यत्रानेकशब्दाभिधेयत्वे वस्तुन किमपि पर्यायपद प्रस्तुतानुगुणत्वेन प्रयुज्यते । —वक्रो० पृ० २८
२ वही, पृ० २९
३ सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते । —भा० का० २, ८५
४ कामसू० ४, ३, ४
५ साद० पृ० १६

ध्वनि-काव्य—वस्तुत व्यड्ग्यार्थ के बिना न काव्य मे चमत्कार आता है न रसानुभूति होती है। तब काव्य बिम्ब कैसे बनेगा? आनन्दवर्द्धन ने कवि का कर्त्तव्य बतलाया था कि उसे व्यड्ग्य और तदुपयोगी शब्दो का चयन यत्न करके करना चाहिए।[1] अलड्कार योजना के लिए जो पृथक यत्न का वर्णन किया गया है वह इसके लिए नही है।

ध्वनि विरोधी मत—आनन्दवर्धन ने देखा कि उनके पूर्ववर्ती आचार्य प्रकारान्तर से ध्वनि को मानते हुए भी उसकी सत्ता को स्वीकार नही करते। भामह ने स्फोटवाद का अमान्य घोषित करते[2] हुए भी व्यञ्जना का निषेध नही किया। अनेक अलट्कार मे, सन्देह मे या अपह्नुति मे सर्वत्र साम्य व्यड्ग्य रहता है। उदभट के उदाहरणो मे भी साम्य की स्पष्ट रूप मे गम्यमानता दिखाई गई है।[3] प्रतिहारेन्दुराज ने तो स्पष्ट शब्दो मे व्यञ्जना और ध्वनि की सत्ता स्वीकृत की है।[4] पर वह तो आनन्दवर्धन का पश्चाद्वर्ती था। इसलिए उसका ध्वनि-सिद्धान्त से परिचित होना स्वाभाविक था। आनन्दवर्धन ने सारे सन्देह दूर करके इस सिद्धात की प्रतिष्ठा की, इसके पूर्व उन्हे प्रतिवादियो के आक्षेपो का उत्तर देना पडा। उनके बाद भी ध्वनिविरोधियो की कमी न रही। यहा तक कि जिनके स्फोट सिद्धात मे सड्केत पाकर इस ध्वनि का स्वरूप निश्चित किया था[5] वे वैयाकरण भी इसके विरोधी हो गए।[6] वेदान्ती, नैयायिक और

---

१ सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नत प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे। —ध्वन्या० १, ८०

२ शपथैरपि नादेय वचो न स्फोटवादिनाम। —भाका० ६ १२

३ (क) अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपक विदु। —कासास० १,१४
(ख) शब्दशक्ति स्वभावेन यत्र निन्दव गम्यते। —वही ५ ६

४ अत एव च सहृदयै यत्र वाच्यस्य विवक्षितत्व तत्रैव वस्तवन्तराभ्यो प्रतीयमानयोर्वाच्येन सह क्रम-व्यवहार प्रवर्तितोऽयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यड्ग्यो ध्वनिरित्युक्त न तु वाच्याविवक्षायामपि।
—का० सा० सड्० पृ० ४ ६

५ प्रथमे हि विद्वासो वैयाकरणा व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम। न च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभि सूरिभि काव्य तत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्र शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्व-साम्याद ध्वनिरित्युक्त। — ध्वन्या० पृ० १३३ ३५

६ तु०—यउप्यविभक्त स्फोट वाक्य तदर्थं चाहु र्यैरप्यविद्यापद-पतितै सर्वैरपि-

मीमांसक सभी ने इस व्यञ्जना और ध्वनिवाद का विरोध किया। अलङ्कार सर्वस्व पर विमर्शिनी टीका के रचयिता जयरथ ने ध्वनि के विरोधी १२ मत गिनाये हैं।[1] इनमें उद्भट आदि अभिधा से ही व्यञ्जना का काम लेकर वाच्यालङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव करते हैं। नैयायिक लोग अनुमान से व्यङ्ग्य अर्थ का बोध मानते हैं[2] और व्यञ्जना का अन्तर्भाव लक्षणा में करते हैं।[3] कुन्तक ने पर्यायवक्रता एवं उपचार-वक्रता में ध्वनि का अन्तर्भूत माना है।[4] मीमांसकों में अभिहितान्वयवादी तात्पर्यवृत्ति में व्यङ्ग्यार्थ की सिद्धि स्वीकार करते हैं।[5] भट्ट नायक ने भावना और भोग व्यापारों की कल्पना करके व्यञ्जना के निराकरण का प्रयत्न किया है। इनमें से कुछ का उत्तर आनन्दवर्धन ने स्वयं दे दिया था। उत्तरवर्ती आचार्यों के आक्षेपों का उत्तर अभिनवगुप्त और मम्मट ने बड़ी दृढ़ता के साथ दिया।

व्यञ्जना का मीमांसकों की ओर से ही सबसे कड़ा विरोध हुआ था। एकता वे अभिधा के व्यापार को असीमित मानते थे। उनके अनुसार जैसे जोर से फेंका हुआ एक ही बाण एक के पश्चात् दूसरे लक्ष्य को बींधता चला जाता है,

---

अनुसरणीया प्रक्रिया। —लो०, पृ० ६७

एवं —परिनिश्चितनिरपभ्रंश-शब्द-ब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः (तैः) सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते।

—ध्वन्या०, पृ० ४४३-४

१ तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलङ्कृतिः ॥
रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तर-बाधनम् ॥

—विमर्शिनी (नि० सा०) पृ० ६ (चौ) २५

२ अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्। —व्यक्ति० १, १

३ व्यञ्जनाऽपि शक्तिलक्षणान्तर्भूता। —तर्क० दी० ४

४ (क) एष एव च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य पदध्वनेर्विषयः बहुषु चैवंविधेषु सत्सु वाक्यध्वनेर्वा। —वही० २ ३६

(ख) तथा च किमपि पदार्थान्तरं प्रतीयमानतया चेतसि निधाय तदा-विधानपणमात्स्यमन्वयं समाश्रित्य पदार्थान्तरमभिधीयमानता प्रायस्तत् प्रायशः कवयो दृश्यन्ते। —वही २, १४

५ तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः। —दश० ४,२

६ अभिधा भावना चैव भोगीकरणमेव च। अभिभा० ६,२७७

इसी प्रकार अभिधा एक के पश्चात् दूसरे अर्थ का बोध कराती चली जायगी[1]। परन्तु ऐसा कहते हुए वे इस बात को भुला बैठे कि जब वे शक्तिग्रह को अर्थ-बोध का कारण मानते हैं तो जहाँ सङ्केत के अभाव में शब्द किसी अर्थ का बोध कराने में असमर्थ हो वहाँ वे अभिधा का प्रयोग कैसे करेंगे। उदाहरण के लिए किसी ने कहा कि ब्राह्मण तुम्हारे घर पुत्र हुआ है और तुम्हारी कन्या गर्भवती हो गई है। यहाँ पुत्रोत्पत्ति के समाचार से ब्राह्मण का हर्ष का, और कन्या के अनवस्त्री होने की सूचना से विषाद की अनुभूति होगी। पाठक या श्रोता को यह ज्ञान किससे होगा ? क्या अभिधा से या लक्षणा से ? अभिधा से तो इस-लिए नहीं कह सकते कि पुत्रस्ते जातः' इन शब्दों की हर्ष में शक्ति नहीं है न कन्या ते गर्भिणी इन शब्दों का विषाद में सङ्केत होता है। यदि शक्तिग्रह के अभाव में भी अर्थबोध सम्भव मानते हैं तो फिर शक्तिग्रह को अर्थबोध में कारणता का भार क्यों उठाये फिरते हो ? फिर तो चाहे जिस शब्द से जिस किसी अर्थ का ज्ञान होने लगेगा। यदि लक्षणा से हर्ष शोक की अनुभूति मानें तो मुख्यार्थबाध तो है ही नहीं जो लक्षणा का प्रयोग में लायें। यदि अभिधा के व्यापार का तार की भाँति मानते हैं तो लक्षणा को भी मानने की क्या आवश्यकता है ? अभिधा से ही उसका प्रयोजन भी क्यों नहीं सिद्ध कर लेते ?

शारदातनय और भोज ने अपने आपको दोनों पक्षों में रखा है। वे लौकिक वाग्व्यापार में जिसे तात्पर्य कहते हैं उसे ही काव्य में ध्वनि की संज्ञा देते हैं[3]। उसे प्रतीयमान एवं ध्वनि दो भेदों में बाँटते हैं।[4] इस प्रकार भोज की दृष्टि में ध्वनि और तात्पर्य में तात्त्विक भेद नहीं है। परन्तु तात्पर्यवादियों की यह खींचतान ही है। मम्मट आदि ने तो इसका उत्तर यह दिया है कि तात्पर्य का अर्थ वास्तव में यह है कि वक्ता जितने आशय का बोध कराना चाहता है या शब्दों से जो कहना चाहता है उतने में ही उसका तात्पर्य है। जैसे "दध्ना जुहोति" इस वाक्य के प्रयोग में यदि यज्ञ पहले से चल रहा हो तो वक्ता का तात्पर्य दही का आहुति तक सीमित है। यदि यज्ञ का भी विधान करना हो तो

---

१ सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः। —काप्रका० ५ पृ०, २१३

२ अतो "वन्याख्य तात्पर्य-सम्यमालम्बते ध्वनेः।
काव्य रसादङ्गादिविषयार्थो भवति ध्रुवम्॥
—भाप्र० ६ (पृ० १५०) ११ १२ पं०

३ तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये। —श्रप्र० भा० १, पृ० ५

४ प्रतीयमानाभिप्रायमात्रवाक्यार्थानाम् आनन्त्याद् ध्वनिस्त्वमप्यनेकप्रकारमेव।
V Raghavan Bhoja's Srngaraprakasa P 117

दोनों अंशों में तात्पर्य होगा। इसके अनुसार व्यंग्य अंश तक तात्पर्य वृत्ति की प्रवृत्ति ही न होगी। पुनः तात्पर्य वृत्ति का कार्य है वाक्य में आये विभिन्न पदों का परस्पर अन्वय होने के पश्चात् निकले अर्थ का बोध कराना। इससे आगे वह जा ही नहीं सकती'।

धनञ्जय आदि का कथन है कि तात्पर्य और व्यञ्जकत्व मूलतः एक है दो नहीं और जहां तक वक्ता की विवक्षा होगी, वहाँ तक तात्पर्य का प्रसार होगा[२]। यह मानने पर एक समस्या यह खड़ी होती है कि क्या जहाँ कहीं व्यंग्यार्थ का बोध होना है, सब तात्पर्य में आ जायेगा? यदि ऐसी बात है तो अनेक स्थलों में दोषों की सम्भावना ही न रहेगी। क्योंकि काव्य में अभिव्यक्त अभिप्राय तो कवि का होता है। जो उसको अभिमत हो, वही उसका तात्पर्य मानना चाहिए। जैसे मान लिया—"विष भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्ष्व" तथा इस वाक्य का कहने में वक्ता का तात्पर्य इतना ही है कि "विषभक्षणादपि दुष्टम् एतद् गृहे भोजनम्" इति। तब तो जहां कहीं दोषों की प्रतीति होती है, वे सभी कवि का अभिमत मानने होंगे। जैसे "देवाद् भवानी-पते"[३] यहां विरुद्धमतिकृत दोष माना गया है। क्योंकि अवश्य स्त्री भवानी" इस विग्रह में पार्वती का भव की पत्नी होना सिद्ध है। पुनः भवानी-पति कहकर उनका दूसरा पति होने का भाव निकलता है। यह भाव भवभूति का कभी नहीं हो सकता। जब यह कवि का भाव नहीं है तो इसे तात्पर्य में कैसे गिनेंगे और तात्पर्य की सीमा में यदि नहीं आता तो इसका ज्ञान कैसे होगा? क्योंकि अभिधा वृत्ति तो पार्वती के पति रूप अर्थ का बोध करा कर विरत हो गई। लक्षणा हो नहीं सकती, क्योंकि पहले तो मुख्यार्थबोध नहीं है। भवानी शब्द पार्वती में रूढ है। यदि मानें भी तो लक्ष्यार्थ क्या होगा और उसका प्रयोजन क्या होगा? इसी प्रकार पूर्वोदाहृत-"राम मन्मथशरेण"[४] आदि श्लोक में अमतपरार्थता दोष कैसे बनेगा? क्योंकि

---

१ तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जकीयस्य न ध्वनिः।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि॥
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत् कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुला-धृतम्॥

—दश० ४, ३-३, पृ० २१९

२ सवी० २, २८

३ अत्र भवानी-पति शब्दो भवान्या पत्यन्तरे प्रतीतिं करोति।

—का०प्रका० पृ० २६८

४ द्रष्टव्य अ० १ टि० १११

कवि ने जब रूपक अलंकार बाँधा है तो रूपक वाला अर्थ उसे अभिमत ही है। तब वह असत ता नहीं रहा। ऐसी अवस्था में दोष कैसे हुआ? इसके अतिरिक्त—

ससम्भ्रमेन्द्र द्रुत पातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती।

इस पद्य में अमरावती पद की क्रिया के साथ सन्धि हो जाने से 'शेष का' लज्जाजनक होकर अश्लील दोष का बोधक होता है। क्या कवि ने सन्धि करके जान बूझकर यह भाव प्रकट करना चाहा है जो इसमें भी तात्पर्य का प्रमाण होगा? वस्तुतः हिन्दी या मराठी अथवा इनसे मिलती जुलती भाषाओं को समझने और बोलने वाले लोगों को ही इस अश्लील अर्थ की प्रतीति होगी। भर्तृमेण्ठ जो सम्भवतः काश्मीरी कवि थे, के मस्तिष्क में यह भावना रही होगी, यह कहना कठिन है। इसी प्रकार 'रुचिकुरु'[2] इन दो पदों को मिलाकर पढ़ने में 'चिटकु' शब्द से भी अश्लील अर्थ का बोध होता है, वह काश्मीरी लोग ही जान सकते हैं क्योंकि यह काश्मीरी भाषा का शब्द है। कालिदास के—

"चूताङ्कुरास्वाद कषायकण्ठ"[3] इस प्रयोग में किसी प्राचीन आचार्य ने अश्लील दोष नहीं बताया। क्योंकि आम्राङ्कुर के लिए प्रयुक्त यह शब्द संस्कृत साहित्य में भरा पड़ा है। आज के युग में यह शब्द ही अश्लील है और आधुनिक कवि शायद ही इसका प्रयोग करेगा। यही स्थिति भोज द्वारा उदाहृत 'या भवन प्रिया' और 'वनिता गुह्यकेशाना'[4] सदृश उदाहरणों की है। इनका अर्थ अपने आप में अश्लील नहीं है परन्तु इनमें भी "या" और "भ" दोनों अक्षरों को साथ-साथ पढ़ने से ही अनभीष्ट अर्थ का बोध होता है। दूसरे पद में भी 'गुह्यक' इतना अंश कोई अश्लील नहीं है। पर ईश शब्द के साथ सन्धि हो जाने से उसका अर्थ ही बदल गया। वनिता के साथ समास में स्थिति और बिगड़ गई। पर कोई यह नहीं कह सकता कि इन कवियों की भावना वस्तुतः इन अर्थों का ज्ञान कराने की थी। अच्छा मान लें कि यहाँ कवि की भावना कुत्सित थी और उसने जान बूझकर इसी तात्पर्य से इन शब्दों का प्रयोग किया था तो निम्नलिखित पद्य के सम्बन्ध में क्या समाधान होगा?

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीया समये वयं वयः ॥[5]

---

१ तु० अत्र 'मरावतीयश्नालम्। —का० उ० पृ० २१ (२६२६)
२ तु० किं च कुरु रुचिम् इति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्तिनि कथं दुष्टत्वम्। —पृ० २५
३ कुम० ३, ३२
४ स० १ १७ (उदा०)
५ नैष० २, ६२

पण्डित समाज मे अनुश्रुति है कि आलोचक-प्रवर मम्मट ने नैषधीयचरित के इस श्लोक को देखकर इसमे विरुद्धमतिकृत् दोष बताया था। क्योकि यदि यहा 'वम' इतने अश को पृथक् करके 'नि' इस अश को वक्ता के साथ जोड़कर पढें तो प्रसङ्ग के अनुसार सर्वथा अनभीष्ट या विपरीत अर्थ की प्रतीति होती है। कवि स्व-निबद्ध वक्ता नल के मुख से उसीके इष्ट-साधन के लिए जाते हुए हस की यात्रा की मगलकामना कर रहा है। तो क्या यहा भी कवि का तात्पर्य 'तेरे मार्ग मे कल्याण न हो' इसमे रहा होगा? ऐसा मानने पर निश्चय से प्रकृतार्थ की हत्या होगी।

यदि यह भी मान ले कि यहा पदो को मिलाकर पढ़ने मे लोगो ने यह अर्थ निकाला है और उन्ही पदो का यह अर्थ है, व्यग्यार्थ का यहाँ कोई प्रश्न नहीं तो शाकुन्तल के निम्न श्लोक की क्या स्थिति होगी—

भूयात् कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूल-पवनश्च शिवश्च पन्था[1]॥

यहा पतिगृह को जाने के लिए उद्यत शकुन्तला को वन-देविया शुभाशीष दे रही है। संस्कृत साहित्य मे इस आशय मे 'शिवास्ते पन्थान सन्तु' यह वाक्य प्रयुक्त होता है। उसी को गर्भीकृत किये यह आशीर्वचन कहा गया है। किन्तु सहृदयो ने इसमे व्यङ्ग्यार्थ निकाला है कि अस्या पन्था एव शिव शान्तानुकूलपवनश्च भूयात् न तु पति गृह"। क्या इसमे भी वक्ता का तात्पर्य मानना होगा?

पुन मानसिक भावो की अभिव्यक्ति सीधे शब्द से कभी सम्भव नहीं है। कोई मनुष्य किसी सुन्दरी से लाख बार कहे कि मैं तुमे प्यार करता हूँ, ऐसा कहने से वह न अपने प्रेम का अनुभव करा सकेगा न सुन्दरी के मन मे प्रतिक्रिया रूप मे प्रेम ही जगा सकेगा। प्रत्युत यह दण्डी द्वारा उदाहृत ग्राम्य-दोष-ग्रस्त पद्य[2] की भाति रोष ही उत्पन्न करेगा। हां, आज के यथार्थवादी कवियो की—

मदनेनाभितप्तोऽह त्व च क्षीणा बुभुक्षया।
एक मे चुम्बन देहि, तव दास्यामि कञ्चुकम्[3]॥

---

१ शाकु० ४, ११

२ कन्ये कामयमान मा न त्व कामयसे कथम्।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते॥ —का० द० १ ६३

३ काव्यानु० तु० ब्रह्मचर्योपतप्तोऽह त्व च क्षीणा बुभुक्षया।
भद्रे भजस्व मा तूर्णं तव दास्याम्यह पणम्॥ —का० नु० वि० ४२८

इस प्रकार की उक्तियां की पंक्ति में अवश्य रखा जा सकेगा। इसके विपरीत —

दूर मुक्तालतया बिससितया विप्रलोभ्यमानो मे ।
हंस इव दर्शिताशो मानसजन्मा त्वया नीत[1] ।।

इसमें महाश्वेता के प्रति पुण्डरीक की अभिव्यक्ति प्रेम आदि शब्दों का प्रयोग किये बिना भी भली प्रकार हो गई है। यह किसी भी पद का मन् कनित अर्थ नहीं है। इसी प्रकार—

महिलासहस्सभरिए तुह हिअअे सुहअ सा अमाअन्तो ।
अणुदिणमनन्नकम्मा अट्ग अणु अ वि सिहिवेह[2] ।।

इस गाथा में नायक के प्रति नायिका का अनुराग किस शब्द का अर्थ होगा? यहां सीधा पुरुष और स्त्री का वृत्तान्त होने में और हृदय में प्रवेश न पा सकने में यदि निष्कर्ष रूप में अनुराग का भाव इसका अर्थ मान भी लें तो यहां क्या समाधान होगा।

वेणीभूतप्रतनु-सलिला सा त्वतीतस्य सिन्धु
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णै ।
सौभाग्य ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्य[3] ।।

इसमें मेघ को कहा गया है कि तेरे (वर्षा ऋतु बीत जाने के कारण चले जाने पर) वह निर्विन्ध्या नदी जल के अभाव में क्षीण धारा वाली हो गई होगी। किनारे पर खड़े वृक्षों के पीले गीले पत्ते किनारे पर बिखर पड़े होंगे, जिनसे वह पीली-सी नजर रही होगी। इस प्रकार वह नदी विरहिणी की अवस्था में तेरे सौन्दर्य को प्रकट कर रही होगी। अब वह जिस प्रकार उस दुर्बलता को त्याग, ऐसा उपाय तुम ही करना है।

यहां अचेतन मेघ और नदी का वृत्तान्त है। सभी जानते हैं कि वृष्टि के अभाव में नदी की धारा क्षीण हो जाती है। वर्षा के कारण वह फिर से भरती है। परन्तु यहां सुभग सम्बोधन और सौभाग्य की उपयोगिता मेघ और नदी के पक्ष में क्या हो सकती है? नदी वर्षा के अभाव में सूखती है, यह तो ठीक है पर इससे वह मेघ के सौभाग्य को कैसे बतायेगी? खेती भी तो वर्षा के बिना

---

१ का० पृ० २८०
२ साद० १३८ पृ०
३ मद्द० १, ३०

सूख जाती है, क्या वह भी मेघ के सौभाग्य के लिए रोती है ? वस्तुतः रागात्मक वृत्ति के बिना इस पद्य का तात्पर्य ही स्पष्ट नहीं हो सकता। नदी को जब हम एक वफादार प्रेमिका के रूप में देखते हैं और मेघ को प्रवासी प्रेमी के तो सारा चित्र स्पष्ट हो जाता है।

कहावत—सुन्दर सोई जो पिया मन भावे।

यह उक्ति यद्यपि पुरुष-विषयक है परन्तु इसीको उलटकर कहा जाय कि वस्तुतः सुन्दर पुरुष वही है जिसके लिए ऐसी सुन्दरी तड़पती है। अन्यथा सुन्दरी को तड़पने की क्या आवश्यकता है ?

यदि वह भी सबको ठुकरा कर किसी एक के लिए शरीर सुखाती है तो निश्चय में वह सुन्दर और भाग्यशाली होगा। इसी प्रकार "सुभग" सम्बोधन मेघ की असाधारण सुन्दरता का ज्ञान कराता है। इन शब्दों के प्रकाश में दोनों के असीम अनुराग की प्रतीति होती है। चतुर्थ चरण में कवि ने विदग्ध भाषा में बहुत कुछ कह दिया है। तू वर्षा करके उसे भर देना, यह कहने से सब गुड़ गोबर हो जाता। सब जानते हैं कि विरहिणी की कृशता की एक ही औषध है—प्रिय सङ्गम। काम जो सृष्टि का सुकुमारतम और व्यापक भाव है उसकी तृप्ति स्त्री पुरुष के मिलन में होती है। स्त्री की कामतृषा शान्त हुई और क्षीणता भी दूर हो जाती है। इसमें शारीरिक और मानसिक दोनों ही तृप्ति होती हैं। मानस तृप्ति के बिना शारीरिक तृप्ति भी दुर्बलता को दूर करने में समर्थ नहीं होती। पुनः चिकित्सा-शास्त्रियों का कथन है—

असंभोगो जरा स्त्रीणां नराणां मैथुनं जरा।[1]

इसके अनुसार निर्विन्ध्या रूप नायिका की कृशता असंभोग के कारण है। वह दूर होने से कृशता भी दूर हो जाती है। पुनः मेघ को कवि ने दक्षिण नायक के रूप में[2] प्रस्तुत किया है जो कि पृथ्वी, नदी, कृषक वधुएं, मालिनें और वेश्यायें सभी को प्रेम सन्देश प्राप्त करता और उन्हें अपना प्रेमचिन्ह (Token of Love) देता जाता है। वासुदेव शरण अग्रवाल मेघ को वृषा रूप में देखते हैं जो कि गर्भाधान में समर्थ पुरुष के अतिरिक्त कोई नहीं।[3] नारी के

---

१ एषु त्वनेकमहिलासमरागो दक्षिण कथितः। —साद० ३, ३५

२ देखिए, मेघदूत एक अध्ययन पृ० ५२, वृषासि दिवो वृषभः पृथिव्या वृषा सिन्धूनाम् —ऋ० ४, ७ २०

३ तु० न हि गलाऽस्नमक इत्यादौ वाच्योऽस्य क्वचिदन्यथा भवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरण-वक्तृ-प्रतिपत्त्यादि-विशेष-सहायतया नानात्वं भजते। —काप्रका० पृ० २२७

अनुराग का पात्र वही पुरुष होता है जो कि उसकी कामतृप्ति कर सके। पर यह सब बातें सीधे शब्दों में वाच्य में नहीं कही जाती। बहुत कुछ पाठकों या श्रोताओं की समझ के लिए भी छोड़ देना चाहिए। अन्यथा विदग्धता की हत्या होती है।

वाच्य और व्यङ्ग्य में अन्तर--इतना सारा भाव क्या अभिधा शक्ति के द्वारा बोधित होना सम्भव है? पुनः वाच्यार्थ प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से प्रतीत होता है परन्तु व्यंग्यार्थ प्रसङ्ग आदि के द्वारा विषय भेद के कारण प्रतिव्यक्ति भिन्न हो जाता है। जैसे सूर्य अस्त हो गया यह वाक्य यदि किसी घबराए हुए और स्तब्ध व्यक्ति के मुख से निकले तो किसी व्यक्ति की मृत्यु का भाव सूचित होगा। यदि पुजारी से कहेगा कि सूर्य अस्त हो गया तो तात्पर्य होगा कि सायं काल की पूजा आरती तैयारी करो। किसी चोर से उसका साथी यही बात कहेगा तो अर्थ होगा कि चोरी का मौका देखो।[1] इस प्रकार समान शब्दों में प्रतिव्यक्ति अर्थ बदल जाता है किन्तु वाच्यार्थ वही रहता है। इसीलिये किसी आचार्य ने कहा है कि पर्यालोचन के द्वारा रुचि और बोध के अनुसार अर्थ बदल जाया करता है।

यहाँ ध्वन्यर्थ की महत्ता और उपयोगिता बताने के प्रसङ्ग में ध्वनि विरोधियों के मतों की कुछ चर्चा आ गयी है और कुछ मात्रा में उनकी निस्सारता बताई है। सम्पूर्ण मतों का खण्डन करने के लिये यहाँ पर अवकाश नहीं है।

ऊपर की पङ्क्तियों से ध्वन्यर्थ की वाच्यार्थ से अतिरिक्तता सिद्ध हो गई है। काव्य का वास्तविक चमत्कार इस ध्वनि के द्वारा ही आता है। क्योंकि थोड़े शब्दों में बहुत बड़ी बात कह जाना हृदय पर विशेष प्रभाव डालता है। उसमें गहराई आती है। इसीलिये आनन्दवर्द्धन ने वाचक शब्द और वाच्यार्थ के उपसर्जनाभाव में ध्वनि की सत्ता स्वीकार की है।[1] उसका वाच्य अर्थ से पार्थक्य और वैशिष्ट्य बड़े विस्तार से प्रतिपादित किये हैं।[2] मम्मट आदि ने भी इस विषय का विवेचन किया है। यहाँ वह सारा प्रस्तुत करना अनुपयुक्त होगा।

पश्चिमी आलोचकों ने भी इस ध्वन्यर्थ की महत्ता स्वीकार की है। क्रोचे का अभिव्यञ्जनावाद एवं क्विंटलियन का आर्ट आफ कन्सीलमेण्ट ध्वनि के

---

[1] यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥
—ध्वन्या० १, १३

[2] वही उद्योत १ पृ० ५२ से ८४ तक

जतिरिक्त कुछ नही है। इसी प्रकार आई०ए० रिचर्डस सदृश विद्वानो ने इमाटिव मीनिग इानटकमटअल मीनिग आदि के रूप मे व्यग्य अर्थ को स्वीकार किया है।

काव्य बिम्ब मे ध्वनि का योग

काव्य-बिम्ब के प्रसग म ध्वनि-विचार की महत्ता दो दृष्टियो से है। एक तो यह कि बहुधा काव्य-बिम्ब व्यग्य अथ क रूप म ही जाता है। वस्तु-बिम्ब के रूप मे ध्वन्यथ का उदाहरण पीछे उद्धृत कुमारसम्भवीय पद्य 'स्थिता क्षण पक्ष्मसु' आदि है। उसमे समाधि अवस्था मे बैठा पावती का बिम्ब व्यग्यार्थ के रूप मे ही आता है। रस भाव आदि के बिम्ब तो अभिधा से बन ही नही सकत। वे तो बनत ही ध्वनि म है।

ध्वनि शब्द ध्वन् धातु[3] से बना है जिसका अथ शब्द करना है। सामान्य रूप मे किसी घण्ट घडियाल की आवाज या अव्यक्त शब्द को ध्वनि नाम से पुकारा जाता है। किन्तु बोले गय वण भी ध्वनि रूप ही होते है और सभी श्रवणेन्द्रिय-ग्राह्य होते ह। काव्य तो है ही शब्द-व्यापार का परिणाम। काव्य जब सुना जाता है तब साथ मे उसका अथ-ग्रहण भी किया जाता है। इसका तात्पय यह हुआ कि श्रवणेन्द्रिय बुद्धि और मन तीनो उस ध्वनि का ग्रहण करते है।[4] जब बुद्धि, मन और श्रवणेन्द्रिय तीनो का सयोग शब्द म होगा तो तीनो अपन अपने विषय का ग्रहण करेंगे। बुद्धि उस शब्द मे निहित अथ-तत्त्व का पकडती है श्रवणेन्द्रिय ध्वनि-मात्र को ग्रहण करती है, अथ से उसका कोई सम्बन्ध नही है। मन ध्वनि क माधुय या पारुष्य का अनुभव करता है। पर जब तीनो का सयाग होगा, अथ का बोध तभी होगा। जब अव्यक्त ध्वनि से किसी क्रिया का अनुकरण किया जाता है तो ध्वनिचित्र बनता है। किन्तु जब बुद्धि एव मन समान होकर अथ का ग्रहण करते ह तब अथ द्वारा बाधित वस्तु मूतरूप हो जाती है। अर्थशक्ति-मूल ध्वनि को अनुस्वानाभ रूप भी कहा है।[5] उसका तात्पय है—वाक्य का अथ और अनुरणनात्मक (Echoing sound)

---

१ साभि० पृ० ४७

२ अध्या० २, टि० ४७

३ रा धा० ८१६

४ तु० आत्मा मनसा मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन। केशवमिश्र कृत (मो० ना० प्रका० बद्री० गु०) त भा० पृ० ७५

५ क्रमण प्रतिभात्यात्मायोऽस्यानुस्वानसंनिभ। —ध्वन्या० २, २०

ध्वनि दोनों का समन्वित रूप। इसमें अर्थ विवक्षित विषय को मूर्त बनाता है और अनुरणनात्मक ध्वनि शब्दचित्र (sound picture) बनाता है।[1] जैसे—

> उन्मज्जज्जलकुञ्जरेन्द्ररभसास्फालानुबन्धोद्धत
> सर्वाः पर्वतकन्दरोदरभुवः कुर्वन् प्रतिध्वानिनी।
> उच्चैरुच्चरति ध्वनिः श्रुतिपथोन्माथी यथायं तथा
> प्रायःप्रेङ्खदसंख्यशङ्खधवला वेलेयमुद्गच्छति॥[2]

यहाँ शब्द और अर्थ दोनों का समन्वय है। 'उन्मज्जज्जलकुञ्जरेन्द्ररभसास्फालानुबन्धोद्धत' इसमें वेग से पानी के जोर के साथ बाहर निकलते जलहस्ती के साथ पानी के संघर्ष की ध्वनि का अनुकरण है। 'सर्वाः पर्वत' यह बीच में खड़े हाथी के कारण पानी के फैलने से होने वाली पर ध्वनि का अनुकरण है। उठते ज्वार के कारण पानी के 'छाप छाप' 'धाप धाप' फैलने की ध्वनि का 'श्रुतिपथोन्माथी यथायं तथा' इन शब्दों में आये तकारों में अनुवृत्त किया गया है। 'प्रेङ्खदसंख्यशङ्खधवला' में आपस में टकराते और पानी में तैरते छाये वने शङ्खों को किन किन् ध्वनि की गूंज है। यह समुद्र में आते ज्वार भाटे का बड़ा सशक्त शब्दचित्र है जिसमें अर्थ और नादानुकृति का सम्मिलित चित्र बना है। यह ध्वनि या अनुरणन रूप है। यहाँ ध्वनि शब्द के प्रयोग से एक ढेले से दो पक्षियों का शिकार किया गया है। वह व्यङ्ग्यार्थ का वाचक भी है और नाद का भी।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ की तुलना नारी के कलेवर में भासित होने वाले लावण्य से की है जो कि उसके अंगों से पृथक् दिखाई देता है।[3] जब शब्द और अर्थ काव्य के स्वरूप घटक तत्त्व स्वीकार कर लिये गये और वाच्यार्थ का बोध होते ही प्रतिपत्ता को उसका स्वरूप भी बिम्ब रूप में दृष्टिगोचर हो गया तो अर्थ-बोध और बिम्ब बोध समकालिक सिद्ध हुए परन्तु शरीर में लावण्य का बोध तो विशेष निरीक्षण के पश्चात् ही होता है इसी प्रकार व्यंग्यार्थ भी वाच्यार्थ-बोध के पश्चात् ही प्रतीत

---

१ ध्वनिश्च द्विधा अर्थध्वनिः शब्दध्वनिश्च।
—Raghvan Bhoja s Srngara Prakasa p 117

२ नागा० ४ ३

३ प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥
—ध्वन्या० १, ४

होगा। इसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के बोध में पूर्वपश्चाद्-भाविता स्पष्ट है। तब काव्य-बिम्ब और ध्वनि में समानता कैसे हुई? क्योंकि बिम्ब-बोध तो ध्वनि की कारणता की कोटि में आ गया।

यह प्रश्न ठीक है पर उत्तर भी सहज है। जब हम यह स्वीकार करते हैं कि जब अर्थबोध होता है तो अर्थप्रतिपत्ति के साथ साथ अर्थ्य-विवक्षित वस्तु का बिम्ब के रूप में प्रत्यक्षीकरण भी होता है। इस प्रकार अर्थबोध और बिम्बबोध की सहभाविता हुई। पर हम यह तो नहीं कहते कि वाच्यार्थ के बिम्ब के साथ ही व्यङ्ग्यार्थ का भी चित्र बनता है। जब ध्वनि के संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्यक्रम दो भेद मान गये हैं[1] तो स्पष्ट ही संलक्ष्यक्रम में व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ में क्रम है। शाब्दी व्यञ्जना के इसीलिए दो भेद माने गये हैं—अभिधामूला और लक्षणामूला। पहली में अभिधेय के तुरन्त पश्चात् व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है तो दूसरी में पहले वाच्यार्थ फिर लक्ष्यार्थ और उसके पश्चात् व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है। इसी क्रम को दृष्टि में रखते हुए आज के आलोचकों ने काव्य की तुलना प्याज से की है[2]। जैसे प्याज में एक फाँक के नीचे दूसरी फाँक निकलती जाती है, उसी प्रकार एक अर्थ की तह में दूसरा अर्थ निकलता जाता है। अन्तर प्रमाता की बुद्धि का है कि वह कितनी गहराई तक जा सकता है। यदि वह विरोचन की भाँति 'अन्नं वै ब्रह्म' को ही फलितार्थ और अन्तिम भाव समझ बैठेगा तब तो स्थूल पूरी में ही मग्न हो जायगा। परन्तु यदि इन्द्र की भाँति विवेचन में समर्थ होगा तो 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्' की अवस्था तक पहुँच जायगा।[3] साहित्याचार्यों ने जब वाचक और लाक्षणिक शब्दों के साथ व्यञ्जक शब्द की भी सत्ता स्वीकार[4] की है, वे इसी

---

१ असंलक्ष्यक्रमोद्द्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः॥ —वही २, २

२ तु० ऐरिक न्यूटन ने कलाकृति को प्याज के समान बताया है। जिस प्रकार प्याज के छिलकों की कई तह एक के बाद एक होती हैं, उसी प्रकार काव्य-कृति की भी कई तह हैं। सबसे ऊपरी तह है दृश्य वस्तुओं का यथातथ्य वर्णन की, उसके नीचे कलाकार की व्यक्तिगत रुचियाँ, रुझानों तथा टिप्पणियों की तह है। परिवेश मन और साहित्य पृ० १६२

३ तैत्ति० उ० ३, ६

४ अभिधादि-त्रयोपाधिवैशिष्ट्यात्त्रिविधो मतः।
शब्दोऽपि वाचकस्तद्वल्लक्षको व्यञ्जकस्तथा॥ —साद० २, १६

मय का और सङ्केत करने दिखाई देते हैं कि एक अर्थ के पश्चात् अन्य अर्थ का भी बोध होता है। प्रमाण स्वरूप 'स्थिता क्षण' आदि पद्य या "अणिच्चल"[1] आदि गाथा को लिया जा सकता है। यही कारण है कि काव्य को पर्यायावचनामदर्थ कहा गया है। परन्तु यह भी साथ साथ ध्यान में रखना है कि जितने अर्थों की प्रतीति होगी उन सभी के बिम्ब प्रतिपत्ता को भासित होते जायेंगे। फलतः वाच्यार्थ का बिम्ब पृथक् होगा लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का भी पृथक्। भ्रान्ति तभी मानी जायगी जबकि तीनों को अभिन्न मान बैठेंगे। उदाहरण के लिये निम्न पद्य है—

> स्निग्ध-श्यामल-कान्ति लिप्तवियतो वेल्लद् बलाका घना
> वाताः शीकरिणः पयोद सुहृदामानन्द केकाः कलाः।
> काम सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
> वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि ! धीरा भव ॥[2]

यहाँ आरम्भ में वर्षा ऋतु का चित्र बनता है—आकाश में काले काले बादल छा गये हैं बीच बीच में बगुलों की पङ्क्तियाँ उडती दिखाई दे रही हैं। ठण्डी ठण्डी पानी की फुहार लिये पवन चल रही है। मोर मस्ती में कूज रहे हैं। यह उन्मादक वातावरण है परन्तु प्रिया सीता का अभाव राम को खल रहा है और उनके मन को विकल कर रहा है। परन्तु राम को तुरन्त अपने स्वरूप का ध्यान हो जाता है व कहते हैं मैं तो कलेजे पर पत्थर रखकर यह सब किसी प्रकार सह भी लूँगा पर बेचारी सीता यह सब देख कर कैसे सह पायगी क्योंकि

> पुरन्ध्राणां चित्तं कुसुम-सुकुमार हि भवति।[3]

यहाँ पहला काव्य बिम्ब वाच्यार्थ का है। वर्षा ऋतु का वातावरण प्रमाता की दृष्टि में घूम जाता है। इसके मध्य अकेले राम विचार मुद्रा में खड़े हैं। पुनः 'रामोऽस्मि' पद पर ध्यान जाता है। वक्ता स्वयं राम हैं, तब 'रामोऽस्मि' कहने में क्या औचित्य? अतः लक्षणा का आश्रय लिया जाता है। वह आरम्भ में राम के व्यक्तिगत जीवन को दृष्टि में रखकर कष्ट सहिष्णु व धर्म का ज्ञान कराता है फलतः लक्ष्यार्थ हुआ इस प्रकार से विशिष्ट राम। इस अर्थ

---

१ अणिच्चल णिप्फन्द भिसिणी पत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मल मरगअभाअण परिट्ठिआ सङ्खसुत्तिव्व ॥ —वही पृ० ४४

२ का०प्र०का० ८ (उ०) ११३

३ उत्त० ४ १२

की प्रतीति के साथ राम की दृढ मुद्रा प्रतीत होती है जो कि बिलखते और तडपते माता पिता को एव अयोध्यावासियों को उसी अवस्था मे छोड कर वन को जाते है। वन मे अनेक कष्ट सहते है। उसके पश्चात् पुन चिन्ता की मुद्रा दृष्टि मे घूम जाती है, इसमे राम की विकलता का अनुभव होता है—उसके साथ राम के पौरुषमय और सीता के स्वभाव-सुकुमार तथा विरहक्षीण व्यक्तित्व का भान होता है और उसमे प्रस्तुत वातावरण मे राम के विरह की असह्य वेदना का अनुभव और सीता के प्रति सहानुभूति जागृत होती है। इस प्रकार पद्य की परिणति अन्तिम भाव-बिम्ब मे होती है जब कि सारे प्रमाता उस वेदना के अनुभव म सम्मिलित होते है और कवि की वेदना राम के माध्यम से सार्वजनीन हो जाती है।

यहा इस प्रकार एक के बाद दूसरे के क्रम से चार बिम्ब बनते है। ये और अधिक भी हो सकते है जब कि अप्रस्तुत-विधान अथवा उपमेयोपमेय भाव के द्वारा वाच्यार्थ का बिम्ब प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरण के लिये—

नवमासधृत गर्भं भास्करस्य गभस्तिभि ।
पीत्वा रस समुद्राणा द्यौ प्रसूते रसायनम ॥
शक्यमम्बरमारुह्य मेघ सोपानपङ्क्तिभि ।
कुटजार्जुनमालाभिरल कर्तुं दिवाकर ॥
सन्ध्यारागोत्थितैस्ताम्रैरन्तेष्वधिक पाण्डरै ।
स्निग्धैरभ्रपटच्छेदैर्बद्धव्रणमिवाम्बरम ।
मन्दमारुतनिश्वास सन्ध्या-चन्दन-रञ्जितम् ।
आपाण्डु जलद भाति कामातुरमिवाम्बरम ॥
एषा धर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता ।
सीतेव शोकसन्तप्ता मही बाष्प विमुञ्चति ॥[1]

यहाँ भी वर्षा ऋतु का प्रसङ्ग है। राम लक्ष्मण के साथ माल्यवान पर्वत पर निवास कर रहे है। पर्वत पर वर्षा का वातावरण अधिक रम्य दिखाई देता है। वर्षारम्भ मे पूर्व प्रचण्ड ग्रीष्म ऋतु थी। उसके उत्ताप की स्मृति अभी मस्तिष्क मे गई नही है। उसकी तुलना म सर्वथा परिवर्तित दृश्य दृष्टि गोचर हो रहा है। सूर्य ने पिछले नौ महीनो मे पृथ्वी का रस बूद बूद कर खीच लिया था। अब वह रसायन को जन्म दे रही है। रस पानी को भी कहते है। रस्यत इति इस व्युत्पत्ति मे मेघ उसका अयन स्थान या भण्डार है। यह यौगिक

---

१ वा०रा० ४, २८ ३-७

अर्थ है। पर जब सम्मिलित शब्द 'रसायन' ही लेते है तो वर्षा का जल रसायन है। रसायन ऐसी वस्तु को कहते हैं जो कि नीरोग व्यक्ति का बल बढाये। धूप के कारण सूखी वनस्पतियां वर्षा ऋतु में हरी भरी हो जाती हैं। वर्षा का जल कृषि के लिये नवजीवन देने वाला है। इसलिये वह रसायन कहा गया है।

पुनः अन्य अर्थ प्रतीत होता है। द्यौ स्त्रीलिङ्ग है और भास्कर पुल्लिङ्ग है। पृथ्वी का जो रस खींचा गया है वही शुक्र है। उसमें वन गर्भ को नौ मास तक धारण करके द्यौ रसायन को जन्म देती है।

इसके साथ यहाँ के लगातार पाँच चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। प्रतीत यह होता है कि ये सभी परस्पर असम्बद्ध है। परन्तु इन सभी को साथ-साथ रख कर देखा जाये कि ये एक सम्मिलित और बहुरंगी चित्र प्रस्तुत करते है या नहीं। उनमें कुछ पृष्ठ भूमि और कुछ पार्श्व भूमि का कार्य करते हैं। उनमें सर्वप्रथम में स्मृति से ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की प्रचण्ड किरणों से भूमि के रस का कण-कण सूख जाना अन्तर्दृष्टि के आगे घूम जाता है। वर्षा ऋतु आने पर पहले आकाश मण्डल में मेघ छा जाते हैं। दूर तक फैली कुरैया और सफेद के वृक्षों की पंक्ति क्षितिज को छूती प्रतीत हो रही है। सन्ध्या के समय मेघ के बीच में ढलता सूर्य तीतर-पंखी मेघों की सीढ़ी से आकाश रूपी प्रासाद की छत पर चढ़कर वृक्षों के शिखरों से तोरण आदि बनाकर सजावट करता प्रतीत होता है। आकाश में सन्ध्या के राग में रञ्जित और ऊपर नीचे सफेद मेघ छाये हैं। उनसे लगता है गगन घायल है उसके शरीर पर सफेद पट्टी बंधी हुई है। बीच में दवाई या रक्त की लालिमा दिखाई दे रही है। वह विरही की भांति ठण्डी सांसें भर रहा है, साथ की नीली रंग रूप में लाल चन्दन का लेप किए हैं उसका चेहरा सफेद या पीला पड गया है। ग्रीष्म ऋतु में तप कर अब वर्षा के पानी से भीगी पृथ्वी में भाप उठ रही है। लगता है सीता ही वियोग के शोक में दुखी आंसू बहा रही है।

राम स्वयं विरही हैं विरही को सारा जगत् अपनी ही भांति वियोग की ज्वाला में जलता लगता है। इसलिए राम की रति प्रकृति में सङ्क्रान्त हो गई है। उसमें प्राण प्रतिष्ठा हो गई है। वाच्यार्थ के द्वारा प्रकृति का स्थूल चित्र एक विस्तृत फलक पर बना है जिसमें आरम्भ के पद्य पार्श्व भूमि का कार्य करते हैं। बाद के पद्यों में चित्र बनता है।

ध्वन्यर्थ में चित्र सूक्ष्म हो जाता है। अब स्थूल आकृतियां लुप्त हो जाती हैं। छायाचित्रों के रूप में गगन पट्टी बांधे घायल या आहें भरते विरही की

भाति प्रतीत होता है और इस भाव भूमि पर विरहिणी सीता उपमान के रूप में आसू बहाती प्रत्यक्ष हो जाती है। इस भाव-बिम्ब में ही चित्र की पूर्णता है।

प्रबन्ध गत ध्वनि मानने का तात्पर्य ही यह है[1] कि एक समष्ट्यात्मक चित्र प्रस्तुत करना। विश्वनाथ ने जो लिखा था कि जैसे एक पद्य में कुछ पद नीरस होते हैं पर वे वाक्यगत पदों में सरस हो जाते हैं, इसी प्रकार कुछ पद्य यदि व्यष्टिरूप में नीरस भी हों तो भी प्रबन्धवाही रस में वे भी सरस हो जाते हैं,[2] उसका तात्पर्य यही है कि कुछ पद्य यदि बिम्ब प्रस्तुत न भी कर सकते हों तो प्रबन्ध के अङ्ग होकर वे व्यापक बिम्ब के अङ्ग बन जाते हैं। इस प्रकार इन उदाहरणों में काव्य बिम्ब स्वयं ध्वनि-रूप है। वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि के रूप में तो स्थूल काव्य-बिम्ब बनते हैं परन्तु रस-ध्वनि के रूप में भाव-बिम्ब बनते हैं अथवा रस और भाव के द्वारा काव्य के वे बिम्ब सजीव हो जाते हैं। आनन्द-वर्धन के शब्दों में वे आलेख्यप्रख्य नहीं रह जाते[3]।

अतिशयोक्ति, समासोक्ति, श्लेष, रूपक, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति और प्रतीप अलङ्कारों के द्वारा इन चित्रों में रङ्ग भर गया है। वास्तव में प्राचीन आचार्यों ने जो शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर कहा था, वह सर्वथा यथार्थ है। अन्तर इतना ही है कि कवि उन्हीं सर्वसाधारण द्वारा प्रयुक्त शब्दों का प्रयोग करता हुआ भी उनमें से ऐसों का चयन करता है जो कि उसके अभीष्ट भावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ हों। क्योंकि उनके द्वारा ही काव्य प्राणवान् होता है। किसी कवि ने लिखा है कि हम जिन शब्दों को लिखते हैं या जिनमें वार्तालाप करते हैं कवि भी उन्हीं का प्रयोग करते हैं। पर यह उन्हीं का कौशल है कि वे उनके बल से सारे जगत् को चमत्कृत कर देते हैं।[4] भेद भी

---

१ प्रबन्धेऽप्यर्थशक्ति-भूः। —का० प्र० का० ४, ४२

२ रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्। —साद० १८

३ ध्वन्या० पृ० ४६५
सोऽर्थस्तद्व्यक्ति-सामर्थ्य-योगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥ —ध्वन्या० १ ८

४ यानेव शब्दान् वयमालपामो
यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः
सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति॥ —का० स० पृ० २

भौतिक पदार्थ है और मिट्टी का लौंदा भी, पर जहाँ गेंद उछल-उछल कर क्रीडारसिक का मनोरञ्जन करती है, वहाँ मिट्टी का लौंद पृथ्वी पर गिरकर उठ नहीं सकता। जो शब्द पढ़ने सुनने के पश्चात् हृदय में भाव न जगा सकें, किसी की समझ में न आ सकें ऐसे शब्दों का क्या करना है। *किसी ने कहा है कि* वैयाकरण शब्दों की व्युत्पत्ति, साधु और असाधु का निर्णय तो करते हैं पर किस शब्द का प्रयोग कहाँ करना चाहिए यह कवि ही जानते हैं। पिता अपनी कन्या को जन्म अवश्य देता है, पालता-पोसता है पर वह काम-कला में कितनी दक्ष है, इसका ज्ञान जामाता को ही होता है।[1]

इस प्रसंग में रमारञ्जन मुखर्जी ने फ्रांसीसी प्रतीकवादी समीक्षकों के मत की ध्वनि सिद्धान्त से तुलना करते हुए ठीक ही कहा है कि तार्किकों की तर्कमयी भाषा काव्य के उपयुक्त नहीं होती, इतने अंश तक तो उन प्रतीकवादियों का *कथन ध्वनिकार के मत से मेल खाता है जिसमें तार्किकों के लिङ्ग-लिङ्गिमान* से ध्वनि-व्यापार की प्रतीति का खण्डन किया गया है। परन्तु जब वे काव्य में विशेष प्रकार के प्रतीकात्मक शब्दों के प्रयोग की वकालत करते हैं वह ध्वनि-सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। क्योंकि जिन शब्दों और अर्थों को पाठक या श्रोता समझ ही न सके, उनसे क्या लाभ? अतः सर्वपरिचित एवं सरसुबोध *शब्दों का ही प्रयोग काव्य में उपयुक्त होता है जिससे अर्थ-बोध में प्रमाता को* कठिनाई न होने पाए। (इसीलिए काव्य में प्रसाद गुण अपेक्षित है)। परन्तु व्यंग्यार्थ के बोध में सहायक हों तो प्रतीकों का निषेध भी नहीं है।[2]

इस सम्बन्ध में नैषधकार और कालिदास की तुलना की जायेगी तो कुछ बात स्पष्ट हो जाएगी। नैषधकार ने एक मन्त्र में चिन्तामणि मन्त्र डाल दिया[3] परन्तु इस भावना से कि ये उपनिषद्रूप होते हैं और सर्वसाधारण को *प्रकाश्य नहीं हैं, उसको ऐसे प्रतीकात्मक शब्दों में प्रस्तुत किया है कि आज तक* टीकाकारों की बुद्धि उस मन्त्र का स्वरूप निश्चित करने में चक्कर खा रही है।

---

१ कन्या-सुरत-पाण्डित्यं जामाता वेत्ति नो पिता ॥

—व्यक्ति० मधुसूदनी विवृति—पृ० २३४

2 *Imagery in Poetry* p 58

३ अवामावामार्धे सकलमुभयाकारघटनाद् द्विधा,
भूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत्।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं,
निराकारं शश्वज्जप नरपते सिध्यतु स ते ॥ —नैष० १४, ८८

उसका क्या लाभ ? इसके विपरीत कालिदास के निम्न पद्य को लें जिसमें अत्यन्त सामान्य सुखबोध्य पदावली का प्रयोग है पर ध्वनिगर्भित होने के कारण वह हृदय का स्पर्श करती है—

तथागतायां परिहास-पूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे ।
आर्ये, व्रजामोऽन्यतऽइत्यथैन वधूरसूया-कुटिल ददर्श ॥'

यहाँ कवि ने 'असूया-कुटिल ददर्श" इन दो शब्दों में क्या नहीं कह दिया ? यों कहिये कि पतिवरा का सारा हृदय ही उड़ेल दिया कि बस, अब देख लिया जो देखना था, अब मनचीता वर मिल गया है जिसकी खोज थी। इसके साथ छेड़खानी के लिए उपालम्भ भी है। उस मन्त्र से यह समोहन मन्त्र क्या कम है ? इसको पढ़ते ही स्वयंवर-सभा का सारा चित्र सामने आ जाता है कि इन्दुमती अज के सामने खड़ी है, आगे बढ़ने का नाम नहीं लेती। सुनन्दा उसकी ओर मुंह किए मुस्करा कर कुछ कहने का अभिनय कर रही है और राजकुमारी आँखें तरेर कर उसकी तरफ देख रही है। यह मूकभाषा लाखों शब्दों से अधिक भावपूर्ण और अभिव्यञ्जक है। इसी कारण आचार्यों ने चेष्टा आदि को भी भावप्रकाशन में समर्थ बताया है।[2]

वस्तु में विरोधालङ्कार ध्वनि और उसमें अनुभूत काव्य-बिम्ब का उदाहरण निम्न पद्य में देखा जा सकता है—

अमन्द-चन्दन-स्पन्द शीतल शीलवानिन ।
भावयन्नाग भव्योऽसावमित्रेष्वपि मित्रताम् ॥[3]

यहाँ प्रकृत में 'इन' शब्द स्वामी या राजा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रथमचरण काशी नरेश शीलवान् के "यथा नाम तथा गुण" धर्म का सूचित करता हुआ उसके सर्वाह्लादी शान्त स्वभाव को व्यक्त करता है। लुप्तोपमा और अनुप्रास का साहचर्य होने से जयदेवोक्त अर्थानुप्रास चन्दन की आह्लादकता का बिम्बन करता है। परन्तु 'इन' सूर्य का वाचक भी है जिसका चन्दनस्पन्दशीतलत्व विरोधी गुण है। इस प्रकार द्रव्य का गुण से विरोध ध्वनित होता है। अपि आदि वाचक शब्द का अभाव होने से विरोधाभास व्यङ्ग्य है। यहाँ सूर्य रूप व्यङ्ग्यार्थ का बोध होने पर ताप का अनुभव होता

---

१ रघुवंश ६, ८३

२ काकोश्चेष्टादिकस्य च। वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत् साऽस्मभवा।
—सा० द० २, १६-१७

३ डा० सत्यव्रतशास्त्री—बोधिसत्त्व-चरितम् ३ ६६ में च० ल० दास

है और चन्दन-स्पन्द शीतल इस उपमोदभावित विरोध में शीतलता का अनुभूति का बिम्ब बनता है। इस प्रकार दोनों ही स्पर्शबिम्ब बनते हैं।[1]

काव्य की भाषा सर्वसामान्य होने पर भी रस भाव आदि की अभिव्यक्ति में समर्थ और वैदग्ध्य से पूर्ण होती है। वक्रोक्ति पूर्ण होने से वह वैयाकरणों के वैदुष्यभार भरित शब्दावली से सर्वथा पृथक् होती है। व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट ने इसी कारण काव्य की भाषा को व्याकरण आदि शास्त्रों की भाषा से पृथक् बनाया है क्योंकि वैयाकरण शास्त्रीय नियमों को ही ध्यान में रखकर शब्दावली का प्रयोग करते हैं[3]। रमारञ्जन मुखर्जी भी कहते हैं कि काव्य की भाषा व्याकरणादि से पृथक् ही होती है[2]। कवि इसलिए अपेक्षित भावप्रकाशन के लिए व्याकरण के नियमों की अवहेलना भी कर देते हैं। वहाँ वैयाकरणों ने तो अपने मन की भड़ास 'निरंकुशाः कवयः' कहकर निकाल दी पर उसकी गहराई तक जाने का यत्न उन्होंने नहीं किया। कालिदास की व्याकरणविषयक त्रुटि बताते हुए कुछ ऐसे प्रयोग निदर्शन के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। जैसे—

> युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः ।
> वपुः प्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाद्दृश्यत ॥[3]

---

१ कवीनामपि विषयो न खण्डिकोपाध्यायानामित्यनवगततदभिप्रायैस्तदुपेक्षितमनत। —व्यवि पृ० २३३ ३५

2 *It is not without reason therefore that the word is regarded as the Chief instrument for evocation of feeling and that an advice is tendered to the poet of posterity to employ such word as is able to translate the charming inner vision of the creative artist that is incapable of being brought into expression Through any other word The* function of suggestion belongs to the word that takes the initiative in raising the symbolic into comprehension but since the word remains inseparable from the idea in the psychological level an equal part is played by the context also in the matter of revelation of the implicit and consequently Indian Poetics declares the expression and the expressed as conjointly suggesting the unexpressed in all cases —Imagery in Poetry pp 58 59

३ रघुवंश ३ ३४

रघुवंश के इस पद्य में "वपुः प्रकर्षात्" इस प्रयोग पर वैयाकरणों की आपत्ति है। उनके अनुसार "इसुसोः सामर्थ्ये"[1] के प्रसङ्ग में "नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य" इस सूत्र से[2] वपुः के विसर्गों को षत्व हो जाना चाहिए था। पर कवि ने जानबूझ कर यह नहीं किया।

अब सोचने की बात है कि क्या कालिदास को इस नियम का ज्ञान नहीं था जिसने दूसरे सर्ग में 'दुष्प्रधर्षा'[3] प्रयोग किया है। यदि वपुष्प्रकर्षात् ऐसा प्रयोग हो भी जाता तो कोई छन्दोभङ्ग न होता। फिर कवि ने ऐसा क्या किया? हमारी दृष्टि में उसने सोच समझ कर इस व्याकरण नियम का पालन नहीं किया। कारण यह है कि इस पद्य में कवि युवा रघु के शारीरिक विकास को प्रस्तुत कर रहा है। विवक्षित वस्तु के अनुसार ही भाषा का प्रयोग भी हो तो विषय हृदयंगम हो जाता है। ओजस्वी वाच्य के कारण पद्य में ओज गुण का परिपाक होना चाहिये। पूर्वार्ध में कवि ने इस ओज का निर्वाह तदनुरूप पदयोजना से किया है। उत्तरार्द्ध में वाच्य उतना ओजस्वी नहीं रहा अतः रचना में ह्रास आ गया। 'वपुः-प्रकर्षात्' में वह ओज सुरक्षित है पर वपुष्प्रकर्षात् कहने में वह है या नहीं, इसे सहृदय लोग स्वयं समझ सकते हैं। पूर्वार्ध में जो पौरुष-व्यञ्जक बिम्ब रघु के डील डौल का प्रस्तुत किया है, उस का प्रभाव बनाये रखने के लिये वपुः-प्रकर्षात् प्रयोग ही उपयुक्त है। इसी प्रकार—

भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार।
तस्याविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम्॥[4]

इस पद्य में अगस्त्य के आश्रम का सङ्केत है। कवि ने अगस्त्य का नाम नहीं लिया है। प्रत्युत उनके असाधारण कार्यों के द्वारा परिचय दिया है। ये दो काम हैं—१ इन्द्र पद पर तपोबल से आरूढ हुए मद मत्त राजा नहुष को गिरा दिया। २ वर्षा ऋतु में गदले हुए नदियों व तालाबों के पानी का स्वच्छ करना। कहा जाता है कि शरद् ऋतु में अगस्त्य तारे का उदय होने पर मार्गों का पानी सूख जाता है और नदियों, तालाबों का पानी निर्मल हो जाता है।[5] इन्द्र देवताओं का राजा कहा जाता है और सौ अश्वमेध यज्ञ करने के पश्चात्

---

१ पा० ८, ३, ४४ २ वही, ८, ३, ६६
३ रघुवंश २, २७
४ वही १३, ३६
५ तु०—प्रसादादयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः। वही, ४, २१
यथा— उदित अगस्त पन्थ जल सोखा॥ रामचरि० ४, १५-१६

इस पद को प्राप्त करता है।[1] जो नहुष उस महान् पद पर प्रतिष्ठित हो सका और वह भी अपने जीवन काल में ही वह कितना प्रतापी होगा ? ऐसे महान् व्यक्ति का इतने ऊँचे पद से गिरा देने पर कितना धमाका हुआ होगा ? कवि यदि शब्दों से उसका वर्णन करने लगे तो उस से पाठकों या श्रोताओं को उसका अनुभव नहीं होगा। इसलिये कवि ने उस का ध्वनिचित्र यहाँ पर प्रस्तुत किया है। जब कोई वस्तु ऊपर से नीचे गिरती है तो एक क्षण अधर में रुकती है। जब पृथ्वी पर पड़ती है तो उस की देर तक गूंज होती है। साथ ही नहुष जब अपने पद से पतित हुआ होगा तो तहलका भी मचा होगा। इसकी ध्वनि 'प्रभ्रंशया या इतने अंश में होती है। इसमें उस धमाके की गूंज भी है। उतनी ऊंचाई से गिरी वस्तु का पृथ्वी तक पहुँचने में कुछ समय भी लगता ही है। नीचे आते आते गिरती वस्तु का वेग हल्का हो जाता है। इस लिये 'नहुष चकार'—ये ध्वनियां अल्पप्राण अधिक हैं।

यहां वैयाकरणों की आपत्ति है कि यह णिजन्त प्रउपसर्गादि भ्रंश धातु के लिट लकार प्रथम पुरुष में प्रभ्रंशयाञ्चकार इकट्ठा पद होना चाहिये था पर कवि ने प्रभ्रंशया इतने अंश को और चकार' को पृथक्-पृथक् कर दिया है, यह अशुद्ध है। परन्तु क्या प्रभ्रंशयाञ्चकार ऐसा कहने से उपर्युक्त ध्वनिचित्र बनना सम्भव था ? शब्द भावों के प्रकाशन के लिये होते हैं, भाव शब्दों के लिये नहीं।

इसी प्रकार का व्याकरण का उल्लंघन कवि ने अन्य श्लोक में 'स पातयां प्रथममास पपात पश्चात्'[2] इस प्रयोग में किया है। यहां भी णिजन्त पत् धातु का लिट में रूप है जो कि पातयामास बनना चाहिये था किन्तु कवि ने पातयां और आम इन दोनों अंशों को विभक्त कर दिया है। वैयाकरणों का कहना है कवि ने वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग किया और उसमें पातयामास' ये क्रिया एक साथ न आ सकी अतः कवि को ऐसा करना पड़ा। पर हम पूछते हैं कि क्या कवि को राजाज्ञा थी कि तुम वसन्ततिलकाछन्द का प्रयोग करो ही करो। वह अपातयत अपीपतच्च' आदि प्रयोग भी कर सकता था पर उसने यही प्रयोग क्यों चुना ? इस लिये कि एक तो कवि शिकार खेलते राजा दशरथ के बाण प्रहार की दृढ़ता का अनुभव कराना चाहता है दूसरे शिकार को किस

---

१ तु० तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी नहि शब्द एष नः।
—र० वं० ३, ५०

२ वही ६,७२

प्रकार उछाल कर नीचे गिराया, इसका शब्द चित्र प्रस्तुत करना चाहता है। जगली जानवर की प्रकृति होती है कि उस पर प्रहार करो तो झपट कर प्रहर्ता पर आक्रमण के लिये उछलता है। राजा ने आरो भैंसे पर आक्रमण किया तो वह प्रहार करने के लिये राजा की ओर उछला। अब राजा को अपनी रक्षा भी करनी थी। उसने भैंसे की आँख पर बाण मारा। वह बाण उसके शरीर को सीधा पार कर गया और पहले उसको नीचे गिरा दिया, पश्चात् आप भी भूमि पर गिर गया।

अब विचारणीय बात यह है कि बाण ने महिष को कैसे गिराया। किसी वस्तु को या तो धकेल कर गिराया जाता है अथवा ऊपर उठा कर नीचे गिराते हैं। बाण आकार और भार में महिष की अपेक्षा छोटा और हलका था अत धकेल कर तो उसे गिरा नहीं सकता था। पर बीध कर ऊँचा उछाल कर गिराना सभव था। इसी क्रिया का कवि ने शब्द-चित्र खीचा है। यहा पा त याम्' इसन अश में क्रमिक आरोह है। यह गिराई जाने वाली वस्तु को ऊपर ले जाने का शब्दानुकरण है। 'था पर आ कर आरोह पूरा हो गया है। ऊपर उठाई गई वस्तु क्षणभर के लिये ऊपर रह कर तभी गिरेगी, इस मध्य-काल की स्थिति का अनुकरण 'प्रथमम् से किया गया है। गिराने म वग के साथ जा ढील है, वह आ त' इस अश मे सूचित हुई है। फिर 'पपात पश्चात्' इसमें स्वय बाण का ऊपर जाकर नीचे गिरना 'प पा त' इस क्रिया के आरोह अवरोह के द्वारा सूचित हुआ है।' कवि की इस सूक्ष्म साभि प्राय दृष्टि को न समझने के कारण शाब्दिक यह उसे अशुद्ध कह बैठते हैं। यहाँ स्मरणीय बात यह भी है कि किसी आलङ्कारिक न इन प्रयोगो को च्युत-संस्कृति के उदाहरण के रूप मे नहीं दिखाया है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वे इन्हे साभिप्राय मान कर दोष नहीं गिनते।

इन उदाहरणो मे इन काव्य बिम्बो द्वारा व्यग्याथ द्योतित किया गया है। यह 'ध्वनतीति ध्वनि'[2] इस व्युत्पत्ति से ध्वन्यर्थ के द्वारा काव्य-बिम्ब प्रस्तुत किया गया है।

ध्वनि के द्वारा काव्यबिम्ब का निर्माण अनेक प्रमाणो से सिद्ध हैं। काव्य

---

१ केचित् कालिदासीया अपाणिनीय प्रयोगा। विम० ५, ३ पृ० २५५-२६३ एवं कालिदास का शब्द-प्रयोग एवं पाणिनीय अनुशासन-कालिदास अङ्क, जम्मू यूनिवर्सि० १६७३ पृ० ४४-४६

२ ला० पृ० १०५

का चरम प्रयोजन आनन्दानुभूति है जो कि चमत्कार भी कहलाती है। रसानुभूति कभी वाच्य नहीं होती सदा व्यङ्ग्य होती है। चमत्कार का स्वभाव है साक्षात्कार या प्रत्यक्षकल्प होना। रस प्रतीति होने पर विभावादि का सारा वातावरण प्रत्यक्षकल्प होता है।[1] भरत ने विभावों को वाचिक और आङ्गिक अभिनयों से सम्बद्ध विषयों को प्रत्यक्षकल्प करने वाला कहा है।[2] दृश्यकाव्य में रङ्गमञ्च पर सारा वातावरण प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी लिये भट्ट तौत और उनके शिष्य अभिनव गुप्त दशरूपकात्मक काव्य को ही वास्तविक काव्य मानते हैं।[3] वामन ने भी उन्हीं को अच्छा काव्य कहा है[4]। स्थिता क्षण आदि पद्य में तो व्यंग्य अर्थ समाधि अवस्थागत रूप में पार्वती की तत्कालीन मुद्रा को प्रत्यक्ष कराता है। ध्वनिकार ने स्वयं स्वीकार किया है कि व्यञ्जक अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ ही अन्य अर्थ को प्रकाशित करता है। जैसे दीपक पहले अपने आप को प्रकाशित करता है तदुपरान्त घर आदि को। जैसे—

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीला-कमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥[5]

यहाँ पार्वती का रूप-यौवन रूप अवहित्था और लज्जा ये भाव ध्वनित हैं जो कि इस अवस्था में पार्वती की मुद्रा को भी मूर्त करते हैं। ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणों को रस धर्म कहा है। उसका तात्पर्य यही है कि ध्वनि विशेष

---

१ द्र०अ० १ टि० ८४

२ नाना द्रव्यबहुविधैर्व्यञ्जनैः भाव्यते यथा। एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह। नाशा० ५ ३५
अभिनय साक्षात्कार सम्पन्न तदुपयोगितया विभावादिव्यपदेश अभिभा० १ २६३

३ काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः। वयं तु ब्रूमः—काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव।
—वही १ २९० ६१

४ कु० स० ६ ८४

५ ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः। —का०प्र०का० ८ १ (६६)

६ यथा गीतादि शब्दानां तथामपि स्वरूप प्रतीतेः व्यंग्यप्रतीतिश्च नियमभावी क्रमः। —ध्वन्या० ४७७

के प्रयोग से प्रथम माधुर्य आदि गुण अभिव्यक्त होते है। वे पुन शृङ्गारादि रसो की अभिव्यक्ति कराते है। शृङ्गारादि रसो की अभिव्यक्ति प्रत्यक्षीकरण के रूप में होती है जो कि भावबिम्ब के अतिरिक्त और कुछ नही है। रागवाचक शब्द भी नाद को अभिव्यक्त करते हुए उनके मूर्तरूप ध्यान को प्रस्तुत करते है। सोमनाथ एव दामोदर मिश्र ने अपने ग्रन्थ मे रागो के मूर्त स्वरूप का ध्यान करने का निर्देश दिया है।[1]

आचार्य कुन्तक ने ध्वनि को पर्यायवक्रता, रूढिवक्रता एव उपचार वक्रता के अन्दर गिना है।[2] उनके उदाहरणो मे भी स्पष्ट होता है कि व्यग्यार्थ की प्रतीति मे काव्यबिम्ब का निर्माण होता है। जैसे —

ताला जाअन्ति गुणा जाला ते सहिअएहि घेप्पन्ति।
रइ-किरणाणुग्गहिआई होन्ति कमलाइ कमलाइ ॥[3]

यहा कमलानि पद पुष्प-विशेष मे रूढ है। पर इस दोहराना मुख्यार्थ मे बाधा उत्पन्न करता है कि कमल कमल बन जाते है। कमल तो कमल ही रहेगे चमेली या गेंदा तो बन नही जायेंगे। तब ऐसा क्या कहा ? अत द्वितीय कमल विकास धर्म से युक्त कमल इस अर्थ का लक्षित करता है इससे सुगन्ध मनोज्ञता आदि धर्मो से विशिष्ट होने का बोध होता है। यह व्यग्य अर्थ जब प्रतीत होगा तो प्रमाता को खिले कमल के रूप के साथ सुगन्ध सौन्दर्य आदि का भी बोध होगा जो कि मूर्त हुए बिना सम्भव नही। अत यह ऐन्द्रिय बिम्ब बन जायगा।

पर्याय-वक्रता को स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने लिखा है कि श्लेष आदि किसी चमत्कारक विधा के स्पर्श से किसी निश्चित समानार्थक शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ को (भूषित या प्रत्यक्षरूप करने मे समर्थ होता है) जैसे—

कुसुम-समययुगमुपसहरन्नुत्फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो ग्रीष्माभिधानो महाकाल ।[4]

---

१ दूर्वाभविभा विरहासहा लिखन्ती पट पति रुदती।
स्नपित-कुचा-मितगल्ला स्थिर-धम्मिल्ला धनाश्री स्यात् ॥
—सोमनाथ राग विबोध, ५, १७७

२ स्फटिकरचित-पीठे रम्य कैलासशृङ्गे विकच-कमलपत्रैरर्चयन्ती महेशम्।
करधृतघनवाद्या पीतवर्णायताक्षी सुकविभिरियमुक्ता भैरवी भैरवस्त्री ॥
—सङ्गीतद० रागाध्या० ४८

३ वक्रो० २, ६ के साथ

४ तु० रम्य रमणीय यच्छायान्तर विच्छित्त्यन्तर श्लिष्टत्वादि तस्य स्पर्शात् शोभान्तर-प्रतीतेरित्यर्थ । कथम् स्वय विशेषणेनापि। स्वयमात्मनैव स्व-विशेषणभूतेन पदान्तरेण वा ॥ कुसुम-समय इत्यादि। (हच० पृ० ११६) वही० ८८-८९ पृ०

इसमें 'युगभुपमहरन्' 'अटटहास' 'महाकाल' शब्दों का चुनाव प्रस्तुत ग्रीष्मकाल के लिए प्रयुक्त होने पर भी अप्रस्तुत प्रलयकारी महादेव का बोधक होने से अदभुत चमत्कार का अनुभव कराते हुए 'महाकाल इव महाकाल' इस प्रकार अलंकार का बोध कराते हैं। यहाँ वाच्यार्थ से ग्रीष्म ऋतु का बोध होने के साथ व्यञ्जना से महाकाल—शंकर के अर्थ की प्रतीति होती है। फलस्वरूप श्वेत अटटहास करते महाकाल का मूर्त रूप उभर आता है।

ध्वनि जब वस्तु रूप होगी तब वस्तु का बोध करायेगा। जैसे इस उद्धृत अंश में महाकाल देवता का बोधक होता हुआ उन्हीं के स्वरूप को प्रत्यक्ष करता है। पर जब अलंकार ध्वनि होती है तो अलंकार्य वस्तु को प्रतीत करायगा। जैसे ऊपर के ही उदाहरण में अप्रस्तुत महाकाल की समानता में खिली चमेली के पुष्पों से शोभायमान वसन्त को समाप्त करते ग्रीष्म ऋतु का वातावरण मूर्त हो उठता है।

इस प्रकार वस्तु ध्वनि एवं अलङ्कारध्वनि द्वारा निर्मित काव्य बिम्ब के उदाहरण इस अध्याय में दिये गये हैं। रस ध्वनि से काव्य बिम्ब की सिद्धि का प्रतिपादन आगामी पृष्ठों में किया जायेगा।

---

१ तु० यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलङ्कारान्तरं शब्दशक्त्याप्रकाशते स सर्व एव ध्वनेर्विषयः। यथात्रान्तरे कुसुम० इत्यादि।

—ध्वन्या० पृ० २४१।

छठा परिच्छेद

रस-भाव ध्वनि एव काव्य-बिम्ब

काव्य का मुख्य विषय भावतत्त्व—बृहदारण्यक उपनिषद् मे ब्रह्म के दो रूप बतलाये गये है—मूत और अमूत[1] मूत पदार्थ व है जो कि ऐन्द्रिय सनिकर्ष के विषय बनते है। चराचरात्मक स्थूल जगत् सारा मूत कहलाता है क्योकि उसका प्रत्यक्ष पाचो ज्ञानेन्द्रियो म से किसी न किसी एक इन्द्रिय से किया जाता है।[2] अमूत वे है जिनकी सत्ता तो विभिन्न साधना से सिद्ध है पर ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष सम्भव नही। इसी श्रेणी मे प्राणियो के मानस व्यापार आते है।[3] इनका ज्ञान बाह्य प्रतिक्रियाओ के द्वारा ही सम्भव है। शब्द से कहने पर भी उनका अनुभव नही होता तथा बिना कहे सुने भी बाह्य व्यापारो या प्रतिक्रियाओ स ज्ञान हो जाता है।[4] इस श्रेणी म मनोभाव, विकार वृत्ति एव रस आदि की गणना होती है। उनमे भी नौ मनोभावो को स्थायी,[5] तैतीस को सचारी माना है[6], शेष का उनमे ही अतर्भाव कर दिया है।[7]

---

१ द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूत चैवामूत च मर्त्यं चामृत च स्थित च यच्च त्यच्च २, ३, ।

२ यत्र द्रव्यत्वे सति बहिरिन्द्रिय-प्रत्यक्षवत्त्व तत्रोद्भूतरूपवत्त्वम्।

—तम दी० पृ० ४२

३ सु० भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिता। ये त्वेते ऋतु-माल्यादयो विभावा बाह्याश्च बाष्पप्रभृतयोऽनुभावा एतात्तजहस्वाभावास्ते न भावशब्दव्यपदेश्या।

—अभिभा० १, पृ० ३४२

४ वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तगत भाव भावयन भाव उच्यते॥—नाशा० ७, २

५ रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भय तथा।
जुगुप्साविस्मयश्चेति स्थायिभावा प्रकीर्तिता॥ —वही ६, १७

६ निर्वेदाद्यास्त्रयस्त्रिंशत् व्यभिचारिण। —वही भा० १, पृ० ३४५

७ स्थायित्व चेतावतामेव। जात एव हि जन्तुरियतीभि सविद्भि परीतो भवति। तथाहि दुखसश्लेषविद्वेषी सुखास्वादनसादर। इतिन्यायेन

काव्य में क्योंकि अनुभूतियों एवं विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होने वाली मानस वृत्तियों स्थायी तथा परिवर्तनशील मनोवेगों का चित्रण व विश्लेषण होता है अतः यह भावजगत ही काव्य का प्रधान विषय है। परन्तु भावों के उदय लय एवं परिवर्तन के लिए इस मूर्त रूप के व्यापार ही उत्तरदायी होते हैं इसलिए आलम्बन उद्दीपन पृष्ठभूमि आदि के रूप में उसका भी वर्णन किया जाता है।

संस्कृत काव्य शास्त्र के अनुसार इन भावों का विश्लेषण रस स्थायीभाव एवं सञ्चारी भाव के रूप में होता है। भाव और रस दोनों में क्या अन्तर है, इस पर कुछ प्रकाश भोज ने डाला है। उनके अनुसार चर्वणा की अवस्था तक भाव रहता है परन्तु उसमें अगली परिपाकात्मक अनुभूति को पहुँचने पर वही रस बन जाता है। भाव रस रूप में किस प्रकार परिवर्तित या परिणत होता है इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम अधिकारी वचन भरत का रस सूत्र है जिसकी विभिन्न व्याख्याएँ आचार्यों ने की हैं जिनमें भट्ट लोल्लट भट्ट शंकुक भट्ट नायक और अभिनव गुप्त के चार मत प्रधान हैं जिन्हें मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में विवेचित किया है। जगन्नाथ ने अर्वाचीन आचार्यों के भी कुछ मत दिखाये हैं।

यद्यपि भरत अपने सूत्र में स्पष्ट रूप में विभाव अनुभाव आदि का निर्देश कर चुके थे[2] तथा सामाजिक को रस का आश्रय घोषित कर गये थे।[3] तथापि

सर्वो गिरसयो जाने स्वात्मस्युत्कर्षमानितया परमुपहसन्नभीष्टवियोग सन्तप्तस्तद्दर्शनेप्सुः कामपरवशोऽशक्तो च लता भारु किञ्चिदार्जिजापुरुष्य-नुचितवस्तुविपर्ययैमुग्ध्या मकनयाऽऽनन्ति किञ्चिदनभीष्टतयाऽभिमत्यमान-स्तान्तकतव्यदशनभमर्दितविस्मय किञ्चिच्च जिह्मामुख जायते।

—अभिभा० भा० १ पृ० २८३

१ आभावनोदयमनन्यधिया जनेन
यो भाव्यते मनसि भावनया स भाव ।
यो भावनापथमतीत्य तु वर्तमान
स्वाहङ्कृतौ हृदि परं स्वदते रसोऽसौ ॥ —शृप्र० २, पृ० ४३६

२ तत्र विभावानुभावसचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति ।

—नाशा० भा १, पृ० २७२

३ यथा हि नानाव्यञ्जन-संस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसान् स्वादयन्ति सुमनस पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गस-त्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस प्रेक्षका हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति,

—वही, भा० १, पृ० २८८-८९

कुछ समय तक रस के वास्तविक अनुभविता के सम्बन्धन में स्थिति अस्पष्ट रही। भट्ट लोल्लट के अनुसार काव्य-नाटक का रामादि मुख्य पात्र ही रस का आश्रय ठहरता था। शङ्कुक के अनुसार रामादि की भूमिका में आया नट रस का आश्रय था। भट्टनायक ने सामाजिक को रस का आश्रय स्वीकार किया और उसके लिए साधारणीकरण व्यापार की उद्भावना की परन्तु सामाजिक की रति को कोई स्थान न दिया जाने से उनका मत भी मान्य न हुआ। पुनः भावकत्व व्यापार और भोगीकरण इन दो व्यापारों की उद्भावना कल्पना भी थी उनमें भावक व्यापार साधारणीकरण और भोग आस्वादन या रसन एक ही है जो व्यञ्जना के द्वारा होता है।

दण्डी आदि आचार्यों के मत में भाव सीमा रस रूप में परिणत होता है।[1] उसके लिए कोई प्रक्रिया आदि अपेक्षित नहीं है। यही मत भट्ट लोल्लट आदि का भी था।

उत्पत्तिवाद—*भरत के सूत्र में आये निष्पत्ति शब्द का अर्थ उत्पत्ति करके* भट्ट लोल्लट आदि मुख्य पात्र के वर्तमान में न रहने पर भी काव्य में वर्णित सामग्री के द्वारा उसकी रति की रस रूप में परिणति मानते थे। पर इस प्रकार वर्तमान में रत्यादि के न रहने पर भी रस की निष्पत्ति भ्रान्ति-मात्र सिद्ध होती है।[2]

अनुमितिवाद—भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद को न मानते हुए शङ्कुक ने अनुकार्य की भूमिका में आये नट के आहार्यादिचार प्रकार के अभिनय रूप लिङ्ग के द्वारा अनुकर्ता में स्थायी की अनुमिति को ही रस माना है।[3]

---

१ रति शृङ्गारता गता। रूप बाहुल्य योगेन। —काद० २, २८१
अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः। —वही, २ २८३

२ *विभावादिभिः संयोगादर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः*। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्रविवक्षिता। तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी भवत्यनुपचितः। स चोभयोरपि, (मुख्यया वृत्त्या रामादौ) अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात् इति। चिरन्तनानां चायमेव पक्षः। —अभिभा० भा० १ पृ० २७२

३ तस्माद्धेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायीभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः। अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः। —वही पृ० २७३

अनुकृतिवाद—इस प्रसङ्ग में शङ्कुक ने अनुकरण की चर्चा की है। उनके अनुसार नाट्य में नट अपनी शिक्षा के द्वारा अनुकार्य रामादिका अनुकरण करता है, धनुष मुकुट आदि से आहार्य, रोमाञ्च आदि से सात्त्विक, शारीरिक चेष्टाओं से आङ्गिक एवं वाणी से वाचिक अभिनय करता हुआ अपने आप को अनुकार्य से अभिन्न दिखाता है। परिणाम-स्वरूप सामाजिक उस नट को ही रामादि पात्र समझता है और उसमें सीतादिविषयक रत्यादि का अनुमान करता है।[1] इस प्रकार अभिनेता द्वारा किया गया अनुकरण रसानुमिति का कारण होता है।

यद्यपि केवल अनुकरण नट में स्थायी की अनुमिति में उसकी अवास्तविकता सूचित होती है। फलतः वह मिथ्याज्ञान ही हुआ। उसमें शृङ्गारादि रसों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार का बाधक ज्ञान भी हो सकता है। तथापि इसका समाधान यह है कि मणि-दीपक न्याय में अत्यन्त समानता के कारण अवास्तविक रत्यादि से भी शृङ्गारादि का उदय हो जायगा। अभिनय राम से सर्वथा पृथक् होने पर भी चित्रतुरग न्याय से सम्यक् मिथ्या संशय और सादृश्य के बाध से भिन्न ज्ञान से अभिन्न प्रतीत होता है।[2]

यहाँ भट्टतौत को प्रमाण मानते हुए अभिनव ने शङ्कुक का मत निम्न तर्कों के आधार पर सारहीन बताया है—

१ भरत ने कहीं स्थायी के अनुकरण का निर्देश नहीं किया है।[3]

२ अनुकरण अविकृत रूप में देखी गई वस्तु का ही होता है। जब सामाजिक ने रामादि को देखा ही नहीं तो कैसे समझेगा कि नट उनका अनुकरण करता है? उनकी वेष भूषा चेष्टादि को देखकर रत्यादि के अनुकरण की भावना उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। क्योंकि वे जड़ हैं। भाव मानस व्यापार होने से सूक्ष्म हैं। चेष्टाएँ नेत्रग्राह्य होती हैं तो रत्यादि हृदय से बोध्य। रति आदि

---

१ विभावा हि काव्यबलानुसंधेयाः। अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसंधेयः। रतिः शोक इत्यादयो हि शब्दाः रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन।
　　　　　　　　　　　　　　　　अभिभा० भा० १ पृ० २७३

२ वही।

३ न च मुनिवचनम् एवंविधमस्ति क्वचित् स्थाय्यनुकरणं रसा इति।
　　　　　　　　　　　　　　　　—वही, पृ० २७६

अनुकार्यगत है तो भ्रूविक्षेपादि चेष्टाएँ अनुकर्तृगत। इसलिए देश-गत अन्तर है।[1]

३. नट के हृदय में स्थिति रति को राम की रति का अनुकरण मानें तो तो वह किस रूप में और किसके लिए है? यदि नट के चारों प्रकार के अभिनय में नट की मानसिक स्थिति की ही रति के रूप में प्रतीति मानें तो वह अनुकरण नहीं रहेगी। न सामाजिक नट-गत रति को कृत्रिम मान सकता है। ऐसा समझने पर रसानुभूति भी सम्भव न होगी। वास्तविक रति का अभाव जो ठहरा।[2]

४. काव्यार्थ-बोध से आलम्बन आदि का बोध मानना भी सगत नहीं। क्योंकि नट सीता को कभी अपना आलम्बन नहीं समझता। अनुसंधान का अर्थ बोध-योग्य होना लेने पर अनुकरण की अपेक्षा साक्षात् रति को ही क्या न स्वीकार किया जाए। स्थायी भाव के ही रसानुभूति का मुख्य तत्त्व होने से सामाजिक नट की वेषभूषा देखकर एवं उसके द्वारा कहे गये—

> सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।
> मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता॥[3]

तथा—

> दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुति
> चेतः कालकलामपि प्रकुरुते नावस्थितिं तां विना।
> एतैराकुलितस्य विक्षततरैरङ्गैरनङ्गातुरैः
> सम्पद्येत कथं तदाप्तिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम्॥[4]

इस प्रकार के वचन सुनकर उसी को रावण समझेंगे।

शङ्कुक ने जो स्थायी के अनुकरण में रस की प्रतीति कही है, उसके सम्बन्ध में एक प्रश्न यह और उठता है कि अनुकरण से उनका अभिप्राय क्या है। 'अनु' का अर्थ सदृश भी है और पश्चात् भी। यदि कहा कि सादृश्य अर्थ लेकर नट रामादि की चित्तवृत्ति का अनुकरण करता है तो यह सम्भव ही नहीं है। क्योंकि पहले मूल वस्तु को जान लेने पर ही उसके सदृश चेष्टा या नक़ल होती है।[5] जब गाय को कोई देख लेता है, तभी कह सकता है कि गवय गाय

---

१ अभिभा० भा० १ पृ० २७४।
२ वही, पृ० २७५
३ का० प्र० का० ४, २६ (उदा०)
४ लो० एवं बापि० —पृ० १७८
५ अभिभा०, पृ० २ ५

के जैसा है। जब नट ने राम को या उसके भावको यथार्थ रूप में जाना ही नहीं तब भला वह कैसे यह दावा कर सकता है कि मैं राम की चित्तवृत्ति का अनुकरण कर रहा हूँ। यदि 'अनु' का अर्थ पश्चाद्भाव लें तो अर्थ यह होगा कि मैं राम के पीछे करता हूँ। तो राम के पश्चात् होने वाला जो लोक है उसे भी अनुकरणस्वरूप मानना होगा जो कि प्रकृत से दूर है। यदि कहें कि किसी निश्चित व्यक्ति का अनुकरण नहीं बल्कि उत्तम प्रकृति पात्र के शोक का अनुकरण करता हूँ तो प्रश्न होगा कि किस वस्तु के द्वारा यह अनुकरण करते हो। क्योंकि शोक के द्वारा तो अनुकरण सम्भव है नहीं, नट को शोक किस बात का? जब वह शोक का अनुभव ही नहीं करता तो अनुकरण कैसे करेगा? आँसू आदि बहाकर यदि शोक का अनुकरण करने की बात कहो तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि आँसू बहाना स्थूल काय या चेष्टा है जब कि शोकादि भाव मानस व्यापार होने से सूक्ष्म हैं। स्थूल से सूक्ष्म का अनुकरण सम्भव नहीं है। अतः केवल यह कह सकते हो कि रामादि के शोक के अनुभावों का अनुकरण कर रहा हूँ।[1] पर तब भी कठिनाई यह खडी होगी कि जब तक रामादि के शोक के अनुभावों को देखा नहीं, तब तक उनका अनुकरण कैसे किया जा सकता है?

वस्तुतः नाट्य में अवस्था के अनुकरण का विधान है, किसी भाव का नहीं। जैसे कोई यदि मृतक का अनुकरण करता है तो वह मृतक की भाँति श्वास-क्रियादि रोक कर निश्चेष्ट होकर उसकी नकल करता है न कि मर कर। मर ही गया तो अभिनय क्या करेगा? अतः स्थायी का अनुकरण सभव नहीं है। भरत ने भी स्थायी के अनुकरण को रस नहीं कहा है। शृङ्गार रस के अनुकरण को हास्य का उत्पादक अवश्य माना है अथवा शृङ्गाराभास का।[2]

यहाँ एक भ्रान्ति यह हो सकती है कि अभिनवगुप्त अनुकरण के सिद्धान्त का खण्डन करके सत्य का अपलाप कर रहे हैं। क्योंकि जब वे नाटक आदि रूपक को ही वास्तविक काव्य मानते हैं और नाट्य अभिनयमूल होता है। अभिनय अनुकरण को ही कहते हैं।[3] अभिनय के द्वारा कथावस्तु को रसास्वाद की ओर ले जाया जाता है। भरत ने स्वयं नाट्य को अवस्थानुकृति और

१ अभिभा० भा० १, पृ० २७५

२ यदपि 'शृङ्गारानुकृतिर्यातु स हास्य' इति मुनिना निरूपित तथाप्योत्तर कालिक तत्र हास्यरमत्वम्। —लो० पृ० १७८

३ भवेदभिनयोऽवस्थानुकार स चतुर्विध। —साद० ६, २

लोकवृत्तानुकरण रूप माना है।[1] अभिनेता को इस अनुकरण के कारण ही अनुकर्ता कहा जाता है। नाटक में वह स्वयं तो राम या रावण का स्थान ले नही सकता। यही सबको अनुभव होता है कि राम या रावण के चरित्र का अभिनय हो रहा है। बच्चे भी रामलीला आदि देखकर उसके अनुकरण में धनुष-बाण आदि लेकर उसी प्रकार की चेष्टा करते है एवं लोग देखकर हँसते हैं। फिर शङ्कुक ने क्या अनुचित बात कही जो अभिनव गुप्त ने इस प्रकार उनके विचारो का खण्डन किया है।

वस्तु स्थिति यह है कि अभिनवगुप्त अनुकरणवाद को अस्वीकार नही करते। उन्हे आपत्ति शङ्कुक की व्याख्या पर ही है। प्रसङ्ग यहाँ रसोत्पत्ति का है। शङ्कुक के अनुसार नट मे रत्यादि की वास्तविक उपस्थिति नही रहती। पर ऐसा मानने मे मूलोच्छेद होता है। क्योकि स्थायीभाव की अनुपस्थिति मे रसोद्बोध की भी सभावना नहीं रह जाती।

इस लिये अभिनव गुप्त का कहना है कि वास्तव मे नट जब रङ्गमच पर राम की भूमिका मे आता है तो वस्तु-स्थिति का ज्ञान उसे भी रहता है। परन्तु जब वह 'रामेणप्रियजीवितेन' और 'स्निग्धश्यामल' आदि वचनो को बोलता है, इनका अर्थ उस भी समझ मे आता है, फलस्वरूप उसे अपनी कान्ता आदि विभाव का स्मरण हो जाता है। उस स्मरण के कारण उसके हृदय मे नित्य वासनारूप मे विद्यमान स्थायी उद्बुद्ध हो उठता है। परन्तु वह तो राम की भूमिका मे है, उसके अपने स्थायी का राम के स्थायी के साथ सन्तुलन कैसे होगा? इस लिये समान अनुभूति होने मे साधारणीकरण हो जाता है। इसके आधार पर वह अपने आपको राम ही दिखाता है। जब यह तन्मयता उसमे आ जाती है, सामने विद्यमान सीता की भूमिका मे स्थित अभिनेत्री उसके लिये सीता ही हो जाती है। उसके मुकुट, जटाजूट और मुनिवेष एव वचन आदि अभिनय, रगमच पर बना वन का दृश्य सारे वातावरण को वास्तविक सा प्रत्यक्ष बना देते हैं। उस समय सामाजिक नट को 'यह वह व्यक्ति है' । इस रूप मे नही समझते बल्कि राम है, यही समझते है।[2] शङ्कुक मत के अनुसार यह

१ लोकवृत्तानुकरण नाट्यमेतन्मया कृतम्। —नाशा० १, ११२

२ तु०—मुकुट-प्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढप्राक्तनहृदयसस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अत एवोभय देशकालत्याग। रोमाञ्चादयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तत्रापि लौकिका (त्वावलोकिता) देशकालनियमेन तत्र रतिं गमयन्ति। यस्या स्वात्माऽपि तद्वासनावत्त्वादनुप्रविष्ट। अत एव न तटस्थतया रत्यवगम।

स्थिति नहा आती। नट म राम का आरोप करने मे आहार्य बुद्धि ही होती है।

अनुकरणवाद की परम्परा

अनुकरणवाद जिस प्रकार भारत मे भरत के नाट्यशास्त्र से चला, पश्चिम म अरस्तू म, जिन्होंने कविता नाट्यकृति आदि को अनुकरण (Imitation) का परिणाम माना।[1] प्लेटो के अनुसार सृष्टि के प्रत्यक पदार्थ का स्रष्टा परमात्मा है उसका अनुकरण कुम्हार आदि करते हैं। उनकी रचनाओं का प्रतिकृति कलाकार तैयार करते हैं। अत उनकी रचनाएँ नकल की नकल भी होन से सवथा अवास्तविक है।[2] प्लेटो का दृष्टिकोण आदशवादी था। किन्तु अरस्तू की दृष्टि कलावादी थी। इस लिये अनुकरणवाद क सन्दभ म उनकी भावना निन्दा (Condemnation) का न थी। प्रत्यक कलाकृति अनुकरण पर निर्भर है। आदि होरस प्राचीन ग्रीक लेखक कवि के लिय प्राचीन लखकों की कृतियों का अनुशीलन आवश्यक मानत थ।[3]

वास्तव म अनुकरण दो प्रकार का होता है एक वह जो किसी वस्तु की सर्वांश म पूर्ण प्रतिलिपि हो। दूसरी वह जो कि मूल वस्तु पर आधारित नई कृति हो। इनम यदि प्रथम प्रकार की कृति काव्य-क्षेत्र म होगी तो वह निन्दित और चोरी समझी जायगी। परन्तु यदि पहली रचना के आधार पर कलाकार कोई नई उत्कृष्ट कृति तैयार करता है तो उसकी विशेषता होगा। बाण ने पहले प्रकार के कवियो के सम्बन्ध म लिखा है—

अन्यवर्णपरावृत्त्या बन्ध चिह्न निगूहनै।
अनाख्यात सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते।।[4]

न च नियतकारणतया। येनाजनाभिष्वङ्गादिसम्भावना। न च नियत-परात्मैकगततया। यन दुखद्वेषाद्युदय। तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्तेरे-कस्या एव वा संविदा गोचरभूता रति शृङ्गार। साधारणी (भावना च) विभावादिभिरिति। —अभि भा० २८६

1 Epic poetry and tragedy comedy also and dithyrambic poetry and the music of the flute and of the types lyre in most of their forms are all in their general conception modes of imitation

—राम अवध द्विवेदी—साहित्य सिद्धान्त पृ० १७

२ वही पृ० १६

३ वही, पृ० १२

४ हर्ष० प्रस्ता० ७

उद्भट ने कालिदास के कुमारसभव के आधार पर अपना काव्य लिखा और उसका नाम भी कुमारसभव रखा। इससे उन्हे यश नही मिला। इसके विपरीत कालिदास ने रामायण मे रामचरित्र लिया, कही-कही भाव-साम्य भी है किन्तु उनके काव्य म मौलिकता है। उन्होंने कथानक की सामग्री वहां से ली पर उसे अपने ढग मे सुसज्जित किया। कुमारसभव की कथा शिवपुराण मे मिलती है पर कोई यह नही कह सकता कि कुमारसभव शिवपुराण की नकल है। महाभारत म वर्णित शकुन्तला अभिज्ञानशाकुन्तल मे सवथा बदल गई है। आनन्दवर्धन ने भी किसी सीमा के भीतर अनुकरण को ग्राह्य माना है।[1] अरस्तू की मान्यता है कि अनुकरण केवल बाह्य क्रिया नहीं है और न वह जीवन का वाचिक प्रतिलिपि मात्र है। कवि अनुकरण द्वारा रूप और नवीन अर्थ की सृष्टि करता है तो जो प्रत्यक्ष है उसे परोक्ष से मिला देता है।[2]

पर यदि यह अनुकरण सत्य के सर्वथा समीप हो, प्रतिलिपि यथाथ मे मूल वस्तु प्रतीत हो तो भी कलाकार प्रशसा का ही पात्र होगा। नाटक म यह अनुकरण की प्रवृत्ति ही तो होती है। डार्विन के मतानुयायी जो कि मानव को अनुकरण म सर्वथा कुशल बन्दर का वशज स्वीकार करत हैं अनुकरण को मानव की मूल प्रवृत्ति मानते है। काव्य म शब्दो से, चित्र मे रेखाओ स मूर्ति मे आकृति से और नाटक म वेप-भूषा व वातावरण तथा अभिनय मे अनुकरण किया जाता है।

इस प्रसग मे अरस्तू का कथन है कि अनुकरण का विषय है क्रियाशील मानव। क्रियाशील मानव से यह स्पष्ट सकेत है कि मनुष्य की चर्चा यहा उस के सजीव रूप मे की गई है जिस मे वह कर्ता तो होता है और भोक्ता भी। क्रिया केवल बाह्य कर्तव्यों का नाम नही है, अपितु अन्तर्वृत्तियो का समावेश भी अनिवार्य रूप स होता है।[3]

नाटक म या काव्य मे जब मानव की इन अन्तर्वृत्तियो का भी प्रस्तुतीकरण सम्पन्न होता है, तभी वास्तविक अनुकरण होता है।[4] नाटक मे अभिनय ही प्रधान होता है और अवस्था का अनुकरण ही अभिनय कहलाता है।[5] आरभ

---

१ तु० तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्।
तृतीय तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्य त्यजेत् कवि। —ध्वन्या० ४,१३

२ मा०मि० पृ० १७

३ वही पृ० १७

४ त्रैलोक्यस्यास्य सवस्य नाट्य भावानुकीर्तनम्, नाशा० १, १०७

५ भवेदभिनयोऽवस्थानुकार। साद० ६, २

म भरत नाटय को स्पष्ट रूप म लोकवृत्तानुकरण घोषित करते हैं।[1] इसी नाटय के दो प्रकार माने है—लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। इनम जो नाट्य पात्रा का प्रकृति और मनाभावो को तो प्रस्तुत करता हो परन्तु शुद्ध और आडम्बर से रहित हो लौकिक व्यापार और सामान्य जन क दिनन्दिन व्यवहार स युक्त हो अङ्गा की लीला—हाथ आख आदि छ अङ्गो स किया जाने वाला अभिनय निसम न हो अनेक स्त्रिया और पुरुषो पर आश्रित स्वाभाविक अभिनय वाला नाटय लोकधर्मी कहा जाता है।[2] लेकिन जिसम पात्र सामान्य श्रेणी म ऊपर के स्तर क बढ चढ कर वचन बोलते हो छ अङ्गो स किये जाने वाले अभिनय अट्टहास आदि स युक्त हो स्वर उदात्तादि एव अलङ्कार आदि स युक्त वचन बोले जायें दिव्य और उनकी श्रेणी के राजा आदि के चरित्र पर आश्रित हो पवन रथ आदि वाहन तलवार ढाल आदि सभी सामान म युक्त नाटयधर्मी होता है।[3]

इन दोनो म ही अभिनय अवस्था का होना है। राजा की स्थिति म मनुष्य कैसे वस्त्र पहनेगा कैसे बातें करेगा सुख-दुःख की स्थिति मे कैसी चेष्टा करेगा किस प्रकार के भाव प्रकट करेगा य सब अभिनय द्वारा दिखाया जाता है। इस अभिनय के द्वारा पात्र क अन्तर्मन का ज्ञान होता है। जब दुष्यन्त कहता है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तु ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥[4]

ये वाचिक अभिनय सामाजिक को भान कराता है कि राजा को किसी की याद सता रही है। कवि यहाँ अभिनय सङ्केत देता है 'इति पर्युत्सुकस्तिष्ठति" सचिन्तस्तिष्ठति स्मृतिम् अभिनयति' आदि न कि स्मरण करोति' या 'स्मरति' आदि। सचिन्तस्तिष्ठति का अर्थ भी चिन्तनमभिनयति' ही होगा। इसीलिये भरत न नाट्य क लिये भावानुकीर्तन शब्द का प्रयोग किया है न कि भावानुकरण का। इसका तात्पर्य अभिनवगुप्त न इस रूप म समझाया है

---

१ नानाभावोपसम्पन्न नानावस्थान्तरात्मकम् । लोकवृत्तानुकरण नाट्यमेतन्मया कृतम । नाशा० २ ११२
२ वही, १३, ६७-६८
३ वही, १३, ६८-६६ ७२
४ शाकु० ५ २

कि अनुव्यवसाय का अनुभव कराना ही नाट्य है।[1] अनुव्यवसाय का अर्थ होता है किसी वस्तु को देखकर द्रष्टा का यह अनुभव करना कि मैं इस वस्तु को देख रहा हूँ। किसी अभिनेता में जब अभिनेय का आहार्य ज्ञान किया जाता है तो आरोप होता है कि नट को रामादि समझ लिया जाता है। तब अभिनेता अपने अभिनय से सामाजिक को अनुभव कराता है कि मैं रामादि को देख रहा हूँ। यदि लोक की भाँति अनुकरण का अर्थ लिया जाय तो सामाजिक यह समझेगा कि यह रामादि की सी चेष्टा कर रहा है। अभिनय काल में सामाजिक को यदि यह भेद-बुद्धि हो गई तो सारा ही आनन्द जाता रहेगा। क्योंकि दूसरे की चेष्टा का अनुकरण करने से तो औरों को हँसी आती है। इसी लिये शृङ्गार से हास्य की उत्पत्ति बताई गई है। इसी कारण अभिनव ने जहाँ अनुकरण का निषेध किया है, वहाँ यह भ्रम होता है कि वे अनुकृतिवाद के विरोधी हैं। पर उनकी दृष्टि में अनुकरण वही है जिसमें अनुकर्ता और अनुकार्य का सामान्यीकरण हो जाय। तब सादृश्यज्ञान न रहने से भेदबुद्धि नहीं होगी।[2] जान ड्राइडन की परिभाषा के अनुसार नाटक मानव-स्वभाव का एक मनोरञ्जक चित्र है जो उसकी भावना और भाग्यपरिवर्तनों को निरूपित करता है। चित्र में भी मनुष्य की अवस्था को ही प्रस्तुत किया जा सकता है जिससे द्रष्टा उस अवस्था में चित्रित व्यक्ति की आन्तरिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं को स्वयं अनुमान आदि द्वारा जान सके।[3] यह कथन अभिनव गुप्त के विचार के निकट है। शङ्कुक के मत से भरत या अभिनव का मत इसीलिये दूर जा पड़ता है कि शङ्कुक केवल बाह्य अभिनय को ही स्वीकार करते हैं। आन्तरिक भाव की सत्ता भी स्वीकार नहीं करते। इसके विपरीत अभिनव की मान्यता है कि बाह्य चेष्टामात्र का अनुकरण रसानुभूति नहीं करा सकता। क्योंकि उसमें प्राण नहीं होता। अतः नाटक में अनुकरण के स्थान पर अभिनय होता है जिसके द्वारा पात्र के

---

१ अभि० भा०, १, पृ० ३७

२ तु०—न हि नटो रामसदृश स्वात्मना शोक करोति। सर्वथैव तस्य तदभावात्। भावेष्वननुकारत्वात्। न चान्यद् वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृशं स्यात्। अनुभावांस्तु करोति। किन्तु सजातीयानेव। न तु सदृशान्। साधारणस्पस्य च येन सादृश्यार्थ।

—अभि० भा० १, पृ० ३७

३ सा० सि० पृ० २०

मनोभावों का भी ज्ञान होता है। कुप्पू स्वामी शास्त्री ने इस बात को विस्तार से स्पष्ट किया है।[1]

प्रकृत में इस अनुकृतिवाद की उपयोगिता यही है कि शङ्कुक ने अभिनय को अवगमनशक्ति के नाम से पुकारा है।[2] अवगमन व्यञ्जन या ध्वनन से पृथक् नहीं है। उसकी अपेक्षा भाव या रस के मूर्तन के लिये होती है। क्योंकि रस-

---

1 The answer is simple Abhinavagupta gives us that the imitation spoken of by Bharata and that spoken of by Sri Sankuka are poles asunder Sri Sankuka speaks of and means the mechanical imitation of one person by another Bharata on the other hand, speaks *of imitation not exactly* in the sense of 'अनुकरण'' but really in the sense of 'अनुव्यवसाय'' This is what, according to Abhinavagupta Bharata means The poet is steeped in the experience of the world By the force of his wide observation and the faculty of imagination in him, he selects, regroups and rearranges human qualities and features and creates his own personages—'of various essences distilled' He names one Rama and another Ravana simply in order that his readers might easily understand what he creates, because, these are Puranic figures and because the world already associates good qualities with some and wicked ones with others of these known figures The actor, being likewise a man of *worldly experiences* makes his imitation in the sense of idealisation The critical spectator is in quite a similar case He knows how to distinguish the idealisation of characters by the creative artist from the imitation of persons by the mechanical mimic The difference be ween Bharata's discussion of imitation and Sri Sankuka's is beautifully stressed by Abhinavagupta in the following statements

तदिदमनुकीर्तनमनुव्यवसाय-विशेषो नाट्यापरपर्यायो नानुकार इति भ्रमितव्यम्। (A B P 36)

२ अवगमनशक्तिर्हि अभिनयन वाचकत्वादन्या। अत एव स्थायिपद सूत्रे भिन्नविभक्तिकमपि नोक्तम्। तेन रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गार इति तदात्मकत्व तत्प्रभवत्व च युक्तम्। —अभिभा० पृ० २७३

भावादि वाच्य नहीं होते, सदा व्यंग्य ही होते हैं। जब वस्तुध्वनि भी व्यञ्जना के द्वारा ही बिम्बित होती है तो मनोभाव एवं उनकी परिपाकावस्था अवस्था भला किस प्रकार अभिहित हो सकती है? अनुकरण ही अभिनयन है। अतः किस प्रकार का अनुकरण प्रकृत उद्देश्य की सिद्धि के लिये हो सकता है, यह उपर्युक्त विवेचन से तुलनात्मक विश्लेषण में स्पष्ट हो गया है।

भट्टनायक का भावकत्व एवं भोगवाद

मीमांसक भट्टनायक ने रसानुभूति या उसके साक्षात्कार के लिये भावकत्व नामक व्यापार की कल्पना की है जो कि अभिनव गुप्त के अनुसार साधारणीकरण ही है। अभिधा के द्वारा शब्दार्थ मात्र का बोध होता है। रस कथा में उसका प्रवेश नहीं होता। इसलिये भावक व्यापार से विभावादि का साधारणीकरण होता है। बाद में सहृदयचित्त की द्रुति विस्तार और विकास में तीनों अवस्थाएँ होती हैं। इससे रसानुभूति होती है।

वास्तव में यह साधारणीकरण व्यापार ही अपने भावों के मूर्तन का मुख्य साधन है। कवि के भाव का सम्प्रेषण पाठक अथवा सामाजिक तक इस साधारणीकरण से ही सम्भव है। इस साधारणीकरण का स्वरूप क्या है, इस सम्बन्ध में आचार्यों ने विस्तृत विवेचन किया है।

भट्टनायक रसानुभूति के लिये अभिधा, भावना और भोगीकरण इन तीन व्यापारों की कल्पना करते हैं। उनके अनुसार अभिधा में तो केवल वाक्यार्थ-बोध होता है, भावना से निरन्तर पर्यालोचन से भावानुसन्धान होता है और पर्यवसान में उसका भोग अर्थात् चर्वणा होती है। न रस की उत्पत्ति होती है और न अनुमिति केवल भोग होता है।[1] मीमांसा दर्शन में अर्थबोध के लिये भावना का आवश्यक माना गया है। वैसे इस शब्द का प्रयोग जगन्नाथ ने भी किया है[2] परन्तु उन्होंने इसका अर्थ पुनः पुनः अनुसन्धान किया है जो कि पर्यालोचन से पृथक् नहीं है। क्योंकि रस-भावादि शब्दवाच्य तो होता नहीं जो कि शब्दार्थ की प्रतिपत्ति के साथ ही बोध का विषय बन जाय। अतः भावकत्व व्यापार का इसमें योग होता है। रस की प्रतीति भी नहीं होती। क्योंकि प्रतीति किसमें होगी? अनुकार्य में या अपने अन्दर? अनुकार्य रामादि की अनुपस्थिति

---

१ द्रष्टव्य—लो० पृ० १८२-८३

२ तु०—तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना रग० पृ० २३
कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा।
—वही, पृ० ४

के कारण उनमें तो प्रतीति संभव नहीं है। अपने में माने तो शृङ्गार में तो भले ही सुख का अनुभव हो जाय पर करुणरस में शोक का अनुभव होने से दुःख का अनुभव होगा। पुनः शृङ्गारादि की भी प्रतीति कैसे संभव है? सीता शकुन्तला आदि तो आलम्बन बन नहीं सकते, पूज्यबुद्धि बाधक होगी। अपनी कान्ता के प्रति भावानुभूति होती नहीं न सीता-विषयक रति का रामादि के साथ साधारणीकरण संभव है, वहाँ पूज्यत्व बुद्धि बाधक होगी। शृङ्गारादि में साधारणीकरण मानसिक दुर्बलता और आदर बुद्धि त्याग कर मान भी लें तो हनुमानगत उत्साहादि के सम्बन्ध में क्या होगा? क्योंकि प्रमाता को पता है कि समुद्रलंघन की सामर्थ्य उसमें नहीं है। राम और सीता के परस्पर शृङ्गार की प्रतीति मानें तो लज्जा जुगुप्सा आदि बाधक होंगे।

इस लिए काव्य में दोषों के अभाव, गुणालंकार आदि के रहने से और नाट्य में चारों प्रकार के अभिनय से प्रमाता के हृदय की जो रसानुभूति में बाधक आविष्टता आदि की अवस्था है, वह दूर हो जायगी। इसके पश्चात् भावकत्व व्यापार जो दूसरी कक्ष्या में है, के प्रभाव से विभावादि के साधरणीकरण से रत्यादि भावना का विषय बन जाता है, तब भोग नामक व्यापार से जो कि मानसिक द्रुति, विस्तार अथवा विकास रूप है और ब्रह्मानन्द के तुल्य होता है, इसका आस्वादन किया जाता है।

यहाँ एक कठिनाई यह खड़ी होती है कि विभावादि का साधारणीकरण किस के साथ होगा? अनुकार्य के साथ? दूसरे की चित्तवृत्ति के साथ अपना साधारणीकरण कैसे संभव है? विभावादि का स्पष्ट भेद रहेगा। जब लज्जादि का अनुभव होगा तो साधारणीकरण कैसे हो सकता है। पुनः अपनी रत्यादि के अभाव में दूसरे की रति से सम्बन्ध कैसे जोड़ सकते हैं। आदि आपत्तियाँ इस मत का स्वीकार करने में उपस्थित होती हैं। इस लिये अभिनवगुप्त का कथन है कि वास्तव में प्रमाता के हृदय में भी वासना के रूप में रत्यादि भाव विद्यमान रहते हैं। काव्यार्थ के अनुसंधान और नाट्यादि के दर्शन से वे उद्बुद्ध हो जाते हैं। परन्तु सीतादि विभावों के साथ उसके विभावों का ऐक्य कैसे होगा? पूज्यत्वादि की बुद्धि तो तब भी बाधक होगी। अतः रामादि एवं आत्मीयता की भेदबुद्धि को त्यागना होगा। इससे आलम्बन के विषय में स्त्री-सामान्य बुद्धि रह जाती है, रत्यादि भी आत्मगतत्व और परगतत्व की भेद बुद्धि को त्यागकर रति-सामान्य रूप से अनुभूत होते हैं। तब शुद्ध भाव रह जाने से उसकी चमत्कारमय अनुभूति होती है, यही रस है।

---

१ अभिभा० भा० १, पृ० २७७

इस मत की विशेषता यह है कि इसमें सामाजिक की रति का योगदान स्वीकार किया गया है। भट्ट नायक के मत में उसे स्वीकार नहीं किया गया था। दूसरी बात है कि राम-सीतादि की वैयक्तिक परिचिति और स्वकान्तागत आत्म रति के विशेष भेद का लोप माना है। यहां विभावादि का भी साधारणीकरण होता है और रत्यादि का भी। स्त्री पुरुष-सामान्य और भाव सामान्य रह जाने में ही भेद-बुद्धि का लोप होता है।

इस साधारणीकरण में सामाजिक और पात्र दोनों की रति तो आई पर कवि की रति कहां गई? उसकी चर्चा इस बीच में न होने से ही आधुनिक समीक्षकों को यह भ्रान्ति हुई है कि रसास्वाद में कवि का भाग स्वीकार नहीं किया गया है। परन्तु इस बात का पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है। भरत ने जब रसानुभूति की समानता बीज में वृक्ष के जन्मादि से की तो सारी आपत्ति दूर हो जाती है। बीज पृथ्वी के अन्दर रहता है बाहर दिखाई नहीं देता। उसका विकसित रूप ही वृक्ष पुष्प और फल है जो कि बाहर दिखाई देते हैं। इसी प्रकार कवि का भाव अथवा उसके हृदय में विद्यमान रस ही मूल होता है जो कि प्रत्यक्ष नहीं होता।[1] भरत ने जब कवि के भाव को अनुभवयोग्य बनाने के कारण ही भाव का भावत्व घोषित किया तो कवि की उपेक्षा कहां हो गई? वास्तव में नाटक में तो कवि प्रकाश में आता ही नहीं है जो उसकी रत्यादि प्रकाश में आये। श्रव्य काव्य में कवि की टिप्पणी आदि चलती रहती है और वह कथावाचक के रूप में सामने आता है। स्वयं पात्र बन कर नहीं। अतः उसकी अनुभूति उसमें भी प्रत्यक्ष नहीं होती। केवल चौरपञ्चाशिका आदि में या शृङ्गार-शतक में कवि का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष उभर कर आता है। वस्तुतः संस्कृत में अंग्रेजी साहित्य के Subjective और Objective इन भेदों में काव्य का वर्गीकरण नहीं हुआ है। केवल स्तोत्र काव्य ऐसे हैं जो कि Subjective श्रेणी के मान जा सकते हैं। मेघदूत में भी कवि अप्रत्यक्ष ही है भले ही यक्ष के रूप में उस को छिपा देखें। यहां तक कि अमरुशतक में भी कवि पृष्ठ-भूमि में ही रहता है। 'जाने कोपपराङ्मुखी' आदि पद्यों में अस्मद् शब्द के प्रयोग में यह भ्रम नहीं करना चाहिये कि कवि अपना ही वृत्तान्त कह रहा है। आधुनिक समीक्षा में यही भ्रान्ति घर कर गई है। स्वयं आधुनिक विख्यात हिन्दी कवि अज्ञेय ने अपनी कविता 'द्वितीया के प्रति' के प्रसंग में इस का स्पष्टीकरण किया है।[2] पर जहां तक यह मान्यता है कि काव्य में कवि का भाव मूल रूप में छिपा रहता है इस पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

---

१ ना०शा० ६, ३८

२ "शेखर एक जीवनी" की भूमिका।

भट्ट नायक द्वारा स्वीकृत भोगीकरण अभिनव के अनुसार रस प्रतीति से पृथक् नहीं है। इसी प्रकार भावकत्व व्यापार विभावादि के अनुशीलन के द्वारा भाव को आस्वादन के योग्य बनाना ही है और कुछ नहीं।[1]

इस प्रकार रत्यादि के विभावादि द्वारा उद्बुद्ध होने पर साधारणीकरण में चरम विश्रान्ति के रूप में अनुभव करना ही रस है। वही चमत्कारात्मा है।[2]

इस रस का अनुभव करने का पात्र प्रतिभान की शक्ति से सम्पन्न मन वाला व्यक्ति होता है जो सूक्ष्म बातों को पकड़ सकता हो।[3] वह जब काव्य के 'ग्रीवाभङ्गाभिराम'[4] आदि वचनों को सुनकर उनका आशय समझ लेता है तो वर्ण्य विषय का साक्षात्कारात्मक बोध होता है जिसमें विभिन्न वाक्यों से होने वाली काल-भेद की विषमता तिरोहित हो जाती है। क्योंकि ग्रीवा-भङ्गाभिराम आदि में तो स्तोकमुर्व्यां प्रयाति इस क्रिया में वर्तमान काल है किन्तु उमाऽपि नीलालकं[5] आदि पद्य में क्रिया भूतकाल की है, वर्तमान काल में विद्यमान प्रमाता अतीत में हुई घटना का साक्षात्कार कैसे करेगा, यह आपत्ति साक्षात्कार में बाधा उत्पन्न कर सकती है। पर कवि के भाव के साथ साधारणीकरण होने से प्रमाता उसी भावावस्थिति में पहुँच जाता है जिसमें पहुँचे हुए कवि ने वह सब लिखा था। परिणामस्वरूप काव्य या नाट्य में वर्णित भीत मृग शिशु की एवं सामाजिक की व्यक्तिगत सत्ता समाप्त हो जाती

---

१ प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः रसनेति चेत् साऽपि प्रतिपत्तिरेव। यत्तु काव्येन भाव्यन्ते रसा इत्युच्यते तत्र विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावनं तदभ्युपगम्यत एव। अभिभा० २७३

२ संवेदनाख्यया व्यङ्ग्यपरसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते॥ —वही पृ० २७७

३ अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। —वही पृ० २९६

४ शाकु० १ ७ देखो टिप्पण २ ४६

५ उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्रंसयन्ती नवकर्णिकारम्।
चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय॥ —कुमा ३ ६२

६ इत्यादि वाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत् प्रतीतिरुपजायते।
—अभिभा० १ पृ० २७६

है। फलस्वरूप काव्यनिबद्ध भय आदि भाव आत्मगतत्व और परगतत्व की सङ्कुचित सीमा का अतिक्रमण करके सार्वभौम और सर्वयुगीन बन जाते हैं। फलस्वरूप भयानक रस प्रतीति का विषय बनकर मानो आँखों के आगे घूमने लगता है। यह साधारणीकरण सङ्कुचित न होकर व्यापक होता है और वासना से युक्त सभी सहृदयों को रसास्वादन हो जाता है।[1]

इसी प्रकार का मिलता जुलता भाव सुधीशङ्कर भट्टाचार्य ने प्रकट किया है। उनके अनुसार भी प्रमाता काव्यास्वादन के समय अपनी सङ्कुचित सत्ता को भूल जाता है और उसका अहं व्यापक हो जाता है। वह ऐसे दिव्य भाव लोक में पहुँच जाता है जहाँ सम्पूर्ण सहृदयों से उसका अभेद सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसी एकता को अभिनव गुप्त ने हृदयसंवाद की संज्ञा दी है।[2] इसी प्रकार के भाव रमारञ्जन मुकर्जी ने प्रकट किए हैं।[3]

काव्य की चर्वणा करते हुए और विलक्षण चर्वणाजन्य प्रतिक्रिया से पूर्ण व्यक्ति के मन का चौंक जाना ही चमत्कार कहलाता है। वह साक्षात्कारात्मक मानस व्यापार या सङ्कल्प या स्मृति के रूप में प्रतीत होता है। यह स्मृति तार्किकों का अभिमत यथार्थानुभव से होने वाला स्मरणात्मक ज्ञान न होकर प्रतिभान है जिसको दूसरे शब्दों में साक्षात्कार या प्रत्यक्षीकरण कह सकते हैं।

---

१ अभिभा० १, पृ० २७६

2 At the time of experiencing poetry, the appreciator forgets his own narrow self and his ego-boundaries are expanded so to say. As a result of this he experiences his oneness with all the connoisseurs of poetic art and undergoes a state that is refferred to as Hrdayasamvāda by Abhinavagupta. The appreciator starts to experience the feelings in his representative capacity as the expansion of his ego-boundaries takes place. —Im in Maha p 21

3 Indian aesthetics gives an extanded scope to the process of Universalisation and asserts that at the time of the appreciation of poetry the experience is Universalized or in other words is conducted to the higher plane of consciousness, reaching which he discovers his connection with humanity at large.

—Im in poetry, P 31

सात्त्विकों की अभिमत स्मृति इसलिए नहीं है कि वह पूर्व अनुभव पर आश्रित होती है जबकि रस का अनुभव पहले नहीं होता है।[1]

लोक में कारण, कार्य और सहकारी कारण के नाम से व्यवहृत तत्त्व काव्य और नाट्य में विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी भाव कहलाते हैं। ये अलौकिक पद उन्हें वैयक्तिक सीमा से उठाकर सार्वभौम बना देते हैं। यद्यपि ये रत्यादि भाव सामान्य होते हैं पर काव्य का अङ्ग बनने पर वे देशकालातीत रूप धारण कर लेते हैं, उन्हें सार्वभौमता एवं विश्वजनीनता प्राप्त हो जाती है।[2] इस साधारणीकरण द्वारा ही कवि एवं सामाजिक में भाव-संवाद या हृदय-संवाद संभव होता है। अनुभवों की वैयक्तिकता में जो ईर्ष्या, असूया, शङ्का, त्रास आदि की सम्भावना रहती है इसके द्वारा लुप्त हो जाती है। प्रमाता की सङ्कुचित वृत्ति का नाश होकर विकास होता है और वह अनुभूति के ऐसे दिव्य लोक में पहुँचता है जहाँ इस प्रकार के दुःखदायी अनुभवों के लिए कोई स्थान नहीं रहता है।[3]

यह साधारणीकरण जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नाट्य में तो अभिनेता, नाट्यधर्मी अभिनय के उपकरणों विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों की सहायता से संभव होता है। रङ्गशाला का वातावरण सामान्य लोक से पृथक् होता है। यह अवश्य है कि प्रसङ्ग, औचित्य आदि का उसमें ध्यान रखना पड़ता है। जैसे शृङ्गार में गीत, नृत्य, हास-परिहास उस वातावरण के उपयुक्त चित्र आदि उपयोगी रहते हैं किन्तु संघर्ष के समय जोशीला वातावरण रहता है। अतः इनके स्थान पर शौर्य के उद्दीपक संवाद आदि उपयुक्त रहते हैं। काव्य में कल्पना की सहायता से प्रसङ्गानुकूल वातावरण बनाया जाता है। पर नाट्य में सामग्री रङ्गमञ्च पर प्रत्यक्ष-कल्प होती है, इसलिए अभि-

---

१ द्र० टि० १ ६४

Indian aesthetics gives an extended scope to the process of Universalisation and asserts that at the time of the appreciation of Poetry, the experiencer is Universalized, or in *other words is conducted to the higher plane of* consciousness, reaching which he discovers his connection with humanity at large —Imagery in poetry P 31

2 Im in Poetry P 36

३ अभि भा० १, पृ० २८१

नवगुप्त, भट्ट तौत और वामन प्रबन्धकाव्य, उसमें भी दशरूपकात्मक को ही वास्तविक काव्य स्वीकार करते हैं। क्योंकि प्रत्यक्षीकरण पर कवि का सारा कौशल निर्भर करता है।

इनमें यद्यपि रस परिपोष के लिए स्थायी के अतिरिक्त विभावादि की अपेक्षा की गई है, तथापि प्रसङ्गवश कहीं चमत्कार विभाव की प्रधानता से सम्भव होता है जिसमें साधारणीकरण हो जाता है, कहीं अनुभावों या संचारियों की प्रधानता में। कहीं दो की प्रधानता रहती है, अभिनव किन्तु सबकी समान रूप में प्रधानता का प्रमुखता देते हैं जो कि नाट्य में ही हो पाती है।[1]

इनमें विभाव की प्रधानता निम्न पद्य में पाई जाती है—

केलीकन्दलितस्य विभ्रममधो घुर्यं वपुस्ते दृशो
भङ्गीभङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मभ्रमं।
आघ्रातोऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासव
सत्यं सुन्दरि वेधसस्त्रिजगतीसारस्त्वमेका कृति ॥[2]

यहाँ नायिका या असाधारण सौन्दर्य आलम्बन मात्र की प्रधानता लिए है जिसके बल पर विस्मय के साथ-साथ रति रूप स्थायी का उदय अथवा उद्रेक होता है। मालविकाग्निमित्र में मालविका का देखकर अग्निमित्र के "दीर्घाक्ष शरदिन्दु"[3] आदि भावोद्गार भी इसी विभावप्राधान्य की श्रेणी में आते हैं।

अनुभाव दो प्रकार के होते हैं जिनमें कुछ तो भावोदय के परिणाम-स्वरूप स्वतः ही आविर्भूत हो जाते हैं। उन्हें सात्त्विक भाव कहते हैं। इन्हें

---

१ किन्तु समप्राधान्य एव रसास्वादस्योत्कर्ष। तच्च प्रबन्ध एव भवति। वस्तुतस्तु दशरूपक एव। —अभिभा० १,२८७
काव्येऽपि नाट्यमान एव रस। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्याया। —वही, १,२९०
सन्दर्भेषु दशरूपक श्रेय। तद्धि चित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्। —काव्य सू वृ० १, ३, ३०-३१

२ अभिभा० १, पृ० २८६

३ दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयो
संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुर पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्य पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनस श्लिष्टं तथास्या वपु ॥ —मालवि० २, ३

कोई व्यक्ति जानबूझ कर उत्पन्न नहीं कर सकता। दूसरे अनुभाव यत्नज होते हैं। पहले सूक्ष्म होते हैं दूसरे स्थूल। भरत ने सात्त्विक भावों का सम्बन्ध सीधा मनोभावों के साथ होने से उन्हें भावों के बीच गिनाया है यत्नज चेष्टाओं के नहीं। *क्योंकि वे अन्य कारणों से भी उत्पन्न हो सकती हैं और कृत्रिम भी।*[1]

कान्ति चन्द्र पाण्डेय ने पाश्चात्य काव्य शास्त्र के अध्ययन प्रसङ्ग में मनोविज्ञान की दृष्टि से सात्त्विक भावों की उत्पत्ति पर विचार किया है। उनके अनुसार बाह्य उद्दीपन मानव के मस्तिष्क में हलचल उत्पन्न करते हैं जिससे नाड़ियों में धारा क्रिया का उदय होता है उससे अङ्गों का सञ्चालन होता है। यह इच्छा से सम्बद्ध न होने के कारण अयत्नज ही है।[2]

सात्त्विक भाव भरत ने आठ गिनाये हैं—स्तम्भ स्वेद रोमाञ्च स्वरभङ्ग वेपथु (कम्प) वैवर्ण्य (रंग फीका पड़ना) अश्रु और प्रलय (मूर्छा)[3] पर कादम्बरी आदि में कुछ अन्य विकार भी देखे गये हैं जैसे—अङ्गों का स्फुरण श्वासोद्गम एवं नयन आदि का लाल होना इन्हें भी अयत्नज होने से सात्त्विकों में गिनना चाहिए।[4] कुछ के विचार से लज्जा को अनुभाव मानें

---

१ इह हि सत्त्वं नाम मनःप्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुच्यते। मनसः समाधौ सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति। तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमाञ्चाश्रुवैवर्ण्यादिलक्षणो यथाभावोपगतः। स न शक्योऽन्यमनसा कर्तुमिति लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम्। —नाशा० १ पृ० ३७५

2 The movements exited in brain by external stimulus, direct animal sp rit to wards certa n muscles and cause move ment of limbs Thus involuntary action is the reaction to external stimulus in wh ch the will plays no part e g we nvoluntarily close our eyes at a friend s thrusting his hand to strike them Th s action is involuntary or reflex Stimu lation of d fferent nerves is responsible for d fference in the cause of movements of an mal spirits and accordingly in the physi al response —West Aesth p 197

[3] नाशा० ७ ९४।

४ (क) अनन्तरं च मन्दमदनावकाशमिव दातुम् आहितसन्ताना निराययौ श्वासमरुत्।

(ख) साभिलाषं हृदयं स्प्रष्टुकाममिव स्फुरितमुखमभूत् कुचयुगलम्। —का० पृ० २६८

से मुख पर लाली आना (Blushing) भी सात्त्विकों में गिना जाना चाहिये। सामान्यतः Blushing का अर्थ शर्माना करते हैं तो व्रीडा, ह्री आदि शब्दों से उसका संकेत हो जाता है पर मुख की लाली उसका अर्थ लें सात्त्विक में ही उसकी गणना उचित है। इतना अवश्य है कि नयनमुख आदि का लाल होना शृङ्गार और क्रोध दोनों में समान रूप से सम्भव है पर Blushing केवल शृङ्गार में या उससे सम्बद्ध किसी बात को कहने सुनने या देखने में ही हो सकता है।[1]

कुछ लोग इसका अन्तर्भाव वैवर्ण्य में करते हैं। वैवर्ण्य का अभिनय भरत ने मुख का रंग बदलने एवं नाड़ी-पीडन आदि से करने का परामर्श दिया है क्योंकि यह कार्य कठिन होता है।[2] साहित्य दर्पणकार चेहरे का रंग बदल जाना ही वैवर्ण्य मानते हैं क्योंकि विवर्णता का अर्थ विगतवर्णता और भिन्नवर्णता भी सम्भव है।[3] लक्षण में विवर्णता के कारणों में विषाद, मद और रोष तीनों को गिनाया है। आगे "आद्य" पद से अन्य कारणों की सम्भावना भी स्वीकार की है। अतः उनमें लज्जा का भी समाहार हो जाता है। एक बात और है, विषाद के कारण से मुख का रंग या तो उड़ जाता है या काला पड़ता है। परन्तु मद और रोष में लाल होना है। लज्जा में भी लाल ही होता है। अतः मद और रोष के द्वारा लज्जा का समाहार करने से रक्तवर्णता का ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु यह आश्चर्य की बात है, किसी भी आचार्य ने शब्दतः इस अनुभावों में नहीं गिना है। यह अवश्य है कि Blushing सात्त्विक भाव ही हो सकता है, अन्य अनुभाव नहीं। इसलिए उसका अन्तर्भाव वैवर्ण्य में ही सम्भव है।

(ग) मत्मकाशमभिप्रस्थितस्य मनसो मार्गमिवोपदिशद्भिः पुरः प्रवृत्तं श्वासैः। —का०, पृ० २७०

(घ) स राजा रोषताम्राक्ष वारा ५ ४८, २।

(ङ) विशेष विचार के लिए कच्चिदन्तर्गता सात्त्विकभावा। —वि० स० नव०, १९६८, पृ० ३-१०

1 द्रष्टव्य—A missing link in Sanskrit literature and Poetics—by Dr R C Jaitly, in Principles of Literary Criticism of Dr R C Dvivedi, Motilal Banarsidass, pp 51-66

2 मुखवर्णपरावृत्त्या नाडीपीडनयोगतः।
वैवर्ण्यमभिनेतव्यं प्रयत्नात्तद्धि दुष्करम्॥ —नाशा० ७, १०५

3 विषादमदरोषाद्यैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता। —साद ३, १३९

अस्तु, सात्विक भावों का चमत्कार अन्य अनुभावों की अपेक्षा अधिक होता है। उसकी प्रधानता से होने वाला साधारणीकरण निम्न पद्य में पाया जाता है—

> यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निस्थेमनी लोचने
> यद् गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
> दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयो
> कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः ॥[1]

इसमें श्रीकृष्ण के प्रति गोपिकाओं का अभिलाष विप्रलम्भ रस है। अनुभाव के रूप में उनके नयनों का स्तब्ध रहना, अङ्गों की क्षीणता, कपोलों का पीला पड़ना ये सात्विक रखे गये हैं,जिनका चमत्कार प्रधान रूप से हृदय को प्रभावित करता है। सञ्चारियों पर आधारित चमत्कारमूलक साधारणीकरण—

> आत्तमात्तमधिकान्तमीक्षितुं कातरा शफरशङ्कितो जहौ।
> अञ्जलौ जलमधीरलोचनालोचनप्रतिशरीरलाञ्छितम् ॥[2]

इस श्लोक में देख सकते हैं। यहां अपनी अञ्जली में लिए पानी में अपने नेत्रों की परछाई पड़ने पर उसे मछली समझकर बार-बार घबराकर टालती हुई किसी मुग्धा नायिका के वितर्क और त्रास आदि सञ्चारियों का चमत्कार प्रधान है।

अभिनव गुप्त आदि आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित यह साधारणीकरण का सिद्धांत सभी आचार्यों को मान्य नहीं हुआ। वे लोग इस प्रकार रत्यादि और आलम्बन आदि का भेद होने से रस-बोध सम्भव न मानकर एक दोष-विशेष की कल्पना करते हैं जिसके द्वारा मुख्य पात्र-गत भाव उन्हें अपने अन्दर भी प्रतीत होने लगता है। उस भाव के कारण ही वे रस-अनुभव स्वीकार करते हैं। इस भाव की अपने अन्दर स्थिति भ्रममात्र होती है। दोष के द्वारा ही सहृदय की अपनी दुष्यन्त आदि नायक के साथ अभेद बुद्धि हो जाती है। शकुन्तलादि के प्रति तब आलम्बन बुद्धि भी हो जाती है। यहां जगन्नाथ का एक कथन यह भी है कि इतिहासप्रतिपादित दुष्यन्त शकुन्तला एवं सहृदय के साथ अभेद सम्बन्ध में अध्यवसित दुष्यन्त-शकुन्तला दोनों पृथक् हैं। उनकी स्थिति सीप में प्रतीत हुए रजतखण्ड की सी होगी जो कि केवल दोष-विशेष की देन है। उनके अनुसार

---

१ अभिभा० १, पृ० २८६

२ वही, १, २८६।

दुष्यन्तादि के विभावादि के साथ अपनी विभावबुद्धि दोष की कल्पना के बिना सम्भव नहीं।[1]

जगन्नाथ द्वारा प्रतिपादित यह मत आधुनिक आलोचकों के इस मत से मेल खा जाता है कि शकुन्तला आदि सामाजिक के भी आलम्बन बन सकते हैं। अन्तर इतना है कि उनके मत में किसी दोष-विशेष की बात नहीं कही गई है। वैसे यह बात भावना पर निर्भर है। जाक में देखा जाता है कि बहुत से विलासी बहिन और पुत्री आदि में भी अगम्यात्व की दृष्टि नहीं रखते। उनके लिए शकुन्तला आदि का क्या महत्व है? एक व्यक्ति राम और सीता का ऐतिहासिक पात्र ही नहीं मानता उसकी दृष्टि में सीता के लिए पूज्यात्व बुद्धि कहाँ से होगी? इसलिए नगेन्द्र का यह कथन भी अंशतः ठीक है कि सामाजिक का साधारणीकरण कवि की रति से होता है। परन्तु विभावादि के साधारणीकरण में शकुन्तलात्व आदि की बुद्धि नहीं रहती। तब तो स्त्री सामान्य की बुद्धि रहती है और रामादि में पुरुष-सामान्य का बोध होता है।[2]

विश्वनाथ के मत में जब सामाजिक के हनुमान् के साथ साधारणीकरण या अभेद बुद्धि की बात की जाती है तो उनके अनुसार भी आलम्बन के साधारणीकरण की बात सिद्ध होती है।[3] किन्तु वे जगन्नाथ की भाँति किसी ऐसे प्रतिबन्धक की कल्पना नहीं करते हैं जो शकुन्तला आदि में अगम्यात्व आदि की बुद्धि को रोक सके।

रामचन्द्र शुक्ल ने भी साधारणीकरण पर विचार किया है। उनके अनुसार संस्कृत के आचार्य सामाजिक का साधारणीकरण कवि अथवा अनुकार्य की चित्तवृत्ति के साथ मानते हैं।[4] इससे उनकी अरुचि ध्वनित होती है। उनका झुकाव आलम्बन के साथ साधारणीकरण की ओर है जिसका आंशिक समर्थन नगेन्द्र भी करते हैं। परन्तु केवल चित्तवृत्ति या केवल विभावादि का साधारणीकरण मानने में पूर्वोक्त दोष आ जाते हैं। पुनः जब नट को भी हम काव्यास्वादन में सामाजिक कोटि में गिनते हैं, तब उसका साधारणीकरण किसके साथ होगा केवल कवि की चित्तवृत्ति के साथ या विभावादि के साथ भी? यदि केवल चित्त-वृत्ति के साथ मानें तो विक्रमोर्वशीय वाली विपत्ति आ

---

१ रस० पृ० २५।

२ रीतिकालीन काव्य की भूमिका पृ० ४

३ उत्साहादि समुद्बोध साधारण्याभिमानतः।
नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादौ न दुष्यति॥ —साद० ३, ११

४ रस-मीमांसा —पृ० ३४४ नाप्र० स० ३, स० २०१७ प्रका०

बनी होगी। वहाँ कवि की रति उर्वशी-पुरूरवा की परस्पर रति के रूप में है, उर्वशी लक्ष्मी की भूमिका में है अत उसे विष्णु के प्रति रति का अभिनय करना चाहिए था। पर उसकी निजी रति थी। पुरूरवा के प्रति। उसे ही वह अभिव्यक्त कर बैठी और रसभङ्ग हो गया।[1] कारण उसकी रति का कवि की रति के साथ तो साधारणीकरण हुआ पर विभाव के प्रति वैयक्तिकता बनी रही। इसी कारण आचार्यों ने अभिनय के प्रसङ्ग में नट नटी का रसानुभूति में भाग स्वीकार नहीं किया।[2] यहाँ चार प्रकार के अभिनयों में सात्त्विक भी एक है। सात्त्विक का वह अभिनय मात्र करता है हृदय में वस्तुतः रखता नहीं। उसकी अपनी वैयक्तिक रति तटस्थ रूप में रहती है। हाँ, काव्यार्थ के अनुशीलन में उस वैयक्तिकता को खो सके तो वह भी रसानुभव कर सकता है।[3]

यदि साधारणीकरण विभावादि के साथ भी हो जाता है तो विभावों को या तो वैशिष्ट्य समाप्त करना होगा और उन्हें भी लोकसामान्य के धरातल पर लाना होगा अथवा सामाजिक को अपनी भावभूमि को उदात्तीकरण करके उसी ऊँचे स्तर पर पहुँचना होगा जिस पर कवि की भावभूमि है। क्योंकि उसमें यह अन्तर स्पष्ट रूप में देखा जाता है। जब हम कालिदास के 'अनाघ्रातं पुष्पं'[4] आदि पद्य का पठन करते हैं तो उसमें शकुन्तला के मांसल सौन्दर्य और उसके प्रति वासना की प्रतीति होती है। उसके विपरीत भवभूति के 'म्लानस्य जीव कुसुमस्य' आदि पद्य का पठन और मनन हो तो उसमें सीता के बाह्य सौन्दर्य के प्रति आकर्षण के स्थान पर आन्तरिक प्रेमवृत्ति की आस्वाद्य चेतना का

---

१ तु०—लक्ष्मीभूमिकया वर्तमाना उर्वशी वारुणीभूमिकया वर्तमानया मेनकया पृष्टा। समागता त्रैलोक्यपुरुषाः सकेशवाः लोकपालाः। कतमस्मिन् हृदयाभिनिवेश इति। तस्याः पुरुषोत्तम इति भणितव्ये पुरूरवसीति निर्गता वाणी। —विक्र०, १०, १-२

२ शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः स्वरूपताम्। दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत्॥ —साद०, ३, १६

३ काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम्। —साद०, -, १६११

४ शाकु० २ १०

५ म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि। एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि॥ —उत्त०, १ ३६

अनुभव होता है। सुरुचिप्रधान व्यक्तियों का रुझान इसी औदात्त्य की ओर रहता है। लांगिनस को इसी प्रकार का औदात्त्य अभिप्रेत रहा होगा। ग्राम्यत्व, अश्लीलत्व, विरुद्धमतिकृत्त्व आदि दोषों के निराकरण का तात्पर्य यही था कि ग्राम्य या अश्लील शब्दों के श्रवणमात्र से सभ्य समाज को अरुचि का अनुभव होता है, पुनः बहिन, पुत्री, माता आदि के सान्निध्य में उनका प्रयोग या उच्चारण सङ्कोच उत्पन्न करने वाला होता है। हाँ, जो उसी स्तर के लोग हैं, उन्हें इस प्रकार के शब्दों पर कोई आपत्ति नहीं होती।[1]

अतः साधारणीकरण का वास्तविक तात्पर्य निर्वैयक्तीकरण या सार्वभौमता को प्राप्त करना ही है। यह तभी सम्भव है जबकि मनोभाव, विभावादि सभी का निर्वैयक्तीकरण हो। पात्र भी दिव्य भावलोक की वस्तु बन जाये। इसके साथ साधारणीकरण में यह भी अभिप्राय है कि भावादि का सामान्यीकरण किया जाय। पात्र यदि उच्च स्तर का है और सामाजिक निम्न स्तर का तो इस वैषम्य का अनुभव होने से उसका साधारणीकरण सम्भव न होगा। काव्य नाटकों में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि रामकृष्ण आदि महापुरुषों को भी मानवी वातावरण में ही प्रस्तुत किया जाता है, लोकोत्तर रूप में नहीं। उत्तर-रामचरित में हम राम को सामान्य मानव की भांति सीता के वियोग में विकल देखते हैं।[2] अभिज्ञानशाकुन्तल में धीरोदात्त दुष्यन्त शकुन्तला को देखते ही कामवृत्ति का शिकार हो जाता है। "मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं"[3] सदृश वचन

---

१ ग्राम्यत्वम् ग्राम्यकक्षातिक्रान्तमप्राप्तनागरभावम्। ग्राम्यता प्रयोजक विदग्धाऽविदग्धप्रसिद्धाप्रसिद्धत्वप्रयुक्तशोभारहित्व वैमुख्यप्रयोजकम।

—का उ०, २६०

व्रीडाद्यालम्बनविभावादिभूताऽसभ्यार्थोपस्थितिद्वारैरस्यर्थ

—वही, २७६

इदं च प्रकृतप्रतीतिजचमत्कारापकर्षकमिति बोध्यम्।

—वही, २८४

२ तु—हा हा देवि स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः

शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि।

सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा

विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि॥ —उत्तर० ३, ३८

३ मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।

मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥

—शाकु० ३, २४

उसकी रति के लिए अधीरता के सूचक हैं, गम्भीरता के नहीं। यह सब सामाजिक को वैषम्य का अनुभव न होने देने के लिए है। नगेन्द्र की यह आपत्ति कि बुरे आदमी के साथ साधारणीकरण कोई न करना चाहेगा।[1] कोई प्रबल नहीं है। सामाजिक स्वयं जब उन बुराइयों से खाली नहीं है तो वह उसमें घृणा व्यक्तिगत रूप में कैसे करेगा? क्या वस्तुत कवि की घृणित वस्तु के प्रति सहानुभूति होती है? वाल्मीकिरामायण में वाल्मीकि शूर्पणखा को सीता एवं राम के साथ वैषम्य दिखाते हैं।[2] क्या उनकी सहानुभूति दोनों के प्रति है? वस्तुत वहाँ दोनों में विषमता दिखाकर शूर्पणखा का उपहास किया है। ऐसी कृतियों में जिनमें समाज के कुत्सित पक्ष का चित्रण होता है वहाँ बीभत्स रस प्रधान मानना चाहिए। प्राचीन प्रहसनों में समाज के ऐसे ही वर्ग का जीवन चित्रित किया जाता था। इसमें जुगुप्सा का भाव ही पुष्ट होता था। अन्यथा निम्नस्तर के व्यक्तियों को उनका पात्र क्यों बनाया गया? लोग दिखा के विकृत आचरण को देखकर ही तो उसकी हँसी उड़ाते हैं। इसमें आलम्बन के प्रति जुगुप्सा का भाव ही होता है। यदि सहानुभूति होगी तो उपहास कोई नहीं करेगा।

इस प्रसंग में साधारणीकरण का अभिप्राय यह भी है कि सामाजिक को भावक बनना पड़ता है। कई बार कवि की भावभूमि बहुत गहरी अथवा ऊँची होती है। सामान्य व्यक्ति की उस तक पहुँच नहीं होती। परिणामस्वरूप वह ऐसी रचना को कठिन या असंगत कह देता है। उदाहरण के लिए वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा की गई मेघदूत की आध्यात्मिक व्याख्या को एक आलोचक ने अप्रासंगिक और खींचतान घोषित किया। किन्तु इतना कहने से काम नहीं चलता। इस प्रकार तो वेदमन्त्रों की अरविन्दकृत व्याख्या उन्हें गड़रियों का गीत बताने वाले पाश्चात्यों के लिए उपहास का विषय होगी। वस्तुत कवि की भाव भूमि तक पहुँचने के लिए उसे कई बार पढ़ना पड़ता है। तभी काव्य को आलोचनामृत कहा गया है। आलोचक प्रवर आइ० ए० रिचर्ड्स ने इसी लिए उन लोगों का उपहास किया है जो एक बार ही किसी रचना को पढ़कर उसे समझने का दम्भ करते हैं।[3]

---

१ रा० का० भू० पृ० ५४

२ वारा० ३ १८ १३

3 It is that most poetry needs several readings in which its varied factors may fit themselves together before it can be grasped Readers who claim to dispense with this prelimi

दार्शनिक आधार

अभिनव गुप्त ने भरत की कारिका 'यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो' आदि के व्याख्यान में विज्ञानवाद, स्फोटवाद, द्विधाभिधान आदि अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का सङ्केत किया है पर उस प्रकृतानुपयोगी मान कर स्पष्ट नहीं किया है।[1] परन्तु विज्ञानवाद और स्फोटवाद दोनों बिम्ब सम्बन्धी धारणा के समर्थक हैं। क्योंकि सर्वशून्य मानने वाले विज्ञानवाद के अनुसार वस्तु-सतत्त्व न होने पर भी विज्ञान या बुद्धि के द्वारा पदार्थ दिखाई देते हैं।[2] इसी प्रकार काव्य के शब्द-व्यापारमात्र होने पर भी उसमें वर्णित पदार्थ प्रत्यक्षवत् दिखाई देते हैं। स्फोटवाद के अनुसार तो पदार्थबोध उसके आकार के साथ होगा।

भोज ने शृङ्गार को एक मात्र रस मानते हुए उसका उद्भव 'अहम्' में स्वीकार किया है।[3] सांख्य दर्शन में जिस प्रकार महत् तत्त्व से 'अहम्' का उद्भव होने के पश्चात् ही तन्मात्र, इन्द्रिय और महाभूत रूप वैकारिक सर्ग का उदय स्वीकार किया गया है।[4] वस्तुतः रत्यादि भाव को शृङ्गार रूप में

---

nary study, who think that all good poetry should come home to them entirely at a first reading hardly realise how clever they must be —Practical Criticism p 190

१ अत्र च विज्ञानवादो, द्विधाभिधानं स्फोटतत्त्वं, सत्कार्यवाद एकत्वदर्शन-मित्यादि द्रष्टव्यम्। वयं तु प्रकृतानुपयोगि-श्रुतलव-सन्दर्शनमिथ्याप्रयास-सम्रयमनिक्षिप्तपूर्वेण इत्यास्ताम्। —अभिभा०, भा० १, पृ० २९४

२ विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदर्थावभासनात्।
तद्वत् तैमिरिकस्यासत् केशोण्डूकादिदर्शनात्॥
यतः स्वबीजाद विज्ञप्तिर्यदाभासा प्रवर्तते।
द्विविधायतनत्वेन ते तस्या मुनिरब्रवीत्॥ —विमासि०, १, १, ६

३ रसोऽभिमानोऽहङ्कारः शृङ्गार इति गीयते॥ —शृप्र०, ५, ९

४ यत्तत् सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम्।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदादिकम्॥ —भापु०, ३ २६, २१
महत्तत्त्वाद् विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्यसम्भवात्।
क्रियाशक्तिरहङ्कारस्त्रिविधः समपद्यत॥ —वही, ३, २६, २३
वैकारिकाद् विकुर्वाणान् मनस्तत्त्वमजायत।
यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः॥ —वही, ३, २६, २७
तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रिया-ज्ञान-विभागशः। —वही, ३, २६, ३१
तामसाच्च विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात्।

परिणति अहम् के काम की ही तृप्ति होती है। भरत ने भी कवि के मानस में स्थित भाव रूप रस में अभिनय एवं काव्यानन्द की प्राप्ति रूप पुष्प और फल की प्राप्ति कही है। इस दृष्टि से वह मत विज्ञान के अनुकूल है। वेदान्त के अनुसार भी तत्त्वमसि आदि के श्रवण मनन निदिध्यासन आदि के पश्चात् जब साधक मोऽहम् की अनुभूति तक पहुँचता है तभी वह ब्रह्मभूयत्व को प्राप्त करता है। पर वहाँ उसके 'अहम् का 'स' में विलयन होकर 'अहम्' मात्र की अवस्थिति रह जाती है। यहाँ भी प्रेमी और प्रेमिका के अहम् रूप द्वैत को विलयन होने पर दोनों को अद्वैत होने पर ही पूर्ण शृङ्गार होगा।[1] यहाँ शृङ्ग भावस्य परकाष्ठाम् इयर्ति गच्छनाति शृङ्गार' इस व्युत्पत्ति की सार्थकता होगी। यही उपनिषद् का भी 'सा काष्ठा सा परा गतिः' है।

आधुनिक मनोविज्ञान भी सारी प्रवृत्तियों के मूल में मानव के अहम् (ego) को ही स्वीकार करता है।[2] उसकी प्रक्रिया यद्यपि भिन्न है और प्रकृत में उस का विवेचन अनावश्यक है तथापि यह तो मानना ही होगा कि जहाँ तक मानव की विभिन्न प्रवृत्तियों के मूल का प्रश्न है भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण एक बिन्दु पर पहुँच जाता है।

रसानुभूति की साक्षात्कार प्रक्रिया का शैव वेदान्त के सिद्धान्त में आत्म-साक्षात्कार की विधि के साथ समन्वय किया जाता है। उसके अनुसार आदि-तत्त्व महेश्वर सम्पूर्ण विश्व का बीज है। उसकी शक्तियाँ आत्मप्रकाश, आत्म ज्ञान और आत्मेच्छा हैं। सम्पूर्ण विश्व इस बीज का आभास ही है। उसमें से शक्तियाँ सूर्य से किरणों की भाँति प्रस्फुटित हुआ करती हैं। आभास के प्रथम क्रम में शिव एवं शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जो कि विमर्श अथवा आनन्दरूप है। जिसमें आत्मा स्वयं ही प्रकाश अथवा सत्ता पर आरूढ़ रहती है। जीवात्माएँ भी उसी महातत्त्व के आभास हैं। परन्तु माया तथा सत्त्व, रजस और तमस गुणों से आवेष्टित होने के कारण वे वासना जनित सुख-दुःख इत्यादि के संकुचित बन्धन में अकेला रहता है। और आत्मस्वरूप प्रतीतिजन्य आनन्द या विमर्श से वञ्चित रहता है। जीवात्मा को संकुचित करने वाले मुख्य बन्धन कला विद्या राग नियति और काल हैं। आत्मा यौगिक उपायों से

शब्दमात्रमभूत्तस्मान्नभः श्रोत्रं तु शब्दगम् ॥ भापु० ३ २६ ३२

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। ऋ० १० १ ६

तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ॥ —नाशा० ६ ३८

१ सुखप्रायेष्टसम्पन्न ऋतुमाल्यादिसेवकः।
पुरुषप्रमदायुक्तः शृङ्गार इति संज्ञितः ॥ —नाशा० ६ ४६

२ द्र० अ० १ पृ० १६

मायाकृत सामाजिक बन्धनों का परित्याग करके त्रिगुण की सीमा से ऊपर उठता है और शिव की अवस्था में पहुँच कर अपने निर्मल रूप का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार वह विमर्श आनन्द या महायोग अथवा चमत्कार का आस्वादन करता है।[1]

इस दार्शनिक विश्लेषण के अनुसार आत्मा की निज शुद्ध चैतन्य एवं आनन्दमय सत्ता के साक्षात्कार और चमत्कार का अभेद स्पष्ट हो जाता है।

स्वर्गीय कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने नाट्य में होने वाले इस रसानुभव को स्पष्ट-रूप में काव्य बिम्ब (Image) के रूप में प्रतिपादित किया है। मनोविज्ञान और दर्शन के अनुसार वे स्पष्ट रूप से काव्यानन्द का महत्त्वपूर्ण पक्ष साक्षात्-करण या प्रत्यक्षीकरण (Visualisation) मानते हैं। यह अनुभव वस्तुतः मूर्त न होकर मानस मूर्तीकरणात्मक होता है।[2]

इस साक्षात्करण का साधन अभिनव गुप्त ने प्रतिभा या प्रतिभान को स्वीकार किया है।[3]

---

१ विक्रमादित्य राम-काव्य-समीक्षा पृ० १०७

2 But the experience is essentially psycho physical Another subjective pre requisite of the aesthetic experience is therefore the power of Visualization The real aesthetic image is not what is given The given is only one Third of the total The suggested elements and the spiritual meaning which are not given are supplied by the power of visualisation which partly removes the shifting of squebarrier which divides the unconscious from the conscious and brings about the Union of the suggested elements and the spiritual meaning which come from the un conscious, with the given and thus completes the image This image is different from that which arises in a determinate cognition in as much as the latter is determined by the purposive attitude of the percipient But in the former case the aesthetic attitude, which is characterized by freedom from all individual purposiveness in the determining factor Hence the aesthetic image has life which a mere cognitive image totally lacks This power of clear Visualisation of the aesthetic image in all its fullness and life is technically called Pratibha' —Indian Aesthetics p 151

३ अपि तु प्रतिभानापरपर्याय-साक्षात्कारस्वभावयत्त्विति।
—अभिभा० १, पृ० २८०

साहित्याचार्य प्राय इस पक्ष पर एकमत है कि रसानुभूति का अधिकारी सहृदय ही होता है। अभिनव ने उसे विमल प्रतिभान शालिहृदय यह विशेषण प्रदान किया है। इसके अनुसार एक सर्वमान्य मत यह बनता है कि रसास्वादन के लिये एक विशेष साहित्यिक प्रतिभा और अभिरुचि की अपेक्षा होती है। इसको पश्चिमी आलोचक भी किसी सीमा तक मानते हैं। आइ० ए० रिचर्ड्स यद्यपि पूर्णरूप से इससे सहमत नहीं है फिर भी सामान्य ग्राहिका बुद्धि से काव्यसौन्दर्यानुभव की बुद्धि का पृथक् के भी स्वीकार करते हैं।[2] यह पार्थक्य ही अधिकारी और अनधिकारी का निर्णय करता है। विश्वनाथ ने जो पूर्वजन्म एवं वर्तमान जन्म दोनों से सम्बद्ध वासना को रसानुभूति के लिये उत्तरदायी ठहराया है[3] उसका आधार यही है कि जिन लोगों में संस्काररूप से इस प्रकार की वासना विद्यमान है वे ही साधारणीकरण एवं इस भाव के साक्षात्करण के योग्य हैं। जिनमें यह वासना नहीं है, वे रंगशाला में रंग पत्थर और कुर्सियों की भाँति उस रस प्रतिपत्ति के अधिकारी नहीं होते। वास्तव में रसास्वाद के उपयुक्त विशेष मानसिक स्थिति अपेक्षित होती है जिसका संकेत सत्त्वाविष्टत्वादि धर्मों में किया गया है। नाट्यशास्त्र के आधार पर गुप्त का सारा रस-विवेचन प्रत्यक्षीकरण पर बल देता है। उनका मत है कि काव्य के उद्देश्य की सिद्धि अर्थात् विज्ञान के प्रत्यक्षीकरण के बिना सम्भव नहीं है। वात्स्यायन के मत का प्रमाण देते हुए वे सारे ज्ञान की प्रत्यक्षात्मकता पर बल देते हैं।[4] इसी कारण नाटकादि दृश्य काव्यों में प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया सहज होने से उसे ही

---

१ वही १ पृ० २७८

2 The case for a distinct aesthetic species of experience can take two forms It may be held that there is some unique kind of mental element which enters into aesthetic experiences and into no others Thus Mr Clive Bell used to maintain the existence of a unique emotion 'aesthetic emotion' as the differentia

—Principles of Literary Criticism p 9

Art envisaged as a mystic ineffable virtue is a close relative of the 'aesthetic mood', and may easily be perni ieres in its effects through the habits of mind which as an idea it fosters, and to which, as a mystery, it appeals —Ibid p 11

३ न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम।—सा द०, ३, ८, पृ० ५३-५४

४ सर्वा चेयं प्रमिति प्रत्यक्षपरा। (न्या० सू० भा० १, ३) अभिभा० १, पृ० २८१

वास्तविक काव्य स्वीकार किया है। श्रव्यकाव्य मे उतनी सरलता नही होती, जितनी दृश्य म। कारण यह है कि दृश्यकाव्य को देखने मे तो सामाजिको मे इस प्रकार रसानुभूति और प्रत्यक्षीकरण की योग्यता आ जाती है। पर श्रव्य-काव्य को पढने मे सहृदयो को ही प्रत्यक्षीकल्प ज्ञान सभव है। इस कथन म 'सवस्य' शब्द का प्रयोग विशेष महत्त्वपूर्ण है।[1]

लोक मे दृश्यादृश्य विषयो के सम्बन्ध म द्रष्टा के मन मे उनके सत्य या असत्य होने का विकल्प उठता है, नाटक मे ऐसा सम्भव नही। इसलिए यह लोक स विलक्षण है और प्रत्यक्षानुभूति का विषय होता है।[2]

काव्यरस की विशेषता लौकिक रसो से यह है कि यह शब्द-प्रयोग मे अनुभूत होता है। लोक मे खाड चखने म माधुर्य का अनुभव नही होता। परन्तु काव्य मे यह सम्भव है। शब्द के द्वारा उसका उदय होता है एव उसको प्रयोजक बनाकर काव्य म शब्द का प्रयोग किया जाता है।[3]

इस रस की अनुभूति के लिए ही चार प्रकार के अभिनय किये जाते है। उनमे आहार्य का उपयोग भी प्रत्यक्षीकरण के लिए ही होता है।[4]

काव्यानन्द ऐसा सघन होता है कि उसमे वास्तव मे श्रेणिविभाजन आदि सम्भव नही। अत वस्तुत रस तो एक ही होता है। वह सारे दृश्य काव्य मे छाया रहता है। पर अनुभूतियो के देश कालकृत विभाग होने स उसे विभिन्न भागो मे विभक्त कर दिया गया है।[5] नाट्य की प्रक्रिया का उद्देश्य ही नाटकीय कथावस्तु को प्रत्यक्षकल्प बनाना है। यद्यपि रूपको की रचना भी शब्दमयी होती है और धूमादि के द्वारा अग्नि आदि के अनुमान का कार्य भी शब्द के माध्यम

---

१ काव्य तु गुणालङ्कारमनोहरशब्दार्थशरीरे लोकोत्तररसप्राणके हृदय-सवादवशात निमग्नाकारिका तावद् भवति चित्तवृत्ति। किन्तु सवस्य प्रत्यक्षसाक्षात्कारकल्पा तत्र न धीरुदेति —अभिभा०, १, पृ० ३६

२ अयमिति प्रत्यक्षकल्पानुव्यवसाय। लोकप्रसिद्धसत्यासत्यादिविलक्षणत्वात् यच्छब्दवाच्य।—वही १, पृ० ५३

३ अत एव शब्दप्रादुर्भाव इति शब्दा रसा पठ्यन्त इति।—वही, पृ० २६१

४ चत्वारोऽभिनया इ येन (८, ९३)—आहार्यस्यापि धातु प्रतिशीर्षक—मुकुटादे प्रत्यक्षबुद्धावुपयोगोऽन्तरङ्गत्व सूचयति। —वही १, पृ० २६८

५ एक एव तावत् परमार्थतो रस सूत्रस्थानीयत्वेन रूपके प्रतिभाति। तस्यैव पुनर्भागदृशा विभाग। —वही २७१

में भी होता है तथापि अभिनय का वैशिष्ट्य यह है कि उसका व्यापार सब कुछ क्रिया को प्रत्यक्ष-तुल्य प्रदर्शित करने के लिए ही होता है।[1]

अभिनवगुप्त ने ही नहीं अन्य आचार्यों ने भी इसी पक्ष पर बल दिया है। विश्वनाथ रसप्रक्रिया के प्रसङ्ग में कहते हैं कि पहले स्थायी, सञ्चारी एवं उनके विभावानुभाव का पृथक्-पृथक् बोध होता है परन्तु पश्चात् सम्मिलित होने पर प्रत्यक्षवत् भासित होते हुए ही वे रस रूप में परिणत होते हैं। इस प्रसङ्ग में उन्होंने वाक्यपदीय की यह कारिका उद्धृत की है—

शब्दोपहितरूपास्तान बुद्धेर्विषयता गतान।
प्रत्यक्षानिव कंसादीन साधनत्वेन मन्यते ॥[2]

सत्रहवीं शताब्दी के लगभग विद्यमान विश्वनाथ देव के मत में भी रसादि-बोध में विभावादि का बोध कराने वाले विभावन, अनुभावन, सञ्चारण आदि व्यापारों का क्रमशः रसादि का उद्भावन पहले कुछ कम स्पष्ट तब स्पष्टतर और अन्त में स्पष्टतम रहता है। परिणामस्वरूप अनन्यसाधारण एकमात्र अनुभूति और प्रत्यक्ष अवभासन रूप चमत्कारयुक्तता का अनुभव होता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ के माध्यम से विभावादि के प्रत्यक्षीकरण का व्यापार व्यञ्जनावृत्ति से ही सम्भव है।[3] यह व्यापार काव्य में शब्द और अर्थ के माध्यम से उसी प्रकार साक्षात्कारात्मक होता है जैसे कि वेदान्त में 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का अवबोध होने के पश्चात् 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का अनुभव होता है।

अभिनवकालिदास उपाधि धारी नृसिंह कवि ने भी रूपक शब्द की

१ अभिनयनं हि सशब्दलिङ्गव्यापारविसदृशमेव प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निश्चेष्यामः। —अभिभा० १ २८१

२ रसादयोऽपि प्रथममर्वाक्तन प्रतीयमाना सर्वेऽप्यवधिभूता स्फुरन्त एव रसतामापद्यन्ते। तदुक्तम् शब्दार्णवे (वाप० २ ७) साद० ३ २८

३ तथा च विभावनानुभावन-सञ्चारणाख्य व्यापारवत्त्वात् तथाविधा सञ्ज्ञा। तथा च व्यापारेण यथाक्रमं रसादेरपि प्रकाशः स्फुटतरः स्फुटतमश्च। फलं विगलितवेद्यान्तरत्वेनावस्थितिः पुनः स्फुरणादिचमत्कारित्वं च।
—सामुमि० पृ० ८६

सा च वृत्तिः काव्ये व्यञ्जनामूर्तिरिति रसवत्यम्। सा च तत्त्वमसीत्यत्रैव काव्ये शब्दार्थाभ्यां साक्षात्काररूपा जायते। —वही, पृ० १०१

व्युत्पत्ति करते हुए यही आशय प्रकट किया है।[1] विश्वेश्वर भी इसी पक्ष पर बल देता है।[2]

भाव ध्वनि का भी आस्वादन तभी होता है जबकि उनका बिम्ब बन जाय। यह ठीक है कि ये दोनों ही मानस अनुभूति रूप होने से इनका ऐन्द्रिय बिम्ब बनना सम्भव नहीं परन्तु ऐन्द्रिय बिम्ब तो वस्तुतः मूर्त वस्तुओं का भी नहीं बनता। शब्द के द्वारा वर्णित वस्तु अन्तर्दृष्टि से ही देखी जा सकती है न कि चर्मचक्षुओं से। अभिनव गुप्त ने इसीलिए प्रत्यक्षकल्प शब्द का प्रयोग किया है। भावना के द्वारा ही हम उस वस्तु को अपने समक्ष मूर्त हुई देखते हैं। पुनः रस-भाव के साक्षात्कार या प्रत्यक्षरूप ज्ञान का आशय यह है कि नाट्यधर्मी के द्वारा सारा वातावरण यथार्थ सा बन जाने से सम्पूर्ण आलम्बन और उद्दीपन आदि प्रत्यक्षतुल्य हो जाते हैं। अभिनव-कृत सारा विवेचन इस प्रत्यक्षीकरण पर ही बल देता है।[3]

दार्शनिक दृष्टि से पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि रस सत्त्व के उद्रेक से प्रभूत होने के कारण प्रकाश रूप है क्योंकि सत्त्व प्रकाशक होता है। आह्लाद का स्वरूप भी प्रकाशात्मक है। ब्रह्मानन्द के साक्षात्कार में प्रकाश और आह्लाद समन्वित रूप में प्रतीत होते हैं। अभिनव जब रस-सिद्धांत में स्फोटवाद एवं विज्ञानवाद का समन्वय करते हैं तब प्रत्यक्षीभाव में कमी क्या रह गई? पुनः भाव को चित्-स्वरूप स्वीकार करने पर रस एवं भाव के प्रकाशरूप होने में सन्देह ही नहीं रह जाता।[4]

भरत आदि आचार्यों ने रसों के विविध रंग बनाये हैं इसका क्या प्रयोजन?[5]

---

१ रूपयति दर्शयति रसादिकम् इति रूपकम्। नरसिंहराज यशोभूषण पृ० ७४

२ सविधानक-चातुर्यात् साक्षादिव परिस्फुरन्। अलौकिकस्समास्वादो यस्मा-त्सोऽत्र रसो मतः॥ —चम०, ५, १

३ काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसादय इत्युपाध्यायाः।
—अभिभा०, १, २९०

तथा—परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति।
—वही, १, पृ० २८७

४ सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मयः। —साद०, ३, २

तथा—स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्।
—अभिभा०, १, पृ० २८२

५ श्यामो भवति शृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः॥ —नाशा०, ६, ४२-४३

क्या सभी मनोभावों का भी रंग होता है? परन्तु ये उन भावों या रसों की प्रतिक्रिया के सूचक हैं। उदाहरण के लिए शृङ्गार का वर्ण श्याम बतलाया है। श्याम का अर्थ काला नीला नहीं है। क्योंकि वे रंग तो भयानक एवं बीभत्स में गिनाये हैं। यह वर्ण गोरे के साथ कुछ हरियाली लिए होता है। शृङ्गार में मनुष्य उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न देखता है, आज जिसे सब्जबाग देखना कहते हैं। इसी कारण शृङ्गार को उज्ज्वल (चटकीला) भी कहा है जिसका रंग तेज चढ़ता है। प्राचीन समय में श्याम वर्ण सौन्दर्य का मानदण्ड (Standard) समझा जाता था। शृङ्गार में मानव की वृत्ति उज्ज्वल हो जाती है इसलिए उसका वर्ण श्याम कहा है। हास्य में चित्त प्रसन्न होता है हँसते समय दाँत बाहर दिखाई देते हैं उनकी चमक सफेदी होती है। ये सभी सफेद होते हैं इस प्रतिक्रिया के कारण उसका वर्ण सफेद कहा है। रौद्र का वर्ण रक्त कहा है। क्योंकि उसका स्थायी भाव क्रोध है। क्रोध में मानव का मुख लाल हो जाता है। पुनः उसमें रक्त खौलने लगता है। खून में तेजी और गर्मी आने पर उसका प्रभाव स्पष्ट लाल रंग के रूप में दिखाई देता है। इस प्रकार वर्ण निरूपण इसी दृष्टि से किया गया है कि यथासम्भव रसों का मूल बताया जाय। अभिनव-भारती में रसों के वर्ण का निरूपण ध्यान में उपयोगी बताया गया है। किसी ने मुख का रंग बताने के लिए भी उसको आवश्यक माना है[2]।

पाश्चात्य समीक्षक यद्यपि रससिद्धान्त को नहीं मानते तथापि काव्यास्वाद जिसे वे Aesthetic experience नाम से व्यवहृत करते हैं, वे प्रसङ्ग में साक्षात्करण एवं अमूर्त के मूर्तीकरण पर बल देते हैं। इस प्रसङ्ग में इटली के प्रसिद्ध विचारक क्रोचे (Croce) ने ज्ञान की स्वयप्रकाशता सम्बन्धी मत का स्पष्टीकरण करते हुए विश्वमादित्य राम ने लिखा है कि स्वयप्रकाश ज्ञान मानव मन की शाश्वत एवं कलाओं के उद्गम की हेतु प्राथमिक क्रिया है। कला भी स्वयं में स्वयप्रकाशात्मक ज्ञानरूपा है एवं आत्मा का रूप होने के कारण शाश्वत (Eternal) है। इसमें बौद्धिक तत्त्व या प्रमा (Concept) का स्पर्श नहीं होता है, सहविशेषावलम्बी (Individual) होता है जबकि प्रमा सामान्यावलम्बी (Universal) होती है। स्वयप्रकाश ज्ञान कल्पना प्रसूत होता है और मूर्तिमान् (Imagistic) भी। इससे मिलकर प्रमा भी इसके रंग में रंग जाती है। बाह्य वस्तुओं के संस्कार मानवमन में बिखरे रहते हैं परन्तु जब वे अन्तःकरण

---

१ शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वलः।　　　　　　　　—अको०, १, ,१०

२ वर्णाभिधानं पूजादौ ध्याने उपयोगि। मुखरागोऽपीत्यन्ये।

—अभिभा०, १, पृ० २६८

की स्वयभूत क्रिया द्वारा सगठित तथा मूर्तिमान् होते है तभी वे स्वय प्रकाश (Intuitions) की सज्ञा प्राप्त करते हैं। इस मानस-क्रिया के उपकरण नवीन *या प्राचीन हो सकते हैं पर मन के लिए उनका यह अन्तर गौण है।* वहाँ मुख्य बात है अमूर्त को मूर्त बनाना तथा विभिन्न तत्त्वों का एकता के सूत्र में अनुस्यूत करना जिससे वे एक तत्त्व के अवयवमात्र हो जायें और अपनी सत्ता को एकत्व में विलीन कर दें। स्वयप्रकाश ज्ञान का विशिष्ट अङ्ग है अभिव्यक्ति (Expression) अमूर्त्त को मूर्त बनाना आदि[1]।

गहरा मिलानकर देखा जाय तो यह मत बहुत कुछ भारतीय मत से मेल खाता है। विश्वनाथ ने भी रस की ज्ञानरूपता[2] स्वयप्रकाशता[3], व्यक्ति इत्यादि की दध्यादिन्याय से रस रूप में परिणति के रूप मे व्यक्ति प्रतिपादित की है[4]। रस को ब्रह्मास्वाद-सहोदर कहा है। ब्रह्म का स्वरूप भी प्रकाश एव आनन्दात्मक स्वीकार किया गया है। 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' इन शब्दों मे वह ज्ञान भी है। प्रकाश का साक्षात्कार ही आनन्दानुभव एव ब्रह्म-साक्षात्कार है[5] अत रस की मूर्तता प्रकाशात्मिका है। ज्ञान के लिए Imagestic विशेषण रस की मूर्तता कि बिम्बात्मकता को स्पष्ट सिद्ध कर देता है।

स्व० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने पाश्चात्यमत से भी नाट्य को ही वास्तविक काव्य माना जाने की पुष्टि की है। उनके अनुसार वाणी के माध्यम से मानव जीवन का प्रस्तुतीकरण इसी कला मे सम्भव है। इसलिए काव्य-कला और उसमे भी नाट्य सर्वोत्कृष्ट है।[8]

---

१ काव्य-समीक्षा, पृ० १३१

२ नन्वेवतावता रसस्याज्ञेयत्वमुक्तं भवति। व्यञ्जनायाश्च ज्ञानविशेषत्वाद् द्वयोरैक्यमापतितम्। —साद०, पृ० ५०

३ सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय। —वही, ३, २

४ व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रस।
न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते। —वही, पृ० ४७

५ वही, ३ २

६ तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिद विभाति। —कठो०, ५, १५

७ रसो वै स । रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति। —तै०उ०, २, ७

8 Among arts in general, that type of art which uses human speech as its medium, is the highest For no other medium of artistic presentation is fully adequate to the presentation of spiritual life Poetry, therefore, is the highest type

भाव बिम्ब के अन्य साधन

सात्त्विक रसदृष्टियाँ मुद्राएँ—अभिनय चार प्रकार का बताया गया है—आङ्गिक वाचिक आहार्य और सात्त्विक। इनमें शरीर के विभिन्न अङ्गों से किया जाने वाला अभिनय अङ्गैर्निवृत्तम् आङ्गिकम् इस व्युत्पत्ति से आङ्गिक कहलाता है।[2] इसके तीन भेद हैं शरीर से मुख से और चेष्टाओं से होने वाला।[3] इस प्रकार यह शाखा अङ्ग और उपाङ्ग रूप तीनों से युक्त होता है। इनमें सिर हाथ कमर, उरःस्थल बगल और चरण इन अङ्गों और प्रत्यङ्गों से छः अङ्गों वाला बन जाता है।[4] ये छः अङ्ग कहे जाते हैं और नयन भवें नासिका होठ कपोल ठुड्डी ये छः उपाङ्ग कहे जाते हैं।[5] आङ्गिक अभिनय को नाट्य की शाखा माना है।

वाणी से होने वाला अभिनय वाचिक कहलाता है।[7] वेष भूषा मुकुट आदि से होने वाला अभिनय आहार्य होता है तथा मानसिक भावों और

---

of art And dramatic poetry is the highest phase of the a t of poetry (1) because it is elaborated both in from and such stance into a whole which is most complete and (2) because it combines in it self the objectivity of epic and subjectivity of lyric and thus is the synthesis of thesis and antethesis It p esents to the imag native vision of the spectator an essentially independent action as a definite fact —West Aesth pp 431 32

१ आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा। ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकल्पितः॥ —नाशा० ८ ९

२ अङ्गैर्निवृत्तमाङ्गिकम्। —अभि०भा० पृ० २७२

३ त्रिविधस्त्वाङ्गिको ज्ञेयः शारीरो मुखजस्तथा। तथा चेष्टाकृतश्चैव शाखाङ्गोपाङ्गसंयुतः॥ —नाशा० ८ ११

४ शिरोहस्तकटीवक्षःपार्श्वपादसमन्वितः। अङ्गप्रत्यङ्गसंयुक्तः षडङ्गो नाट्यसंग्रहः॥ —वही ८, १२

५ तस्य शिरोहस्तोरःपार्श्वकटीपादतः षडङ्गानि। नेत्रभ्रूनासाधरकपोलचिबुकान्युपाङ्गानि॥ —वही ८ १३

६ आङ्गिकस्तु भवेच्छाखा। —वही ८ १५

७ न हि वागेव वाचिकम्। तया निर्वृत्तं तु वाचिकम्। —अभि भा० २७३

आहार्याभिनयानाम नेपथ्यजो विधिः —नाशा० २१ २

चतुर्विधं तु नेपथ्यं पुस्तोऽलङ्कार एव च। तथाङ्गरचना चैव ज्ञेयः सजीव एव च॥ —वही, २१, ५

अनुभूति का अभिनय सात्त्विक कहा जाता है। सत्त्व मन की अवस्था विशेष को कहते है। उसमे सम्बन्ध रखने से या उसकी क्रिया-प्रतिक्रियाओ का अभिनय सात्त्विक होता है। सात्त्विक अभिनय मे सम्बद्ध रसदृष्टियाँ और मुद्राएँ भी होती है जो कि अपने आप मे आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत है। ये रस की अभिव्यक्ति मे विशेष रूप से सहायक होती है। समराङ्गण सूत्रधार मे कहा गया है कि हाथ के द्वारा नाटकीय विषय अथवा रस जो कि वस्तुत काव्यार्थ है को सूचित करते हुए और दृष्टि मे बताते हुए पूर्ण रूप से अभिनय देखने के कारण नाटकीय व्यापार सजीव-सा दिखाई देता है। चित्र मे भी रस-दृष्टिया भावो की अभिव्यक्ति मे सहायक होती है।[2]

रस दृष्टियाँ—भरत ने कान्ता भयानका, हास्या करुणा, अद्भुता रौद्री वीरा और बीभत्सा ये आठ प्रकार की रस दृष्टिया गिनाई है।[3] इसी प्रकार स्थायी भावो मे स्निग्धा हृष्टा दीना क्रुद्धा दीप्ता भयान्विता जुगुप्सिता और विस्मिता ये आठ दृष्टिया कही है।[4]

इसके अतिरिक्त नाट्य म ३६ दृष्टिया भी गिनाई है जिनका सम्बन्ध रस और भाव से है। ये शून्या मलिना श्रान्ता लज्जिता, ग्लाना शङ्किता, विषण्णा मुकुला, कुञ्चिता अभितप्ता, जिह्मा, ललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला विभ्रान्ता, विप्लुता आकेकरा, विकोशा त्रस्ता, मदिरा है।[5] इनमे ललिता दो बार आ गई है। प्रतीत होता है, यहा पाठ भ्रष्ट और कोई दृष्टि छूट गई है। जिसके स्थान पर इसकी पुनरावृत्ति हो गई है। पहली रस विशेष से सम्बद्ध है ये सामान्य है, किसी एक से बँधी नही है। भरत ने नाट्य मे इन

---

१ रजस्तमोभ्यामस्पृष्ट मन सत्त्वमिहोच्यते। —मा० द०, ३
तथा इह हि सत्त्व नाम मन प्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुच्यते। मनस समाधौ सत्त्वनिर्वृत्तिर्भवति। लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम्। —नाशा० ७, पृ० १२६-३३

२ हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन्।
सजीव इव दृश्येत सर्वाभिनयदर्शनात्॥ —सम्० ८२ ३३
रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीना (वेइ मिह) लक्षणम्।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्ति प्रजायते॥ —वही, ८२, १

३ नाशा०, ८, ३८

४ वही, ८ ३९

५ वही, ८, ४०-४३

६ सम्भवत सवलिता हो।

दृष्टियों को अत्यन्त महत्त्व दिया है। इन्हीं के द्वारा रस और भाव की आरम्भिक प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होती है। अन्य अङ्गों से तो बाद में ही अभिनय किया जाता है।[1]

मनुष्य की सुख-दुःख रूप विभिन्न अवस्थायें नाटक में दिखाई जाती हैं और वह कार्य आङ्गिक वाचिक आदि अभिनयों से ही सम्भव है। इस प्रकार अभिनयों की प्रमुखता के कारण ही यह नाट्य कहलाता है। नाट्य और नाटक तथा नट शब्द अवस्पन्दन अथवा चेष्टा उछलकूद करने अर्थ में नट धातु से निष्पन्न होते हैं।[2] भावाश्रित नृत्य इसी सम्बन्ध से नृत् धातु से आता है। नृत्य में भी भावाभिव्यक्ति होने के कारण नाट्य से उसका सम्बन्ध है।[3] दृष्टियाँ और मुद्राएँ ही नृत्य में भावों को मूर्तता प्रदान करती हैं। विभावों से जो काव्यार्थ रस की अभिव्यक्ति होती है वह अनुभावों के द्वारा अनुभूति का विषय बनती है। विभाव के द्वारा कार्य या उद्भावित कार्य अनुभाव के द्वारा प्रतीति की और ले जाये जाते हैं। इस प्रसङ्ग में भरत द्वारा जो विभाव और अनुभाव की व्युत्पत्ति दी गई है वह वास्तव में आन्तरिक भावों की अभिव्यञ्जना के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण है। दृष्टियों और मुद्राओं का इस अभिनय में सर्वाधिक योगदान होता है।

नाट्य के प्रसङ्ग में भरत ने रसदृष्टियों का महत्त्वपूर्ण कार्य गिनाया है। आङ्गिक अभिनय का एक प्रकार चित्र अभिनय के नाम से व्यवहृत होता है। उसमें हाथों और दृष्टियों का साथ साथ उपयोग होता है। उदाहरण के लिए प्रातः काल रात्रि सायंकाल दिन की सूचना दोनों हाथों की हथेली ऊपर करके एवं स्वस्तिकाकार करते हुए गगन की तरफ ले जाते हुए सिर को ऊँचा उठाकर ऊपर की ओर देखने से देनी चाहिए। बिखरे हुए या इकट्ठे बहुत से प्राणियों फैले हुए सरोवरों दिशाओं ग्रहों और नक्षत्रों को भी ऊपर की ओर

१ इह भावा रसाश्चैव दृष्टयामेव प्रतिष्ठिता।
दृष्ट्या हि सूचितो भावः पश्चादङ्गैर्विभाव्यते॥ —नाशा० १३,३०-३१
अवस्था या हि लोकस्य सुखदुःखसमुद्भवा।
नानापुरुषसंचारा नाटके सम्भवेदिह॥
योऽयं स्वभावो लोकस्य नानावस्थान्तरात्मकः।
सोऽङ्गाद्यभिनयैर्युक्तो नाट्यमित्यभिधीयते॥ —वही १६ १२१, १२३

२ पा० धा० १३ ९२

३ रसभावाश्रय नृत्त नृत्य तालनयाश्रयम्। —द० रू० २ ९

देखकर सूचित करे। उसी प्रकार के हाथों और उसी सिर से तथा नीचे की ओर देखने में भूमि पर स्थित पदार्थों का सकेत करे।[1]

इतना अवश्य है कि सामाजिक इतना प्रबुद्ध होना चाहिए कि वह इन दृष्टियों और चेष्टाओं का आशय समझ सके। अन्यथा उसे देखकर पता ही न लगेगा कि यह संकेत किधर है।

मुद्रा—सूचित करने योग्य विषय को सूचित करने को मुद्रा कहते हैं।[2] यह भी मुख, दृष्टि, हाथ आदि अंगों के द्वारा बनाई जाती है। आजकल इसे छाप, अंग्रेजी में Pose कहते हैं। यह हृदय पर गहरा प्रभाव छोड़ती हैं, इसलिए मुद्रा नाम अन्वर्थ होता है। बहुत-सी मुद्राएँ प्रतीक बन गई हैं। जैसे प्रश्न-मुद्रा, अभय-मुद्रा, वरद-मुद्रा, ध्यानमुद्रा आदि। शास्त्रीय नृत्य एवं अभिनय में मुद्राओं का महत्त्वपूर्ण योग होता है। भरत ने यद्यपि मुद्रा का नाम नहीं लिया है तथापि अभिनय के प्रसंग में उनका विस्तार से परिगणन किया है। मुद्रा-निर्माण का प्रकार बताते हुए उन्होंने कहा है कि जिसका जो चिह्न हो, जैसा वेष हो या काम हो या रूप हो, उसे अच्छी या बुरी बात को दिखाकर सकेतित करना चाहिए।[3] जिसे जिस भाव से दिखाया गया हो, चाहे वह सुखद हो या दुःखद, द्रष्टा उसका प्रभाव लेकर सब-कुछ उसीमें व्याप्त देखता है। यहाँ 'सर्वं पश्यति तन्मयम्' यह वाक्यांश महत्त्वपूर्ण है।[4] इसका तात्पर्य यही है कि अपने अन्दर स्थित संस्कारों और भावनाओं के अनुसार ही मनुष्य मुद्राओं का अभिप्राय समझता है और लोक में सब ओर उसी वस्तु को व्याप्त देखता है। उदाहरण के लिए शक्तिपूजा में भगवती को योनि मुद्रा दिखाने का विधान है। सामान्य व्यक्ति उसका अभिप्राय अश्लील भाव में लेगा परन्तु उसका वास्तविक तात्पर्य दार्शनिक है। शिवसंहिता में उसे समाधि के समय की आसनविशेष से सम्बद्धस्थिति दिखाया है। जैसे—

> आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन् मनः।
> गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रवर्तते॥

---

१ नाशा० २५, २-५

२ सूच्यार्थसूचनं मुद्राप्रकृतार्थपरैः पदैः। —कुवल० १३६

३ यद् यस्य चिह्नं वेषो वा कर्म वा रूपमेव वा।
निर्देश्य सहितस्तेन इष्टानिष्टार्थदर्शनात्॥ —नाशा० २५, ३६

४ यो येन भावेनोद्दिष्टः सुखदेनेतरेण वा।
स तदाहितसंस्कारः सर्वं पश्यति तन्मयम्॥ —वही २५, ३८

ब्रह्म म योनिगत ध्यात्वा काम कन्दुक सन्निभम् ।
सूर्यकोटिप्रतीकाश चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥
तस्योर्ध्वं तु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला ।
तया सहितमात्मानमेकीभूत विचिन्तयेत् ॥
योनिमुद्रा पराह्येषा बन्धस्तस्या प्रकीर्तित ।[1]

मुद्राओ का प्रयोग व्यावहारिक जीवन म सदा ही होता है । उदाहरण क लिए कोई व्यक्ति यदि रुष्ट हो जाय तो मुख की आकृति ऐसी हो जायगी जैसे रोष म भरी हो । यदि कोई दु खद सूचना या आन्तरिक कष्ट होगा तो आकृति रोनी होगी । यही रोदन मुद्रा होगी । अभिनय के लिए भी इस प्रकार की मुद्राओ का नाटयनि आदि म सकेत किया जाता है । जैसे दुष्यन्त को देखकर शकुन्तला द्वारा भावप्रदर्शन का सकेत कवि शृङ्गारलज्जा न्ययति ।[2] इन शब्दो म देता है । पुष्पावचय के लिए व नमस्कार के लिए कपोतहस्त बनाना[3] मुद्रा ही है ।

भरत का कथन है कि सिर को कपडे म ढक कर धूल, धूम पन्न धुआ, लगन और हवा का अभिनय करना चाहिए । इसी प्रकार भूमि का तपा होना व गर्मी का लगना छाह खोजने की मुद्रा म करना चाहिए । हाथो को स्वस्तिक की आकृति म कमल कोश की भाति बन्द कर नीचे की ओर झुकाने म सिंह, रीछ बन्दर, बाघ और दूसरे जगली जानवर दिखाने चाहिए । गुरुजनो को प्रणाम करने के लिए हाथ स्वस्तिकाकार एव त्रिपताक बनाने चाहियें । चाबुक पकडने और रथ की रास सम्भालने म हाथो को स्वस्तिक और खेटक के मुख के आकार का बनाना चाहिए । इसी प्रकार हाथ को सिर पर रखकर दूसरा हाथ खडा करके ध्वजा या पताका (झण्डी) एव दण्ड धारण करने व दूसरे शस्त्रो को पकडने का अभिनय करना चाहिए ।[4]

ये मुद्राएँ केवल नाटक म ही प्रयुक्त नही होती, श्रव्यकाव्य म भी ये दिखाई जाती है उदाहरण के लिए इन्द्र से युद्ध करने के निमित्त रघु आलीढ नामक मुद्रा म बैठता है ।[5] शङ्कर जी पर बाण का प्रहार करने के लिए उद्यत

१ शिव स० ४ १ ३ ७

२ शाक० १ पृ० २०

३ कपोतहस्त कृत्वा । —शिवस० पृ० १३४

४ ना० शा० २५ ७ १८ १९ २३

५ अतिष्ठदालीढविशेष शोभिनावपु प्रकर्षेणविडम्बितेश्वर ॥ —र० ३, ५३

कामदेव को कवि ने विशेष मुद्रा में बैठा दिखाया है ।[1] उसके सम्बन्ध में नगेन्द्र प्रभसूरि का कथन है कि काम इसी मुद्रा में बैठा रहा होगा ।[2]

रस-प्रतीति में बाधकतत्त्व--आचार्यों ने रस प्रतीति में बाधक दोष गिनाये हैं ।[3] उनका वास्तविक तात्पर्य यही है कि उनके कारण रसोद्बोध के रूप में जो बिम्ब बनना होता है वह नहीं बनता । उदाहरण के लिए शृङ्गार विशेषकर विप्रलम्भ शृङ्गार में संयुक्त एवं कठोर ध्वनियाँ वर्जित हैं । क्योंकि सुकुमार होने के कारण उनके द्वारा उसका आस्वाद नहीं होता ।[4] जैसे नैषध का—

> दृगुपहत्यपमृत्युविरूपता शमयतेऽपरनिजरसेवितां ।
> अतिशयाऽष्यवपु क्षतिपाण्डुता स्मर भवन्ति भवन्तमुपासितु ॥[5]

यह पद्य दमयन्ती के विरह-वर्णन के प्रसङ्ग में आया है । दमयन्ती सन्ताप के कारण काम को कोस रही है । यहाँ कवि ने सम्भवत विरहिणी के क्षोभ को प्रकट करने के लिए इस प्रकार की कर्णकटु ध्वनियाँ प्रयुक्त की हैं । क्रोध में जैसे मनुष्य दाँत पीसता है उस प्रकार इन शब्दों के उच्चारण करने में वक्ता को दाँतों में दबाना पड़ता है । इस प्रकार क्षोभ की प्रतिक्रिया का अनुकरण तो हो गया परन्तु यह भी देखना है कि वक्ता कौन है । वह उत्तम प्रकृति नायिका है, इस प्रकार के कर्णकटु शब्द उसके मुख से नहीं जँचते । और इस क्षोभ को

---

१ स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टि नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम् ।
  ददर्श चक्रीकृतचारुचाप प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥ —कुम० ३, ७०

२ अत्र प्रहर्तुरस्थानमीदृगेव स्यादिति । —कुम० ३, ७२ पृ० ३२

३ यतो दुष्टेषु क्वचिद् रसस्याप्रतीतिरेव क्वचित्प्रतीयमानस्यापकर्ष, क्वचित्तु विलम्ब एव तीव्रम क्वचिदर्थस्य मुख्यभूतस्याऽप्रतीतिरेव, क्वचिद् विलम्बेन प्रतीतिरेव । क्वचिदचमत्कारित्वमनुभवसिद्धम् । इत्युद्देश्यप्रतीत्यनुत्पादो व्यक्त एव । तद्विघातकता च कस्यचित्साक्षात् । यथा रसदोषाणाम् । कस्यचित् परम्परया । यथा शब्दादि-दोषाणाम् ।
  —का० प्र० का २८१ ४६

४ तत्र टवर्गवर्जितानां वर्गाणां प्रथमतृतीयैः शर्भिरन्तस्थैश्च घटिता नैकट्येन प्रयुक्तैरनुस्वारपरसवर्णैः शुद्धानुनासिकैश्च शोभिता वक्ष्यमाणैर्मासात्ततो विशेषतश्च निषिद्धैः संयोगाद्यैरचुम्बिता, अवृत्तिर्मृदुवृत्तिर्वा रचनाऽनुपूर्व्यात्मिका माधुर्य-व्यञ्जिका । —र०, पृ० ६३-६६

५ नै० च०, ४, ८१

दीवाल के पीछे मुख्य विप्रलम्भ छिप सा जाता है। वहाँ तो 'कोपेऽपि कान्त मुखम' वाली उक्ति चरितार्थ होनी चाहिए। जैसे—

> अपसारय घनासार कुरु हार दूर एव किं कमलै ।
> अलमलमालिम् णालैरिति वदति दिवानिश बाला ॥[1]

यह शब्दावली नायिका के कलकण्ठ से निकली मधुर वाणी की प्रतिध्वनि ही प्रतीति होती है। जबकि पहले श्लोक की वर्णयोजना किसी कर्कशा के मुख से निकली कटु भाषा की गूज प्रतीत होती है। हाँ, उसी प्रसङ्ग का—

> श्रवणपूरतमालदलाङ्कुर शशिकुरङ्ग-मुखे सखि निक्षिप ।
> किमपि तुन्दिलित स्थगयत्यमु सपदि तेन तदुच्छ्वसिमि क्षणम् ॥[2]

यह पद्य प्रकृत रसानुकूल वर्णयोजना लिए है। इसलिए वह उत्तमप्रकृति नायिका के व्यक्तित्व का प्रकाश मे लाती हुई उसकी मानसिक वेदना का अनुभव कराती है। इसी प्रकार—

> हारो जलार्द्रवसन नलिनीदलानि प्रालेयशीकरमुचस्तुहिनांशुभास ।
> यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि निर्वाणमेष्यति कथ स मनोभवाग्नि ॥[3]

बाण के इस पद्य मे वियोग शृङ्गार का भाव-बिम्ब प्रस्तुत करने की क्षमता है। यदि ऐसी बात न होती तो जगन्नाथ मम्मट द्वारा रौद्र रस के उदाहरण के रूप मे उद्धृत—

> कृतमनुमत दृष्ट वा यैरिद गुरु पातक
> मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधै ।
> नरकरिपुणा सार्धं तेषा सभीमकिरीटिना—
> मयमहमसृङ मेदोमांसै करोमि दिशां बलिम् ॥[4]

इस पद्य की आलोचना न करते।

रीति और गुणो के प्रसङ्ग मे आचार्यों ने जो विषय, वक्ता आदि का

---

१ का० प्र० का० ८ (उ) ३४२

२ नै० च० ४ ५६

३ औ० वि० पृ० ३३

४ (वे० स० ३ २४) काव्यप्रकाशगतरौद्ररसोदाहरणे तु 'कृतमनुमत दृष्ट वा यैरिद गुरु पातकम' इति पद्ये रौद्ररसव्यञ्जनक्षमा नास्ति वृत्ति, अतस्तत्रवेरशक्तिरेव। —रस०, पृ० ३७

औचित्य देखते हुए रचना करने का निर्देश किया है।[1] उसका उद्देश्य यही है कि ये भाव-बिम्ब बनने में बाधा न पड़े। इस भाव-बिम्ब को ही अभिनव ने स्पष्ट शब्दों में 'मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतिपत्ति' कहा है। वे स्थान-स्थान पर रस-निष्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रत्यक्षतासम्पादन की बात करते हैं। उदाहरण के लिए—

स्फुटस्फुटप्रतीतिकायशब्दलिङ्गसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति। स्फुट-प्रतीति रूप प्रत्यक्षोचित प्रत्यय साकाङ्क्षत्वात।"[2]

यथाऽऽहु सर्वा चेय प्रमिति प्रत्यक्षपरा। इति। स्वसाक्षात्कृते आगमानुमानशतैरप्यन्यथाभावस्य स्वसंवेदनात अभिनयन हि सशब्द-लिङ्ग व्यापार-विसदृशमेव प्रत्यक्षव्यापारकल्पम्।[3]

भयकम्पयोरेव वा तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वे परिपोषिका नटादिसामग्री।[4] तत्र नाट्य नाम नटगताभिनयप्रभवसाक्षात्कारायमाणैकघन मानसनिश्चला-ध्यवसेय समस्तनाटकाद्यन्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयोऽर्थ।[5]

आहार्यस्यापि धनुःप्रतिशीर्षक मुकुटादे प्रत्यक्ष-बुद्धावुपयोगेऽन्तरङ्गत्व सूचयति।[6]

रस को ही काव्यार्थ या काव्य की आत्मा कहने का तात्पर्य ही यह है कि चमत्कार के रूप में प्रत्यक्षीकरण हो। तभी काव्यानन्द ब्रह्मानन्दसहोदर हो सकता। आधुनिक आलोचक इसलिए रसात्मक कविता या काव्य को इमेज या बिम्ब की संज्ञा देते हैं।

उदाहरण के लिए—

In it the implicit represented by the emotive content reigns supreme and absorbe the total consciousness of the reader, as a result of which his narrow personality is put into

---

१ वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित क्वचित्।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते॥ —का० प्र० का०, ८, ७७

२ अभिभा० १ पृ० २८१

३ वही, पृ० २८६,

४ वही, १, २७६

५ वही, १, पृ० २६६,

६ वही, १, पृ० २६८।

sleep and his ego boundaries expand This does not hold good of the Poetic Image brought about by Samasokti or Aksepa[1]

इन पंक्तियों में रस प्रधान काव्य के लिए ही Poetic Image कहा गया है। रमारञ्जन मुकर्जी भी साधारणीकरण को काव्य बिम्ब के निर्माण में उपयोगिता का समर्थन करते हुए कहते हैं—

It is because of this power of the poeticimage to reveal a Universal feeling that, it enlarges the mind and constant application to poetic Art expands the boundaries of the ego The excitant, the ensuent the permanent mood and the accessory that serve as the constituents of the image, each, as a matter of fact is generalised through the power of Universalization inherent in the expression[2]

इसी प्रकार पाक शय्या एवं निर्दोष शब्दार्थ के प्रयोग से सर्व-संवेद्य काव्य का निर्माण होता है। वह काव्य उनकी दृष्टि में एक बिम्ब ही है—

As the Universal word and the Universal content bring into being the Universal Image Indian Aesthetics ushers in the concept of paica of perfection and recognises its two varieties the faultlessness of expression and the faultlessness of context[3]

इस प्रकार भले ही काव्य को बिम्ब मानते हुए रस को उसका असाधारण हेतु मानें या चमत्कारप्राण होने के नाते रस को बिम्ब मानकर उससे काव्य की सप्राणता स्वीकार करें रस एवं बिम्ब दोनों का काव्य में अपरिहार्यत्व सिद्ध हो जाता है। सिद्धान्ततः शरीर एवं आत्मा के भिन्न होने पर भी जिस प्रकार दोनों में भेद प्रतीत नहीं होता और किसी अङ्ग के विक्षत होने पर 'मैं घायल हो गया' ऐसा अनुभव किया जाता है इसी प्रकार शब्द और अर्थ के काव्य शरीर के रूप में और रस के आत्मा के रूप में मान्य होने पर भी उनको पृथक्-पृथक् नहीं गिना जाता और सब मिलकर एक काव्य-पुरुष की सृष्टि करते हैं।[4] काव्य बिम्ब का शरीर तो शब्द और अर्थ से ही बनता है, रस उसमें प्राणाधान करता है। तभी वह पूर्ण बिम्ब कहलाता है।

---

१ डा० कालीपद गिरि कान्सेप्ट आफ पोयट्री एन इण्डियन एप्रोच —पृ० ३६

2 I P p 36

३ वही पृ० ३६

४ शब्दार्थौ ते शरीरम्, संस्कृत मुखं प्राकृत बाहुः जघनमपभ्रंश, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचो रस आत्मा। —का० मी० १, ३ पृ० १६ (चौ०)

सातवाँ परिच्छेद

औचित्य, दोष, गुण, रीति, वृत्ति, शय्या, पाक और काव्य-बिम्ब

चमत्कार के साधनों में रस और ध्वनि का विवेचन पहले हो चुका है। इनके निर्वाह का प्रमुख आधार है औचित्य की रक्षा। जिस प्रकार शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का निर्माण उचित रीति से होने पर सौन्दर्य का आधान करता है और उसके अभाव में विरूपता का, इसी प्रकार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ की यथायथ योजना चमत्कारोत्पादक तत्त्वों का उत्पादन करती है तभी चमत्कार आता है। उसके अभाव में काव्य की आत्मा कहाने वाले रस का भी परिपाक नहीं हो पाता और वहाँ रसाभास हो जाता है।[1] इसी कारण क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रस का भी प्राण कहा है।[2] यदि उचित पद का प्रयोग होगा तो वह व्यञ्जक भी होगा माधुर्य आदि गुणों की योजना भी करेगा, अर्थ के अनुरूप होने पर शय्या और पाक की सृष्टि भी होगी। रसानुकूल होने से वृत्ति का और गुण का व्यञ्जक होने से रीति का विधान करेगा। अनुचित होने से वह अनेक दोषों का आधार होने से इन सभी चमत्कार के साधनों का घातक होगा। इस प्रकार औचित्य काव्य-बिम्ब का प्रत्यक्ष आधार है। यह बात निम्न त्रिकोण में स्पष्ट हो जाती है—
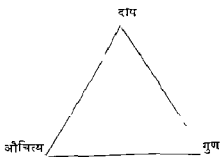
१ रसाभासा अनौचित्यप्रवर्तिता —का० प्र० का० ४, ३६

२ औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥ —औचि० १ ३

इस विवेचन को देखने से ज्ञात होता है कि दोष वह दुधारा है जो औचित्य और गुण दोनों का घातक है। क्योंकि अनौचित्य होने पर दोष होता है। जब दोष हो गया तो औचित्य वहाँ रह गया और गुण भी कहाँ ? शब्द में औचित्य रहता है तो वह व्यञ्जक भी होगा। जैसे अपुष्टार्थ दोष के स्थल में अर्थ के शब्द होने में व्यञ्जकता नहीं आती। इसके विपरीत यदि शब्द साभिप्राय होंगे तो अवश्य व्यञ्जक होंगे। इस कारण वहाँ अपुष्टार्थ दोष भी नहीं रहेगा। जैसे—

> न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
> सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
> धिग्धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
> स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥[1]

यहाँ वाक्य-व्यापी व्यंग्यार्थघायल सर्प के समान क्षुब्ध महाप्रतापी रावण के क्रोध और खीझ के भाव को अभिव्यक्त कर रहा है जिसके कारण स्वर्ग की गावड़ी को लूटने के कारण अपनी भुजाओं का फूलना भी उसे व्यर्थ लग रहा है जो कि असूया को व्यक्त कर रहा है। यहाँ आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अविमृष्टविधेयांश दोष केवल आशय की विलम्ब से उपस्थिति कराता है। वृथा शब्द के समास में पड़ जाने से व्यज्यमान असूया की प्रतीति में बाधा होती है जबकि विवक्षित भाव है—टूट जायें ये बाहु जो स्वर्ग-सी गावड़ी को लूटने के कारण तो फूल रहे हैं पर इस तुच्छ शत्रु का कुछ भी न बिगाड़ सकीं। इस प्रकार कविनिबद्ध वक्ता के हृदय के क्षोभ और असूया की प्रतीति में बाधा होने से दोष हुआ, यही अनौचित्य है। इसने उस भाव बिम्ब को धूमिल कर दिया।[2] परन्तु अनौचित्य स्थिति-सापेक्ष होता है। एक स्थिति में जो अनौचित्य प्रतीत होता है दूसरी में वही गुण या दोषाभाव बन जाता है। जैसे जाजा माता के परिहास में 'सुरभिमाम् नक्षत्यावृत्त' यह आपातमात्र में जुगुप्सा व्यञ्जक अश्लील वस्तुतः दोष नहीं रहता।

इस औचित्य के निर्वाह के लिए एज्रा पाउण्ड के कुछ निर्देश कवियों के लिए अत्यन्त महत्त्व के हैं—

---

१ ना० प्र० भा० पृ०, २७५

२ अत्र च शब्दरचना विपरीता कृतेति वाक्यस्यैव दोषो न वाक्यार्थस्य।
—वही, पृ० २७६

१ प्रकृत विषय का चाहे वह आत्मगत हो या विषयगत, (बिना किसी व्यय की भूमिका के) सीधा निरूपण करें।

२ ऐसे शब्द का कभी प्रयोग न करो जो कि विषय-प्रतिपादन म सहायक न हों।

३ जहा तक लय का सम्बन्ध है, सगीतात्मक वाक्याशो की अविति की दृष्टि से पद-योजना करो, छद या वाद्य की आवृत्ति की दृष्टि से नहीं। (तात्पर्य यह है कि अथगत गति पर ध्यान देना चाहिए)।

४ काव्य-बिम्ब वही है जो एक ही क्षण में बौद्धिक एव भावात्मक सश्लिष्टता प्रस्तुत करे। यहाँ सश्लिष्ट शब्द आधुनिक मनावैज्ञानिको की अभिमत अथ म प्रयुक्त किया है जैसाकि बर्नार्ड हार्ट का मत है।

इस प्रकार की सश्लिष्ट अनुभूति एक निश्चित क्षण म उत्पन्न होनी चाहिए जो कि सहसा देश और काल की सीमाओ से मुक्त कर दे। यह सहसा उदभूत अनुभूति वैसी ही होनी चाहिए जैसी कि हमें सर्वश्रेष्ठ कलाकृति की उपस्थिति म हुआ करती है।

भारी भरकम पुस्तकें लिखने की अपेक्षा जीवन-भर म एक बिम्बमात्र प्रस्तुत कर देना कहीं अच्छा है।

हो सकता है कुछ लोग इन सभी बातो को विवादास्पद मानें। किन्तु काव्य-रचना आरम्भ करने वाला के लिए वर्जनीय बातो की एक सूची प्रस्तुत कर देना कहीं उचित होगा।

आरम्भ करते समय विवक्षित का भली प्रकार साक्षात् विवेचन, शब्दों की परिमितता एव सगीतात्मक पद-समूहा की अविति की दृष्टि म भला प्रकार सोच लो। सिद्धात के रूप म नहीं, प्रत्युत दीर्घकालीन चिन्तन के परिणाम-स्वरूप। अन्य व्यक्ति के चिन्तन का विषय होने पर भी (ग्राह यता की दृष्टि से) वह विचारणीय हो सकता है। एसे व्यक्तियो द्वारा की गई आलोचना पर कभी ध्यान मत दो जिन्होने कोई उल्लेखनीय रचना न की हो। यूनानी कवियो और नाटककारो की वास्तविक कृतियो के मध्य पाई जाने वाली त्रुटिया एव यूनानी व रोमन वैयाकरणा द्वारा अपने छदों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए कल्पित परिभाषाओ पर भी विचार कर लेना चाहिए।

भाषा—भाषा के सम्बन्ध म एज्रा पाउण्ड का निर्देश है कि कभी निसार विशेषणो का प्रयोग न करो जिनसे किसी विशिष्ट बात पर प्रकाश नहीं पडता। "शान्ति का धूमिल देश" सदृश प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए।

इसमें काव्य बिम्ब फीके निःश्रीक हो जाते हैं। इस प्रकार के प्रयोग अवास्तविक को ठोस सत्य में मिला देते हैं। ऐसे प्रयोग सदा वे लेखक किया करते हैं जो कि कभी यह अनुभव नहीं करते कि प्राकृतिक पदार्थ एक पूर्ण समर्थ प्रतीक होता है।

सदा अवास्तविक या हवाई बातों से बचो। जो बात उत्तम गद्य में लिखी जा चुकी है उसे मध्यम श्रेणी के पद्य में लिखने का यत्न मत करो। उत्तम गद्य रचना अवर्णनीय रूप से कठिन रचना है पर विस्तार में व्यर्थ में लिखकर तुम यदि उस कठिनाई से बचने का असफल यत्न करते हो तो यह न सोचो कि कोई भी बुद्धिमान धोखा खा जायगा (और इस असफलता को समझेगा नहीं)। यह कल्पना न कर बैठना कि काव्यकला संगीत कला से सरल है या तुम (अपनी साधारण रचना से) किसी काव्य ममज्ञ को प्रसन्न कर सकोगे।

भले ही या तो किसी अलंकार का प्रयोग भी मत करो। पर यदि करना ही है तो अच्छे अलंकार का करो।[1]

काव्य बिम्ब के निर्माण के लिए एजरा पाउण्ड महाशय के ये निर्देश आस्थावान और नवशिक्षित कवियों के लिए निस्सन्देह बहुत महत्त्व रखते हैं।

इस कारण आचार्यों ने दोषों को नित्य और अनित्य इन दो श्रेणियों में विभक्त किया है।[2] जैसे अप्रतीतत्व दोष सामान्य रूप से एक शास्त्रमात्र में प्रसिद्ध शब्द के प्रयोग में हुआ करता है[3] परन्तु वहाँ वक्ता एवं बोद्धा के तद्विषयज्ञ ज्ञाता होने पर दोष न रहकर गुण बन जाता है।[4] जैसे

> साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत्सपक्षे स्थितिं
> व्यावृत्तं च विपक्षतो भवति यत् तत्साधनं सिद्धये।
> यत्साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयो पक्षे विरुद्धं च यत्
> तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रहः ॥[5]

---

1 Twentieth Century Literary Criticism p 60

२ तु०—स चायं द्विविधः—नित्योऽनित्यश्च। तत्रानुकरणादन्यत्र प्रकारेण समाधातुमशक्यो नित्यः। यथा च्युतसंस्कृत्यादि। अयादृशस्त्वनित्यः यथाऽप्रयुक्तत्वादि। —का० प्र० वा० पृ० २४६

३ अप्रतीतं यत् केवले शास्त्रे प्रसिद्धम्। —वही पृ० २५६

४ गुणः स्यादप्रतीतत्वं ज्ञत्वं चेद् वक्तृवाच्ययोः। —साद० ७ १८

५ मरा० ५ १०

मुद्राराक्षस के इस पद्य में राजनीति विषयक विवेचन नैयायिक शब्दावली में किया गया है। न्यायशास्त्र-परिचित पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग के कारण अप्रतीत दोष का विषय होने पर भी समान रूप से राजनयिक सिद्धान्त का वाचक होने के कारण राक्षस के मुख में इन शब्दों का प्रयोग अनुचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसे अपनी सेना में चन्द्रगुप्त-पक्षीय गुप्तचरों के भर जाने का सन्देह हो गया है। एक विद्वान राजनयज्ञ के मुख से इस प्रकार की शब्दावली के प्रयोग को अनुचित नहीं कहा जा सकता है। इसलिए यहाँ अप्रतीतत्व गुण ही बन गया है।

वस्तुतः दोष की परिभाषा मुख्य अर्थ का अपकर्षक या घातक होना है।[1] मुख्य अर्थ रस या चमत्कार है। यह अपकर्षकता कहीं साक्षात् होती है तो कहीं परम्परा से।[2] जहाँ अपकर्षकता होगी वहीं अनौचित्य होगा पर जहाँ प्रत्युत काव्यानुगुणता होगी वहाँ औचित्य ही होगा। जैसे अधमोक्ति में ग्राम्यत्व को गुण माना गया है।[3] इसका कारण यह है कि वक्ता के सामाजिक एवं बौद्धिक स्तर के अनुरूप शब्दावली एवं विचार उसके व्यक्तित्व को प्रकाश में लाते हैं। इससे स्वाभाविकता की रक्षा होती है। इसी कारण प्राचीन नाटकों में स्त्रियों एवं निम्न वर्ग के पात्रों में व विदूषक से प्राकृत का प्रयोग कराया जाता था। भोले गँवार के रेशमी रूमाल से बहू का मुख पोंछने का वर्णन करने में दोष माना है।[4] इसका कारण अस्वाभाविकता और अनौचित्य ही है। प्राचीन काल में रानी मानी और राजा लोग ही रेशमी वस्त्र पहन पाते थे। सामान्य व्यक्ति के लिए वह दुर्लभ था। इस स्वाभाविकता और औचित्य का निर्वाह करने से स्थिति के अनुकूल बिम्ब बनता है। अन्यथा प्रतिकूल बोध होने से बिम्ब बनने में बाधा होती है।

---

१ मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्य ।

— का० प्र० का०, ७, १

२ तद्विघातकता च कस्यचित् साक्षात्। यथा रसदोषाणाम्। कस्यचित् परम्परया। यथा शब्दादिदोषाणाम्। —वही पृ० २४६

३ अधमप्रकृत्युक्तिषु ग्राम्यो गुणः। वही, पृ० ३५८

४ पट्टसुउत्तरिज्जेण पामरो पामरीय परिपुसइ।
अहगरअ कूरकुम्भीभरेण सेउल्लिअं वअणम् ॥
अत्र पामरस्य पट्टांशुकोत्तरीयाभरणानौचित्याद् औचित्यविरुद्धम् इदम्।

—सर० १, (उ०) ८०

ये दोष कहीं पद में कहीं पदांश में कहीं वाक्य में कहीं अर्थ में कहीं अलङ्कार में तो कहीं रस में रहते है।[1] रस में रहने वाले दोष साक्षात् उसकी प्रतीति में बाधक होते हैं। क्योंकि उनकी अनुभूति का बिम्ब नहीं बन पाता। अलङ्कारदोष भी चमत्कार के घातक होने से साक्षात् ही बिम्ब के बाधक होकर रस प्रतीति में कमी लाते है। अवाचक[2] निहतार्थ[3] अप्रयुक्तत्व[4], अप्रतीतत्व[5] शब्दार्थ के बोध में बाधा होने के कारण बिम्ब नहीं बनने देते। ग्राम्यत्व[6] अश्लीलत्व[7] रुचि विरुद्ध प्रतीति कराने के कारण दोष कहलाते है। क्योंकि उससे मानसिक सङ्कोच या क्षोभ होता है। वह बिम्ब बोध में बाधक बनता है। परन्तु परिस्थितिवश वह भी दोष नहीं रहता। कामशास्त्रीय विषय अथवा सुरतारम्भ गोष्ठी में अश्लीलत्व भी गुण माना गया है। क्योंकि उस प्रकार की बातें नायक नायिका की रागवृत्ति को जगाने में सहायक होती हैं। पूर्वोदाहृत अविमृष्ट विधेयांश में विधेय को यथास्थान न रखने के कारण अर्थ-बोध में अस्पष्टता आती है। अलङ्कार काव्य में चमत्कार लाते हैं पर उनका भी अयथास्थानप्रयोग प्रत्युत रुचिभङ्ग करता है। उदाहरण के लिए आतुर प्रभाकरवर्धन के वर्णन में अनुप्रास की अतिमात्रा रोगी के प्रति सहानुभूति के स्थान पर उपहास का अनुभव कराता है।[8] इस प्रकार असमान में अलङ्कार प्रयोग चमत्कार का उत्पादक न होकर अभीष्ट बिम्ब के निर्माण में प्रत्युत बाधक होता है। इन सभी दोषों के परिहार की दृष्टि में रखते हुए

---

१ पदे तदंशे वाक्येऽर्थे सम्भवन्ति रसेऽपि यत्। —सा॰द॰ ७ १

एभ्य पृथगलङ्कारदोषाणां नैव सम्भव। —वही ७ १६

२ तदर्थाविवक्षायां तु प्रसिद्धिलाभेनावाचकम्। —का॰उ॰ पृ॰ २५३

३ निहतार्थ (यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम्)। पृ॰ २५१

४ अप्रयुक्त (तथाऽऽम्नातमपि कविभिर्नादृतम्)। —वही पृ॰ २५०

५ अप्रतीतत्वमेकदेशमात्रप्रसिद्धम्। —सा॰द॰ पृ॰ ३२६

६ ग्राम्य यत्केवले लोके स्थितम्। —का॰प्र॰ का॰ २५६

७ व्रीडा जुगुप्साऽमङ्गल व्यञ्जकत्वात् त्रिधा। वही पृ॰ २५६

८ दाहो महान आहर हारान् हरिण मणिदर्पणान् म देहि देहि वदेहि हिमलवैर्लिम्प ललाटं लालावति घनसारम्भादधूली निर्वहि धवलाक्षि निक्षिप चक्षुषि इन्द्रकान्त कान्तिमति।

—ह॰च॰, पृ॰ ५०२

क्षेमेन्द्र ने औचित्य के निर्वाह के लिए विविध स्थल गिनाये हैं।[1] उन सभी में जब औचित्य की हानि होती है तो दोष बन जाते हैं। आचार्य भरत के समय से ही इस औचित्य पर बल दिया जाता रहा है।[2] भामह दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन आदि सभी प्राचीन आचार्यों ने इस औचित्य के निर्वाह पर बल दिया है। कहीं दोष-निरूपण के रूप में अनौचित्य-प्रदर्शन के द्वारा तो कहीं साक्षात् औचित्य की चर्चा में। आचार्य कुन्तक ने मार्गों के गुण गिनाते हुए औचित्य को उनमें प्रमुख स्थान दिया है।[3] महिम भट्ट ने भी अपनी समीक्षा में अनौचित्य-ग्रस्त प्रयोगों पर विचार किया है।[4] सबका तात्पर्य यही है कि *काव्य-चमत्कार अथवा बिम्बनिर्माण में बाधक इन तत्त्वों से काव्य को बचाया जाए।*

नित्य दोष[?] में च्युतसंस्कृति व्याकरण के अनुशासन का उल्लंघन होने से काव्य को उपहसनीय बनाता है, गतार्थ,[5] अनवीकृत या कथित-पद[7] कौतूहल की हत्या करने से काव्य के प्रति श्रोता की प्रवृत्ति नहीं होने देते। विरुद्ध-

---

१ पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलङ्करणे रसे। क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे। उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते। तत्त्वेसत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसङ्ग्रहे। प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि। काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापिजीवितम्॥ —औचि० ८,१०

२ तु—वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गति-प्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।
—नाशा०, १३ ६४

चेक्रीडितप्रभितिभिर्विकृतैश्च शब्दैर्युक्त्या च भान्ति ललिता भरतप्रयोगाः। यज्ञक्रियेव शरवमधरैर्यु तार्क्त्यैर्वेश्याद्विजैरिव कमण्डलदण्डहस्तैः।
—वही, १७,१२३

३ आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्॥ —वजी०, १,५३

४ व्यवि०, २

५ यदप्रयोजनं यच्च मनाथ व्यर्थमेव तत्। —सक० १, १३७

६ अनवीकृतो भङ्ग्यन्तरेण यन्नवत्वं तेन प्रापितं। एवं-भङ्गिनिर्दिष्टाने-काथ इत्यर्थः। —का० प्र०, पृ० ३३६

७ *प्रयोजनशून्यत्वे सति समानार्थक समानानुपूर्वीकमदवत्त्व तत्त्वमित्यर्थः।*
—का० उ० पृ० ३००

मतिकृत[1] और अमतपरार्थता[2] अभीष्ट के विरुद्ध बिम्ब का निर्माण होने से त्याज्य माने गये हैं। हतवृत्त[3] और पतत्प्रकर्षता[4] अश्रव्यता उत्पन्न करते हैं। अस्थानस्थ समासता[5] समाप्त-पुनरात्तता,[6] अक्रम[7] या दुष्क्रमता,[8] गर्भितता[9] व्याकीर्णता[10] दूरान्वयता बिम्ब से अर्थ की उपस्थिति कराते हैं। दुःश्रवता[11] से कठोर ध्वनियाँ होने के कारण श्रोता का काव्य-श्रवण में प्रवृत्ति ही नहीं होती। प्रतिकूलवर्ण प्रकृत रसव्यञ्जक गुणों का उपघातक होने से रसानुभूति को आघात पहुँचाता है।[2] निरर्थक वचनों से कोई बिम्ब ही नहीं बनता।[3] शास्त्र इतिहास पुराणों[4] के विरुद्ध वचन से आद्य बिम्ब या मिथिक बिम्ब की हत्या होती है।[5] अभवन्मतसम्बन्ध भी अर्थबोध में बाधक होने से बिम्ब नहीं बनने देता।

---

१ विरुद्धमतिकृत पदान्तरसन्निधानेन प्रकृतप्रतीतिविपक्षकारकप्रतीतिजनकम्। —का० प्र० का० प्र० २६९

२ अमतः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र। —वही, पृ० ३२४

३ हतं लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु, रसाननुगुणं च वृत्तं यत्र तद्धतवृत्तम्। वही पृ० ३६५

४ प्रक्रान्तस्य बन्धस्य वा प्रकर्षस्य यत्रोत्तरं पातो निष्कर्षः। —वही ३०१

५ अस्थानस्थ एवासमस्तानस्थत्वम्। —वही पृ० ३१२

६ समाप्तमपि पुनरात्तम्। वाक्यं समाप्य पुनस्तदन्वयि शब्दोपादानं यत्रेत्यर्थः। वही पृ० ३०१

७ अविद्यमानः क्रमो यत्र तत्। वही ३२३

८ दुष्टः क्रमो यत्र। दुष्क्रमत्वं च लोकशास्त्रविरुद्धत्वम्। —वही पृ०३३०

९ यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति। —वही ३१७

१० व्याकीर्णं यत्र मिथो यामन्विभक्तीनामसंगतिः। —सर० १ २३

११ परुषवर्णतया श्रुतिदुःखावहत्वं दुःश्रवत्वम्। —सा० द० पृ० २७८

१२ तत्र प्रतिकूलवर्णं विवक्षितरसादौ प्रतिकूला अननुगुणा वर्णा यत्र तत्। —का० प्र० का० पृ० २६०

१३ निरर्थकं पादपूरणमात्रप्रयोजनं चादिपदम्। —वही पृ० २५२

१४ धर्मार्थकामशास्त्रादि विरोधः कोऽपि यो भवेत्।
तमागमविरोधाख्यं दोषमाचक्षते बुधाः॥ —सर० १ ५७

१५ तु० ज० ७ टि० ८१ ८२

१६ अभवन् मतः (इष्टः) योगः (सम्बन्धः) यत्र तत्। — का० प्र० का०, पृ० ३०३

अनित्य दोष कहीं परिस्थित्यनुसार दोष ही नहीं रहते तो अन्यत्र गुण भी बन जाते हैं। इसके निदर्शन-स्वरूप ग्राम्यत्व[1] और अश्लीलत्व[2] है। मत्त के वचनों में स्खलित पद,[3] निरर्थक आवृत्ति[4] क्षम्य हो जाती है। यह उनके उदाहरणों में स्पष्ट हो जाता है। पूर्वोक्त दोषों में से कुछ के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

त्राहि मां करुणा-सिन्धो दीनबन्धोऽतिदीनकम्।
देव देव महादेव महाशिव महेश्वर॥[6]

इस पद्य में "त्राहि" पद त्रैङ् धातु के लोट् के मध्यम पुरुष एक वचन में बना है। नित्य आत्मनेपद धातु का परस्मैपद में प्रयोग करने से यह च्युतसंस्कृति दोष का विषय है। पदगत होने से यह पददोष का उदाहरण है।

मन्त्रो मे नाऽस्ति न च विबुधस्याऽस्ति विद्धिर्न विद्या
तन्त्रं मे नाऽस्ति विधिरपि नो मेन वित्तप्रतिष्ठे।
आर्ये ते पाद-जलज-रजो मेऽवलम्ब पवित्र
दुःखाब्धावस्य विरलतरस्येह पुत्रस्य मातः॥[7]

पद्मनारायण त्रिपाठी के इस पद्य में प्रत्येक चरण का चतुर्थ अक्षर सन्धि या समास के कारण अगले पद में जुड़ा होने से यतिभङ्ग वाक्यगत हतवृत्त दोष को उत्पन्न कर रहा है। बारम्बार 'मे' पद आने से अनवीकृत है। घञन्त "अवलम्ब" का नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग भी लिङ्गानुशासनभङ्ग का निदर्शन है। इस प्रकार यहाँ वाक्यगत और पद गत दोनों ही दोष हैं। यतिभङ्ग अश्रव्यता के कारण नाद-बिम्ब नहीं बनने देता।[8]

विरुद्धमतिकृत् का स्थल पूर्वोदाहृत 'नव बलगनिवतता' आदि पद्य है जिसमें अभिमत अर्थ 'शिवास्ते पन्थानः सन्तु' के विरुद्ध 'तव शिव बन्म

---

१ द्र० टि०, ११
२ सुरतारम्भगोष्ठ्यामादावश्लीलत्वं तथा पुनः। —सादे० ३ १७
३ नि पि प्रिय म-म-स्वय मु-मु-मुखासव देहि मे
तत-न्यज दु-दु-द्रुत भ-भ भाजन काञ्चनम्। —श्रृ० प्र० भा० २ पृ० २१
४ मा मा-मानद माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी। —सादे० ७
५ छज्जू राम शास्त्री-तरङ्गराम-दिग्विजयम्। —४ १०
६ पा०प्रा० ९९१
७ पद्मनारायण त्रिपाठी-दत्रीशतकम १-२३
८ द्र० अ० टि० ८२
९ वा० रा० ९ ३ ५६

अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलक कूरक्वणत्कङ्कण
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।
पीतच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लास
द्व्यालोलस्तनभारभरववपुर्दर्पोद्धत धावति ॥[1]

इस पद्य म श्रुतिकटु वणयोजना स वण्य ताडका के भयङ्कर एव आघात रूप एव भागन की क्रिया का गति बिम्ब बनता है। यदि यहा कोमल वर्ण-योजना होती तो भाव म साम्य न होने क कारण नाद-बिम्ब न बनता जो कि उसके चलने मे धमाके का अनुभव कराता है। फलस्वरूप यह प्रतिकूलवर्ण का स्थल बन जाता। इस प्रकार—

नन्द्यानन्दयु थूत्कृते परिहरश्लोकानितो वा तत
आक्पन गिरिजाङ्घन चन्द्रलनेत्राञ्चलश्री शिव ॥[2]

यहा शिव पार्वती क विवाह प्रसङ्ग म प्रकृत रस शृङ्गार के विरुद्ध थु-थूत्कृते एव आक्पन इन प्रयोगो म दुःश्रवता है। पुन थूत्कृतै म थूकने का स्मरण होने स जुगुप्सा-व्यञ्जक अश्लील का विषय है। दोनो ही प्रकृत रस के बिम्ब की योजना म बाधा उत्पन्न क कारण दोष हैं।

इसी प्रकार दूरान्वय दोप भी बिम्ब निर्माण म बाधा डालता है। जैसे—

दूर मुक्तालतया बिससितया विप्रलोभ्यमानो मे
हस इव दर्शिताशो मानसजन्मा त्वया नीत ॥[3]

विप्रलम्भ शृङ्गार म सम्बद्ध इस पद्य म हस की योजना क कारण जो सुन्दर भावबिम्ब बनता है उसम दूर एव नीत इन दोनो पदो क दूर दूर पड़ जाने मे अस्फुटता आ गई है।

अर्थ-दोषो म दोषत्व का कारण अभिमत बिम्ब क विरुद्ध का बनना या अभिमत बिम्ब का न बनना दोनो होत हैं। जैस अपुष्टार्थ दोष शब्दो की भरमार होने पर भी कवि के अभिप्राय प्रकट करन म असामर्थ्य होना है।[4] उदाहरण क लिए—

---

१ (म० वी० १ ३५ (का० प्र० का० २८६ (उ)
२ प्रमुदत्त शास्त्री—गम० ३ ७६
३ का० पृ० २८०
४ तत्रापुष्ट पुष्टादिभिन्न । पुष्टत्व च विवक्षितार्थबोधप्रयोजकानुपादानत्वम् । तद्विरहश्च द्विधाऽप्रयोजकत्वाल प्रयाजकत्वेऽप्यनन्यलभ्यत्वाच्च ।
—का० प्र० का० पृ० ३२५

बन्धो, प्रकृतेःपश्य वैभवम्
रात्रावपि यन्नैव क्षीयते ।
अन्धे तमसि प्रतिक्षण यत्
भूयो मितमेवोपदीयते ॥
तारा सख्यातीता गगने
मन्ये नयनानि ता कस्यचित् ।
यस्तु निमेषैर्निश्शब्द नो
निद्रापयतीवोर्वीक्रोडे ॥
भूमान चेद् द्रष्टुमीहसे
सततानन्दप्रवाहमेतत्
गेहद्वाराण्यपावृत्य भो
एहि बहि शिर उन्नमय स्वयम् ।।[1]

'प्रकृतेर्वैभवम्" इस शीर्षक मे उद्धि क्त प्रस्तुत कविता मे पाठको को अपेक्षा होती है कि इसमे प्रकृति के सौन्दर्य का कुछ चित्रण होगा परन्तु रात्री के निबिड अन्धकार और तारो के टिमटिमाने के अतिरिक्त कुछ भी देखने को नही मिलता जिसका पूर्णबिम्ब बन सके। इसकी अपेक्षा उसी कवि की 'बीज न म्रियते' कविता अपना विवक्षित आशय प्रकट करके एक पूरा चित्र प्रस्तुत करती है—

य एते हरिता सुशीतला बहुवर्णकुसुमा सुरभिता
बहुगुणा फलिता खगनीडीकृता
विलसन्ति पादपा
तेषा जन्मदानि बीजानि यानि
किं तेषामभवत् ? मृतानि जीवन्ति वा
शीर्णानि तानि भूमौ
मृत्तिका-भूतानि
न मृतानि तावत्
अन्यानि भविष्यन्ति भूयासि
पादपेभ्यस्तेभ्य एव ।[2]

इसमे बीज से वृक्ष का उद्‌भव, पुष्पित एव फलित होना एव पश्चात् स्वय

---

१ कृष्णलाल शिञ्जारव ५३

२ वही, पृ० ८७

नाण होकर बीज रूप म शेष रहते हुए भविष्य म अन्य वृक्षों म वृक्षों के उगने की सम्भावना छोड जाने का पूर्ण भाव व्यक्त किया गया है जिसमें कि—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति की रहस्य भावना व्यञ्जित होती है। इस प्रकार पूर्ण अभिप्राय प्रकट करने में यह पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है।

अपूर्ण दोष भोज ने प्रतिपादित किया है जो वाक्य में क्रिया न होने के कारण उत्पन्न होता है।[2] एक वाक्य के उद्देश्य और विधेय दो अंश होते हैं। क्रिया विधेय अंश है। कवि का अभिमत तात्पर्य क्या है इसका ज्ञान क्रिया में ही होगा और उसके बिना शब्द बोध जो कि वाक्य का अर्थ बिम्ब प्रस्तुत करता है नहीं बनेगा।[3] अतः वाक्यात्मक काव्य का पूर्ण आकार न बनने में यह अपूर्ण दोष कहलाता है। जैसे—

शलभुतारद्वार्द्धं मूर्धन्याबद्धमुग्धशशिलेखम्।
शीर्षपरिष्ठितगङ्ग म सध्याप्रणत प्रमनायम ॥[4]

इस गाथा में क्रिया पद अनुक्त होने से नमस्कारादि भाव क्या विवक्षित है अस्पष्ट है। इस कारण इसका बिम्ब बनना सम्भव नहीं है। मम्मट आदि ने इस दोष को नहीं गिनाया है। उनके अनुसार साकाङ्क्ष में इसे अन्तर्भूत कर सकते हैं। यद्यपि प्रदीपकार ने स्पष्टीकरण में विशेषण की साकाङ्क्षता कहा है पर क्रिया के अभाव में भी तो आकाङ्क्षा रहती ही है।[5]

असम्बन्धमतसम्बन्ध

जब वाक्य में आये पदों का परस्पर सम्बन्ध जो कवि को अभिमत हो न बनता हो यह दोष होता है। क्योंकि वाक्यार्थ के अनिष्पन्न रहने से कवि का अभीष्ट बिम्ब नहीं बन पाता। यत्तदोर्नित्य सम्बन्ध इस सिद्धान्त के अनुसार

---

१ तैत्ति० उप० ३ १

२ क्रिया-पदविहीन यदशरीर तदुच्यते। —स० क० १ २७

३ तु—क्रियाद्यनुपलक्षणम्। प्रधानपदहीनमिति वाद्धव्यम्। प्रधानाविमर्शे हि वाक्यशरीरमेव न निष्पन्न स्यात्। —रत्न० १८

४ स० क० (उदा०) १ ८०

५ साकाङ्क्ष महाकाङ्क्षया वर्तते। इतरपदार्थान्वयाय विशेषण साकाङ्क्ष म्यर्थ। —का० प्र० का० ३४०

६ द्र० टि० ४२

यत् का प्रयोग होने पर तत् का प्रयोग भी आवश्यक है। अन्यथा वाक्य-विश्रान्ति नहीं होती। न्यूनपद दोष भी बन जाता है। जैसा कि आचार्य मम्मट का कथन है—

अत्र गुणानां च पराधत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्" —इत्युक्तनयेन यच्छब्दनिर्दिष्टानामर्थानां परस्परमसमन्वयेन यैरित्यत्र विशेष्यस्याप्रतितीरिति। 'अत्र यदित्यत्र तदिति', तदानीमित्यत्र यदेति वचन नास्ति।[1]

उदाहरण के लिए—

जाह्नवी सकलपावनी सुधास्यन्दिनी किल कलिन्दनन्दिनी।
ये सदाऽमृतमये स्ववारिभिः सिञ्चत शुभमहो महीयसीम ॥[2]

द्विजेन्द्रनाथ के इस पद्य में 'ये' सर्वनाम का अन्वय किसी के साथ नहीं है। क्योंकि पूर्वार्ध में जाह्नवी और कलिन्दनन्दिनी के साथ-साथ ही उनके विशेषण "सकल-पावनी" और 'सुधास्यन्दिनी' आ गये हैं। पुनः ये के साथ 'ते' लगाया नहीं है। हाँ यदि 'ये' के स्थान पर "या" प्रयोग हो तो मही का विशेषण होने से निर्दोष होगा। 'सा' का अध्याहार 'काऽपि' के साथ २/२ में किया जाता है, अतः यहाँ उसका आक्षेप अनावश्यक है।

शास्त्रविरोध

शास्त्र द्वारा जो कर्म वर्जित हो, यदि काव्य में उसका वर्णन होता है[3] तो पाठक या श्रोता को शास्त्रीय नियम के संस्कार के कारण बाध हो जाने से वाक्यार्थविश्रान्ति नहीं होती। फलतः काव्य-बिम्ब बनने में बाधा पड़ती है। इसलिए इस दोष को वर्जित किया गया है। जैसे—

शुभ्रशलशकलाभिमण्डिते कुटिटमे च सलिलाशयेऽमले।
वर्णिनः सरसिजैरलङ्कृते वारिकेलिमतिलोलया व्यधुः ॥[4]

द्विजेन्द्रनाथ के ही इस पद्य में ब्रह्मचारियों (वर्णिनः) की जलक्रीडा का वर्णन मिलता है। धर्मशास्त्र में ब्रह्मचारियों के लिए जलक्रीडा का निषेध है।[5] इसके अतिरिक्त नाकविरुद्ध वर्णन भी है। कवि आश्रमों का वर्णन कर

---

१ का० प्र० का पृ० ३०४-५
२ द्विजेन्द्रनाथ-स्वराज्यविजय २ ८
३ द० टि० ४१
४ स्वावि० २ ३२
५ नाऽप्सु श्लाघमानस्स्नायात्।
श्लाघनं विकत्थनं तच्च तरताडनमित्यर्थः।—गौ० ध० सू०, १ २३ ४०

रहा है। आश्रम निश्चय म नगर म बाहर वना म हाग जहाँ कि पक्का फर्श वाले (कुटिटम) सरोवर हान सम्भव नहीं ह।

दुष्क्रम

लाक और शास्त्र म श्रेष्ठ वस्तु का उल्लख पहल किया जाता है निकृष्ट का बाद म। अथवा पहल करन याग्य कम का पहल कहा जाता है बाद म न करन याग्य काय का। इसक विपरीत वणन हा ता दुष्क्रम दोष होता है। यहा लाक और शास्त्रकृत विराध हान क कारण वाक्यार्थ-बोध म बाधा पडता है जिसम उसका बिम्ब नही बनन पाता। जैस पदमनारायण त्रिपाठी के—

> तत श्रुताभ्यासपरमुमुक्षुभिस्तपस्विभि स्थण्डिल शायिभिर्मुनिम।
> उपास्यमान भरत सवा ध्वस्तपोनिधि सम्प्रणनाम रामवत ॥
> मुनिप्रभावोदगतदिव्यभूतयो द्युराज्यसम्भारसभाननोद्यता ।
> समागताऽतिथ्यपरायणा अयुरगम्यरूपो महिमा महीयसाम् ॥
> तपोऽम्बुराशभरतो मुने पुर कथामशृण्वन रघुनायकाश्रयाम् ।
> यथा द्विरेफ स्मितचम्पके वने स्थितोऽप्यहोराश्र मवाहयत् सुखम् ॥[2]

इन श्लोका म क्रम भग पाया जाता है। क्योकि यहा भरत का भरद्वाज मुनि क आश्रम म जाना मुनि को प्रणाम करना उनक प्रभाव स दिव्य वृक्षा का भरत के स्वागत के लिए आना भरत का वहाँ एक दिन रात निवास करना वर्णित है। लाकव्यवहार क अनुसार पहल भरत का आश्रम म टिकने क बाद मे दववृक्षा क स्वागत क लिये आन व स्वागत का वणन हाना चाहिए था किन्तु यहा पहल वृक्षा का आना और तब भरत क रुकन का वणन है। इसक अतिरिक्त स्वागत किस प्रकार हुआ एसा कुछ वणन नहा किया है यह दुष्क्रम प्रबन्धगत है। भाज इस क्रमभ्रष्ट सज्ञा दत ह।[3]

इन उदाहरणा म यह सिद्ध हो जाता है कि आचार्यो न काव्यदाप इसी कारण मान है कि उनक कारण बिम्ब निमाण म बाधा पडता है। पीछे गिनाये गय दाषा म पदगत वाक्यगत और अथगत तीना ही प्रकार के दोषा क उदाहरण हैं।

---

१ द्र० टि० ३१

२ रामचरित भाग २ १६ १४ १६

३ क्रमभ्रष्ट भवदाथ शब्दो वायत्र तत्क्रम । —सक० १ ३१

रस-दोष

आनन्दवर्धन, मम्मट आदि रसवादी आचार्यों ने कोई दस रसदोष गिनाये है। उनम—

१ पहला रस स्थायीभाव और सचारी इनका शब्द से उल्लेख करने से बनता है।[1] इसके दो कारण है। शब्द मात्र मे कहने से रसादि का बोध नही होता जैसे खाड का नाम लेने मात्र से किसी का मुह मीठा नही हो जाता। २ यह सिद्धान्त और व्यवहार की बात है कि मनोभाव को सीधे शब्दो में कहना गवारपन के अतिरिक्त कुछ नही। इस प्रकार या तो शब्द से कहने से भाव की अनुभूति होगी ही नही या विपरीत प्रतिक्रिया होगी। फलत अभीष्ट बिम्ब बनने की सम्भावना नही रहती।

चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमान्तरम।[2]

यहा शृङ्गार का शब्द से कथन शृङ्गार की अनुभूति नही कराता।

२ अनुभाव और विभाव की कष्ट म कल्पना दूसरा रस-दोष होता है।[3] विभाव, अनुभाव और सचारी भावो के योग से ही तो स्थायी का रस के रूप म परिपाक होता है। जब उनका बोध ही कठिनाई से होगा तो रस की प्रतीति भी कैसे होगी? जैसे—

करवाणि पुण्यजनसकलिता फलिता महीं हि हतपुण्यजनाम्।
प्रणमित्युदग्रभुजदण्डमसौ निगदन् सुतीक्ष्णशुचिवासमयत ॥[4]

पद्मनारायण त्रिपाठी के इस पद्य म कवि का विवक्षित भाव तो यह है कि राम ने मुनियो के समक्ष प्रतिज्ञा की कि मुनियो के निवास की इस भूमि को राक्षसो से हीन कर दूगा, ऐसा कहते हुए वे सुतीक्ष्ण के आश्रम को चले गये। इसमे राम का उत्साह ध्वनित होना था। परन्तु कवि विरोधाभास अलङ्कार के मोह मे पड गया है। इस कारण उत्साह, आलम्बन विभाव-पुण्यजन भजा ऊँचे उठाना रूप अनुभाव आदि का और सचारियो का ज्ञान कष्ट से ही होता है। बल्कि 'ऐसा कहते-कहते ही सुतीक्ष्ण के आश्रम को चले गये' यह कहने से प्रतिज्ञा के विषय म राम की दृढता प्रतीत नही होती। शत्

---

१ व्यभिचारिरसस्थायिभावाना शब्दवाच्यता। का० प्र० का०, ७, ६०

२ साद०, पृ० २४८

३ कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयो। वही,

४ रा० च०, २, १७, ८

का प्रयोग प्रतिज्ञा करने और गमन की क्रिया में योगपद्य की सूचित करता है पूर्वपश्चादभविता को नहीं । इसमें लगता है कि ऐसा चलन-चलन कहा । फलत वास्तव में गक्षसों को मारने का उत्साह राम में है या नहीं यह संदेह उत्पन्न होता है । इस कारण भाव बिम्ब नहीं बनता । अत यह इसरे रस दोष का उदाहरण है ।

३ विरोधी रस के विभाव सञ्चारी और अनुभावों का प्रकृत रस में निबन्धन तीसरा दोष है । जिस प्रकार खीर में नमक और खटाई जो दूध की फाड़ने वाले पदार्थ है डालने से दूध फट जाता है और रस भङ्ग हो जाता है इसी प्रकार विरुद्ध रस के विभावादि आने से प्रकृत रस का परिपाक तो होता ही नहीं प्रत्युत रस भङ्ग भी हो जाता है । जैसे—

लावण्यद्रविणव्ययो न गणित क्लेशो महान स्वीकृत
स्वच्छन्दस्य सुख जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपित ।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्वीमिमा तन्वता ।।[2]

इस पद्य में किसी सुन्दरी के रूप लावण्य की व्यर्थता उसके अनुरूप वर से उसका सयोग न हो पाने के कारण प्रकट की गई है । इस में प्रथम चरण और चतुर्थ चरण का भाव तो किसी रागी का सा है जिसे सुन्दरी के सौन्दर्य और यौवन की व्यर्थता देख कर उसके प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो रही है किन्तु तृतीय चरण का भाव कुछ तटस्थ का सा है 'वराकीहता' यह कथन अनुराग के विपरीत शान्तरस में पर्यवसित होता है । क्योंकि 'हता' यो भी अमङ्गल वाचक अश्लील है । चाहने वाले के मुख में इस प्रकार की बात प्रेमिका के लिये निकलना राग-वृत्ति के अनुकूल नहीं । यदि वक्ता विरक्त हो तो उसके लिये दूसरे चरण का भाव प्रतिकूल है क्योंकि इसमें स्वय उसकी रागवृत्ति सुन्दरी के प्रति प्रतीत होती है पर दोनों ही प्रकार के भाव एक दूसरे में कट जाने के कारण यहा न शृगार ही बनता है न शान्ति । फलत आनन्दवर्धन ने इसको अप्रस्तुत प्रशसा का उदाहरण माना है ।[3] बस इस पद्य के भाव में किसी भी रस का भाव बिम्ब नहीं बन पाता है ।

---

१ प्रतिकूलविभावादिग्रह —का०प्र०का० ७ ६१

२ ध्वन्या० पृ०४८७

३ तु०—यतो न तावदय रागिण कस्यचिद्विकल्प । तस्य एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद वराकी हता इत्येवविधोक्त्यनुपपत्ते ।
—ध्वन्या० पृ० ४८७ ८६

मम्मट द्वारा उदाहृत पद्य में भी आरम्भ के ३ चरण नायक की रागवृत्ति का प्रकट करते हैं। क्योंकि मनुहार करके वह नायिका को मान छोडने और रति के लिए प्रवृत्त होने को कह रहा है। पर अन्त में यह कहना कि "समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता" यह शान्त रस का विभाग आ गया है जो समय की अनित्यता को प्रकट करता है। पुन समय के लिये 'काल' शब्द यों भी मृत्युवाचक होने से मृत्यु की छाया का आभास करा देता है जिससे प्रकृत भाव पर पानी फिर जाता है।[1] इस प्रकार विरोधी रस का अनुभाव आने से प्रकृत रस की अनुभूति समाप्त हो जाती है और अभीष्ट बिम्ब नहीं बन पाता। इसी लिए आचार्यों ने यह विधान किया है कि विरोधी रस के अङ्गों का बाध्य रूप में ही निवेश होना चाहिए न कि बाधक रूप में या परस्पर बाध्य-बाधित रूप में[2]। पहले रूप में बाध्य रस का परिपाक होने से पूर्व ही शमन हो जाता है एवं प्रकृत रस का चमत्कार व्यापक रहता है। जैसे—

स्व-मातृभूमि-सङ्कटे स्फुटेऽपि के भटोद्भटा ।
सुखं नु शेरते सुता प्रगाढमानमानसा ।
चलन्तु दीप्त-साहसा युवान ऊढसाहसा ।
ध्रुवेऽपि जीवितक्षये स्थिरेऽथवा जगल्लये ।
वसून्यसून् पद धन प्रिय विचारयन्ति ये ।
बलं न धारयन्ति ते,
मतिं न चारयन्ति ते,
दिनानि काक-घूक-शूकरादिवन्नयन्ति ते ।
व्रजन्तु ते लयं भयेन पीयमान-मानसा ॥[3]

प्रस्तुत लेखक के इस गीत में आरम्भ में वीर रस का प्रवाह है, मध्य में मृत्यु एवं धन आदि की नश्वरता का भाव आ गया है जो कि शान्तरस का

---

१ प्रमादे वर्तस्व प्रकटय मुदं सन्त्यज रुषं
प्रिये शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वच ।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुख
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गत कालहरिण ॥
अत्र शृङ्गार प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यता-प्रकाशनरूपो विभावस्तत्प्रका-
शितो निर्वेदश्च व्यभिचार्युपात्त — काव्यप्रकाश, पृ० ३६८

२ सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा । —वही, ७, ६३

३ अरागो०, २४

उद्दीपन विभाव है। परन्तु दश रक्षा के समक्ष धन प्राण का विचार करना कातरता का लक्षण है इस वीर रस के भाव से बाधित हो कर वह प्रकृत रस का ही अङ्ग एव पोषक हो गया है। इस प्रकार अङ्गी रस का पोषक होने से उसका भावबिम्ब सुतरा स्पष्ट हो गया है।

४ अकाण्ड प्रथन अर्थात् असमय में किसी रस का निबन्धन भी दोषावह होता है।[1] इस का तात्पर्य यह है कि अवसर के अनुसार ही रसों का निबन्धन होना चाहिए। विवाह के समय शृङ्गार अथवा हास्य का निबन्धन तो ठीक है पर वीर या रौद्र का अनुपयुक्त होता है। जैसे वेणी सहार नाटक के दूसरे अङ्क में दुर्योधन एव भानुमती का विलास-वर्णन सर्वथा असामयिक है।

५ अकाण्डच्छेद जिस समय किसी रस का पूरा परिपाक हो रहा हो उसे सहसा समाप्त कर देना भी दोष होता है। क्योंकि पाठकों श्रोताओं या दर्शकों का रस भङ्ग हो जाता है। जैसे महावीर चरित में परशुराम और राम के सवाद में सघर्ष का पूरा वातावरण है और दोनों ओर से पारा चढा हुआ है उसी समय राम का यह कहना कि मैं जरा कगन खुलवाने जाता हूँ, अकस्मात वीर रस का विच्छेद कर देता है।[2] इतना ही नहीं इसमें सामाजिक की राम के प्रति हीन भावना भी उभरती है कि जब लडने का समय आया तो बहाना बना कर खिसक गया[3]। फलस्वरूप कवि नायक का जो प्रभाव सामाजिक के मन पर डालना चाहता है वह जाता रहता है और अभीष्ट रस की सिद्धि भी नहीं होती। यह कवि की अव्युत्पत्ति एव अशक्ति का द्योतक होता है[4]।

६ पुष्ट हुए रस को बारम्बार प्रदीप्त करना सामाजिक में अरुचि और खीज उत्पन्न करके रसभङ्ग कर देता है। जैसे कुमारसभव में रति के

---

१ अकाण्डे प्रथन यथा-वेणीसहारे द्वितीयेऽङ्के ऽनेकवीरसक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णनम्। —का०प्र०का० ३६६

२ अकाण्डे छेदो यथा-वीरचरिते द्वितीयेऽङ्के राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे 'कङ्कणमोचनाय गच्छामि' इति राघवस्योक्तौ।

—वही पृ ३६६

३ अकाण्डे हि तथावचन व्याजेन निर्गम प्रतिपादयद् वीरत्वाभाव पर्यवस्यति।

—वही,

४ अव्युत्पत्तिकृतो दोष शक्त्या सव्रियते कवे।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते॥ —ध्वन्या० पृ० ३१६

५ परिपोष गतस्यापि पौन पुन्येन दीपनम्। —वही, ३,१९

कामदहन के पश्चात् विलाप में करुण रस प्रलय को पहुँच चला है। परन्तु वसन्त को देखकर वह पुनः विलाप आरम्भ कर देती है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि किसी के विलाप को सुन कर आरम्भ में सहानुभूति होती है पर अति होने पर चिढ़ हो जाती है।[2] इस प्रकार अभीष्ट भाव का बिम्ब नहीं बनने पाता।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि कालिदास ने रति के पुनः विलाप का कारण स्पष्ट कर दिया है कि किसी बन्धु को देखने से मनुष्य के दुःख या शोक का बाँध टूट जाता है।[3] रामायण में भी दशरथ की मृत्यु के पश्चात् बारम्बार रानियों का करुण दिखाया गया है।[4]

७ वृत्तियों का अनुचित प्रयोग भी रस-भाव का बिम्ब बनने में बाधक होता है।[5] यहाँ आनन्दवर्धन ने वृत्ति-अनौचित्य के दो अर्थ दिये हैं।

१ नायक आदि का प्रकृति के विरुद्ध आचरण। जैसे शृङ्गार उत्तम प्रकृति वाले पात्र में दिखाया जाता है। उसमें विदग्ध व्यवहार की ही अपेक्षा की जाती है न कि गवाम्पन की। जैसा कि काम शास्त्र में कहा है-ताम्बूलदान विधिना विसृजेद् वयस्या द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु। वह रत्यादि की अभिलाषा भी विदग्धरीति से सूचित करता है। जैसे रसिक कबूतर का कबूतरी के पीछे जाते हुए अपनी प्रेमिका को दिखाना।[8] इसके विपरीत 'चुम्बन देहि

---

[1] तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशं स्तनसम्बाधमुरो जघान च। —कुम० ४ २६

[2] तु० उपयुक्तो हि रसः स्व-सामग्री-लब्धपरिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमानः परिम्लानकुसुम-कल्पः कल्पते। —ध्वन्या० पृ० ३६८

[3] स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते। —कुम०, ४, २६

[4] तु०—ततः सर्वा नरेन्द्रस्य कैकेयी-प्रमुखाः स्त्रियः। रुदन्त्यः शोकसन्तप्ता निपेतुर्गतचेतना। वा०रा० २,६५,२५-२६

पुनः वही, २, ६६, २, ७५, २ ७६, २, ७८ २, १०२

[5] रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च। —ध्वन्या० ३,१६

[6] तथा वृत्तेर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुरेव। यथा नायकं प्रति नायिकायाः कस्याश्चिदुचितां भङ्गिमन्तरेण स्वयं सम्भोगाभिलापकथने। वही, पृ० ३६४

[7] का०प्र०का० पृ० ३२५

[8] निरुद्धय यान्ती तरसा कपोती कूजत्कपोतस्य पुरो ददाने। मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं सा मन्द-मन्दं नमयाबभूव॥ —रस०, पृ० ७६

म भार्यें काम-चाण्डाल-तृप्तय सदृश उक्तिया का प्रयाग नायक की अविदग्धता ही सूचित करता है। इसस भी नायक के प्रति अश्रद्धा होन म उस के साथ साधारणीकरण नहीं हो पाता। इसी प्रकार धीरोदात्त राम का छिपकर बाली का मारना उचित कार्य नहीं है।[2] वीर रस का आश्रय भी उत्तम प्रकृति ही होता है।[3] वह छल नहीं करता। इसलिए अनौचित्य का भाव मन में आने से साधारणीकरण न होने के कारण रसानुभूति नहीं होती। इसीलिए भवभूति ने इस घटना में परिवर्तन कर दिया। उसके अनुसार बाली रावण के मन्त्री माल्यवान के कहने से स्वयं राम को मारने आता है और बदले में राम के हाथों मारा जाता है। उदात्तराघव में तो इस घटना को छोड़ ही दिया है[4]। इस घटना और ताटका-वध-सदृश कर्म करने के लिए उत्तररामचरित में राम का उपहास कराया गया है[5]

वस्त्वौचित्य का दूसरा अर्थ है भरतादि कैशिकी आदि वृत्तियों का निर्देश के विरुद्ध प्रयोग। जैसे शृङ्गार में कैशिकी, वीर और अद्भुत में सात्वती, रौद्र, बीभत्स आदि में आरभटी और सभी रसों में भारती का विधान है पर कवि इसमें विपर्यय कर दे। या उपनागरिका परुषा और कोमला इन तीनों वृत्तियों का यथानियम प्रयोग न करना भी इसमें आ जाता है। क्योंकि शृङ्गार में उपनागरिका करुण और शान्त में कोमला एवं वीर आदि में परुषा का विधान है। इनके विपरीत प्रयोग में प्रयुक्त पदयोजना अभीष्ट रस

१ रस० पृ० ६०

२ तत्र च या यथाभूतस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्यया दोषः।
यथा धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतवच्छद्मना बालिवधः।
—साद० पृ० २५०

३ उत्तम-प्रकृतिर्वीरः। —वही ३,२३२

४ अनुचितमितिवृत्तं यथा—रामस्यच्छद्मना बालिवधः। तच्चोदात्तराघवे नोक्तमेव। वीरचरिते तु बाली रामवधायागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः। —वही पृ० १८०

५ वृद्धास्ते न विचारणीय-चरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते।
सुन्दस्त्रीदमनेऽप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि ते।
यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन् खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जनः॥ —उच०, ५, ३४

के परिपाक में समर्थ नहीं होती। उद्धत पदावली शृङ्गार के और कोमल वर्णमाला वीर, रौद्र आदि के व्यञ्जन में समर्थ नहीं होगी।[1]

इनके अतिरिक्त दो परस्पर विरोधी रसों का एक ही आश्रय होना या एक ही आलम्बन होना, उनका बीच में व्यवधान डाले बिना साथ साथ आना, अङ्गभूत रस का अङ्गी की भाँति विस्तार से निबन्धन, ये दोष भी आचार्यों ने गिनाये हैं जो कि निन्द्य होते हैं और कवि का कर्तव्य यथाशक्ति इन्हें काव्य में न आने देना है। जैसे शृङ्गार और शान्त रस एक ही आश्रय में नहीं दिखाने चाहिये। क्योंकि शृङ्गार जहाँ सांसारिक भोगों में प्रवृत्ति का सूचक है शान्त उनसे विरति कराता है। इसी प्रकार शृङ्गार और वीर का आलम्बन-भेद होना चाहिए। जिससे प्रति प्रेम है उसे जीतने या मारने पीटने का उत्साह उचित नहीं। इसी प्रकार दो विरोधी रसों के बीच में व्यवधान डालना चाहिये। शृङ्गार के पश्चात् अद्भुत को अथवा अन्य रस डालकर पश्चात् करुण रस दिखाना उचित होगा।[2] जैसे कुमारसम्भव में 'निर्वाण-भूयिष्ठ०'[3] आदि पद्य से लेकर 'हरस्तु किञ्चित्०'[4] और 'उमापि नीलालक०'[5] तक निबद्ध शृङ्गार के पश्चात् 'क्रोध प्रभो संहर०'[6] में रौद्र रस और तदुपरान्त रति का विलाप 'अथ मोहपरायणा'[7] आदि श्लोक से प्रस्तुत करके करुण की योजना की गई है। आलम्बन-भेद से वीर, बीभत्स और भयानक सदृश रस एक ही आश्रय में दिखाये जा सकते हैं। जैसे मालतीमाधव में मालती की प्राप्ति में निराश माधव के महामांसविक्रय के लिये श्मशान-सेवन के प्रसंग में बीभत्स रस की योजना है। वहीं मालती की चीख पुकार सुनने पर उसकी रक्षा के लिये माधव के काली-मन्दिर में पहुँचने में वीर रस है तो मालती की बलि देने के लिये उद्यत कापालिक अघोरघण्ट के प्रति रौद्र रस की योजना हुई

१ यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तर-प्रसिद्धानामुपनागरिकादीनां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनं तदपि रस-भङ्गहेतुः। —ध्वन्या०, ३६४

२ ध्वन्या० ३, २०-२२ तथा ३, २४-२५ —वही, ३, २६

३ कुमा० ३, ५२

४ वही, ३, ६७

५ वही, ३, ६२

६ वही, ३, ७२

७ वही, ४, १

है।[1] इस प्रकार आलम्बन भेद होने से रसों का यहाँ विरोध न होकर सामञ्जस्य ही है। परिणाम-स्वरूप भाव बिम्ब वर्णन में कोई बाधा नहीं आती। एक ही पद्य में दो विरोधी रसों का समन्वय भी इसी विधि से हो जाता है। जैसे—

> कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
> स्मरस्मेरं स्फारोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम्।
> मुहुः पश्यञ्शृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलम्
> जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥[2]

इस पद्य में सीता को आलम्बन बनाकर रति और राक्षसों के प्रति उत्साह एक ही आश्रय राम के हृदय में दिखाया गया है जिसमें कोई अनौचित्य नहीं है।

भावशबलता में एक भाव को दबाकर जब दूसरा भाव उभरता है वहाँ भी तर्क वितर्क की परिस्थिति में मानव मन में होने वाले अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण होता है।[3] कठोर वर्तमान की तुलना में आकर्षक अतीत की स्मृति के बिम्ब मस्तिष्क में आते हैं या प्रतिक्षण बदलने वाले भाव सिनेमा की रील की भाँति नया-नया भावचित्र प्रस्तुत करते हैं। जैसे उर्वशी के सहसा अदृश्य हो जाने पर पुरूरवा के मानस-द्वन्द्व के चित्रण में।[4]

इस प्रकार स्थायी-प्रतिकूल न्याय से गिनाये गये काव्य-दोषों के उदाहरणों से यह सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि ये दोष काव्य बिम्बों के निर्माण में बाधक

---

१ द्र० मामा० ४ अंक

२ कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरगण्डोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम्
मुहुः पश्यञ्शृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलम्
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥ —सर० ५ ३६६

३ शबलता तु भावभेदेन निरन्तरतया पूर्वपूर्वोपमर्दिनाम्।
—का०प्र०का० १३०

४ तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिताभवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि च न मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्जातेति कोऽयं विधिः ॥ —विक्र० ४ ६

तत्त्व ही है। जब वे परिस्थिति-भेद से बिम्ब के बाधक नहीं होते, बल्कि सहायक होते हैं, वहा वे गुण भी बन जाते हैं। उदाहरण के लिये दुःश्रवत्व या श्रुतिकटुत्व शृङ्गार, शान्त और करुण में तो दोष होता है परन्तु वीर, बीभत्स, रौद्र आदि में उत्तरोत्तर प्रकर्ष का आधायक होने से गुण ही बनता है। जैसे पहले उदाहृत 'उत्कृत्योत्कृत्य०'[1] आदि एवं 'अन्त्रप्रोत०'[2] आदि पद्यों में यह दुःश्रवत्व दोष न होकर गुण ही है। यही स्थिति 'चञ्चद्भुज०'[3] आदि पद्य की है। इसमें धीरोद्धत प्रकृति भीम क्रोधावेश में दुर्योधन की जंघा तोड़ने का प्रण करता है। अतः समासबहुलता और संयुक्त वर्णों से रौद्र का भावबिम्ब बनने में सहायता ही होती है। वीर रस में विवेक और संयम होता है, अतः वहा दुःश्रवत्व न्यून मात्रा में ही उपकारी होता है। जैसे—

> चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान् कर्मोपदेष्टा हरिः
> सङ्ग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीत-व्रता।
> कौरव्याः पशवः प्रिया-परिभव-क्लेशोपशान्तिः फलं
> राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं यशो-दुन्दुभिः ॥[4]

यहाँ युधिष्ठिर की रण-घोषणा सुन कर प्रसन्न एवं सन्तुष्ट भीमसेन का केवल युद्ध-विषयक उत्साह विवक्षित है। फलतः इस संयत भावावेश के उपयुक्त ही दुःश्रवत्व यहा पर आया है। प्रतिकूल वर्ण क्योंकि प्रत्यक्ष रस की अनुभूति में बाधा डालता है, इस लिये उसे नित्यदोष के रूप में वर्जित ही रखा है।

अनङ्कार दोष—अलङ्कार जैसा कि पहले दिग्दर्शन के रूप में कहा जा चुका है, काव्यबिम्ब के निर्माण में प्रमुख सहायक है। यहाँ तक कहा जा सकता है और आगे के अध्यायों में दिखाया जायगा कि अलङ्कार स्वयं अपने आप में बिम्ब है। अतः उनमें दोष होने का अर्थ हुआ-बिम्ब की अपूर्णता या अस्पष्टता। इसलिये आचार्यों ने उनके भी दोष प्रस्तुत किये हैं। उसके एक

---

१ मामा०, ५, १६, द्र० टि० २, ७०

२ मवी०, १, ३५

३ चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघन-शोणित-शोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥ —वेसं०, १, २१

४ वही, १, २५

से बढकर हो जाता है। काव्य के ऐसे धर्म जो उसे सामान्य काव्य रचना से बढकर सिद्ध करदें गुण कहलाते है। यह बढकर होना अर्थात उत्कर्ष का भाव ही काव्य-गुण के नाम से पुकारा गया है।[1] काव्य में उत्कर्ष की कसौटी चमत्कार है जो जितना अधिक चमत्कारक होगा वह उतना ही उत्कृष्ट काव्य कहलायेगा। चमत्कार का स्वरूप पहले लिखा जा चुका है।[2] वामन ने काव्य की शोभा के उत्पादक धर्मो को गुण[3] और उसमें अतिशय के आधान करने वाले धर्मों को अलङ्कार कहा है। प्रयोजन दोनों का एक ही है—चमत्कार जनकता में काव्यसिद्ध वस्तु का प्रत्यक्षकल्प करना। वामन गुणों का सम्बन्ध रीति में जोडते है जो कि चमत्कार पूर्णपदयोजना ही है।[4] इस प्रकार रीति शब्द पर आधारित सिद्ध होती है। पर निरर्थक शब्द का काव्य में कोई स्थान नहीं होता इसलिए अविनाभाव में अर्थ भी सङ्गृहीत है। अत गुणों को शब्दाश्रित एवं अर्थाश्रित इन दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है। गुणों की भांति अलङ्कार भी शब्द और अर्थ पर आश्रित होने से शब्दालङ्कार व अर्थालङ्कार दो प्रकार के है। सम्भवत इस समानता को देखते हुए ही उद्भट ने गुण और अलङ्कार में भेद परम्परामात्र पर आश्रित बताया है।[5] अग्नि पुराण में भी गुण चमत्कारादायक धर्म ही माना गया है।[6]

किन्तु ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा होने के पश्चात स्थिति परिवर्तित हो

---

१ रसत्व-समानाधिकरणत्वे सति उत्कर्षहेतुत्व गुणत्वम्।
—सामुसि० मू १३५
तथा—तु० गुणवत भूम्नि प्रशंसायां च। मतुप। —रद० ३

२ द्र० अ० टि० ८६४

३ काव्यस्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशय हेतवस्त्वलङ्कारा।
—का० सू० वृ० ३ २ ३-४

४ विशिष्ट-पदरचना रीति। —वही, १ २ ७
विशेषो गुणात्मा। —वही, २,४

५ लौकिके शौर्यादौ मणिहारादिवद्गुणालङ्कारा इति विवक्षुक्त्या सयोग समवायाभ्या शौर्यादीनाम भेद। इह तूभयेषा समवायेन स्थितिरिति अभिधाय तस्माद गड्डरिका प्रवाहेण गुणालङ्कारभेद इति भामह विवरण यद भट्टोद्भटोऽभ्यधात् तन्निरस्तम।
—का० नु० वि प ३५

६ य काव्ये महती छायामनुगृह्णात्यसौ गुण। —अपु०, ३४६ ३

गई। गुणों का सम्बन्ध रस से जुड़कर वे काव्य के अपरिहार्य तत्त्व बन गये[1] परन्तु अलङ्कारों का महत्त्व घट कर बाह्य शोभा के साधन के रूप में ही रह गया।[2] नाट्यशास्त्र में उन्हें दोषाभाव रूप माना गया है।[3] परन्तु ऐसा सब नहीं मानते। कुछ दोषाभावमात्र स्वीकार करते हैं।[4] इस प्रकार जगन्नाथ के पूर्व तक दो परम्पराएँ चलती रही हैं। (१) शब्दार्थ-धर्मवादी (२) रसधर्मवादी। दूसरी परम्परा में रीति का नाम सघटना हो गया और उसका सम्बन्ध गुणों के साथ *आश्रय-आश्रयिभाव में माना गया। वह शब्द और अर्थ* गुण को दो श्रेणियों में उन्हें विभक्त करती है। नाम में समान होने पर भी दोनों के लक्षण पृथक् पृथक् देती है। इनके अनुसार दोनों की संख्या दस है।

दूसरी परम्परा केवल तीन गुण स्वीकार करती है और उसका धर्म मानने के कारण उनके शब्दगत और अर्थगत भेद नहीं करती।[5] रस-भाव आन्तरिक चित्तवृत्ति विशेष हैं तो माधुर्य ओज भी चित्तवृत्ति के ही धर्म हैं। क्योंकि विश्वनाथ चित्त की द्रुति की अवस्था का नाम माधुर्य और दीप्तता का नाम ओज[6] मानते हैं। आन्तरिक वृत्ति शब्द से सीधी कैसे जानी जा सकती है? जैसे खाण्ड कहने मात्र से किसी का मुँह मीठा नहीं हो जाता इसी प्रकार शब्द के उच्चारणमात्र से चित्तवृत्ति का बोध नहीं हो सकता। अन्यथा व्यञ्जनावृत्ति एवं विभावादि की कल्पना का क्या औचित्य? रसभावादि की वाच्यासहता का तब क्या आधार होगा? इसलिए उपचार से ही सही परन्तु शब्द और अर्थ में भी इन गुणों की स्थिति स्वीकार की है।[7] इसीलिए विश्वनाथ ने ओज का अर्थ उसके व्यञ्जक चित्तवृत्ति-विशेष उपचार से माना है।[8]

---

१ तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
२ अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ —ध्वन्या०, २, ६
३ एते दोषास्तु विज्ञेया सूरिभिर्नाटकाश्रयाः ।
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः ॥ —नाशा०, १७, ९६
४ क्वचिन्न दोषो न गुणः । —का० प्र० का०, पृ० ३५
५ तु०—ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवाऽऽत्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ —वही, ८, १
६ चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते । —साद० ८, २
७ ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते । —वही, ८, ४
८ तु०—तेषां गुणानां भङ्ग काव्यशोभारत्वपर्यवसायी दोषः ।—रद०, पृ० २६
तु०—ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ —का० प्र० का०, ८, १
गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता । —वही ८, ७१
९ ओजसि भक्त्या ओजः-शब्दवाच्ये शब्दार्थधर्मविशेषे । —साद०, पृ० २६६

रेवाप्रसाद द्विवेदी ने यहाँ शब्द और अर्थ में वस्त्र और शरीर के सादृश्य कल्पना की है।[1] जैसे शरीर शब्द से आवृत रहता है इसी प्रकार अर्थ शब्द से आवृत रहता है। शब्द ध्वन्यात्मक होने से साधारण उस धर्म का प्रकट नहीं कर सकता। उधर हृदय के आन्तरिक धर्म शब्द व्यापार के बिना अन्य साधन से प्रत्यक्ष नहीं हो सकते अनुमिति-वेद्य जो ठहरे। अतः सिद्धान्ततः मन ही उन्हें रस का धर्म मानते रहे परन्तु शब्दव्यापार प्रधान काव्य में उनका प्रकाशन शब्द और अर्थ के माध्यम से ही सम्भव है। नादमाधुर्य शब्द में और पदार्थ-स्फुटता अर्थ में होगा। पुनः माधुर्य आदि धर्म हैं जो धर्मी में रहते हुए भी शब्द में वाच्य नहीं हो सकते। व्यङ्ग्य ही होंगे। इसलिए रसवादी माधुर्य आदि को रस का धर्म मानने पर भी उनको व्यञ्जक शब्द और अर्थ में उपचरित करते हैं। आनन्दवर्धन को भी सम्भवतः यह इष्ट था पर खुलकर उन्होंने नहीं कहा।

वामन आदि गुणों को शब्दार्थ वृत्ति स्वीकार करते थे। उत्तरकाल में पण्डितराज जगन्नाथ ने भी पुनः इसी मत का समर्थन किया। उन्होंने दार्शनिक दृष्टि से एक प्रश्न और उठाया कि इसको काव्य की आत्मा मानते हो तो आत्मा तो विभु और निर्गुण है। अतः उसमें माधुर्य आदि की वृत्ति कैसे स्वीकार की जा सकती है?[2] खैर यह आपत्ति तो शाब्दिक आधार पर है अन्यथा रस का काव्यात्मत्व औपचारिक अर्थ में है। पुनः जब आत्मा को नित्य सत सदृश विशेषणों से विशिष्ट कहते हैं तो ये भी तो गुण ही हैं। व्यावहारिक दृष्टि से गुणों को शब्दार्थ निष्ठ मानना आवश्यक हो जाता है। जब उपचार से यह स्वीकार करते ही हैं तो सीधे शब्दों में प्रत्यक्ष क्यों नहीं उन्हें शब्दार्थवृत्ति कह देते? इसी दुर्बलता को अनुभव करके साहित्य सुधासिन्धुकार ने रसगत तीन गुणों के अतिरिक्त शब्दार्थगत गुण भी गिनाये हैं।[3] यही मार्ग जगन्नाथ भी अपनाते हैं। प्राचीनों के अनुरोध से वे पहले तीन गुण रस धर्म के रूप में गिनाते हैं पर बाद में रसधर्मता पर अपनी असहमति प्रकट करके शब्दार्थ गुणों का विवेचन भी करते हैं।

---

१ सासुसि भूमि० पृ० १४ १५

२ रग० पृ० ५४ ५५

३ मधुर-कोमल-कान्तपदावलि शृणु तदा जयदेव-सरस्वतीम्।
इत्यादि व्यवहारदर्शनात् गुणानां शब्दवृत्तित्वमुपाचारं विनैव कल्प्यताम् किं रसधर्मत्व कल्पना-दुर्व्यसनेनेति। —सासुसि० पृ० ३२८

गुण और काव्य-बिम्ब

गुणों को इस प्रकार रस धर्म और शब्दार्थ-धर्म मानने का प्रयोजन क्या है? क्यों इनके निर्वाह के लिए प्रत्येक गुण की व्यञ्जक-विशेष ध्वनियों का परिगणन कराया है?[1] जब इन प्रश्नों पर विचार करते हैं तो यही कारण प्रकाश में आता है कि अभीष्ट अर्थ की प्रत्यक्षकल्पता-सिद्धि के लिए ये गुण आवश्यक एवं अपरिहार्य हैं। शृङ्गार करुण एवं शान्त तीनों ही सुकुमार रस हैं, इनकी अनुभूति कोमल होती है। उनके प्रकाशन के लिए कोमल ध्वनियों का ही प्रयोग होगा तभी ऐन्द्रिय बिम्ब के बाद उनकी सहायता से भाव बिम्ब भी बन पायेगा[2] इसी अभिप्राय से पण्डितराज ने अमरुक के "शून्य वासगृह" आदि पद्य का सयोग शृङ्गार का निदर्शन स्वीकार करने में आपत्ति की थी[3] और मम्मट द्वारा रौद्र के उदाहृत पद्य का रौद्ररस के व्यञ्जन में असमर्थ घोषित किया था।[4] इसी प्रकार शब्दार्थ-धर्म के रूप में परिगणित शब्द और अर्थ के गुण नाद-चित्र और अर्थचित्र के निर्माण में असाधारण रूप में सहायक होते हैं इसी तात्पर्य से इन गुणों का प्रतिपादन किया। अलङ्कारों का प्रयोजन भी काव्य-बिम्ब-निर्माण है और गुणों का भी, अत उद्भट आदि ने इन्हें अलङ्कारों में ही गिन लिया और वामन आदि रीतिवादी आचार्यों ने गुणों को अलङ्कारों से अधिक प्राथमिकता दी। क्योंकि अलङ्कार प्राय वाच्यार्थ का ही प्रकाशित कर पाते हैं रस भाव उनकी परिधि में नहीं आते। पर गुण इस कार्य में अनिवार्य रूप से सहायक होते हैं।

भामह आदि गुणत्रयवादी आचार्य माधुर्य ओज और प्रसाद केवल ये ही तीन गुण स्वीकार करते हैं। भरत, दण्डी आदि श्लेष समता, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति उदारता कान्ति एवं समाधि ये सात अतिरिक्त मानते हैं। इस प्रकार कुल दस हो जाते हैं। भोज तक जाते-जाते ये गुण २४ हो जाते हैं।

---

१ मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिमध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥
योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययोरेण तुल्ययोः ।
यदि गपौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥

—का० प्र० का०, ८, ७४-७५

२ करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् । —वही ८, ६६

३ रग०, पृ० ७४

४ रग०, पृ० ३७

उनमें उदात्तता और्जित्य प्रेय सुशब्दता या सौशब्द्य, सौक्ष्म्य गाम्भीर्य, विस्तर संक्षेप, समितत्व भाविक, गति, रीति, उक्ति, प्रौढि ये उनके द्वारा स्वीकार किए गये अतिरिक्त गुण हैं। इन्हीं २४ को वे अर्थगुण मानते हैं। वामन आदि की भांति परिभाषा सबकी पृथक् देते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे गुण गिनाते हैं जो मूलत दोष माने गये हैं परन्तु परिस्थिति भेद से गुण बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में अनित्य दोष ही गुण मान लिए गए हैं। उनकी संख्या भी २४ ही है। वामन की भांति भोज भी काव्य के लिए गुणों का होना अपरिहार्य मानते हैं। गुणहीन किन्तु अलङ्कृत नारी के शरीर की भांति अनेक कारयुक्त होने पर भी कवि का वचन गुणों के बिना चमत्कारक नहीं होता।[2]

कुन्तक—कुन्तक ने भामह की गुणत्रयवादिनी परम्परा को ही अपनाया है परन्तु पृथक् रूप से। भामह गुणों की चर्चा तो करते हैं पर उतने उत्साह से नहीं[3] जितने से अलङ्कारों की। इसके विपरीत कुन्तक गुणों की महत्ता उसी प्रकार स्वीकार करते हैं जिस प्रकार दण्डी आदि।[4] उन्होंने गुणों को नवीन नाम दिये हैं, नये ढङ्ग से उनका स्वरूप प्रतिपादित किया है जिससे वे उनके वक्रोक्तिसिद्धान्त के अनुकूल बैठ सकें। दण्डी आदि की भांति वे गुणों को अनेक कोटि में नहीं गिनते। पर रीति या मार्ग का धर्म मानते हुए उसी प्रकार

---

१ युक्तरिव रूपमङ्ग काव्य स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणय निरन्तराभि सदलङ्कारविकल्प-कल्पनाभि ॥
—सर०, १, १५८

२ यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपिजनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते ॥
—वही, १, १५६

३ तु०—माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि पदानि न प्रयुञ्जते ॥
केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहूनपि। भाका०, २, १-२

४ वैचित्र्यं सौकुमार्यं च यत्र सङ्कीर्णतां गते।
भ्राजेते सहजाहार्य-शोभातिशयशालिनी ॥
माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम्।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम् ॥
—वही, १, ४६-५०

से गुणों का निरूपण करते हैं।[1] उनको अभिमत गुण तीन न होकर चार हैं। यद्यपि शेष की सत्ता उनके शब्दों में झलकती है[2] तथापि प्रत्यक्षतः सत्ता स्वीकार नहीं की है। उनके गुण माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य हैं। इनमें माधुर्य और प्रसाद का स्वरूप तो बहुत भिन्न नहीं है पर शेष दो का स्वरूप नवीन रीति से प्रस्तुत किया गया है।[3]

अग्निपुराण—अग्निपुराणकार ने कुल १८ गुण स्वीकार किए हैं जिन्हें शब्द, अर्थ और उभय गुण के रूप में विभक्त किया है। इस प्रकार कुल ६ गुण माने हैं—श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमारता, औदार्य और ओज। इनमें लालित्य को छोड़कर शेष भोज द्वारा प्रतिपादित गुण ही हैं। परन्तु ये केवल शब्द गुण हैं। अर्थगुणों में माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि और सामयिकता हैं। इनमें माधुर्य, उदारता और प्रौढ़ि भोज-प्रतिपादित ही हैं। शेष नवीन हैं। इसी प्रकार उभय गुणों में प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्यता, पाक और राग की गणना है। इनमें पाक भोज की प्रौढ़ि से समानता रखता है।[4] यथासंख्य उत्तरवर्ती आचार्यों ने अलङ्कारों में गिना है।[5]

बिम्ब निर्माण में योगदान—प्रकृत में विचारणीय विषय गुणों का काव्य-बिम्ब से सम्बन्ध अथवा उनके निर्माण में योगदान है। रस के प्रसङ्ग में यह देखा जा चुका है कि रस से पूर्ण कविता ही सच्चे अर्थों में काव्य कहलाती है। रस और गुणों का जब अभेद या अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं तो गुणों का योग काव्य-बिम्ब में स्वतः सिद्ध हो जाता है। रस का नियत धर्म आह्लाद

---

१ तु०—श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः—कान्ति-समाधयः ॥ —काद० १, ४१-२
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥
एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥ —वक्रो० १, ५७

२ असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः काव्यवर्त्मनि।
किञ्चिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्र दृश्यते ॥ —वही, १, ४५

३ वही १, ४७-४८

४ उच्चैः परिणतिः कापि पाक इत्यभिधीयते। —अपु०, ३४६, २२
तु०—उक्तः प्रौढः परीपाकः प्रौढिरित्यभिधीयते। —सक०, १, ७७

५ यथासङ्ख्यमनूद्देश-उद्दिष्टानां क्रमेणयत् सा० द० १० ७८

है और जिस धर्म के द्वारा उस आनन्द की अभिव्यक्ति होती है वह गुण है विशेष कर माधुर्य। उसे रस भले ही आह्लाद से अभिन्न मानें या उसका हेतु। क्योंकि आह्लाद के मूल में चमत्कार है और चमत्कार से ही पदार्थ का स्पष्ट प्रतिभासन सवित आदि सम्भव है। इस चमत्कार के द्वारा ही हृदय की द्रुति दीप्ति या विकास सम्भव होता है।* अतः साक्षात्कार या प्रत्यक्ष-कल्पता उनसे ही होगी। प्रसाद के लक्षण में तो काव्य (शब्दार्थ शरीर) का अर्थ-समर्पण उसका आवश्यक धर्म स्वीकार किया गया है।** इस समर्पण का तात्पर्य प्रकाशन या प्रत्यक्षावभासन है*** जो कि काव्य बिम्ब के साथ इसका सीधा सम्बन्ध जोड़ता है। इस प्रकार रसवादियों की दृष्टि में तो गुणों का काव्य बिम्ब के निर्माण में अनन्य-साधारण योग है।

भरत दण्डी आदि द्वारा निरूपित दस गुणों का भी येन केन प्रकारेण काव्य बिम्ब से सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। उनमें कुछ का स्वरूप ही इस सम्बन्ध की पुष्टि कर देता है।

श्लेष—जैसे श्लेष शब्द गुण का स्वरूप विभिन्न पदों की सन्धि आदि के कारण भासित होने वाली एकता है।**** इसमें अनेक पदों को सन्धि से एक सा कर दिया जाता है। इससे नाद-चित्र बनता है। जैसे—

शारदीव प्रसन्ना द्यौस्ताराभिरभिसंवृता।[1]

यहाँ शारदी इव द्यौः ताराभिः अभिसंवृता इतने पद सन्धि के कारण परस्पर सहित होकर एक पद की भाँति भासित हैं। इसी प्रकार श्याम देव पाराशर के—

---

* गुणानां चैषां द्रुतिदीप्ति विकासाख्यास्तिस्त्रश्चित्तवृत्तयः क्रमेण प्रयोज्याः।
—रस० पृ० ५४

** समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥ —ध्वन्या० २, १०

*** समर्पकत्वं सम्यगर्पकत्वं हृदय संवादेन प्रतिपत्तॄन् प्रति
स्वात्मावेशन व्यापारकत्वं झटिति शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्तेन।
—लो० २१२

**** शब्दानां भिन्नानामप्येकत्वप्रतिभान प्रयोजकः संहितयैकजातीयवर्ण-विन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्यायः श्लेषः। —रस० पृ० ५६

1 वाल्मी०, ५ ६ ४१

असाहता मृदु मयासतदेन मार्गे
साऽलीक-कुञ्चितदृगाह "किमन्धकोऽसि"।
आस्याथि कौमलगिराऽयमयाऽपि मन्दम्
अन्धीकृतोऽस्मि सुकुमारि न चाहमन्ध ।।[1]

इसमे "असाहता "मयामतदेन", "साऽलीककुञ्चितदृगाह", "किमन्धकोऽसि" आदि पद सहित होने से एक पदवत् प्रतीत हो रहे है। ममृण पदावली और श्रृङ्गार की सरसता यहा समान रूप मे बिम्ब का निर्माण करती है।

अथगुणश्लेष मे क्रम, कौटिल्य अनुल्वणता एव उपपत्ति चारो का समन्वय होना ह।[2] इसमे क्रियात्मक शब्द चित्र बनता है। जैसे अमरुक के "दृष्ट्वैकासन-सस्थिते"[3] आदि पद्य मे। यहाँ "एकासन-सस्थिते प्रियतमे दृष्ट्वा" "पश्चाद् उपेत्य" "एकस्या नयने पिधाय", "ईषदवक्रितकन्धर" "अपरा चुम्बति" ये नायक की क्रियाओ का क्रम है।

एक की आखे बन्द करके दूसरी का चुम्बन करना, पहली का इसका पता न चलने देना नायक की चतुराई के रूप मे कुटिलता है। परिहास मे पीछे से आँखे बन्द करना आपत्तिजनक या असङ्गत भी नही है। यही अनुल्वणता है। "ईषद्वक्रितकन्धर" आदि से उपपत्ति बनती है। इस प्रकार यह स्पष्ट ही क्रियात्मक चित्र है। इसी प्रकार प्रस्तुत लेखक के—

परागपुञ्ज-पिञ्जरो मरन्दबिन्दुतुन्दिल
प्ररोहलोलकुण्डलो मिलिन्दवृन्द उद्धत ।
स्फुटत्-कलि-स्वनध्वनन्-मृदङ्ग गतुङ्गमङ्गलो
मधमिल-प्रसूनभृत्-प्रियाकरो विनृत्यति ॥[4]

इस पद्य मे भी क्रमादि के होने मे होली खेलन का शब्द-चित्र बनता है। ढोल मञ्जरी आदि बाजा के शब्द का अनुकरण होने स नाद बिम्ब भी है।

प्रसाद—पद समुदाय जहाँ पढने या सुनने मात्र म अर्थ का बोध कराय, वह शब्द गुण प्रसाद होता है।[5] जैसे पद्मनारायण त्रिपाठी के—

---

१ ममा०, २८

२ क्रम-कौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तिस्त्वयोग-घटनात्मा श्लेष ।
—मामुसि०, ६, १५५

३ द्र० अ०, ४, टि० १७८

४ समागता वसन्त-पञ्चमी । —वि० म०, फर्वरी १९६७ (४, २)

५ द्र० अ०, ३, १३५ टि०

रात्रिञ्चराणां मुखमाशुगासे
गुणं समारोप्य गुणाग्रणी सः ।
तूर्णं तूणीराद् विशिखं विगृह्णन्
मारीचमूचे वचनं महात्मा ॥[1]

इस पद्य में श्रवणमात्र से अर्थबोध हो जाता है। अर्थगुण प्रसाद की परिभाषा 'अर्थवैमल्यं यावदर्थपदता प्रसादः'[2] भी इस पर घटित होती है। क्योंकि यहाँ कोई पद व्यर्थ नहीं है। अर्थ सुबोध होने से काव्य-बिम्ब बनने में कठिनाई नहीं होती।

समता—शब्द गुण के रूप में इसमें जिस शिथिल या निविडबन्ध से वाक्य का उपक्रम किया हो उसी से उसे समाप्त करना होता है।[3] अर्थगुण में भी जिस क्रिया आदि से आरम्भ किया हो उसी से वाक्य की पूर्ति होनी चाहिए।[4] जैसे—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।[5]

इसमें ताम्र विशेषण और एति क्रिया को दोहराया गया है। बन्ध की समता का उदाहरण ऊपर उद्धृत 'परागपुञ्ज' आदि है। इस गुण से काव्य में बन्ध एवं भाव की एकता का निर्वाह होता है। उसके बिना काव्य में बिम्ब नहीं बनता।

माधुर्य—प्राचीन आचार्य शब्द गुण माधुर्य में असमस्तता और अर्थ गुण में पुनरुक्ति का अभाव मानते हैं।[6] पहले प्रकार का माधुर्य ब्रह्मानन्द शुक्ल के

देशे विदेशेषु च सैव बाला ख्याति प्रयाता विदुषां समाजे।
पुण्येन केनापि सता मनेन वृद्धापि बालेव विभाति जस्रम् ॥[7]

---

१ रा० च०, ? सा० ४६

२ अर्थवैमल्यं यावदर्थपदता प्रसादः । —साम्रुसि० ६, १४७

३ प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः ।
दुर्बन्धो दुर्विभावश्च समतेति मतो गुणः ॥
—सामुसि०, ६ १४७

४ अवैषम्यं क्रमभेदः समता । —वही ६ १५७

५ पृथक्पदत्वं माधुर्यम् । —सादo, ८, ११

६ माधुर्यम् उक्तिवैचित्र्यम् । अनवीकृतस्य निराकरणेनैवाङ्गीकारः ।
—वही, पृ० २६८

७ नेहरूचरित, ४, २७

इस पद्य मे देखा जा सकता है। इसमे कोई शब्द पुनरुक्त नहीं है। अत अर्थ गुण भी है।

सुकुमारता—दु श्रवता दोष का त्याग करने में सुकुमारता गुण बनता है।[1] अश्लील शब्द का प्रयोग न करने से भी यह गुण आ जाता है।[2] इसके उदाहरण के रूप में—

> **तथा चमत्कारकृति मिथस्तौ प्रदश्य हा वीर-गति प्रयातौ।**
> **यथोर्येश स्थास्यति विश्वमध्ये यावत् तौ चन्द्र-दिवाकरौ स्त ।।**[3]

द्विजेन्द्रनाथ के इस पद्य का ले सकते हैं। इसमे सुकुमार पदावली है। साथ ही पृथ्वीराज और चन्दवरदायी की एक दूसरे के हाथ मे मृत्यु का वर्णन भी वीर-गति की प्राप्ति रूप शब्दो से किया है। इस गुण का काव्यबिम्ब निर्माण मे योगदान रत्नेश्वर ने इन शब्दो मे स्वीकार किया है —

सौकुमार्यमाहेति अश्रुपातेनानुभावाश्रु-निमित्त-नता चित्तद्रुति करतलामलकवत् प्रकाश्यते।[4]

अर्थव्यक्ति—अर्थव्यक्ति गुण का नाम ही इस बात को सिद्ध कर देता है कि इसका काय विवक्षित वस्तु का प्रत्यक्षरूप प्रस्तुत करना है। भोज ने किसी वस्तु के साक्षात् स्वरूप को कहना इसका लक्षण किया है।[5] रत्नेश्वर ने अपने व्याख्यान म इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि केवल कवि की प्रतिभा से ज्ञेय अपने असामान्य रूप को प्रत्यक्षवत् कहना ही साक्षात-कथन कहलाता है। कवि की प्रतिभा के कारण प्रत्यक्षरूपतया कराने वाले पदो से सदर्भ की रचना का *अर्थव्यक्ति गुण कहते हैं। शब्द गुण अर्थव्यक्ति की परिभाषा म वाक्य मे* किसी पद का अभाव न होने मे अर्थ का स्पष्ट होना उसका स्वरूप बताया गया

---

१ दु श्रवता-त्यागात् सुकुमारता। —भाद० ८ १२

२ सौकुमार्यम् अग्राम्यम। अमङ्गलरूपाश्लीलस्य निराकरणेनैवाङ्गीकार। —वही पृ० २६८

३ स्व० वि० १६, ५०

४ रत्नदपण पृ० ७६

५ अर्थव्यक्ति स्वरूपस्य साक्षात् कथनमुच्यते। —सक०, १, ८६

६ स्वरूप स्वमसाधारण कविप्रतिभैकगोचर चमत्कारिरूप तस्य साक्षात् कथनम्। कविशक्तिवशात् साक्षात्कारसोदरप्रतीति-जनकपदवत्त्व सन्दर्भस्यार्थव्यक्तिर्नामा गुण। अर्थो यथोक्तस्तस्य व्यक्ति प्रत्यक्षायमाणता। —रद०, पृ० ७६

है।[1] मम्मट आदि इस गुण की गतार्थता स्वभावोक्ति में मानकर इसे अनावश्यक मानते हैं। इस प्रकार अर्थव्यक्ति गुण और स्वभावोक्ति दोनों का ही कार्य वर्ण्य वस्तु का प्रत्यक्षीकरण ही है, यह सिद्ध हो जाता है।

औदार्य—शब्द गुण औदार्य का आधार पदों की विकटता है।[2] विकटता का अर्थ नाचता हुआ सा लगना है। अर्थगुण में ग्राम्य दोष का अभाव ही अपेक्षित है।[3] पर दण्डी ने औदार्य की जो परिभाषा दी है उसको देखते हुए काव्यबिम्ब का निर्माण ही इसका प्रयोजन है। स्वयं अपने मन में उत्कर्ष की बातें करना ही उदारता है।[4] पर किसी अन्य आचार्य के मत में उत्तम विशेषणों का प्रयोग ही इसका लक्षण है। जैसे—

श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते।
यथा लीलाम्बुजक्रीडासरोहेमाङ्गदादयः॥[5]

इसमें लीलाम्बुज शब्द से उसके सुन्दर वर्ण, सुगन्ध, आकार की प्रतीति होती है। इस प्रकार क्रीडासर घाट और भ्रमर आदि का, हेमाङ्गद कान्ति एवं तरलता (झलमलाहट) का द्योतक है। तरुण वाचस्पति ने श्लाघ्य का अर्थ वैशिष्ट्य प्रतीतिकृत किया है।[6] रत्नेश्वर ने इसके उदाहरण में उन्माद रोग से गृहीत व्यक्ति की चेष्टा का प्रकाशन दिखाया है।[7] यह स्पष्ट रूप से काव्यबिम्ब की स्वीकृति का संकेत है।

---

१ अभिधाम्यमानस्वभावोक्त्यन्तर्भावात् कारणं वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपाय व्यक्तिः स्वीकृता। —का०प्र०का०, पृ० ३६७

२ उदारता विकटत्वलक्षणा। विकटत्वं पदानां नृत्यत्प्रायत्वम्। —माद०, पृ० २६३

३ उदारता अग्राम्यत्वम् ग्राम्यत्वनिराकरणेनैवाङ्गीकारः। —वही, पृ० २८८

४ उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः॥ —काद०, १, ७६

५ वही० १, ७९

६ धर्मेन्द्र कु० काद० हि० व्या पृ० ६४

७ आराहृत्यवनीरुहं प्रविशति श्वभ्रं नगं स्पर्धते
रव व्यानोडि विचेष्टते क्षितितले कुञ्जोदरे लीयते।
अन्तर्भ्राम्यति कोटरस्य विलसत्यालम्बते वीरुधं
किं तद् यन्न करोति मारतवशं यातः कृशानुवने॥ सक०, १, ८३ (उ०)

दण्डी द्वारा दिया गया औदार्य का दूसरा लक्षण भोज की दृष्टि से औदात्त्य का है।[1] औदार्य के विषय में वामन अथवा साहित्यदर्पणकार द्वारा दिया गया लक्षण ही उसने भी दिया है। भोज की दृष्टि से अर्थ गुण उदारता का लक्षण वैभवातिशय का वर्णन है।[2] नाद माधुर्य और सहृदयतापूर्ण अर्थ के एकत्रित होने पर दोनों प्रकार का औदार्य एक ही स्थल में मिल सकता है। जैसे मेघदूत के निम्न पद्य में दोनों ही विशेषताएं मिलती हैं—

> यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखरा पादपा नित्यपुष्पा
> हंसश्रेणीरसितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः ।
> केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्य-भास्वत्कलापा
> नित्य-ज्योत्स्ना प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ।।[3]

इसमें पद-योजना विकटता एवं सुरुचिपूर्ण भावों से पूर्ण है। इस गुण का विशेष चमत्कार चमकदार अनुप्रास में पाया जाता है। जैसे—

> चलल्ललाटं कृत्य महारयं हयं स वाहवाहोचितवेषपेशलः ।
> प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः ।।[4]

यह गुण नाद-सौन्दर्य एवं भावों के सामञ्जस्य से काव्यबिम्ब के निर्माण में अतीव उपकारी होता है। रत्नेश्वर की सम्मति है कि दीर्घानुस्वारादि रूप सहृदय-संवेद्य वर्णों का प्रचुरमात्रा में प्रयोग नृत्य के समान चमत्कारिता लाता है।[5]

मारुतवशं यातं इत्यनेनामादरोग गृहीत इति शब्दमूलानुस्वान (सार) बलेनावगम्यते। उन्माद-गृहीतोऽपि वृक्षारोहणाविकगगगञ्जसमव्यवस्थितं च करोति। वन इत्यनेन यत्र सवर्थव प्रतीकारामभव इति निरङ्कुशो-न्मादचेष्टितमवाप्नुयादिति। नर्तैः स्पर्द्धते, पवनोच्छ्रायमनुकरोतीति दूर-प्रसृत उन्माद। एवं व्यानिद्रीन्यपि तथैवाभिप्राय। किं तद् यदिति न शक्यते गणयितुमुन्माद-चेष्टितानीति प्रकाशतन्वेति ग्रथिलाविच्छेदात् प्रमाणस्य पर्यवसान श्वेत्यनेन प्रविशतीति भट्टकाच। —रद०, पृ० ५८

1. श्लाघ्यैर्विशेषणैर्योगो यस्य सा स्यादुदात्तता। —सक०, १, ७०
2. विकटाक्षरबन्धत्वमार्यैरौदार्यमुच्यते। वही
3. भूत्युत्कर्ष उदारता। —वही, १, ८१
4. मेघ० २ ३
5. नै०च० १, ६६

अस्ति तावन्नृत्यन्तीव पदानीति सहृदयानां क्वचिदर्थे व्यवहारः। तथा-भूतान्यक्षराणि दीर्घानुस्वारादिरूपाणि सहृदय-संवेदनीयानि। अत एव नृत्यतुल्यता। —रद०, पृ० ५७

ओजस—ओज गुण कुछ अतर के साथ सभी आचार्यों ने माना है। शब्द गुण ओजस में समास-बहुलता मुख्य माना गया है।[1] कुछ ने समास व्यास पदार्थ के स्थान पर वाक्य और वाक्य के लिए पद का प्रयोग एव रचना का साभिप्राय होना ये पाच तत्त्व प्रौढि के स्वीकार किये हैं।[2] प्राचीनों का ओज का लक्षण समास भूयस्त्व शब्द गुण के लिए और पदों का साभिप्राय होना अर्थ गुण के लिए भोज आदि द्वारा भी माना है।[3] मम्मट ने आत्मा की दीप्तता का हेतु ओज माना है।[4] विश्वनाथ विस्तार और दीप्तता को ओज में अभिन्न स्वीकार करते हैं[5] किन्तु यह माधुर्य की आह्लाद और द्रुति में अभेद मानने के तुल्य ही है। काव्य बिम्ब में इसका योग नाद बिम्ब बनाने की दृष्टि से महत्त्व पूर्ण है। यह साहित्यसुधासिन्धुकार ने भी स्वीकार किया है। जैसे—

> क्षुद्रा सन्त्रासमेते विजहत हरय क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
> युष्मद्देहेषु लज्जा दधति परममी सायका निष्पतन्त ।
> सौमित्रे तिष्ठ पात्र त्वमसि नहि रुषा नन्वह मेघनाद
> किञ्चिद् भ्रूभङ्ग लीला नियमितजलधि राममन्वेषयामि ॥[7]

यह पद्य वीर रस के स्थायी उत्साह और तत्र आदि सञ्चारियों में वीर रस का निदर्शन होने में साभिप्रायता का उदाहरण है। समास-बहुलता का उदाहरण निम्न पद्य है—

> सरम्भो स्पदि-पक्ष्मक्षरदमलजलक्षालनक्षामयापि
> भ्रूभङ्ग गोदभद धूम ज्वलितमिव पुर पिङ्गया नेत्र भासा ।
> मन्ये रुद्रस्य रौद्र रसमभिनयतस्ताण्डवेषु स्मरन्त्या
> सजातोदग्रकम्प कथमपि धरया धारित पादघात ॥[8]

---

[1] ओज समास भूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम् ।　　　　—काद० १ ८०

[2] पदार्थे वाक्यरचना वाक्यार्थे च पदाभिधा ।
प्रौढि व्यास-समासौ च साभिप्रायत्वमस्य च ॥
—का०प्र०ना० पृ० २९६ पर उद्धृत

[3] ओज समासभूयस्त्वम् ।　　　　—सक० १ ७१
तथा—ओज स्वाध्यवसायस्य विशेषार्थेषु या भवेत ॥　—वही १ ८२

[4] दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ।　　—का०प्र०का० ८ ६९

[5] ओजश्चित्तस्य विस्ताररूप दीप्तत्वमुच्यते ।　　—सा०द० ८ ४

[6] अनर्ताधिष्ठिता प्राय शब्दा श्रोत्ररसायनम् ।　　—सासुसि० ६ १५२

[7] का०प्र०का० ८ १७६ (उ०)

[8] मुरा० ३ ३०

कान्ति—ग्राम्यदोष-ग्रस्त पदों को त्याग कर नवीन मुरुचिकर पदों का प्रयोग ही कान्ति कहलाता है।[1] अर्थगुणों में रसभाव की परिपक्वता ही कान्ति कहलाती है।[2] जैसे—

दाहोऽम्भ-प्रसृतिम्पच प्रचयवान वाष्प प्रणालोचित
श्वासा प्रेङ्खित दीप्र-दीपलतिका पाण्डिम्नि मग्न वपु ।
किञ्चान्यत् कथयामि रात्रिमखिला त्वद्-वर्त्म-वातायने
हस्तच्छत्र-विरुद्ध-चन्द्रमहसस्तस्या स्थिति वर्तते ॥[3]

इसमे दोनो ही गुण आ गये है। दाह की तीव्रता 'अम्भ प्रसृतिम्पच' मे, वाष्प की अधिकता 'प्रणालोचित' मे, श्वासो की दीघता प्रेङ्खित-दीप्रदीप-लतिका' मे वैवर्ण्य का अतिशय 'मग्न' से सूचित किया गया है। इस लाक्षणिक वक्रता ने सर्वथा मौलिकता ला दी है। पुन ये सभी विशेषण वाच्य का विम्ब प्रस्तुत करते हैं जिनमे विरहिणी की मन्मथावस्था प्रत्यक्षरूप हो जाती है।

अनापि देशे क्वतमस्त्वयाऽद्य वसन्तमुक्तस्य दशा वनस्य ।[4]

भी इसी का उदाहरण है। इस प्रकार यह गुण ऐन्द्रिय एव मानस दोनो ही बिम्बो के निर्माण मे उपकारक है।

समाधि—पद्यो अथवा गद्य मे जो यति आदि के कारण आरोह और अवरोह होता है उसे ही समाधि कहते हैं।[5] उत्कलिका-प्राय गद्य मे यह गुण स्पष्ट लक्षित होता है। पद्य मे बन्ध के उतार चढाव मे यह अच्छा चमत्कारी सिद्ध होता है। परन्तु भोज ने किसी मे अन्य धर्म के अध्यारोप को इसका स्थल स्वीकार किया है।[6] यद्यपि इसमे रूपक अलकार टकराता है परन्तु सभवत आचार्य का तात्पर्य यह है कि रूपक मे वस्तु का आरोप होता है इसमे वस्तु के धर्म का। परन्तु अलकार-प्रकरण मे जो समाधि अलकार भोज ने पढा है, उस का लक्षण भी यही है।[7] दोनो मे विभाजक रेखा कोई नहीं रखी है। क्योंकि किसी मे धर्मी का अध्यास रूपक ही होगा।

---

१ ग्राम्य-दु श्रवतात्यागात् कान्तिश्च सुकुमारता। — सार०, ८, १२
२ रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याना कान्तिनामक। —वही, ८, ६
३ वजी० १, ४८
४ नैष० ८, २५
५ समाधिरारोहावरोहक्रम। —सार०, ८, पृ० २६६
६ समाधि सोऽयधर्माणा यदन्यत्राधिरोपणम्। सर०, १, ७२
७ समाधिमन्यधर्माणामन्यत्रारोपण विदु। —वही, ४, ४४

वैदर्भ और गौड दो ही मार्गों का उल्लेख करते हैं। दण्डी भी सूक्ष्म भेद के कारण अनेक प्रकार होने पर भी इन्हीं दोनों का विवेचन करते हैं। आगे वामन के समय तक पाञ्चाली भी सम्मिलित हो गई और[1] रुद्रट के आते आते लाटी की भी[2] गणना हो गई। भोज आवन्तिका और मागधी ये दो रीतियाँ और मानते हैं।[3]

प्रस्तुत में रीति का विवेचन हमें काव्य-बिम्ब के सन्दर्भ में करना है। रीतियों का सम्बन्ध गुणों के साथ माना गया है। इस पक्ष पर अलङ्कारवादी और ध्वनिवादी दोनों ही एकमत हैं। अन्तर इतना ही है कि अलङ्कारवादी रीति को प्रमुख और गुणों को उनका धर्म स्वीकार करते हैं[4] पर ध्वनिवादी रीति को सङ्घटना नाम देते हुए[5] उसे गुणों का अङ्ग मानते हैं। इसका कारण गुणों को रस का धर्म मानना है। इस आग्रह के कारण येन केन प्रकारेण सभी काव्यतत्त्वों का रस और गुण का अङ्ग सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। पर जब चाहे औपचारिक रूप से ही सही, गुणों का शब्द और अर्थ का धर्म स्वीकार कर लिया[6] तो रीतियों का रस के घेरे से नितान्त स्वच्छन्द रखने में क्या हानि है? इससे गुणों से उनका सम्बन्ध तब भी बना ही रहेगा पर उनकी रस-परता का दुराग्रह अवश्य ढीला करना होगा। आज के विविध जटिलताओं से जकड़े वातावरण में कवि के लिए आवश्यक नहीं कि वह रसों के घेरे में ही बन्द रहे और इन समस्याओं के प्रति उदासीन रहे जो उसके दैनन्दिन जीवन को कचोटती रहती हैं। यदि ऐसा करेगा तो उसका साथ सदा

---

१ सा त्रिधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति। —कासूवृ०, १, २, ९

२ नाम्ना वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन।
वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्यू रीतयस्तिस्रः॥
पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतो विहिताः।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र॥ —रु०का० २, ३-४

३ वैदर्भी साथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते॥ —सक०, २, २७

४ इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः। —काद०, १, ४२

५ पद-सङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्। —साद०, ९, १

६ गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा। रसान्
—ध्वन्या० ३, ६

७ गुण-वृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता॥
—का०प्र० का०, ८, ७१

के लिए जीवन से दूर जा पड़ेगा। इसलिए आज यह सम्भव है कि रस-सम्बन्धी मान्यताओं के सम्बन्ध में धारणा को कुछ मोड़ा जाय। शृङ्गार और वीर को ही प्रधानता देने से काम नहीं चलेगा। न भक्ति की बाँसुरी बजाने से किसी को सन्तोष होगा। समाज के आक्रोश को जिसका अनुभव कवि भी करता है, काव्य में स्थान देना होगा। जिसके कारण अब तक गौण समझे गये रौद्र और बीभत्स को आगे लाना पड़ेगा। शास्त्रीय न सही, बौद्धिक कविता की अपेक्षा आज के युग में सम्भव नहीं है। टी० एस० इलियट तक ही वह सीमित नहीं रह सकती। उस स्थिति में रीति और गुणों का सम्बन्ध शब्द और अर्थ के साथ ही जोड़ना होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि आधुनिक कवि रस की सर्वथा उपेक्षा कर दे। शाश्वत मनोवृत्तियों से तो मानव बच कर कहाँ जा सकता है? यथावसर वह चाहे तो शृङ्गार की बाँसुरी या वीर की भेरी बजाये तो उसे कौन रोकता है? पर उसीमें लवलीन नहीं रह सकेगा।

अस्तु, गुणों का सम्बन्ध रीतियों के साथ किसी न किसी रूप में जुड़ा ही रहा है। इसलिए यदि गुण काव्य बिम्ब में सहायक होंगे तो रीति क्यों न होगी?[1] उनकी परिभाषाएँ गुणों में मिलती जुलती है। केवल इतना अन्तर है कि रीति में गुणों का निर्देश किया गया है। जैसे 'मधुरा रचना'[2] घटनौद्धत्य-शालिनी आदि।[3]

प्राचीन आचार्य वैदर्भी में समासाभाव पर बहुत बल देते थे।[4] और वीर आदि रस-प्रधान गौडी में समासबहुलता[5] किन्तु आनन्दवर्धन ने वैदर्भी आदि भेद न मानकर असमासा, मध्य समासा और दीर्घ-समासा तीन प्रकार की रचना अथवा सङ्घटना स्वीकार की है।[6] उनके अनुसार शृङ्गार में भी तीनों प्रकार की रचना होनी सम्भव है। वीररस में भी समास का होना आवश्यक नहीं है।

---

१ तु०—एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति।
—कासूवृ०, १, २, १३

२ सादर०, ८, ४ एवं रचना ललितात्मिका। अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा।
—वही, ६, ३

३ वही, ८, ७

४ असमासा तु वैदर्भी वृत्ते रसमासाया वैदर्भी —सका०, २, ६

५ समास-बहुला गौडी। —साद०, ६, ४

६ असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घ-समासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता॥ —ध्वन्या०, ३, ५

यदि ओज गुण में दीप्ति होती हो तो उसमें भी समासरहित रचना सम्भव है।[1] वीर रस में 'क्षुद्रा सन्त्रासमेते'[2] आदि पद्य जो कि समास-रहित है, उनमें उदाहरण हैं। रौद्र रस में समास-हीन रचना का उदाहरण—

> यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
> यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
> यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
> क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥[3]

यह पद्य है। इसमें बिना समास के भी अच्छी रस-योजना हुई है। प्रसाद-गुण के कारण भाव-प्रकाशन में कोई काठिन्य नहीं होता।

> महाप्रलय-मारुत-प्रबल-पुष्कराबर्तक-
> प्रचण्ड घन-गर्जित-प्रतिरवानुकारी मुहुः।
> रवः श्रवण-भैरवः स्थगितरोदसी-कन्दरः
> कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः ॥[4]

यह ओज पूर्ण समास-बहुला रचना का उदाहरण है। प्राचीनोक्त श्लेष गुण और ओज दोनों के मिश्रण से यह गौड़ी का उदाहरण बनता है।

> उन्मीलन्नीलनीलोत्पलदलदनामोदमेदस्विपूर
> क्रोडक्रीडद्द्विजालो गरुदवलिमरुत्स्फालवाचालवीचिः ।[5]

यह मधुर वर्णों में घटित समास-बहुल पद्य वीर रस से सम्बन्ध रखता है। शृङ्गार रस में दीर्घ समास वाली कृति का उदाहरण जयदेव का—

> ललितलवङ्गलता परिशीलनकोमलमलयसमीरे।
> मधुकर-निकर-करम्बितकोकिल-कूजित-कुञ्ज-कुटीरे ॥

---

१ तथा हि शृङ्गारेऽपि दीर्घ-समासा दृश्यते रौद्रादिष्वसमासा चेति। तथा रौद्रादिष्वप्यसमासा दृश्यते। यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुज-गुरुमदः "इत्यादी। —वहीं, पृ० ३१२

२ ध्व० टि० १७५

३ वेंस०, ३, ३२

४ वही, ३, ४

५ नै० च०, १२, १०१

६ गीगो०, १, ३

यत्न शील है। इसमें माधुर्य गुण के अधिकतर वर्ण जन्य प्राण हैं। अतः आचार्यों के मत में यह समास प्रचुरता के कारण पाञ्चाली रीति का उदाहरण है।

श्रृङ्गार में वैदर्भी रीति का सबसे अधिक उत्तम माना है। वामन ने काव्यरत्न में वैदर्भी का ही ग्राह्य स्वीकार किया है क्योंकि उसमें व सभी गुण पाये जाते हैं[2] जो दण्डी ने इस रीति के प्राण घोषित किये हैं।[3]

रीति और वृत्ति में अन्तर—मम्मट[4] ने इन्हीं रीतियों का उपनागरिका, परुषा और कोमला इन वृत्तियों में अभिन्न स्वीकार किया है परन्तु रुद्रट और भोज इन रीतियों में पृथक् गिनाते हैं। वर्ण और रीतियों की भाँति रीति और वृत्तियों में भी पारस्परिक अन्तर थोड़ा ही है। रीति जहाँ शिथिल गाढ़ और मध्यम इन बन्धों या रचना प्रकारों में सम्बद्ध है वहाँ वृत्ति विभिन्न रसों की व्यञ्जक वर्ण योजना से सम्बन्ध रखती है।[5] उसमें शिथिलता आदि पर विचार नहीं किया जाता।

कुन्तक—रीति पर मौलिक विचार कुन्तक का है। उन्होंने चमत्कार का माया को देखते हुए उन्हें सुकुमार वैचित्र्य और मध्यम मार्ग ये नये नाम दिए हैं।[6] इनमें सुकुमार मार्ग ही प्राचीनों का वैदर्भ मार्ग या वैदर्भी रीति है जिसके

---

१ समस्त पञ्चषपदामोज कान्ति समन्विताम्।
मधुरा सुकुमारा च पाञ्चाली कवयो विदुः ॥ —सा० द० पृ० ३७१ (६)
—सर० २, पृ० ३०

२ तासां पूर्वा ग्राह्या। गुणसाकल्यात्। —का० सू० वृ० १, २, १४

३ श्लेष प्रसाद समता माधुर्य सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज-कान्ति-समाधयः ॥
इति वैदर्भ मार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः ॥ —काद० १, ४१-४२

४ माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।
ओज प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः ॥ —का० प्र० का० ६, ८०
केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः। —वही, ६, ८१

५ वृत्तयो रसादिभिव्यक्त्यनुगुणवर्णव्यवहारात्मिका प्रथममभिधीयन्ते।
—का० गा० स० व० २५७

तथा—मधुरावस्थमानेषु स्ववर्ग्येषु वयत।
काव्यव्यापी स सन्दर्भो वृत्तिरित्यभिधीयते ॥ —सर० ?, ७८

६ सन्ति तत्र त्रयो मार्गा कवि-प्रस्थान-हेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः। —वही०, १ २४

माधुर्य, सौकुमार्य, प्रसाद और आभिजात्य ये गुण हैं। इनमें शब्द-भेद से समास-रहित रचना को ही माधुर्य का स्वरूप लक्षित किया है। प्रसाद अनायास अर्थ-समर्पकता रूप ही माना है और सुन्दर वर्ण योजना एवं चमत्कारजनक शब्दों के प्रयोग रूप पदों का प्रयोग लावण्य का स्वरूप बताया है। यह वस्तुतः बन्ध-सौन्दर्यमूलक है। बन्ध की श्रुति-सुखदता ही आभिजात्य नाम से अभिहित है।

वैचित्र्य मार्ग वक्रोक्ति-रचना एवं अलंकार-प्रवण रचना-प्रकार है। यह व्यङ्ग्य-प्रधान होता है। उसमें भी माधुर्य, प्रसाद आभिजात्य और लावण्य ये ही गुण होते हैं परन्तु उनके स्वरूप भिन्न हैं। पहला पृथक्-पदत्व वाला या तो यह गाढबन्ध वाला है। अविरोध पद बिना समासों वाले हों, कुछ ओज गुण भी रहता है, यह समास के रूप में, बीच-बीच में कोई दूसरा वाक्य भी आ जाये। अलुप्त विसर्गान्त पदों की योजना में लावण्य गुण आता है। पदों का मध्यम रूप जिसमें न अधिक कठोर पदों का प्रयोग हो न कोमलतम का, ऐसा आभिजात्य गुण भी इस मार्ग में रहता है।[1] इस प्रकार यह विचित्र मार्ग आनन्दवर्धन की दीर्घसमासा सङ्घटना का प्रतिरूप है।

तीसरा मार्ग मध्यम है जिसमें पूर्वोक्त चारों गुण ही मध्यम रूप लिए होते हैं। यह मध्यम-समासा सङ्घटना का समानान्तर है।

वस्तुतः कुन्तक-प्रतिपादित मार्गों के स्वरूप स्पष्ट नहीं हैं। क्योंकि जटिल-पदयोजना वाली रचना इन तीनों मार्गों में से किसके अन्तर्गत होगी? यदि विचित्र मार्ग में उसे गिनें तो उसके गुणों के कारण परस्पर विरोधिता आती है। जैसे एक ओर तो गाढबन्ध वाला माधुर्य उसमें प्रयोज्य बताया है तो दूसरी ओर असमस्तपदयोजना रूप प्रसाद भी। गाढबन्धता समासों के कारण आती है। जो गुण कुन्तक ने स्वीकार किए हैं उनमें ओज की गणना नहीं है, जब उसकी मान्यता ही नहीं दी तो उसके स्पर्श का विधान कैसे कर दिया? जो उदाहरण इसके दिये गये हैं, उनमें वेणीसंहार के 'मन्थायस्तार्णवाम्भ' आदि सदृश एक भी पद्य नहीं है। ये गौड मार्ग की जटिल रचनाओं से समानता नहीं रखते।

पुनः अन्य आचार्यों की भाँति प्रकारान्तर से इन्होंने भी औचित्य का विधान किया है और चमत्कार-प्रवणता एवं सौभाग्य का औचित्य के साथ तीनों मार्गों

१ वही, १, ३०-३३
२ वही, १, ४४-४७
३ वही १, ४९-५१

में सामान्य गुण के रूप में निर्वाहित बताया है।[1] इसमें भी कोई नवीनता नहीं है। मम्मट आदि ने आनन्दवर्धन के अनुसार ही वक्ता विषय वाच्य आदि का दृष्टि में रखकर रचना के मार्दव या औद्धत्य का निर्देश किया है।[2]

इस सबका प्रयोजन क्या है ? पीछे आज की परिभाषा के प्रसङ्ग में यह कहा जा चुका है कि नाद बिम्ब या ध्वनि चित्र में इसकी उपयोगिता होती है। जिस प्रकार शृङ्गार करुण और शान्त में माधुर्य गुण आवश्यक माना गया है उसी प्रकार उनमें सुकुमार या मध्यम मार्ग जिन्हें अन्य शब्दों में वैदर्भी और पाञ्चाली कहा गया है अधिक उपयोगी होते हैं। उसका हेतु यही है कि कोमल पदयोजना शिथिल बन्ध कोमल भावों के अभिव्यञ्जन और संवेदन में अधिक सहायक होते हैं। शृङ्गार में भी नायक या नायिका की दशा, वेश चेष्टा आदि का वर्णन हो तो समास का प्रयोग वाच्य का सामूहिक चित्र प्रस्तुत करता है। परन्तु जब मानसिक उद्गार प्रकट किए जा रहे हैं तब समास उपयोगी नहीं रहता मुक्त पद ही भाव-प्रकाशन में अधिक सहायक होते हैं। पुनः प्रेमी या प्रेमिका के चाटुवचनों में कम्पन की प्रतिध्वनि चाहिए जो कि शिथिल पदों में ही सम्भव है गाढ पदों में नहीं। लम्बी लम्बी आहों और श्वासों की प्रतिध्वनि दीर्घ और विसर्ग-सहित पदों में ही सुनी जा सकती है। आलिङ्गन संघर्ष सम्मर्द और अङ्ग-संघट्ट में का शब्दचित्र तद्वाचक शब्दों, जिनमें संयुक्तव्यञ्जनों का प्रयोग हो में ही बन सकता है। इन बातों का ध्यान रखते हुए रचना करना ही औचित्य का निर्वाह है। मेघ-गर्जन, धमाके, भूचाल विस्फोट वृक्ष की शाखाओं का टूटना आदि का शब्द चित्र महाप्राण संयुक्त ध्वनियों में अच्छा बनेगा। इसके लिए अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग विशेष उपयोगी रहता है। जैसे—

दिक्षु व्यूढाङ्घ्रिपाङ्गस्तृणजटिलचलत्पांसुदण्डोऽन्तरिक्षे
झाङ्कारी शर्कराल: पथि विटपिनां स्कन्धकाषैः सधूमः ॥[3]

इन पंक्तियों में आँधी का वर्णन होने से कवि ने संयुक्त व्यञ्जनों से युक्त समास प्रचुर गाढ बन्ध का प्रयोग किया है। 'दिक्षुव्यूढाङ्घ्रिपाङ्ग' यह

---

१ आञ्जलेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते ।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यान-जीवितम् ॥ —वही, १, ५३

२ वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित् ।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥ —का० प्र० का०, ८, ७७

३ वेसं०, २, १७

अश वृक्षो की शाखाओ का आधी के झाको के कारण दिशाओ मे जोर से फेकने या छोटे वृक्षो के हवा के जोर म उखडने की प्रतिध्वनि है । संयुक्ताक्षर 'दिशा' पर होने वाले बलाघात के बाद "व्यूढाङ्घ्रिपाङ्ग" ये अश उखडने के बाद हवा म झूलने की ध्वनि लिए ह । 'तृणजटिलचलत्पांसुदण्ड" ये पद आधी चलन क समय वस्तुओ क इधर स उधर उडने मे होने वाली फर् फर् की ध्वनि का चित्र प्रस्तुत करता है हवा के जोर स चलने पर जोर की साय साय का अनुकरण "झाकारी" पद से किया गया है । आधी चलने पर उडत रेत के कण दृग्ये और स्पर्शेन्द्रिय होते ह, मुँह म भर जाय तो किरकिराहट उत्पन्न करते है । अत "शर्कराल" पद के "र-कर" इन अशो मे उस किर-किर का अनुकरण है, "स्कन्ध-काषं" मे पदो मे रगड खान म हुई 'खस्-खस्' की ध्वनि का अनुकरण है । इस प्रकार इस श्लोक का वाक्यार्थ और ध्वनिया दोनो आधी चलने का मूर्तचित्र प्रस्तुत करते ह । ध्वनिचित्रो से आधी मे होने वाली ध्वनियो का अनुभव होता ह । इसलिए इसम शब्दचित्र और ध्वनिचित्र (Sound picture) दोनो ही है । इनके द्वारा वातावरण की गम्भीरता का जो भान होता ह, उससे भावबिम्ब भी बनता ह । इस प्रकार यह एक पूर्ण सश्लिष्ट बिम्ब (Complex image) है ।

इस प्रसङ्ग मे यह ध्यान रखने की आवश्यकता होती है कि वक्ता स्त्री है या पुरुष, किस श्रेणी का है, किस मानसिक अवस्था मे है । यदि नारी पात्र होगा तो उसकी उक्ति म कोमल ध्वनिया ही उचित रहती है, लघु समास वाली सानुनासिक अल्पप्राणवाली पदावली अधिक उपयुक्त होगी जो उसके मधुर कण्ठ क उपयुक्त हो । ऊपर उदाहृत 'ललित-लवङ्ग' आदि गीत गोपिका-गीत होन के कारण अत्यन्त कोमल ध्वनिया मे है । लकार का जो कि भाषा-विज्ञान म liquid ध्वनि कहलाती ह, आधिक्य कण्ठ की कोमलता और भावतरलता का अनुभव कराता ह ।

पुरुष का कण्ठस्वर कुछ मोटा और गम्भीर होता है । इसलिए उसके वचनो मे महाप्राण ध्वनियो का प्रयोग विशेष उपयुक्त रहता ह । जब भावुकता की स्थिति म हो तो असमस्त अथवा छोटे समास वाले पदो का प्रयोग ठीक रहता है । साथ म वर्ग का पञ्चम वर्ण माधुर्य ला देता है । जैसे—

> अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
> रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।

अखण्ड पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघ
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधि ॥[1]

दुष्यन्त की इस उक्ति में शकुन्तला के रूप का वर्णन करते हुए उसके हार्दिक उल्लास का ध्वनन होता है जो कि पाठक के मानस में संवेदन के रूप में संक्रान्त हो जाता है एवं अपूर्व सौन्दर्य की कल्पित प्रतिमा उनकी अन्तर्दृष्टि के समक्ष उपस्थित हो जाती है। इसमें स्थान-स्थान पर मधुर व्यञ्जना का प्रयोग अधिक कोमल ध्वनियों का चयन न करना पुरुषत्व का भान कराते हैं।

चाटुओं में यह रचना अधिक तरल हो जाती है। उदाहरण के लिए—

अनेन कल्याणि मृणालकोमलं
व्रतेन गात्रं ग्लपयत्यकारणम् ।
प्रसादमाकाङ्क्षति यस्तवोत्सुकः
स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते ॥[2]

विक्रमोर्वशीय के इस पद्य में रानी औशीनरी की चापलूसी की गई है। परन्तु ये उद्‌गार क्योंकि नायक के सच्चे हृदय से नहीं निकले हैं, इसलिए इनमें बनावटी तरलता होना कि मानसिक स्थिति का बोध कराता है। परन्तु प्रेम का सच्चा उपालम्भ दूसरे शब्दों में है जिनमें भावावेग के कारण उखड़ती सी ध्वनियाँ हैं—

देव्या दत्त इति यदि व्यापारं व्रजसि मे शरीरेऽस्मिन् ।
प्रथमं कल्यानुमते चौरितमपि मे त्वया हृदयम् ॥[3]

यह प्रेमी और प्रेमिका की आमने सामने हुई बात है, इसमें पहली उक्ति की सी बनावटी चापलूसी नहीं है।

सारांश में उपर्युक्त विवेचन के आधार पर रीतियों का काव्यबिम्ब में योगदान सिद्ध हो जाता है।

वृत्ति

वृत्ति का अर्थ है वर्तन या व्यापार। काव्य रचना के प्रसङ्ग में इसका अर्थ होगा रसानुगुण वर्णयोजनात्मक व्यापार। रस के साथ भाव भी सम्मिलित है। पीछे गुणों और रीतियों के प्रसङ्ग में विशिष्ट प्रकार की वर्ण-योजना और

---

[1] शाक० २, १०

[2] विक्र० ३, १३

[3] वही ३, १७

पद-योजना की चर्चा हुई है। इस प्रकार रस-भावादि की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से प्रकृत गुण और रीति के अनुकूल वर्णों का विन्यास वृत्ति नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार वृत्तियाँ गुणों एवं रीतियों का घटक तत्त्व सिद्ध होती हैं। रीति में वर्ण-समुदायात्मक पद-रचना के स्वरूप पर दृष्टि रखी जाती है तो वृत्ति में उन पदों के घटक वर्णों के चयन पर। तत्त्व रस-भावादि का प्रकाशन रहता है। परन्तु आज के बौद्धिक सन्दर्भ में प्रसङ्ग में वृत्ति का क्षेत्र रस-भाव तक सीमित न रखकर आदि पद का नाम उठाते हुए विचार-वस्तु तक भी विस्तृत करना होगा। फलतः विवक्षित विषय के प्रतिपादन में समर्थ वर्ण-योजना ही वृत्ति के नाम से पुकारी जाती है।

वृत्तियों का सर्वप्रथम परिचय उद्भट के काव्यालङ्कारसार-संग्रह में मिलता है। अनुप्रास अलङ्कार के प्रसङ्ग में जिसमें अलंकारिक का दृष्टि से न रस की रचना न चमत्कार लाने के लिए अनुरूप वर्णों के चयन पर ही बल दिया गया है, इनका विवेचन हुआ है। आगे अनेक रुद्रट, मम्मट आदि ने भी इनकी चर्चा की और मम्मट आदि ने तो इन्हें रीतियों से अभिन्न भी स्वीकार कर लिया। *साहित्यसुधासिन्धुकार*[2] और *वक्रोक्तिचन्द्रिकाकार*[3] ने पुनः वृत्तियों और रीतियों का पृथक् परिगणन किया है और इन्हें भी चमत्कार का पृथक् माध्यम स्वीकार किया है।

उद्भट द्वारा गिनाई गई वृत्तियाँ तीन हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला।[4] इनमें नागरक सौन्दर्य के समान विशेष चयन से जिसमें वर्ण-विन्यास किया जाता है परन्तु विदग्धता रहती है ऐसी वृत्ति उपनागरिका होती है। कठोर और संयुक्त वर्णों से प्रचुर वृत्ति परुषा कहलाती है किन्तु जिसमें इन दोनों से अवशिष्ट वर्णों का प्रयोग होता है, वह कोमला कहलाती है और उसे ग्राम्या भी कहते हैं। इनमें उपनागरिका वैदर्भी से, परुषा गौडी से एवं कोमला पाञ्चाली से *अभिन्न समझी* जाती है।

---

१ द्र० टि०, २३३

२ मधुरा प्रौढा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तयः पञ्च। —सासुसि० ७ १७०
माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैर्वैदर्भी रीतिरिष्यते।
ओज प्रकाशकैर्गौडी पाञ्चाली तैस्तथापरैः। —वही, ६ १६२-४३

३ द्र० अ० टि० ६४

४ वृत्तयो रसाद्यभिव्यक्त्यनुगुणवर्णव्यवहारात्मिका प्रथममभिधीयन्ते। ताश्च त्रिस्र: परुषोपनागरिकाग्राम्याभेदात्। —काव्यालंकार० पृ० २१७

भोज एवं रुद्रट इन वृत्तियों की संख्या बढ़ा देते हैं। रुद्रट के अनुसार प्रौढ़ा और भद्रा ये दो वृत्तियाँ अधिक हैं। साहित्य सुधा-सिन्धुकार ने भी उन्हें मान्यता दी है। भोज देशविशेष से सम्बन्ध जोड़कर वृत्तियों की संख्या बारह तक बढ़ा देते हैं। उनमें किसी वर्ण या वर्ग विशेष के आधिक्य से प्रयोग के अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर नहीं है।

रुद्रट और विश्वनाथ देव ने उपनागरिका को मधुरा, और कोमला को ललिता नाम दिया है। परिभाषा यथापूर्व है। इन नवस्वीकृत वृत्तियों में प्रौढ़ा में य पर रेफ लगाकर क या त के साथ संयुक्त सकार का अधिक प्रयोग होता है। टवर्ग का परित्याग कर दिया जाता है।[2] भद्रा में इन वृत्तियों से शेष बचे वर्णों का अधिक प्रयोग होता है। जैसे टकार असंयुक्त रूप, वर्गों के द्वितीय अक्षर तकार के साथ।[3]

ध्यान देने की बात यह है कि इनका मुख्य प्रयोजन काव्य में श्रव्यता का आधान करना है। यही अनुप्रास का मुख्य कार्य होता है। अतएव रसानुकूल वर्ण-योजना स्थायी प्रभाव उत्पन्न करती है। प्रतिकूल वर्ण योजना रस-भंग का हेतु है।[4] इनमें माधुर्यगुण-सम्पन्न होने से मधुरा अथवा उपनागरिका शृंगार, करुण और शान्त रस में उपयुक्त रहता है। पाञ्चाली शृंगारादि के अतिरिक्त वीर में भी अपना प्रभाव दिखाती है। रौद्र वीभत्स और भयानक में प्रधान रूप से परुषा प्रभावशालिनी सिद्ध होती है। प्रौढ़ा का अतिशय मात्रा कर्णकटु सा बन जाता है। जैसे—

मात्सर्यमुत्साय विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु[5]

यहाँ रेफ और य का संयोग बोलने में और सुनने में दोनों ही प्रकार से काठिन्य उत्पन्न करता है। थोड़ी मात्रा में वीर वीभत्स आदि में उपयुक्त हो सकता है। भद्रा का प्रयोग भी उन्हीं रसों में अनुकूल रहेगा। रेफ का वर्ण के

---

१ द्र० टि०, १३६ का० २, १९

२ कार्णाटी कौन्तली कौङ्की कौङ्कणा वाणवासिका।
द्राविडी माधुरा मात्सी मागधी ताम्रलिप्तिका। —स०, २ ८८

३ अन्त्यटवर्गान् मुक्त्वा वर्ग्यवर्णा उपरि रेफ-संयुक्ता।
वर्ग-युक्तश्च तकारः प्रौढायां वस्त्ययुक्तश्च॥
—सासुसि० ७, १७१ १७२

४ परिशिष्टा भद्रायां पृथगथवा अन्यसंयुक्ता। —वही, ७ ५३०

५ का० प्र० का०, पृ० ३३१

नीचे प्रयोग परुषा में ही उपयुक्त हो सकता है, शेष मे नहीं। जैसे चक्री चक्रारपंक्ति[1] यहाँ और 'शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्'[2] आदि पदों में उत्पन्न वाक्‌श्य अद्भुत और बीभत्स की व्यञ्जना में सहायक हो सकता है शृङ्गारादि में नहीं। इसलिए 'हरिणा च हृष्टा च बभाण भैमी'[3] शृङ्गार-प्रसङ्ग में दुःश्रवता और प्रतिकूलवर्णता के दोष से ग्रस्त है।

वृत्ति और काव्यबिम्ब

वृत्तियों के स्वरूप के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उचित रीति से प्रयुक्त ये वृत्तियाँ नाद-सौन्दर्य के उदय से हृदय को प्रभावित करती हैं। रस और भाव से सम्बद्ध होने का अर्थ ही यह है कि उनसे अनुकूल वर्णयोजना उनकी अभिव्यक्ति में सहायक होगी। मधुर वर्ण सानुस्वार या अनुनासिक वर्णों का या वर्ग के पञ्चम वर्ण का अपने सवर्ण प्रथम तृतीय वर्ग के साथ संयोग कोमल ध्वनि होने से शृङ्गारादि कोमल रसों की अभिव्यक्ति माधुर्य गुण की सृष्टि करके करेगा। रौद्रादि में दुःश्रव और कर्णकटु ध्वनियाँ उग्रता को प्रकट करने में अधिक समर्थ हैं। उनमें ओज की सृष्टि होती है। काव्य की श्रव्यता श्रव्य और दृश्य दोनों काव्यों में अपेक्षित है क्योंकि दोनों का उद्देश्य रसबोध है। इसलिए यद्यपि एवं यदपि इत्यादि क्रियाओं या उनमें बने शब्दों का प्रयोग नाट्यादि में वर्जित ही किया है।[4] कान्तासम्मित शब्द प्रधान होने से आरम्भ में नादबिम्ब और बाद में शब्द बिम्ब बनना आवश्यक है। इसलिए इन वृत्तियों की उपयोगिता बिम्ब-निर्माण में स्पष्ट हो जाती है और इसी प्रयोजन को दृष्टि में रखते हुए आचार्यों ने इनका विधान किया है।

गद्य-काव्य और बिम्ब

इसी प्रसङ्ग में गद्य काव्य में बिम्ब की दृष्टि से इन वृत्तियों की उपयोगिता पर विचार अनुपयुक्त न होगा। यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने समासप्राचुर्य

---

१ वही, पृ० ५८६

२ शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्व्रणिभिरपघनैर्घर्घर-व्यक्तघोषान्
दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन्यः ॥
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघन-घृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते—
र्दत्तार्घाः सिद्धसङ्घैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम् ॥
—वही, ७, ३०२ (उ०)

३ नै० च० ३ ६७

४ नाशा०, १०, १२३ द्र० टि० ७, २३

एक लघु वर्ण का प्रयोग द्रुतविलम्बित गति का अनुकरण करता है। गुरु या दीर्घबहुल पदों में मध्यविलम्बित गति है। ये लम्बे लम्बे कदम रखने का अनुकरण है। सबसे अन्तिम सन्दर्भ में विलम्बित गति है। वातावरण में जो स्थिति होती है उसी का अनुकरण है। उत्कलिकाप्राय गद्य में आगाह अवगाह अच्छा लगता है।

जैसे— तत्र वाग्भटपटलान्तरङ्गतुरङ्गकुञ्जर-मकर भीषण-कटक जनार्दनमथनमदगायमाण-समुदद्गण्डभुजदण्ड।

इसमें लहरों का उतार चढ़ाव भी गजता है।

वृत्तगन्धि गद्य—विलासान्तरारमित्र-मण वार-पटलवलयमुखरित, परिहृत रण वार-भुला टिचय रमणवक्षाविविक्षिप्तरमणारमणाय शयनीयशयन मन्दिर गनिकरनाम्य स्पृशन्ति रजना।[2] इस वाक्यांश में देखा जा सकता है। क्योंकि इसका विलासान्तरारमित्र इतना अंश स्रग्धरा छन्द के आरम्भिक अंश का निर्माण करता है। कारमिश्रणतकार इतना अंश अनुष्टप का प्रथम चरण बनाता है। वलयमुखरित इतना अंश स्रग्धरा के आदि के सात अक्षरों के पश्चात के सप्तक का निर्माण करता है। वक्षाविवक्षुरमणा यह अंश अनुष्टप के नविपुला भेद का प्रथम चरण आत्मसात किये है तथा वसन्ततिलका के आदि के आठ अक्षर लिए है। रमणा रमणाय नायनाय यह जो आया छन्द का चतुर्थ चरण बनता है तो शयन-मन्दिर गनिकर द्वादशाक्षराति के छन्द के आरम्भ का भाग बनता है। टणत्कारतुलाकोटि इतना अनुष्टुप् के प्रथमचरण के आदि अंश का और तुलाकोटिचय यह अंश अनुष्टुप के द्वितीय चरण के आरम्भिक छः अक्षरों का भाग बनता है। चूर्णक का उदाहरण—

अपगतमले हि मनसि स्फटिक-मणाविव रजनिकरगभस्तया विशन्ति सुखनापदेशगणा। गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य।[3]

इस अंश में अपगतमले स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तया, गुरुवचनम श्रवणस्थित ये छोटे छोटे समास हैं।

---

१ दशकुमारचरित पृ० ८

२ शिव प्रसाद भारद्वाज कृत कथा— व्यास स्वरमंगला (मार्च १६७६ अन्क) पृ० ४०

३ का० पृ० १६६

मुक्तक का उदाहरण 'क्रमेण च कृत मे" इत्यादि वाक्य है।[1]

यद्यपि बाण की ख्याति पाञ्चाली रीति के लिए है परन्तु आख्यायिका के नाते हर्षचरित में गौडी रीति भी है। वैदर्भी के प्रयोगों की भी कमी नहीं है। जैसे यही अन्तिम सन्दर्भ माधुर्य और प्रसाद दोनों से युक्त है। प्राचीनों के अनुसार श्लेषगुण भी है।

इन गद्यकाव्यों में सभी वृत्तियां मिलती हैं।

इनमें मधुरावृत्ति का उदाहरण—

तस्य मुख-लावण्य-बिन्दुरिन्दुः। तस्य च चक्षुषो विक्षेपाः कुमुदकुवलय-कमलाकराः। तस्य च अधरमणेर्दीधितया विकसित बन्धूक-वनराजयः। तस्य च *अङ्गस्य परभागस्करणम् अनङ्गः।*[2]

इत्यादि गद्यांश हैं।

परुषा का स्थल—उत्तरोत्तर-तारतारतरैक्षतैरतातिमीरयन्त्यपि तरुण-तित्तिरी न तरोर् वतरति।[3]

यह वाक्य है।

कोमला का निदर्शन—ग्रामे ग्रामे सरसकदली-दलदोलनाद्भूतवातवीजितत-रनित-वीचिमालालालितघटलग्नफरीतरङ्गितानि पल्वलानि कलममसीमिश्रम-शनम् इति सवमपि मानवचउद्धाना दानवाना परिपन्थिना मनामार्थि।[4]

इन पंक्तियों को लिया जा सकता है। अथवा—

तामा च दत्तप्रसादानन्तरमवनितलाश्लिष्टललाटरेखया शिरः प्रणामनाभ्य-र्चित मह शुकनासेनोत्थाय हर्षविशेष-निर्भरेण त्वयमाणा मनसा पवनचलित-नीलकुवलयदल-लीलाविडम्बकेनदक्षिणेनाक्ष्णा परिस्फुरताऽभिनन्द्यमानस्तत्काल-सेवामभुचितेन विरलविरलेन परिजनेनानुगम्यमानः पुरः सर्पिणीनामनिल-लोलस्थूलशिखानां प्रदीपिकानामालोकेन समुत्सार्यमाण-कक्षान्तर-तिमिर-संहति-रन्तःपुरमयासीत्।[5]

महाकवि बाण की इन पंक्तियों में उसका उज्ज्वल रूप मिलता है।

---

१ द्र० टि०, १७१

२ हर्ष० १, पृ० ७४-७५

३ गिरावि०, १, पृ० १४९-५०

४ न्याम पृ० ४२

५ का०, पृ० १३५-३६

प्रौढावृत्ति—विबुधाचार्यकार्याकार्य-विचार्य साहित्यैरमायै परिवृत—मखरा-चरचितप्रणीरमणीमौमारगभारभागवतात धनदर्पकन्दर्प-मौदयमोदयहृदयनिरव-द्यस्या नूना प्रभूव।[1]

दण्डी के इस गद्यांश में वृत्ती सफलता से प्रयुक्त हुई है। इसी प्रकार भद्रा वृत्ति का अदृष्टकवाटपटटसट घट्टम्फटितकवाटपटप्टरीरपटीन पदान्तिन इव रक्ताशक्तस्य मुखम आच्छाद्य प्रददती।[2] इस वाक्यों में देखा जा सकता है।

इन सभी उद्धृत गद्यांशों में रसानुकूल वर्णयोजना के द्वारा प्रसङ्गानुकूल रचना में भावानुरूप और अर्थ का सामञ्जस्य स्थापित करके वक्ता रसादि का सृजन किया गया है। ये इस सत्य के प्रमाण हैं कि पूर्व चर्चित रीतियों व वृत्तियों, दोषाभाव व गुणों के द्वारा सफल काव्यबिम्ब केवल पद्य में ही नहीं गद्य में भी होते हैं।

पाक—विश्वविश्रुत चमत्कार-साधना में पाक भी एक है। पाक क्या है, इस विषय में सर्वप्रथम वामन ने विचार किया है। जब तक कवि का कवित्व परिपक्व नहीं होता है तब तक उसका मन दोलायमान रहता है कि किस शब्द को रखूं किसको न रखूं। पर जब यह अनिर्णीतावस्था दूर हो जाती है और कवि स्थिरता से शब्द प्रयोग करने लगता है तो उसकी वाणी सिद्ध हो जाती है।[3] सम्भवतः भवभूति ने अपने विषय में इसी आशय से कहा था—

ये ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते।[4]

पाक के स्वरूप पर वस्तुतः पर्याप्त विवाद रहा है। राजशेखर ने उस पर अच्छा प्रकाश डाला है। आचार्य मङ्गल के अनुसार सुप और तिङ् अर्थात्

१ द० कु० च० १ पृ० ५

२ हच० पृ० १६

३ आवापोद्धरणे तावद् यावद् दोलायते मन।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥ —वामी०, ६५
आग्रह-परिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायस्तस्मात पदाना-परिवृत्तिवैमुख्य पाक इति वामनीया। तदाहु —
यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्ति सहिष्णुताम्।
त शब्दन्यास-निष्णाता शब्दपाक प्रचक्षते॥ —वही

४ उच० प्रस्ता०, १ २

सुबन्त और तिङन्त शब्दों के श्रुत्यनुकूल का ज्ञान ही वस्तुतः पाक है।[1] इस पर आपत्ति की गई कि यह तो शब्दसौष्ठवमात्र है। दूसरे आचार्य कहते हैं कि पदयोजना में स्थिरता ही पाक है।—उचित शब्दों के ग्रहण और अनुचित के परित्याग के द्वारा भी पदप्रयोग में स्थिरता आ जाती है। इस प्रकार जिस अवस्था में काव्य में प्रयुक्त पद पर्याय-प्रयोग में समर्थ न रहे वही स्थिति पाक कहलाती है। तात्पर्य यह है कि कवि की रचना एक महल की भांति है। उसमें लगी एक ईंट का निकाल दें तो उसकी स्थानपूर्ति सम्भव नहीं होगी। इसी प्रकार एक परिनिष्ठित काव्य में पदयोजना इस प्रकार होती है कि उसमें से एक पद को हटा कर दूसरा नहीं रखा जा सकता। क्योंकि उससे रखने से पहले पद वाला चमत्कार न आ सकेगा। उदाहरण के लिए—

तांञ्चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी—
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।[2]

इस पद्य में प्रत्येक पद सुनिश्चित योजना के अनुसार भाव-गर्भित है।[3] समानार्थक अन्य पदों से परिवर्तित होने पर वह गम्भीरता नहीं रह जायेगी। इसीलिए पाक की एक परिभाषा में शब्दों की पर्याय-परिवृत्त्यसहता उसका प्रधान गुण मानी है। इसके विरुद्ध राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी का विचार है कि यह आवश्यक नहीं, प्रत्येक महाकवि एक आशय की अभिव्यक्ति के लिए समान शब्द का ही प्रयोग करे। इसलिए उनकी दृष्टि में रस-परिपाक के उपयुक्त शब्द और अर्थ का ग्रथन जिसमें गुण, अलङ्कार, रीति और उक्ति-प्रकार सभी का उचित निर्वाह हो, उसमें चमत्कारी काव्यबन्ध ही पाक होता है।[4] अवन्तिसुन्दरी ने इस प्रसङ्ग में किसी आचार्य का मत उद्धृत किया है कि रसादि-सामग्री रहने पर भी बिना पाक के काव्य का चमत्कार आस्वादित

---

१ परिणाम —सुपां तिङां च व्युत्पत्ति इति मङ्गलः।
सौशब्द्यमेतत्। पद-निवेशनिष्कम्पता इत्याचार्याः। —काव्यमी० पृ० ६४

२ मेघ०, १, १०

३ द्र० अ०, ५, पृ० १६० ६१

४ तस्माद् रसोचित-शब्दार्थ-सूक्ति-निबन्धनः पाकः। यदाह
गुणालङ्काररीत्युक्ति शब्दार्थग्रथनक्रमः।
स्वदते सुधियां येन वाक्य (काव्य) पाकः स मां प्रति॥
—काव्यमी०, पृ० ६५

नहीं होता।[1] राजशेखर के अनुसार पाक अभिधावृत्ति का विषय है और अभ्यास करने से कवि की रचना में वह कालांतर में आ ही जाता है।[2]

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि पाक काव्य का आंतरिक धर्म नहीं है। प्रतिभासिद्ध कवि की कृति में वह स्वभाव से रहता है। अभ्यास करने से अन्य कवियों की रचना में भी आ जाता है।

भोज ने सम्भवतः पाक को ही प्रौढि कहा है।[3] अग्निपुराण भी (शब्द और अर्थ के योग की) उत्कृष्ट परिणाम को पाक कहता है।[4] साहित्यसुधासिन्धुकार के अनुसार काव्य गुणों की किसी रचना में स्पष्टता के साथ पूर्ण रूप से स्थिति पाक नाम से पुकारी जाती है। विनयवर्णी ने चारों प्रकार के अर्थों की गम्भीरता की स्थिति को पाक कहा है। उनके अनुसार जैसे बिना पाक के दिव्य भोज पदार्थ भी स्वादु नहीं होते इसी प्रकार पाक के बिना काव्यकृति भी चमत्कारक नहीं होती।

विश्वेश्वर के अनुसार भी शब्दों की आनन्ददायक परिपक्व स्थिति पाक नाम से पुकारी जाती है। इस प्रकार सभी आचार्यों के मत इसी बात की पुष्टि करते हैं कि पद योजना की परिनिष्ठित स्थिति है पाक।[5]

पाकों का तारतम्य—पाकों की संख्या और तारतम्य के विषय में भी इन आचार्यों में एकमत्य नहीं है। राजशेखर के अनुसार अभ्यासी कवि की रचना में यह पाक नौ प्रकार से आता है—१ पिचुमन्द पाक। पिचुमन्द नीम को

---

१ सति वक्तरि सत्यर्थे शब्द सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥ —वही, पृ० ६६

२ परपाकाऽभिधाविषयस्तत्सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहाराङ्गम्। —वही पृ० ६७

३ सक० १ ७७

४ उच्चैः परिणतिः कापि पाक इत्यभिधीयते। —अपु०, ३४७ २२

५ गुणस्फुटत्वसाकल्य काव्यपाकं प्रचक्षते॥
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते॥ —सासुसि० पृ० ३४५

६ चतुर्विधानामर्थानां गाम्भीर्यं पाक उच्यते।
अपूर्वं भोज्यमप्यत्र नि पाकं नैव रोचते।
अपाकं काव्य-वन्धोऽपि तत पाको निरूप्यते॥ —शृच०, ४-५

७ पाकं वाचां परीपाकमाहूरास्वादमेदुरम्। —च० च०, ४, ४४

करते हैं। वह कड़वा होता है। इस प्रकार रचना का आरम्भ से अन्त तक अस्वादु रहता पिचुमन्द तुल्य पाक कहा जाता है। २ बदर पाक—बेर जैसे देखने में अच्छा लगता है पर थोड़ा खाने के बाद अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार जो रचना आरम्भ में न बहुत चमत्कारी हो न सर्वथा चमत्कारहीन हो परन्तु पर्यवसान में आनन्दप्रद प्रतीत न हो, वह बदर पाक कहा जाता है। ३ मृद्वीका पाक-जो आरम्भ में फीकी पर अन्त में स्वादिष्ठ हो। जैसे किसमिस वह मृद्वीका पाक कहलाता है। ४ आरम्भ में कुछ स्वादिष्ठ हो और पर्यवसान में नीरस हो, उसे वार्ताकपाक कहते हैं। जैसे बैंगन, ५ जो आदि और अन्त में मध्यम श्रेणी का स्वाद देता हो, वह तिन्तिडी पाक कहलाता है। तिन्तिडी इमली को कहते हैं। वह न अधिक स्वादिष्ठ होती है न अति विरस ६ सहकारपाक-जैसे आम आरम्भ में स्वादु नहीं लगता पर अन्त में उसका स्वाद देर तक बना रहता है। इसी प्रकार का चमत्कारी पाक सहकार पाक कहा जाता है, ७ क्रमुक पाक—जो आरम्भ में स्वादिष्ठ लगे पर बाद में नीरस, जैसे सुपारी, ८ त्रपुषपाक-त्रपुष ककड़ी को कहते हैं। जैसे वह आरम्भ में तो बहुत स्वादिष्ठ लगती है पर बाद में स्वाद कुछ फीका पड़ जाता है इसी प्रकार की रचना-प्रकार त्रपुष पाक कहा जाता है। ९ नालिकेर पाक—जो आदि में भी अन्त में भी नारियल की गिरी के समान आनन्ददायक हो वह नालिकेर पाक कहा जाता है। इनके अतिरिक्त एक कपित्थ पाक भी होता है। कपित्थ कैथ के फल को कहते हैं जो कि सर्वथा विरस होता है। वह सर्वथा त्याज्य है। राजशेखर के अनुसार इन नौ पाकों की तिकड़ी है। जैसे पिचुमन्द, बदर, मृद्वीका यह एक त्रिक है। वार्ताक, तिन्तिडीक और सहकार दूसरी तिकड़ी है। क्रमुक, त्रपुष और नालिकेरपाक यह तीसरी तिकड़ी है। इनमें प्रत्येक तिकड़ी के पहले दो सब वर्जनीय हैं। क्योंकि वे सर्वथा रसहीन होते हैं।

राजशेखर ने अपने विचार में सबसे उत्तम नालिकेलपाक को ठहराया है।[2] परन्तु परम्परा में सर्वोत्तम मृद्वीका पाक होता है जिसमें सब सार ही सार होता है। न उसे छीलना होता है, न चबाना। न उसमें गुठली होती है न छिलका। आम में छिलका भी होता है और गुठली भी। नारियल का छिलका बहुत कठोर होता है। उसे साफ करने और तोड़ने पर बड़ा श्रम करना पड़ता है। इसके पश्चात तोड़ने पर उसमें से मीठी गिरी निकलती है। इस प्रकार जिस काव्य को समझने में बहुत श्रम करना पड़े, तभी उसके रस का बोध हो वही

१ काव्यमी०, पृ० ६६-६७

२ आद्यन्तयोः स्वादु नालिकेरपाकम्। —वही, पृ० ६७

नारिकेरपाक होता है। तभी भारवि की कविता को नारिकेलफलसम्मित कहा है।[2] सज्जनों और दुर्जनों की तुलना क्रमशः नारियल और बदर से की गई है। नारियल ऊपर से नीरस और भीतर से सरस होता है पर बेर देखने में सुन्दर पर चखने में नीरस प्रतीत होता है।[3] कालिदास के काव्य में मृद्वीका पाक माना गया है। जैसे किशमिश मुँह में रखते ही अपना रस छोड़ने लगती है इसी प्रकार उनका काव्य सुनते ही हृदय में पैठ कर उसे रसाप्लावित करने लगता है। वाल्मीकि व कालिदास के काव्यों में यही मृद्वीका पाक मिलता है।

पाक और बिम्ब—चमत्कार का नाम ही बिम्ब है यह हम स्थापित कर चुके हैं। पाक भी काव्य की आस्वादप्रद अवस्था का नाम है। फलतः पाक में चमत्कार होने पर बिम्ब स्वयं बन जाता है। इसलिए विश्वेश्वर पाण्डेय ने पाक को चमत्कार का स्थान स्वीकार किया है।

भोज ने पाकों की निश्चित संख्या न गिना कर नारिकेरपाक और मृद्वीका-पाक दो शब्द ही गिनाये हैं। संभव है, उनकी दृष्टि में सहकार पाक आदि भी रहे हों जिनको समाहार आदि से कह दिया है। उनके अनुसार स्वच्छन्द कोमल या कठोर पदों से परिवर्तन करके ग्राम्य आदि दोष ग्रस्त पदों को हटाकर उचित और निर्दोष पदावली का प्रयोग ही पाक होता है। वे नारिकेर, मृद्वीका आदि हैं।[4] रत्नेश्वर ने अपने स्पष्टीकरण में लिखा है कि जैसे नारियल त्वचा से कठिन किन्तु अन्दर से रस एवं मधुर गिरी से पूर्ण होता है ऐसा ही अन्तः सरस किन्तु ऊपर से कठिन काव्यबन्ध नारिकेरपाक कहा जाता है। संयोग और दोष स्वरों के कारण कुछ कठोरता आ जाना मृद्वीकापाक कहलाता है।[5] अग्निपुराण में मृद्वीका या द्राक्षा, नारिकेल, अम्बु ये तीन पाक गिनाते हुए

---

१ आरम्भ्य शब्दमथस्य द्राकप्रतीतिश्यता नहि।
मनालिकेरपाक स्यादन्तर्गूढरसोदय ॥ —सूच०, ८, ७

२ नालिकेर-फल-सम्मितं वचो भारवेः सपदि तद् विभज्यते। सवड्क्पा
—ग० श्लो० ६

३ नालिकेरफलाकारा दृश्यन्तेऽपि हि सज्जनाः।
अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः ॥ —सुभा० पृ० ४७ श्लो० २४

४ सर० १ ७७

५ रत्न० पृ७ ७४

भी लिखा चतुर्विध है।[1] अम्बु सभवत आम्रपाक हो भूल मे छप गया हो। यहा नारिकेलाम्बु का अर्थ 'नारियल का पानी' ले तो पाक के दो ही भेद रह जाते है।

साहित्य-सुधा सिन्धुकार ने आम्र और वृन्ताक दो गिनाये है।[2] इनमे आम्र ग्राम्य और वृन्ताक त्याज्य है। विनयवर्णी ने द्राक्षा पाक और नारिकेरपाक ये दो ही गिनाये है।[3] विश्वेश्वर ने खर और मृदु ये दो पाक माने है उनमें खर नालिकेर का और मृदु द्राक्षापाक का समानान्तर है।[4] द्राक्षापाक का उदाहरण कालिदास का निम्न पद्य है—

> त्वामालिख्य प्रणय-कुपिता धातुरागै शिलाया—
> मात्मान ते चरण पतित यावदिच्छामि कर्तुम्।
> अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
> क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गम नौ कृतान्त ॥[5]

यहाँ पद योजना आपातत नीरस प्रतीत होती है। परन्तु पर्यालोचन करने पर अर्थ के सहज ही हृदयङ्गम हो जाने से विवक्षित भाव का बिम्ब बन जाता है। नारिकेलपाक का सुन्दर उदाहरण भारवि का निम्न पद्य है—

---

१ मृद्वीका नारिकेलाम्बु-पाक-भेदाच्चतुर्विध।
आद्यावन्त च सौरस्य मृद्वीकापाक एव स। —अपु०, ३४६, २२-२३

२ गुणस्फुटत्व-साकल्य काव्यपाक प्रचक्षते।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते ॥
सुप्तिङ्सस्तार-सार यत् क्लिष्ट-वस्तु-गुण भवेत्।
काव्य वृन्ताकपाक स्याज्जुगुप्स्य न नराः स्तत ॥ —सासुसि०, पृ० ३१५

३ द्राक्षापाको नालिकेरपाकोऽपि द्विविधो मत।
आलम्ब्य शब्दमर्थस्य द्राक्प्रतीतिर्यतोऽन्ततः ॥
स द्राक्षापाक इत्युक्तो बहिरन्त स्फुरद्रस।
आलम्ब्य शब्दमर्थस्य द्राक् प्रतीतिर्यतो नहि।
स नालिकेरपाक स्यादन्तर्गूढरसोदय ॥ —च०, ८, ५-७

४ साऽय मृदु खरश्चेति समासेन द्विधा भवेत्।
अत्र द्राक्षापाक इवाक्लेशेन समास्वाददायी शब्द-परिणामो मृदुपाक इत्युच्यते। —च० च० पृ० १०३
अत्र खरपाक इव विमर्शक्लेशेन विलम्ब्यास्वाददायी शब्दपरिणाम खरपाक इत्युच्यते। —वही, पृ० १०४

५ मेदू० २, ४६

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः ।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन् मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम्[1] ॥

यहाँ श्लेष अलङ्कार के कारण वाच्यार्थ मूल में कठोर है पर पर्यवसान में अत्यन्त गहरा प्रभाव छोड़ता है। भाव के स्पष्ट हो जाने पर दोनों अर्थों के समानान्तर दो बिम्ब बनते हैं जिन का सम्मिलित रूप मिश्र बिम्ब होता है।
शय्या—विश्वेश्वर ने चमत्कार का छठा साधन शय्या को बताया है। परन्तु उसकी शय्या की परिभाषा पाक से सर्वथा मिलती है। अतः दोनों में क्या अन्तर है यह स्पष्ट नहीं है। क्योंकि शब्द परिवृत्त्यसहत्व पाक का भी लक्षण है। शय्या के लिये भी कहा है—

शय्या पदानामन्योन्यमैत्री विनिमयासहा ।
साहित्यस्य पराकाष्ठा शय्या देशविभेदतः ।
लोके प्रसिद्धिमित्येषा प्राज्ञशय्येति कीर्तिता[2]

यह परिभाषा ही अपने आप में अशक्त है। तीन बार शय्या शब्द का प्रयोग जो कि साभिप्राय नहीं है यह सूचित करता है कि आचार्य ने अपने किसी पूर्ववर्ती से यह धारणा ज्यों की त्यों ले ली पर उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ।

कादम्बरीकार ने कथा के प्रसङ्ग में शय्या शब्द का प्रयोग किया है[3] जिस का अर्थ टीकाकार भानुचन्द्र ने अनेकार्थ-कोष का हवाला देते हुए शब्द-गुम्फ किया है[4]। अतः शय्या और पाक में अन्तर यही प्रतीत होता है कि जहाँ पाक में पद अर्थ के विचार में परिवृत्ति नहीं सहते वहाँ शय्या में ध्वनि की दृष्टि से पदों की समानता रहती है। कादम्बरी में रसेन शय्या स्वयमभ्युपागता[5] का अर्थ शृङ्गारादि रस-प्रवणता से पदों का अप्रयत्न-साध्य होकर स्वतः स्फूर्त हो जाना ही प्रतीत होता है।

---

१ किरा० १, ३१
२ च० च०, पृ० १०४
३ रसेन शय्या स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ।
—का०, प्रस्ता० ८
४ शय्या तल्प शब्द-गुम्फे इत्यनेकार्थ । पृ० ४
५ शय्यत्याहुः पदार्थानां घटनायां परस्परम् ।
स प्रकान्तेन कस्मिंश्चित प्रकान्तेन कुत्रचित ॥ —सर० २, ५४
पदार्थानां प्रकृताप्रकृतवस्तूनाम् तच्च योजनीय शब्दार्थ-भेदेन द्विविधम् ।
—रद० १८३

भोज ने भी शय्या का निरूपण किया है किन्तु उन के विवेचन से इस सम्बन्ध में उनकी धारणा सर्वथा भिन्न प्रतीत होती है। क्योंकि उनकी दृष्टि में शय्या का सम्बन्ध केवल पद से न होकर अर्थ में भी है। वे अर्थ प्रसंग की बातों को एकत्र गूंथ देना ही शय्या मानते हैं।

विश्वेश्वर ने शय्या का जो उदाहरण दिया है उसमें ध्वनियों का साम्य ही मिलता है।

नि साणेसु घण घण घणमिति ध्वानानुसन्धायिषु ।[1]

इस पंक्ति में "आणे" 'अण' 'आना" अनु" इन ध्वनियों की समानता में नाद-सौन्दर्य अथवा ध्वनिचित्र की सृष्टि की गई है। इसलिये विश्वेश्वर का मन्तव्य यही लगता है कि वाक्य में प्रयुक्त पदों में ध्वनि-साम्य हो जो कि श्रुतिसुखद होने के साथ-साथ ध्वनिबिम्ब का निर्माण करे। विजयवर्णी ने भी पदों का आनुगुण्य या अन्योन्य मैत्री को ही शय्या कहा है[2]। फलत विश्वेश्वर और विजयवर्णी के विचार इस सम्बन्ध में समान ही हैं। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि वर्ण-समुदायात्मक पद परस्पर मिलते जुलते हों। यह मिलना-जुलना ध्वनि की समानता ही होगी जिसमें पृथक् होने पर भी पद समान या अभिन्न प्रतीत हों। जैसे—

मैना मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे ।[3]

यहां "म" और "न" ध्वनियों की समानक्रम में आवृत्ति श्रुतिसुखद प्रतीत होती है क्योंकि वृत्ति अनुप्रास और यमक का उपयोग इस शय्या के निर्माण में होता है जो कि नादबिम्ब की सृष्टि करते हैं। भवभूति को इस कार्य में विशेष सफलता मिली है। जैसे—

> **अय हि शिशुरेकक समरभारभूरिस्फुर-**
> **त्कराल-करकन्दली-कलितशस्त्रजालैर्बल ।**
> **क्वणत्कनक-किङ्किणी झण झणायित स्यन्दनै —**
> **रमन्दमददुर्दिनैर्द्विरदवारिदैरावृत ॥**[4]

---

१ च० च० ४५१

२ अशय्या कामकेन्त्री वा कृतिर्नोके न शोभते ।
तततस्तां बुधैर्वाच्य शय्यालक्षणमुत्तमम् ॥
पदानामानुगुण्य वान्योन्यमित्रत्वमुच्यते ।
यत् सा शय्या कलाशास्त्र-निपुणैर्विदुषां वरै ॥—श्रृ०च० ८,-२

३ कुम० १, १८

४ उ० च० ५,५

इसमें ध्वनियों का परस्पर साम्य अच्छा प्रभावशाली सिद्ध हुआ है और रथों के दौड़ने का दृश्य मूर्त सा हो जाता है।

यह विवेचन स्पष्ट करता है कि चमत्कार के साधन के रूप में गिनाये गये इन तत्वों में आचार्य ने मनोभाव, अर्थ और उसके वाचक शब्द तीनों को समान रूप में महत्त्व प्रदान किया है। शब्द और अर्थ दोनों को काव्य का शरीर मानने का तात्पर्य यही है कि श्रेष्ठ काव्य में चिन्तन से प्रतीत होने वाले चमत्कार के साथ ध्वनिसाम्य कृत चमत्कार भी अपेक्षित है। किसी कवि ने सत्कवि की उक्ति में यह अपेक्षा की है कि वह श्रवण मात्र से भी हृदय लगे—

> अविदित-गुणाऽपि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
> अनधिगत-परिमलाऽपि हि हरति दृशं मालती-माला ॥[1]

फ्रांसीसी लेखक मलार्मे ने भी काव्य के इस गुण पर बल दिया है और वह इसे Oral enchantment का नाम देता है।[2]

वास्तव में शब्द और अर्थ का सामंजस्य ही अर्थ की प्रत्यक्षकल्प बनाने में सहायक होता है। यही कारण है कि गति, गुण एवं वृत्त का रसों के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया। पाक और शय्या शब्दों की मान्यता इसी धारणा की पुष्टि करता है। शब्द अर्थ का भावानुरूप सामंजस्य न हो तो वह भाषाबद्ध गुम्फना मात्र[3] है। काव्य बिम्ब तभी सशक्त होता है जब ये काव्य के शरीर घटक तत्त्व कन्धे से कन्धा मिला कर एक ही प्रयोजन को सिद्ध करें। जैसे विजया के निम्न पद्य में प्रत्यक्ष है—

> विलास-मसृणोल्लसन्मुसललोलदोः कन्दली—
> परस्पर-परिस्खलद्वलय निःस्वनोद्बन्धुराः।
> लसन्ति कलहुङ्कृति प्रसभ-कम्पितोरः स्थल—
> त्रुटद्गमकसङ्कुलाः कलमकण्डिनी गीतयः ॥[4]

---

१ साद० पृ० ३३०

२ काम० पृ० ८४

३ काव्ये शब्दार्थयोः सम्यग् रचना गुम्फना स्मृता।

—सर० २,२३५

४ पा० वी० काणे—History of Sanskrit Poeticsti Introducton of Sahitya darpana p 131 —सर० पृ० ६०२

अष्टम परिच्छेद

शब्दालङ्कार एवं काव्य-बिम्ब

काव्य के स्वरूप-घटक तत्त्व

काव्य-शास्त्रियों में कुछ शब्द और अर्थ दोनों को तो कुछ शब्द को ही काव्य का स्वरूप-घटक तत्त्व मानते रहे हैं। इनमें भामह,[1] वामन,[2] रुद्रट,[3] कुन्तक,[4] आनन्दवर्धन,[5] मम्मट,[6] विद्याधर[7] आदि सभी शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर स्वीकार करते आये हैं। भोज यद्यपि बहुत से विषयों में दण्डी का अनुसरण करते हैं तथापि काव्यशरीर के विषय में वे भी शब्दार्थवादी हैं।[8] दण्डी[9] और जगन्नाथ[10] केवल ऐसे शब्द को जो कि अभीष्ट अर्थ का वाचक हो,

---

१ शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। — भामा०, १, १६

२ काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोश्शब्दार्थयोर्वर्तते भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनो गृह्यते। —का० सू० वृ०, १, १, १

३ ननु शब्दार्थौ काव्यम्। —रु० का०, २, १

४ शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ —वक्रो० १, ७

५ शब्दार्थ-शरीरं तावत् काव्यम्। —ध्वन्या०, पृ० १६
तथा—शब्दार्थ-शासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते। —वही १, ७

६ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।—का० प्र० ना०, १,४

७ ध्वनिप्रधानं काव्यं तु कान्तासम्मितमीरितम्।
शब्दार्थौ गुणतां नीत्वा व्यञ्जनप्रवणं यतः॥ —एका०, १, ६

८ अदोषं गुणवत् ... एतेन काव्यलक्षणमपि स्टाभितम्।
यद्यपि काव्यशब्दो दोषाभावादिविशिष्टावेव शब्दार्थौ ब्रूते तथापि लक्षणया शब्दार्थमात्रे प्रयुक्तः। — रद० (सर०) पृ० ३

९ शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। —काद०, १, १०

१० रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। —रस० १

काव्य स्वीकार करते हैं। अग्निपुराण भी शब्द को ही काव्य स्वीकार करता है। विश्वनाथ कविराज ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है।[2] यद्यपि शब्दार्थ-अभेदवादी वैयाकरणों की दृष्टि में वाक्य में पदसन्दर्भ के साथ अर्थ के भी अन्तर्भुक्त होने से विश्वनाथ स्पष्ट ही शब्दार्थ को काव्य मानने वाला सिद्ध होता है तथापि कुछ विद्वान उसको शब्दार्थवाद का विरोधी स्वीकार करते हैं।[3] परन्तु विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्यदर्पण के आदि से अन्त तक कहीं भी शब्दार्थवाद का विरोध नहीं किया है। यहाँ तक कि रस, गुण दोष अलंकार रीतियों का काव्य में स्थान निर्धारण करने के प्रसंग में वह स्पष्ट शब्दों में शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर घोषित करता है। मम्मट के लक्षण में अदोष सगुण और अनलंकृती पुनः क्वापि इन विशेषणों पर तो आपत्ति की परन्तु शब्दार्थों तत इतने अंश के काव्यत्व को कहीं चुनौती नहीं दी। 'मौन स्वीकार लक्षणम्' के अनुसार इन प्रश्न पर मौन रहना यही सूचित करता है कि विश्वनाथ को शब्द और अर्थ का सामूहिक काव्यत्व अभिमत है। पुनः वाक्य की जो परिभाषा विश्वनाथ कविराज ने दी है उसमें आकांक्षा और योग्यता को स्पष्ट ही अर्थ का धर्म स्वीकार किया है।[5] यदि केवल पदसन्दर्भ का वाक्यत्व इष्ट होता तो अर्थ विश्रान्ति का प्रश्न ही नहीं उठता न महावाक्य के प्रसङ्ग में वाक्यों के स्वार्थावबोध के पश्चात् विश्रान्त होने की बात में कोई तुक होता और न निरर्थक क च ट त प आदि वर्णों के पदत्व के निराकरण में ही कोई औचित्य रहता। पुनः काव्य-पुरुष के जो अवयव उसने गिनाये हैं वे पूर्वपक्ष के रूप में न होकर वद्धसम्मति के रूप में प्रस्तुत किये हैं। रीति और अलङ्कार के प्रसङ्ग में भी वह स्थान स्थान पर शब्दार्थवाद को स्वीकार करता है।[6] अतः उसे वाक्य को काव्य मानने के कारण शब्दार्थवाद का अस्वीकृत करने वाला समझना भ्रम है।

---

१ काव्य स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्। सङ्क्षेपाद् वाक्य मिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्। —अग्नि० ३३७ १, ६

२ सा० द० १ ३

३ तु० परन्तु साहित्यदर्पणकार ने दण्डी का पक्ष पुनः प्रस्तुत किया ८०० वर्षों की उक्त भावुकता से हटाकर। रेवा प्रसाद द्विवेदी,
                                        सासुसि० भू०, पृ० १४

४ उक्त हि-काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्। रसादिश्चात्मा। —सा० द० पृ० १६

५ वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। —वही, २, १

६ तु०—श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादय काणत्वखञ्जत्वादय इव शब्दार्थद्वारेण

चण्डीदास ने आस्वादजीवातु पदसन्दर्भ को ही कहा है। सम्भवतः उस दण्डी की परिभाषा में 'पदावली' का स्मरण हो आया। और यह आशङ्का हो गई कि एक पद तो काव्य हो ही नहीं सकता। परन्तु जगन्नाथ के लक्षण में एकवचनात 'शब्द' दूरना में एक शब्दमात्र को काव्य मानने के अभिप्राय में नहीं है। जातिवाचक होने में शब्द-समुदाय का ही वाचक है। चण्डीदास के मत का खण्डन तो साहित्य सुधासिन्धुकार ने उसके लक्षण को अस्पष्ट कह कर कर दिया है।[3]

परन्तु साहित्य सुधासिन्धुकार ने स्वयं अपने लक्षण को गोल-माल करके कहा है। अखण्ड काव्यत्व की बात कह कर वे शब्द को काव्य स्वीकार करते हैं या अर्थ को यह स्पष्ट नहीं कहा। वैदान्तियों की भाँति अखण्ड वाक्यार्थवाद में अर्थ से पृथक् छूटेगा नहीं। फिर स्पष्ट शब्दों में शब्दार्थ को काव्य क्या नहीं कह देते? उन्होंने भोज के—

अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥[4]

क देहद्वारेणैव व्यभिचारिभावाद स्वशब्दवाच्यत्वादयो मुखत्वादय इव साक्षात्काव्यस्यात्मभूत रसमपकर्षयन्त काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते।
—वही, पृ० २१

ख रसादीनामर्थान्तिशब्दार्थशरीरस्य काव्यस्यात्मभूतानाम। —वही, पृ० २७०

ग यथा कटकादयः शरीरशोभातिशायिनः शरीरिणमुपकुर्वन्ति,
तथानुप्रासोपमादयः शब्दार्थशोभातिशायिनो रसादेरुपकारकाः।
—वही पृ० २७३

१ सासुसि०, पृ० १३

२ तु—तेनास्वादजीवातुः पदसन्दर्भः काव्यमिति चण्डीदासप्रभृतयः। तन्न। आस्वादकार्थोपस्थापकत्वं पदोपस्थाप्यास्वादवदर्थत्वं वा काव्यत्वमिति विनिगमनाविरहेणोभयस्य काव्यत्वात्। —वही

३ वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत् काव्यमित्यादिवाक्य-प्रतिपादितस्वगतविशेष-जनकताऽवच्छेदकं काव्यत्वमखण्डं कल्पनीयं तथा च तदेव लक्षणमस्तु किमननुगतेन लक्षणेन इति सर्व सुस्थम्। —वही, पृ० १७
जायते परमानन्दो ब्रह्मास्वादसहोदरः। यस्य श्रवण-मात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते॥ —वही, १, ४

४ सत्य यह है कि विश्वनाथदेव अपना लक्षण देकर भी पुनः भोज के लक्षण को ही ग्राह्य मानते हैं। पर रत्नेश्वर ने जो शब्दार्थ को काव्य माना, उस फन्दे को उन्होंने गले से छुड़ाया नहीं।

इस लक्षण को ही अपने शब्दों में थोड़ा हेर-फेर करके स्वीकार कर लिया है। उन्होंने उसका पाठ 'कीर्ति स्वर्ग च विन्दति" कर दिया है। परन्तु प्राचीन आचार्य वामन आदि के शब्दों में कीर्ति और प्रीति को काव्य का प्रयोजन मानने में कीर्ति से स्वर्ग प्राप्ति का तात्पर्य लिया गया है, इस पर उनकी दृष्टि नहीं गई। 'कीर्ति स्वर्गफलामाहुः'[2] के अनुसार उसमें भी जब स्वर्ग प्राप्ति ही होती है तो पुनः स्वर्ग शब्द के उपादान की क्या आवश्यकता ? यह तो पौनरुक्त्य दोष हुआ। पुनः स्वर्ग के सुखाश्रय होने से आनन्द की प्राप्ति कवि को स्वर्ग में ही सम्भव होगी जीवनकाल में क्या मिलेगा ? संसार तो कोई स्वर्ग जायगा नहीं। फिर क्या मान्यता है कि मघट्टाकार या अमरुशतककार अथवा कुट्टनीमत का रचयिता मरणोत्तर स्वर्ग ही जायगा ? अथवा कालिदास के नाम से प्रसिद्ध इस वचन का क्या अर्थ—

यदि मन्यानि शास्त्राणि मुनीनां वचनानि च।
आवयोः सङ्गमो बाले कुम्भीपाके भविष्यति ॥[3]

क्योंकि इसमें कवि ने अपनी वेश्या-गमन रूप पाप के कारण कुम्भीपाक नरक में जाने की सम्भावना प्रकट की है। कोई यह भी नहीं कह सकता कि कालिदास को कीर्ति का लाभ ही नहीं हुआ जो वह स्वर्ग जाता। तब "अस्मिन्नति-विचित्र-काव्य-परम्परावाहिनि संसारे कालिदास-प्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवयः।[4] कवयः कालिदासाद्याः कवयो वयमप्यमी। पर्वतपरमाणौ च समानत्व प्रतिष्ठितम्। एवं कालिदासादीनामिव यशः'[5] आदि वचनों का क्या मूल्य होगा ? हाँ अनुवादक महोदय के अनुसार स्वर्ग शब्द का पारलौकिक अर्थ न लेकर स्वर्ग शब्द की परिभाषा में प्रतिपादित-धर्म-दुःख के सम्पर्क से शून्य आनन्दातिरेक[6] जिसे अन्य आचार्यों के शब्दों में

---

१ सक०, १ ?

२ काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं कीर्तिप्रीतिहेतुत्वात्। —का० सू०, १, १ ५

३ लो०, पृ० ४०

४ ध्वन्या०, पृ० ६३

५ का० प्र० पृ० ५

६ यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम् ॥ —ध्वन्या० टि०, १, पृ० ४०

७ विशेष प्रकार के स्वर्गीय आनन्दात्मक सुखविशेष के जनक

सा० सु० मि०, १७

"विगलितवेद्यान्तर" कहा गया है, लिया जाय तो प्रकृत में ता सट गति किसी प्रकार हो जायेगी पर वामन आदि के वचनों को यह पौनरुक्त्य दोष बाधित करता ही रहेगा। क्योंकि कीर्ति का अर्थ स्वर्ग और उसका आशय आनन्दातिरिक्त लिया जाय तो पृथक् "प्रीति" शब्द के ग्रहण का कोई प्रयोजन न रहेगा।

अस्तु न विश्वनाथ देव के लक्षण में और न भोज के लक्षण में शब्द या अर्थ का निर्देश है। तब वे किसका काव्य मानते हैं अखण्ड बोध किसमें करेंगे, यह कुछ भी स्पष्ट नहीं किया गया है। परन्तु रत्नेश्वर ने भोज के वचन का निष्कर्ष शब्दार्थयुगल का काव्यत्व ही निकाला है। विश्वनाथदेव का क्या तात्पर्य रहा है, यह स्पष्ट नहीं।

हमारे विचार में पुराने आचार्यों की बात की खाल खींचने की प्रवृत्ति ही इस शब्द और अर्थ के काव्यत्व-सम्बन्धी विवाद का मूल है। अन्यथा जब सभी आचार्य आनन्द या आस्वाद को काव्य का प्रयोजन स्वीकार करते हैं तो इस बात को वे भी अस्वीकृत नहीं करते कि आनन्द या आस्वाद शब्द एवं अर्थ दोनों से आता है। बिना अर्थ के शब्द का कोई महत्त्व अपने आप में नहीं है। अन्यथा—क का च कि की पुनरेव कु कू तथैव का कौ पुनरेव क क' आदि और 'अरदृगव कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि' आदि को भी काव्य मानना होगा। क्योंकि शब्द तो यहां भी प्रयुक्त हुए हैं। अर्थ की इस अनिवार्यता को देखते हुए ही "इष्टार्थव्यवच्छिन्ना" और "रमणीयार्थ-प्रतिपादक" ये विशेषण पदावली या शब्द के साथ लगाने पड़े। बिना शब्द के भी अर्थ क्या हवा में झूलता रहेगा? सारा लोकव्यवहार तो शब्द से होता है। अतः दोनों का चोली-दामन का साथ है। भले ही शब्दालङ्कार-कारिका-कार ने शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध वस्त्र और शरीर का सा आज बताया हो[2] पर उसका सङ्केत नागेश भट्ट स्पष्ट शब्दों में पहले ही कर चुके हैं।[3] इसलिए दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं परन्तु यह दोष नहीं, गुण ही है। जैसे

१ सक०, १ (उ०) ५०

२ सा० सु० सि०, भू० पृ० १४-१५

३ रमणीया अप्यर्थास्तुच्छशब्दनाभिधीयमाना न तथा चमत्कारायेति भावः। यथा काञ्चनाञ्चलादि वस्त्रमुक्तयैव तत्परिधात्री नायिकामप्युत्कर्षयति। न हि रमणीयाऽपि नायिका तुच्छवसनावगुण्ठिताऽह्लादाय भवतीत्याहुः।
—का० प्र० उ०, ३८५

आत्मा बिना शरीर का आश्रय लिए कोई भी व्यापार नहीं कर सकता, भले ही सूक्ष्म शरीर धारण करके भूत-प्रेत की संज्ञा स्वीकार करे और बिना आत्मा के शरीर भी चालक हीन गाड़ी के समान व्यर्थ और केवल शव कहलाता है, इसी प्रकार अर्थ के बिना शब्द तो अव्यक्त ध्वनि मात्र रह जायेगा और स्वयं अर्थ बिना वाचक या द्योतक शब्द के चाहे वह वैखरी रूप हो या मध्यमा, पश्यन्ती आदि रूप, किसी प्रकार बुद्धिगम्य नहीं होगा।[1] किन्तु जैसे व्यवहार-पक्ष में वेदान्तियों में वाक्य में पद-पदार्थ की कल्पना करने की आज्ञा की जाती है,[2] इसी प्रकार काव्य-जगत् में भी यह देखा जाता है कि काव्य का जीवातुभूत चमत्कार किसी पर आश्रित है, शब्द पर या अर्थ पर। यहाँ आश्रयता-सम्बन्ध अन्यासाधारणता को दृष्टि में रख कर माना जाता है। यह चमत्कार क्योंकि कहीं पर तो शब्द मात्र पर आश्रित रहता है। जैसे—

> स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा—
> मूर्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः।
> भिद्यादुद्यदुदार-दुर्दरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम—
> द्रोहोद्रेक-महोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम्॥[3]

इस श्लोक में नाद-माधुर्य का ही चमत्कार है, मन्दाकिनी-विषयक रति तो ध्वनियों के मोहजाल में कहीं दब कर रह गई है। यह अनुप्रास अलंकार के द्वारा जो ध्वनिबिम्ब कवि ने प्रस्तुत किया है, श्रोता का ध्यान उसी तक सीमित रह जाता है। मन्दाकिनी-विषयक रतिभाव तक उसकी बुद्धि नहीं पहुँचती।

> शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै—
> र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
> विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
> लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥[4]

---

१ चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
त्रीणि गुहा निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
— ऋग्, १, १, ६४

२ येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः तैरप्यविद्यापतितैः सर्वैयमनुसरणीया प्रक्रिया। —लो०, पृ० ६७

३ का० प्र० का० १, ४ (उ०)

४ अमरु० (८२) सा० द०, १, १६

इस पद्य में सम्भोग शृङ्गार का चमत्कार स्वीकार किया गया है। प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत "क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तिघटनात्मा" श्लेष नामक अर्थ गुण है। यहाँ शब्दकृत चमत्कार नहीं है। जो उसे स्वीकार करते हों, उनका उत्तर पण्डितराज कड़े शब्दों में दे चुके हैं।[1] इस प्रकार इस पद्य में केवल अर्थाश्रित चमत्कार है।

पूर्वोदाहृत "अय हि शिशु" आदि पद्य में अर्थ और शब्द दोनों मिलकर चमत्कृत करने वाले हैं। अर्थ से परिस्थिति आदि का चाक्षुष बिम्ब एवं ध्वनियों में नादबिम्ब बनता है। दोनों परस्पर मिल कर एक दूसरे को पूर्ण करते हैं। अतः यह उभयाश्रित चमत्कार का उत्तम उदाहरण है। इसी प्रकार वाक्यार्थ के चमत्कार में रस की पुष्टि—

> मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरत
> प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विधुतः पावक इव।
> हिनस्ति प्रत्यङ्गं ज्वर इव गरीयानित इतो
> न मां त्रातुं तातः प्रभवति न चाम्बा न भवती॥[2]

मालती-माधव के इस पद्य में देखी जाती है। प्रसाद गुण में गुम्फित इस श्लोक में वाक्यार्थ को चमत्कारी बनाने के लिए उपमा एवं काव्यलिङ्ग अलङ्कारों का सहारा लिया गया है। इसमें उपमेय मनोराग अमूर्त है जबकि विष और अग्नि मूर्त उपमान हैं। तृतीय चरण में ज्वर भी अमूर्त ही है। उनके विशेषणों के प्रभाव से मालती की अभिलाष-कृत विरह-वेदना की अनुभूति होती है जो कि विप्रलम्भ शृङ्गार के रूप में पुष्ट हुई है।[4]

ये उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि काव्य उभयाश्रित है। जिस प्रकार मानव की मनोवृत्तियों में कभी सत्त्व गुण प्रबल हो जाता है तो कभी रजस् या तमस् तो उसके आधार पर ही उस (मानव) की चेष्टा और व्यवहार बदल जाते हैं। इसी प्रकार कभी शब्द का चमत्कार अधिक जोर मारता है और अर्थ को वह पीछे छोड़ जाता है तो कभी अर्थ प्रबल होता है। कभी दोनों

---

१ द्र० अ० ७ टि०, ११६ (रग०, पृ० ७४)

२ (उ च० ५, ५) द्र० अ० ७ टि०, ३०४

३ (माला०, २, १) का० प्र० का० (उ०) ८, ३४३

४ विशेष द्र० लेखक का शोध० काव्यशास्त्रे चमत्कारवाद।

सामान्य प्रतीत होते हैं परन्तु रागात्मक वृत्ति ही वहाँ सबसे ऊपर रहती है, जैसे त्वामालिख्य आदि पद्य में। इस स्थिति-विशेष को समक्ष रखकर शब्दार्थ-युगल को काव्य स्वीकृत किया गया था। इसी आधार पर भट्ट नायक ने भी कहा था—

> शब्द-प्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः ।
> अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ।।
> द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत् ।[1]

भले ही व्यापार शब्द का इस उक्ति में प्रयोग करने के कारण अभिनवगुप्त ने बेचारे भट्टनायक को घुड़क दिया पर उसने कहा तो यथार्थ ही था। अन्यथा मम्मट द्वारा शब्द के प्रभुसम्मित, सुहृत्-सम्मित और कान्तासम्मित इन तीन श्रेणियों में विभक्त किये जाने का क्या अर्थ ?[2]

अलङ्कार एवं चमत्कार

शब्द और अर्थ में यह चमत्कारिता का गुण कहाँ से आता है ? क्या प्रत्येक रचना आकर्षक नहीं होती ? क्या सामान्य समझी जाने वाली कविता में शब्द और अर्थ का व्यापार नहीं रहता ? क्या इन दोनों उक्तियों में अन्तर नहीं प्रतीत होता ?

> एक बात कही अनहोनी। दादा ने ब्याही पोती।

और—

> ययौ विमृश्यवोढ्वदिश पतिर्न स्वयंवरं वीक्षितधर्मशास्त्रः ।।
> व्यलोकि लोके श्रुतिषु स्मृतौ वा सम विवाहः क्व पितामहेन ।।[3]

पहली उक्ति उलट वासी है तो दूसरी आलङ्कारिक उक्ति। दोनों में अन्तर यही है जहाँ पहली पाठक या श्रोता को चक्कर में डालने वाली है, वहाँ दूसरी एक ओर तो हास्य का संवेदन कराती है दूसरी ओर वातावरण की मूर्त बनाती है जिसमें बूढ़े पितामह की पकी दाढ़ी मूँछ में ढका झुर्रियों वाला चेहरा पाठक को प्रत्यक्षकल्प हो जाता है। कवि ने इसीलिए जानबूझ कर ब्रह्मा के लिए

---

१ लो० पृ० ८७

२ प्रभुसम्मितशब्दप्रधान-वेद दिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासभ्यश्च एव कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।

—का० प्र० का०, पृ० ४-६

३ नैष०, १० १६

और किसी शब्द का प्रयोग न करके "ऊर्ध्वदिश पति" किया है। ऊपर की दिशा को अधर या निराधार कहते हैं। निराधार या अधर में स्थित वस्तु कभी भी नीचे गिर सकती है। इसी भाव से बूढ़े आदमी के लिए "नदी के कगार का वृक्ष" "पका आम" या "कब्र में पैर लटकाये" आदि व्यङ्ग्यात्मक वचन व्यवहार में आते हैं। जब प्रसङ्ग को देखते हैं तो पाठक या श्रोता समझ जाता है कि दमयन्ती को देखकर हलचली तो बूढ़े ब्रह्मा के मन में भी उठी पर अपनी स्थिति देखकर मन ममोस कर रह गये।

इस पद्य में सबसे बड़ी शक्ति है वर्ण्यविषय को प्रत्यक्षवत् करने की। वह शक्ति उसे कहाँ से मिली? परिकर अलङ्कार से। ऊर्ध्वदिशा के पति' जो ठहरे। दूसरा अर्थान्तरन्यास का चमत्कार है उत्तरार्ध में।

अलङ्कार का स्वरूप

वस्तुतः काव्य एक चित्र है, उसमें रीति रेखाएँ हैं, अलङ्कार रङ्ग हैं जो कि रसोदय का उभार देता है। गुण जीवन है, अलङ्कार कुसुम और कुङ्कुम।[1] इस प्रकार काव्य में अलङ्कारों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। अलङ्कार का अर्थ ही है शब्द और अर्थ में प्रत्यक्षीकरण की सामर्थ्य भरना। रेवा प्रसाद द्विवेदी ने अलङ्कारों में निहित अलंभाव का तात्पर्य अतिरिक्त तत्त्व लिया है जिसका उपयोग वर्ण्य वस्तु का चित्र प्रस्तुत करना—चमत्कृति आदि का फोटो में प्रतिबिम्बन करके संक्षेपीकरण में होता है।[2] अलङ्कार में यह सामान्य चमत्कारी होने के कारण हो जाती है। इसी कारण अलङ्कार के लक्षण में किसी-न-किसी प्रकार उसके साथ चमत्कार का सम्बन्ध जोड़ा गया है। मम्मट[3] एवं विश्वनाथ[4] सदृश रसवादी आचार्यों के लक्षण अलङ्कारों के स्वरूप पर प्रकाश डालने की अपेक्षा उनका महत्त्व निर्धारित करने पर अधिक बल देते हैं। उनकी अपेक्षा प्राचीन आचार्यों के अलङ्कार-लक्षण स्पष्टतर हैं—

वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।[5]

---

१ डा० रामचन्द्र द्विवेदी अलङ्कार-मीमांसा पृ० १०८

२ अस० (विमर्शिनी) भू० पृ० ४१

३ उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ —का० प्र० का०, ८, ६७

४ शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्॥ —साद०, १०, १

५ भाका०, १, ३६

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।[1]
काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा ।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा ।[2]
उभावेतावलङ्कार्यौ तयो पुनरलङ्कृति ॥
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते ॥[3]

आचार्य उद्भट ने अलङ्कार का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं दिया है किन्तु वृत्तिकार के अनुसार शोभाधायकत्व को ही अलङ्कारत्व मानते प्रतीत होते हैं इन्होंने अलङ्कार और अलङ्कार्य के सम्बन्ध की चर्चा की है ।[4]

भोज ने भी अलङ्कार का स्पष्ट लक्षण नहीं दिया है । रत्नेश्वर के शब्दों में कुछ सङ्केत अवश्य मिलता है सन्दिग्ध के अलङ्कारत्व की सिद्धि के प्रसङ्ग में उसने लिखा है—जहाँ कवि का तात्पर्य सन्देह में ही हो वहाँ सन्दिग्ध भी रञ्जक होने से अलङ्कार पद पर आरूढ़ हो जाता है । इसके अनुसार रञ्जकत्व अलङ्कारत्व ही अलङ्कार का सामान्य स्वरूप बैठता है ।[5] अन्यत्र अनुप्रास को अलङ्कार मानने का कारण बन्ध की छाया बताया है ।[6] आनन्दवर्धन एवं कुन्तक ने छाया शब्द का प्रयोग शोभा या चमत्कार के अर्थ में किया है अत उनकी दृष्टि में बन्ध का चमत्कारक धर्म ही अलङ्कार सिद्ध होता है पुन अर्थालङ्कार का स्वरूप बताते हुए अर्थ की शोभा के साधक

---

१ काद० २ १

२ वामसूत्र० ३ १ १ २

३ वजी १ १०

४ परस्परमकल्पाचिता रसाद्यभिव्यक्ति-अनुगुणत्वेन नद्योत्कर्षा वर्णास्मि समुदाया वा शोभातिशयहेतुत्वेन काव्ये क्षिप्यमाणा अनुप्रासशब्देनात्वर्थेनाभिधायन्ते —का० स०स० द०, २५४

५ तन्त्वमर्थसामर्थ्यविमर्षेन व्यर्थेनान्वित पुनरुक्ताभासमत्र काव्यमलङ्काय निर्दिष्टम । पुनरुक्तवदाभासमानं च पदं तस्यालङ्कार ।

—वही प० २५१

यदा तु सन्देह एव तात्पर्यमवधार्यते तदा स एव रञ्जकतयालङ्कारमारोहतीति कथन गुणीभाव इति । —रद० प० १३०

६ पूर्वजाति प्रतिबिम्बनेन बन्धच्छायाथकतयाऽनुप्रासोऽलङ्कारपदवीमध्यास्ते । न च निर्निमित्तमत्र प्रतिबिम्बनमत आह—नातिदूरान्तरस्थिता इति । —वही २२८

या चमत्कार को अलङ्कार कहा है। इस प्रयुक्त पद-समुदाय का यही निष्कर्ष निकलता है कि चमत्कार का आधायक तत्त्व ही अलङ्कार होता है। काव्य में वक्रता का आधान ही चमत्कार है और वही अलङ्कार है। इस प्रकार अलङ्क्रियतेऽनेन इस व्युत्पत्ति से शोभाऽऽधायक और वक्रोक्ति, वक्रता, शोभा और चमत्कार को अलङ्कार मानने पर "अलङ्करणम् अलङ्कारः" यह भावात्मिका व्युत्पत्ति ही सिद्ध होती है।

अलङ्कारों को काव्य का बाह्य धर्म मानने वाले रसवादियों के अनुसार भी हार कटक आदि के समान रस के उपस्कारक धर्म अलङ्कार माने गये हैं। उपस्करण शब्द और अर्थ में चमत्कार के आधान से ही सम्भव है। अतः उनकी दृष्टि में शब्द और अर्थ के माध्यम से रस प्रतीति में सहायक धर्म अलङ्कार सिद्ध होते हैं।

शोभाकर चमत्कार की चर्चा न करता हुआ काव्य के अवबोध रूप धर्म-विशेष को अलङ्कार मानता है[1]। सम्भवतः अलङ्कारों को इतना महत्त्व किसी भी आचार्य ने नहीं दिया है। क्योंकि स्वाभाविक या कवि के उक्ति-प्रकार विशेष से उत्पन्न होने वाले ज्ञान रूप शब्द और अर्थगत धर्म को जब अलङ्कार स्वीकार करते हैं तो वह काव्य का अनिवार्य अंग हो जाता है। इस के अनुसार क्योंकि शब्द और अर्थ काव्य के घटक तत्त्व सिद्ध होते हैं शब्दा-लङ्कार के द्वारा शब्द रूप काव्य का बोध अलङ्कारत्व होगा और अर्थ का बोध रूप धर्म अर्थालङ्कार होगा। वस्तुतः शोभाकर का लक्षण अपुष्टत्व दोष से दूषित है। क्योंकि जो लक्षण उसने दिया है, उसके अनुसार तो शब्दार्थ-युगलात्मक कोई भी कृति काव्य हो जायेगी और चमत्कारी अथवा अचमत्कारी कोई भी बोध अलङ्कार बन जायेगा। यदि कहें कि काव्य रूप संज्ञा से ही उसका असामान्यत्व स्वतः सिद्ध है तो पहले काव्य का जो स्वरूप ग्रन्थकार को अभिमत है उसका निरूपण करना चाहिए। केवल मानव कहने मात्र से तो मानव में किसी भी अपेक्षित धर्मों का बोध नहीं हो जाता। उससे द्विपद और शृङ्गपुच्छादि-रहितत्व का ही बोध होगा। अगर कहें कि अन्य ग्रन्थकारों ने पहले काव्य का स्वरूप निर्धारित किया हुआ है, उनकी

१ प्रथमप्रतिभातपदार्थप्रतिनिधिपदार्थान्तरासम्भवे सुकुमारतरापूर्वसमर्पणेन कामपि काव्यच्छायामुन्मीलयति कश्चन। —वजी०, १२
तथा—मुख्या महाकविगिरामलङ्कृति-भृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥ ध्व० ३, ३७

आवश्यकता नहीं तो उन्होंने तो अलङ्कारों का भी विवेचन किया हुआ है। तब तो ग्रन्थ का ही पौनरुक्त्य सिद्ध होगा।

अस्तु, अयप्र शोभाकर ने चमत्कारगधायकता को अलङ्कार का धर्म स्वीकार किया है।[1] वस्तुतः शोभाकर को अभिमत अलङ्कार का स्वरूप काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ को ऐसा विशिष्टरूप प्रदान करना है जिससे काव्य की स्फुट प्रतीति पाठक या श्रोता को हो जाय। विशिष्टरूप प्रदान करना उसमें चमत्कार का आधान कर देना है। उस चमत्कार के प्रताप से काव्य का उत्कृष्ट रूप या कवि का आशय भासमान हो जाता है। इन शब्दों से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि अलङ्कार का प्रयोजन शब्द और अर्थ के माध्यम से वर्ण्यतया अभीष्ट पदार्थ का प्रत्यय कराना है। काव्यार्थ का प्रत्यय प्रतिभान के रूप में होता है जो कि वस्तु का साक्षात्कार है। कवि और सामाजिक के साधारणीकरण का यही परिणाम होता है कि समाधि में कवि ने जिस अर्थ का साक्षात्कार किया, उस का सामाजिक भी करे। अलङ्कार उस साक्षात्कार का साधन अथवा स्वयं साक्षात्कार रूप हुआ। क्योंकि प्रतीति को ही यदि अलङ्कार मानते हैं तो साक्षात्कार अलङ्कार एवं चमत्कार में कोई अन्तर नहीं रह जाता।[2]

साहित्यसुधासिन्धुकार के अलङ्कार-लक्षण में वामन और भोज के विचारों का प्रभाव दीखता है।[3] क्योंकि इसमें भी गुणों को अलङ्कारों से अधिक महत्त्व दिया गया है।

आश्चर्य यह है कि अप्पयदीक्षित ने अलङ्कारवादी होते हुए भी अलङ्कार का सामान्य लक्षण न देकर चित्र का ही स्वरूप-प्रतिपादन किया है।[4] वे श्लेषबन्धादि शब्दालङ्कार के स्थान पर अर्थालङ्कारों को ही वास्तविक चित्र काव्य मानते हैं। दूसरी बात यह है कि चित्र शब्द विलक्षण या असामान्य को भी कहते हैं और प्रतिकृति को भी। प्रतिकृति उत्तम वही समझी जाती है जिसमें

१ तस्मात्सवत्र काव्यस्य वस्तुतः रुचि-प्रतिपादनया वा सम्भवी कश्चित् प्रतीतिरूपो धर्मविशेष शब्दगतोऽर्थगतो वालङ्कारतया वाच्य। अर० ९

२ तत्र रुढाया प्रयोजनरूपव्यङ्ग्यार्थाभावादभिधावद् वैचित्र्य-कारता-विरहात सहृदयहृदयाह्लादकारितया रस-परिपोषकत्वमिति वालङ्कारता।
—वही, पृ० ३२

३ द्र० टि० २०

४ यद अव्यङ्ग्यमपि चारु तच्चित्रम्।   —चिमी०, पृ० २७

चित्रित पदार्थ सजीव प्रतीत हो। इसीलिये चित्र मे दृष्टियों और मुद्राओं का विधान किया गया है।[1] चित्र काव्य मे सजीवता आती है चित्रित विषय के प्रत्यक्षतुल्य होने से। तभी तो वह अलौकिकास्वाद होगा। चाहे यन्त्र या कल की सहायता से ही सही, पर जो खिलौने सचेष्ट होते है, वे ही आकर्षक होते है, दूसरे मिट्टी के खिलौने नही। अत काव्य के शब्द व्यापारजन्य होते हुए भी उस मे वर्णित पदार्थ प्रत्यक्षतुल्य प्रतीत होते है। यह अलङ्कारो का ही प्रभाव है। रस-भावादि मे व्यङ्ग्य या अङ्गरूप मे अलङ्कारो की योजना का सर्वथा परिहार इसीलिये नही किया गया है।

जगन्नाथ का अलङ्कार लक्षण 'सुन्दरत्वे सत्युपस्कारकत्वमलङ्कार-सामान्यलक्षणम्'' रसप्राधान्यवादी परम्परा के अनुसार ही है।[2]

अलङ्कार का प्राण भी चमत्कार ही है जो कि वक्रोक्ति या वक्रता के कारण उसमे आता है, चाहे वह वक्रता शब्द-विन्यास मे हो अथवा भाव-प्रकाशन मे। यह अलङ्कारसामान्य के परिष्कृतलक्षण मे जो धरानन्द ने दिया है, स्पष्ट हो जाता है। जैसे—

रसादिभिन्न-व्यङ्ग्यभिन्नत्वे सति शब्दार्थान्यतर-निष्ठा या विषयिता-सम्बन्धावच्छिन्ना चमत्कृतिजनकतावच्छेदकत्वम्।[3]

इस के अनुसार रस वस्तुगत-व्यङ्ग्यता के अतिरिक्त जो चमत्कार जनन के साधन है वे अलङ्कार कहलाते है। इससे गुणीभूत व्यङ्ग्य के वे प्रकार जिन मे व्यङ्ग्यार्थ का स्पर्श होने पर भी उचित चमत्कार न हो, अलङ्कार की कोटि मे आ जाते है। अनुप्रास आदि शब्दालङ्कारो मे चमत्कार की अनुभूति उत्पन्न कराने वाले शब्दो का ज्ञान होने मे अलङ्कारत्व धर्म रहता है। अर्थालङ्कारो मे चमत्कारजनक अर्थ का ज्ञान होने से चमत्कार का बोध होने के कारण अलङ्कारत्व रहता है।[4] काव्य के शरीर भूत शब्द और अर्थ मे उन के ज्ञान मे चमत्कारोत्पादकता विषय अथवा विशेषण के रूप मे रहती है।

---

१ द्र० अ० ६ दि० १ ५

२ रग० पृ ३९५

३ चित्रमी० टी० पृ० ४१

४ तु० तादृगव्यङ्ग्यत्वे सति शब्दविषयकगुणालङ्कारचमत्कृतिविशेष-वत्त्वमाद्यम् (शब्दचित्रम्)। अर्थोपयोगिगुणालङ्कारचमत्कारवत्त्वे सति तादृग्व्यङ्ग्यत्वं द्वितीयम्। उभयविषयकगुणालङ्कारचमत्कृतिमत्त्वे सति तादृशव्यङ्ग्याश्रयत्व तृतीयम्। —वही पृ० ३५

वैद्यनाथ पायगुण्डन भी यही धरानन्द-कृत अलङ्कार-लक्षण देते हैं[1]।

अलङ्कारों की चमत्कारकता संस्कृत साहित्य में ही नहीं, अन्य भाषाओं के साहित्य में भी स्वीकृत है। पश्चिमी साहित्य में उपमा और रूपक का महत्त्व बिम्बनिर्मापक के रूप में सर्वत्र स्वीकृत है। मानवीकरण और विशेषणविपर्यय अतिशयोक्ति (Hyperbole) सदृश अलङ्कार अंग्रेजी साहित्य में मान्य अलङ्कार हैं। हिन्दी साहित्य में तो इस विषय पर विपुल साहित्य है। आधुनिक समालोचनाशास्त्र में अलङ्कारविषयक विवेचन बड़ी मात्रा में मिलता है। रीतिकालीन काव्य के अतिरिक्त आधुनिक विचारकों ने स्वम सम्बन्ध में पर्याप्त अध्ययन किया है। प्रत्युत अलङ्कारों के जन्म में मूल प्रवृत्ति पर भी उन्होंने गहराई से विचार किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से अलङ्कारों का अध्ययन सूक्ष्म चिन्तन की प्रवृत्ति का द्योतक है[2]। इन विद्वानों की अलङ्कार विषयक अध्ययन की यह मौलिक देन है।

अलङ्कार और काव्यबिम्ब

यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि भाषा भावों की अभिव्यक्ति का साधन है। भाषा शब्दमयी होती है। यद्यपि इतिहास विज्ञान गणित कला शिल्प सब के ग्रन्थों में शब्दात्मिका भाषा का ही प्रयोग होता है तथापि अलङ्कारों या चित्रमयी भाषा का प्रयोग काव्य में ही होता है। उसका प्रयोजन यही है कि चमत्कार का उत्पादन करके वाच्य विषय को मूर्त रूप दिया जाय। भाषा शब्दों से बनती है और शब्द का एक पक्ष ध्वन्यात्मक है। श्रवणेन्द्रिय से जब शब्द का प्रत्यक्ष होता है तो एक नादात्मक बोध होता है, दूसरा भावात्मक। क्योंकि पहला केवल नाद के द्वारा श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से हृत्तन्त्री को झंकृत करता है दूसरा शब्द के भावात्मक पक्ष से अर्थबोध के द्वारा बुद्धि और हृदय दोनों को प्रभावित करता है। अर्थ का बोध बुद्धि में होता है। वह चिन्तन और पर्यालोचन का विषय है। नाद का प्रभाव अल्पकालिक होता है, भावात्मक का चिरस्थायी। इसीलिए काव्य के अर्थ को विशेष महत्त्व दिया जाता है शब्द की तुलना में।[3]

---

१ कुवल० पृ० २

२ इस दिशा में डा० नगेन्द्र और उनके पश्चात डा० ओमप्रकाश शास्त्री का कार्य उल्लेखनीय है।

३ तु० योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ —ध्वन्या०, १, २

काव्य में भी तभी चमत्कार का अनुभव होता है जब कि पाठक या श्रोता उस का साक्षात् अनुभव करे। शब्द अपने अर्थ का बोध का विषय बना सके, इस लिये अलङ्कारों का प्रयोग किया जाता है। कुछ विद्वान् अलङ्कारों का काव्य भावों का उद्दीपन करना मानते हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि हमारी प्रत्येक क्रिया प्रतिक्रिया का मूल मनोभाव है। उनके प्रभाव से भाषा का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहता है। जैसे अकस्मात् कोई वस्तु ऊपर से गिरने पर या सहसा कोई संकट आ पड़ने से जीव भावावेश में एक अन्यतम सी ध्वनि मुख से निकालता है, इसी प्रकार भावोद्दीपन की अवस्था में वक्ता सामान्येतर भाषा का प्रयोग करता है। वही सामान्येतर भाषा आलङ्कारिक अथवा प्रतीकात्मक कही जाती है। उस स्थिति में काव्य-बिम्बों का निर्माण होता है। इसलिये अलङ्कारों का सम्बन्ध मनोभावों एवं कल्पना से जोड़ा जाता है[1]।

अलङ्कारों में चमत्कारिता के लिये वक्रता अपेक्षित होती है।[2] पर जहाँ बिना इस प्रकार की वक्रता के ही भावप्रकाशन होता है और चमत्कार की मात्रा उसमें बनी रहती है, इस प्रकार के उक्तिविशेष को स्वभावोक्ति कहा गया है। दण्डी द्वारा वाङ्मय के वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति इन दो श्रेणियों में विभक्त किये जाने का यही आधार है।

वक्रता के सार अलङ्कार का सम्बन्ध जोड़ने पर भी काव्य के नादात्मक और भावात्मक दोनों पक्ष दृष्टि में रखे गये हैं। भावात्मक रूप विवक्षित विषय के प्रकाशन में वक्रता का आधान करता है तो नादात्मक श्रवणेन्द्रिय से उसे बोधगम्य बनाता है। इसमें हृदयावर्जन की सामर्थ्य पर विशेष बल दिया जाता है। सुकुमारभावों के प्रकाशन के लिये मसृण बन्ध एवं ओजस्वी भावों की अभिव्यक्ति के लिये जटिल बन्ध उपयुक्त रहता है। रचनौचित्य एवं बन्धौचित्य का तात्पर्य यही है कि विषय वक्ता और भाव के अनुरूप माधुर्य एवं ओज की अभिव्यक्ति हो। मसृणता से केवल भावों की सुकुमारता नहीं, अपितु वक्ता के कण्ठ का माधुर्य भी अनुभूत होता है और वह भावावबोध में सहायक होता है। जटिलता से भाव के उद्दीप्त एवं ओजस्वी रूप, वक्ता के कण्ठ की गम्भीरता

---

१ तु० डा० ओमप्रकाश शास्त्री —रीतिकालीन अलङ्कार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन। पृ० ४७२

२ वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति।। —वजी०, १,२०
तथा भाका०, १,३६, काद०, २, ३६३

सभी का अनुभव होता है। इसके वैपरीत्य के कारण ही दुर्योधन ने युधिष्ठिर के शान्ति प्रिय सन्धिवचनों का "नारीमृदूनि वचनानि" कह कर उपहास किया था[1]।

शब्द के बौद्धिक एवं नादात्मक उभयविध रूप की ही भांति अलङ्कारों के भी दोनों रूप हैं। उनमें नादात्मक रूप अनुकृति और सङ्गीत-भाषा और भाव का सामञ्जस्य आत्मसात् किये है। कवि नादात्मक अलङ्कार में वक्ता के कण्ठस्वर व भाव की सुकुमारता या ओजस्वी रूप की अनुकृति करता है। इसके अभाव में अलङ्कार-प्रयोग निष्प्रयोजन ही होगा।

नादात्मक अलङ्कारों में अनुप्रास प्रमुख है। उस में सामान्यत अर्थ पर ध्यान नहीं दिया जाता यद्यपि चन्द्रालोककार ने अर्थानुप्रास की स्वीकृति में[2] अनुप्रास का अर्थ के साथ सम्बन्ध सूचित किया है। यह अनुप्रास वर्ण या वर्णों की क्रम से या बिनाक्रम से एक बार अथवा अनेक बार आवृत्ति करके नादानुकृति के लिये प्रयुक्त होता है। जैसे—खणखणत् किंकिणी, टङ्कार, हुङ्कार रणित धमद् धमद् आदि। अंग्रेजी साहित्य में इस प्रकार की नादानुकृति को ओनामैटोपिया (Onomatopoeia) की संज्ञा दी गई है। यास्क ने शब्दानुकृति में "काक" सदृश शब्दों की चर्चा की है परन्तु उसका अनुप्रास या काव्यबिम्ब से कोई सम्बन्ध नहीं है।

आचार्यों ने अनुप्रास के पाँच भेद गिनाये हैं—

१ छेकानुप्रास, २ श्रुति, ३ वृत्ति, ४ अन्त्य,[3] ५ लाट। अन्तिम पदानुप्रास भी कहा जाता है। जयदेव ने इनमें स्फुटानुप्रास और अर्थानुप्रास और जोड़े हैं। भोज ने तो इनकी संज्ञा बहुत बढ़ा दी है। कुछ के नाम बदले हैं तो कुछ नये हैं। जैसे श्रुति और वृत्ति तो प्राचीनों द्वारा ही स्वीकृत हैं। वर्णानुप्रास वृत्त्यनुप्रास ही है।[4] भोज द्वारा निर्दिष्ट पदानुप्रास लाट से पृथक् है।[5] इसमें अर्थ का विचार किये बिना पद या पदांश की आवृत्ति होती है। लाट में

---

१ भास दूतवाक्य १, १३

२ उपमेयोपमानादावर्थानुप्रास इष्यते। —चन्द्रा०, ५,६

३ "काक" इति शब्दानुकृति। तदिदं शकुनिषु बहुलम्। नि०, ६,१८

४ अयं वर्णानुप्रासाद् वृत्त्यनुप्रास इत्यर्थ। —रद०, पृ० २३८

५ समग्रमसमग्रं वा यस्मिन्नावर्तते पदम्।
पदाश्रयेण स प्राय पदानुप्रास ॥ —सर०, २, ६३

अर्थ का अभेद रहता है। नामद्विरुक्त्यनुप्रास में तात्पर्य-भेद से शब्द को दोहराया जाता है।[1]

छेकानुप्रास कुछ लोगों के अनुसार पक्षियों के शब्द का अनुकरण करने के कारण इस नाम से पुकारा जाता है।[2] इसमें नादानुकृति का भाव समाहृत होने में यह पक्ष भी महत्त्वपूर्ण है। यह नादानुकृति दो प्रकार से होती है—१ शब्द का अनुकरण। २ ध्वनियों का अनुकरण। पहला वर्ण-समुदाय के द्वारा होता है तो दूसरा बिखरी ध्वनियों से। पहले का सुन्दर उदाहरण निम्न-लिखित पद्य है—

जयत्वदभ्रविभ्रमद्भुजङ्गम-स्फुरद्-
धगद्-धगद्-विनिर्गमत्करालभालहव्यवाट्।
धिमिद्-धिमिद्ध्वनन्मृदङ्गतुङ्गमङ्गल-
ध्वनिक्रम प्रवर्तितप्रचण्डताण्डव शिव ॥[3]

इसमें 'धगद्-धगद्' इस ध्वनि-समूह से धधकती नाचती अग्नि का नादानुकरण करके उसका बिम्ब प्रस्तुत करता है। 'ज्वलत्करालभालहव्यवाट्' उस अग्नि के स्वरूप को मूर्त करके उसका प्रभाव स्थायी कर देता है। उत्तरार्द्ध में 'धिमिद्धिमि' इन वर्णों की आवृत्ति मृदङ्ग की ध्वनि का अनुकरण है। 'मृदङ्गतुङ्गमङ्गल' में एवं 'प्रचण्डताण्डव' में नृत्य और उसमें बजते घुंघरुओं के शब्द का अनुकरण है। कुल मिलाकर सारा वातावरण मूर्त हो जाता है।

यद्यपि छेक में वर्णावृत्ति एक बार ही कही गई है तथापि कहीं दो बार भी हो जाती है। इसी प्रकार—

मन्द मारुततरललहरीस्खेलितरभिहन्ति तीरम्,
छप् छपा छप् ध्वनिमुदारं भूयसा ध्वनतीह नीरम्।
भग्न-रोध-पातसमकाल कलितमृदुकलकल,
जलतरङ्गे वादिते मृदुमूर्छनेवोच्चरति रे ॥[4]
अमृत धारा बहति रे!

---

१ स्वभावतश्च गौण्याश्च वीप्सायाऽऽभीक्ष्ण्यादिनिश्च सा।
नाम्ना द्विरुक्तिमिवाक्य तदनुप्रास उच्यते ॥ —सक० २९९

२ छेकाश्चालयस्था पक्षिणस्तेषां हि प्रायशो द्विर्भाषितं भवति। —अर०, पृ० ३

३ शिता० स्तो० १० (बृह० स्तो० र०, पृ० १५०)

४ अगगो० ३६

इन पंक्तियों में 'छपछपाछप्' यह रेतीले तट के लहरों के आघात में टूट कर पानी में गिरने से होने वाली ध्वनि का अनुकरण है। जल की लहरियों के मधुर शब्द का अनुकरण 'कलित कलकलै' इन ध्वनियों से होता है। जलतरंग बजाने में प्यालों की ध्वनि इसी प्रकार की होती है। इस प्रकार इन ध्वनियों से नदी की लहरों एवं जलतरंग की ध्वनियों का मिश्र श्रव्य बिम्ब प्रस्तुत होता है। माधुर्य गुण के साथ सामञ्जस्य आनन्दानुभूति भी कराता है।

ध्वनिचित्र का दूसरा प्रकार बिखरी ध्वनियों से बनता है। उसका एक उदाहरण भारवि के पद्य में दिया जा चुका है।[1] अन्य कालिदास का निम्न पद्य है-

जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य ।
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥[2]

इसमें 'निर्ह्रादिन्युप०' इतना अंश मृदंग की तानों और 'मा' 'म' 'मा' 'म' 'य' ध्वनियाँ मृदंग की गमक का नादानुकरण प्रस्तुत करती हैं। इसलिये यह भी उत्कृष्ट ध्वनि चित्र है। भोज ने इस प्रकार की ध्वनियों के द्वारा वर्ण्य विषय को व्यञ्जित करने के कारण इसे अनुवाद ध्वनि की संज्ञा दी है। इसका उदाहरण—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत् तपः ।
तरुणि येन तवाधर-पाटलं दशति बिम्बफलं शुक-शावकः ॥[3]

इसमें 'दशति' दाँतियों का बिम्ब प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार प्रियतम प्रियतमा के अधर का दंशमात्र करता है उसे काटकर चबा नहीं लेता इसी प्रकार तोता भी बिम्ब फल को जरा जरा चख कर खाता है।

भोज ने ध्वनि के प्रतिशब्द और अनुनाद दो प्रकार गिनाये हैं। इनमें प्रतिशब्द ध्वनि तो वाच्यार्थ में गुहा की प्रतिध्वनि की भाँति पृथक् अर्थ का बोध कराता है जैसा कि ऊपर उदाहृत पद्य में है। अनुवाद ध्वनि का उदाहरण उसने 'भक्ति-प्रह्वाय दातुं' आदि पद्य दिया है जिसमें कमल-मुकुल के विकास

१ द्र० अ० २ टि० ६१

२ मालवि० १ २१

३ एतच्च कांस्यतालवदविच्छिन्नमेव ध्वनन्ननुनादरूपं प्रतीयत इत्यनुनाद-ध्वनिः ।
—शृप्र० १, पृ० २५०

के समय की 'चटचटा' ध्वनि का अनुकरण किया गया है।[1] इसका एक सुन्दर उदाहरण भोज ने ही उद्धृत किया है—

> चटच्चटिति चर्मणि च्छिमिति चोच्छलच्छोणिते
> धगद्धगिति मेदसि स्फुट रवोऽस्थिषुष्टागिति।
> पुनातु भवतो हरेरमरवैरि-राजोरसि-
> क्वणत्करज-पञ्जरक्रकच-काषज-मानल ॥[2]

इस पद्य में नृसिंह द्वारा किये गये हिरण्यकशिपु के वध के समय उसकी खाल उधेड़ने में होने वाली चट-चट की ध्वनि का अनुकरण 'चट्-चट्' से किया है, खून के छलछल का शब्दानुकरण 'छिम' इन ध्वनियों से, चर्बी के उमड़ कर निकलने का अनुकरण 'धगद्-धग्' इन ध्वनियों में व हड्डी टूटने का अनुकरण 'ष्टाग' इस ध्वनि में किया गया है। इस प्रकार नादानुकृति के द्वारा क्रिया का बिम्ब बनता है।

श्रुति अनुप्रास—श्रुति अनुप्रास में समस्थानीय वर्णों की आवृत्ति होती है।[3] इसमें माधुर्य अधिक होता है। वर्ग के अन्तिम वर्ण का प्रथम या तृतीय के कभी-कभी द्वितीय के साथ संयोग उस माधुर्य में वृद्धि कर देता है। यह भी नादानुकृति के द्वारा ध्वनि-चित्र के निर्माण में सहायक होता है। जैसे प्राङ्गणे रिङ्गत्' इसमें अंग में 'ङ्' और 'ग' समान श्रुति वाली ध्वनियाँ हैं जो कि बच्चे

---

१ शब्द-ध्वनिरपि द्विधा-अनुनाद रूप प्रतिशब्दरूपश्च। प्रतिशब्द ध्वन स्वरूप तु य पुनरभिधीयमानवाक्यार्थात् पृथग्भूत इव गुहादि प्रति-शब्द-रूपम अर्थान्तर प्रत्याययन प्रतिध्वनति स प्रतिशब्द ध्वनि। अनुवादरूपा यथा—

> भक्तिप्रह्वाय दातु मुकुलपुटकुटीकोटरक्रोडलीना
> लक्ष्मीमाक्रष्टुकामा इव कमलवनोद्घाटन कुर्वते ये।
> लालाकारा धकाराऽऽनत-पतित-जगत्साध्वसध्वसमकल्या
> कल्याण व क्रियासु किसलयरुचयस्तेकरा भास्करस्य॥

अत्र मुकुल पुट कुटी कोटर क्रोडलीना' इति विशेषणे कमलमुकुलादुघाटन चटचटाध्व यनकार्यमिव प्रस्तुवति अर्थेन चाद्घाटनयोग्यता द्योतकरवरण महावरस सूचयन्। —शृं०प्र०

२ वही, १, २७

३ उच्चार्यत्वाद्यदत्र स्थान तालु रदादिके।
सादृश्य व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते॥ —साद०, १०, ५

के आगन मे घुटना के बल रीगन का अनुकरण प्रस्तुत करती हैं। इस अनुप्रास की विशेषता यह है कि वणावत्ति उद्वेजक नहीं हानी। जैसे—

राजाधिराजश्चरित तदीय विज्ञाय सर्वं दलितान्तरात्मा ।
सर्वाधिकार लघु शासनस्य ततोऽधिजग्राह क्याभिभूत ॥[1]

इसमे ज श च य ज + य ध्वनिया तालव्य हैं तो त त दी० स दलितान्त य सभा न्त्य ध्वनिया है। धिकार म धि और धिजग्राह म भी धि चतुथ एव महाप्राण ध्वनि है। पूवाध की ध्वनिया राजाधिराज क हृदय की भावकता का अभिव्यञ्जित करती ह ता उत्तराध का ध्वनिया राप क कारण उत्पन्न उग्रता का अनुकरण करता है और उसका भाव बिम्ब बनन म सहायक ह। इसी प्रकार—

निरस्त-दुरहङ्कृतिनतशिरा विवर्णानिनो
निरीक्ष्य स महात्मन पदयुग ययाचे क्षमाम ।
यतिस्तु चकितोऽब्रवीद विनयतस्तमुत्थापयन
सख वधल्ज कय स्पृनामि नैष धम स्मृत ॥[2]

इसम नि मू तदु निनत नता नि म न द य मारा ध्वनिया दन्त्य ह ग्याच म नाना ध्वनिया तालव्य ह। क्षमाम म माम दतन अश म ओष्ठ्यवग का अनुनासिक वण आनुनासिक्य हान स क्षमा याचना म सा दासत्व का ध्वनि-अनकृत प्रस्तुत करता है।

इसम उदगाण गन्धवग की भाति ध्वनि । का आवृत्ति का उग्र रूप नहीं हाना। वह वणकट हा जान म शृङ्गारादि कामल रसा की अनुभूति म बाधक हाना है। इसी लिए आनन्दवधन न शृङ्गारादि म उस वर्जित किया ह।[4] उसका हतु यह है कि आग्रामित कवि प्रयत्न-पूवक अनुप्रास लान म दत्त चित्त होकर रस परिपाक स अपना ध्यान बटा लेता है। श्राता का भी ध्यान पद-चमत्कार तक सीमित रह कर रस भाव तक नहा पहुँच पाता। परन्तु जहाँ ध्वनि और भाव का सामञ्जस्य हो वहा अनुप्रास आपत्तिजनक नहा हाता। जैस उपयुक्त पद्या म।

---

१ पशपति झा— नपालमाम्राज्योदय—११ १३

२ क्षमाराव पण्डिता— तकाराम चरित ६ २७

३ सादि०, १०, २७६

४ शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादकरूपानुबन्धवान ।
सर्वेष्वव प्रभेदेषु नानुप्राम प्रकाशक ॥ —ध्वन्या० २ ४

वृत्त्यानुप्रास—वृत्ति अनुप्रास में एक या अनेक ध्वनियों की अनेक बार आवृत्ति होती है। जैसे—'काकलीकलकलै' यहाँ 'क' और 'ल' की अनेक बार आवृत्ति है। अथवा—

मधुरया मधुबोधितमाधवी मधुसमृद्धि-समेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥[1]

माघ के इस पद्य में मकार और धकार की निरन्तर आवृत्ति वसन्त के मादक वातावरण की ध्वनि से व्यञ्जना करती है।

अन्त्यानुप्रास—अन्त्यानुप्रास संस्कृत साहित्य में बहुत कम मात्रा में प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि इसमें अतुकान्त कविता का ही अधिक प्रचलन था। सबसे पहले कविराज विश्वनाथ ने ही इसकी परिभाषा दी है। वास्तव में पद्य में नाद-प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह विशेष उपयोगी है। क्योंकि उसकी गूंज देर तक रहती है। हिन्दी, उर्दू में इसे तुक और अंग्रेजी में राइम (Rhyme Scheme) कहते हैं। भले ही पहले आचार्यों ने इसको स्वीकार न किया हो पर कवियों ने जाने अनजाने इसका प्रयोग किया है। मालिनी में तो इसका विशेष चमत्कार रहता है

इति विरचितवाग्भिर्बन्दि-पुत्रैः कुमार
सपदि विगत निद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार ॥[2]

कालिदास के इस पद्य में 'आर' और य अन्त्यावृत्ति निस्सन्देह संगीत का प्रभाव उत्पन्न करती है। अज के बिस्तर से सहसा उठने का अनुकरण उज्झाञ्चकार क्रिया की इन ध्वनियों से किया है। 'कुमार' से आरम्भ होकर 'चकार' पर समाप्त यह ध्वनि की झङ्कार क्रिया-सातत्य का सूचित करती है। आधुनिक कवियों ने इस अनुप्रास का पर्याप्त प्रयोग किया है। जैसे रमाकान्त शुक्ल की—

जाह्नवी चन्द्रभागाजलैः पावितं भानुजानर्मदावीचिभिर्लालितम्।
तुङ्गभद्रा विपाशादिभिर्भावितं भूतले भाति मे भारतं भारतम् ॥
विन्ध्य-सह्याद्रि-मलयाद्रि-मालान्वितं शुभ्रहेमाद्रिहासप्रभापूरितम्।
अर्बुदारावलीश्रेणिसम्पूजितं भूतले भाति मेऽनारतं भारतम् ॥[3]

य पद्य किया इस अन्त्यानुप्रास के कारण कवि की देशभक्ति-भावना की

---

१ शिव० ६, २०

२ रघु० ५।७६

३ मे भारतम् (देववाणी-परिषद्-स्मारिका २१, ३, ८०) ३-४

हुआ अनुप्रास महत्त्व भी रखता है। जब कभी अनुकरण के लिए उसकी योजना होती है, वह भी उपयोगी ही सिद्ध होता है। जैसे—

> पि पि प्रिय स-स स्वयं मु मु मुखासवं देहि मे
> त त त्यज दु दु द्रुत भ भ-भ-भाजन काञ्चनम् ।
> इति स्खलित-जल्पितं मदवशात् कुरङ्गीदृशः
> प्रगे हसित हेतवे सहचरीभिरध्यैयत ॥ [1]

इस पद्य में मदिरा के वश में हुई सुन्दरी के स्खलित वचनों का अनुकरण अव्यक्तवाक्य-सादृश्योक्ति के नाम से किया गया है। यह उसके लड़खड़ाते वचनों का अनुकरण जो अनायास ही सानुप्रास बन गया है, मदावस्था की सहज अनुभूति कराता है।

यहाँ अनुप्रासों का विवरण देना अभीष्ट न होकर काव्यबिम्ब में उनकी उपयोगिता दिखाना ही प्रसङ्गानुगत था, इसलिए मैंने सभी अनुप्रासों के रूप नहीं दिखाये हैं। परन्तु उपर्युक्त विवेचन इस बात की पुष्टि करता है कि उनकी अनायास योजना काव्यार्थ को मूर्त बनाने में सर्वथा उपयुक्त होती है।

लाटानुप्रास—पद या वाक्य की समान अर्थ की स्थिति में भी आवृत्ति होने पर लाटानुप्रास अलङ्कार बनता है।[2] इसमें कभी-कभी एक ही अक्षर के परिवर्तन से वाक्यार्थ का भाव बदल जाता है। इसलिए यह भी काव्य-बिम्ब में सहायक होता है। विशेषकर जब अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य-ध्वनि का स्पर्श होता है। जैसे—

> ताला जाअन्ति गुणा जाला ते सहिअएहि घेप्पन्ति ।
> रइ-किरणाणुग्गहिआईं होंति कमलाई कमलाई ॥[3]

यहाँ "कमलाई" की आवृत्ति ध्वनि के स्पर्श के कारण चमत्कारक बन गई है। जब द्वितीय 'कमलाईं' का अर्थ सौगन्ध्यादि-सम्पन्न" प्रतीत होता है और विकासकृत शोभा एवं सुगन्ध का अतिशय आदि भाव ध्वनित होता है तो

---

१ शृपु०, २, प० २१

२ शब्दार्थयो पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रत । लाटानुप्रास इत्युक्त ।
सा द०, १०, ७

३ ध्वन्या०, पृ० १७०

विकसित अवस्था में कमल का भव्य रूप पाठक या श्रोता की अन्तर्दृष्टि के समक्ष उपस्थित हो जाता है। कभी-कभी पूर्ण वाक्य ही दोहराया जाता है। जैसे—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिन-दीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दव-दहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥[1]

यहाँ केवल "न" और "च" का अन्तर है। पर शब्दों की समानता श्रव्य होने के साथ-साथ भाव को मूर्त बनाती है।

यमक—यम जुड़वों को कहते हैं। जैसे दो जुड़वे बच्चे (Twins) शरीर, प्राण एवं अपनी दैनिक चेष्टाओं में पृथक् होकर भी आकृति में एक प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार अर्थ का भेद होने पर भी वर्ण समूह की आवृत्ति में दो शब्द एक प्रतीति होते हैं, तब यमक होता है।[2] वर्णों की अभिन्नता होने के कारण उसका श्रुतिसुखद होना तो निश्चित ही है परन्तु अर्थभेद के होने से इसमें अर्थविचार आवश्यक हो जाता है। आनन्दवर्धन ने शृङ्गारादि रसों में इसकी योजना वर्जित की है।[3] उसका कारण यही है कि इस अलङ्कार के अनेक भेद यत्नसाध्य होते हैं। कवि उनकी योजना करने में लीन होकर रस-भाव आदि को भूल जाता है। दूसरी बात यह है कि उनमें बौद्धिक व्यायाम अधिक होने पर भी सार कुछ नहीं निकलता। केवल कवि के पाण्डित्य का ज्ञान अवश्य होता है। इसलिए उनके वर्जन में कुछ औचित्य अवश्य है। परन्तु जहाँ वे अनायास आ जाते हैं और अर्थ-बोध में कोई कठिनाई नहीं होती, वहाँ वर्जन में कोई औचित्य नहीं। क्योंकि ऐसे स्थल में नादमाधुर्य तो रहता ही है साथ में शब्द-चित्रों की शृङ्खला बनी रहती है, उनमें बहुविधता आ जाती है। हाँ, जितने अंश में आवृत्ति निरर्थक होगी वहाँ चमत्कार सम्भव नहीं है। जगन्नाथ के 'येनामन्द' आदि पद्य में "तेनेहा" की आवृत्ति में यमक है।[4] अर्थबोध में कोई

---

१ सा०द०, पृ० १७९

२ सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जन-संहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥ —वही, १०, ८

३ ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादि-निबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ —ध्वन्या०, २, १५

४ येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत।
कुटजे खलु "तेनेहा तेने हा" मधुकरेण कथम् ॥ —भामि०, १, ६

वाछित प्रतीत नहीं होता । पाठक को पहला पदयुगल (तन + ईश) सहित होने से एक स्वर में पढ़ना होगा और दूसरे म न को लम्ब एव ह जो मद एव विस्मय वाचक है तत्परतर करना होगा। इसमें अर्थबोध और भाव-बोध भी हो जाएगा।

कहीं यमक पदान्त में ही होता है । जैसे—

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीत च पीत पय
स्वर्यातेन सुधाऽप्यधायि कतिधा रम्भाधर खण्डित ।
सत्य ब्रूहि मदीयचित्त भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णत्यक्षरयोरय मधुरिमोद्गार क्वचिल्लक्षित ॥

पण्डितराज ने इस पद्य में सिता मिता और असिता के शिता में इतने अशो की आवृत्ति है। तालव्य में वर्ण भेद होने पर भी कवियों को मिली सुविधा या छूट का लाभ उठाया गया है।[1] क्योंकि स और श का उच्चारण स्थान भिन्न होने पर भी उच्चारण में बहुधा व्यत्यय हो जाया करता है। कई प्रान्तों के लोग स का श और इसके विपरीत उच्चारण करते हैं। र और ड ना न ध्वनि में बदल दी जाती है इससे अर्थ बोध में बाधा नहीं आती। इसीलिए भुजलता जडतामबलाजन इस स्थल में यमक की हानि नहीं मानी गई है एसे सुगम यमकों का वर्जन नहीं है। कालिदास आदि कवियों ने इसीलिए स्वत पदान्त यमक प्रयोग किया है। वह भी मृगया आदि के प्रसंग में या युद्धयात्रा के वर्णन के अवसर पर अन्यथा नहीं। करुण आदि रसों में भी यदि स्वाभाविक रूप में यह अलंकार आ जाए और भाव की हत्या न करे तो वह वर्जनीय नहीं । जैसे—

रिपवो रिपवो घनाश्रवस त्वयि जाते वसुधापरागिणि
जनता जनतापनत त्वया व्यथिताचेत क इवाऽत्र विस्मय ।।[3]

इस पद्य में रिपवो रिपवो जनता जनता इतने अंश में यमक

---

१ रस० पृ० १२३

२ यमकादौ भवेदैक्य डलो बवोलरास्तथा । इत्यादि

—सा०द० १० पृ० २८०

३ शिवप्रसाद भारद्वाज—हा हन्त अपरोक्ष भारत वज्रप्रहार ।

—विश्व० म० फवरी० १९६६ पृ० १२१

अलङ्कार आया है परन्तु वह अर्थ प्रतीत अथवा भावानुभूति में बाधक न होने से करुण के परिपाक में सहायक ही है।

वक्रोक्ति—गद्‌बुद्धि अर्थ में वक्रोक्ति अलङ्कारमात्र रह जाती है। परन्तु उसमें चमत्कार श्लेष के द्वारा ही आता है। श्लेष से वक्रोक्ति का अर्थ साथ साथ जुड़े रहते हैं, अतः एक अर्थ वक्ता के मस्तिष्क में तो दूसरा श्रोता के मस्तिष्क में रहता है। प्रत्युत श्रोता जानबूझ कर शब्द के द्व्यर्थक होने का लाभ उठाता है। इसके दो चित्र बनते हैं— १ शब्द का सुनने पर स्वभावतः जो अर्थ प्रतीत होता है, उसका बिम्ब २ बाद्धा द्वारा लिए गये अर्थ का बिम्ब। जैसे—

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ॥
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित् ॥[2]

यहाँ 'दारुण' शब्द के दो अर्थ निकलते हैं। १ दारुण का स्त्रीलिङ्ग रूप २ काष्ठवाचक 'दारु' शब्द का तृतीयान्त रूप करण अर्थ में। वक्ता का अभीष्ट अर्थ पहला है तो श्रोता उसका उपहास करते हुए 'दारुणा निर्मिता' को मिलाकर 'दारुमयी' अर्थ लेता है। पहला चित्र भावात्मक होगा तो दूसरा चाक्षुष।

यहाँ यह आपत्ति हो सकती है कि जब (दारु) काष्ठ-निर्मित बुद्धि होती ही नहीं तो उसका चित्र कैसे बनेगा। उत्तर यह है कि इस प्रकार की बुद्धि का अनस्तित्व तो स्वयं स्वीकृत किया गया है। परन्तु दार्शनिक पद्धति में वस्तु का निरूपण करने के लिये भावात्मक और अभावात्मक दोनों पक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं। अभावात्मक या असद्रूपात्मक का भी बोध होता है। जैसे ब्रह्म के निरूपण में अस्ति और नास्ति की दोनों ही प्रक्रिया अपनाई जाती है।[4] पुनः काव्य

१ श्लेष सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्। —काद० २ ३६३

२ का० प्र० क०, ९, ३५३ (उ०)

३ तु० अत्रोच्यते द्वयी संविद् वस्तुतो भूतवादिता।
एका समष्टिविषया तन्मात्र-विषयाऽपरा ॥
तन्मात्र-विषया चापि द्वयी साथ निगद्यते।
प्रतियोगिन्यदृश्ये च दृश्ये च प्रतियोगिनि ॥
प्रकरण पञ्चिका ६, ३७-३८ सदस पृ० ४३० पर उद्धृत

४ असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति ॥ —तैत्ति० २, ६

जगत में नाक में अविद्यमान पदार्थ का भी वर्णन होता ही है। आहार्य ज्ञान के लिये कुछ भी अनुचित नहीं है।

वक्रोक्ति का उत्तम उदाहरण मुद्राराक्षस की नान्दी में मिलता है जिसमें शिव और पार्वती का संवाद है।[1] इसी प्रकार वक्रोक्तिपञ्चाशिका इस प्रकार के पद्यों का भण्डार है। प्रायः इस अलङ्कार का प्रयोग परिहास के लिये किया जाता है। जैसे लक्ष्मी और पार्वती के परस्पर संवाद में।[2]

श्लेष—काव्य में बक्रता लाने का सबसे प्रमुख साधन श्लेष है। किसी समय श्लेष का प्रयोग कवियों के उत्कर्ष का सूचक समझा जाता था। वक्रोक्ति में उसका उपयोगिता को देखते हुए उसको श्लेष में अभेद कर दिया गया था। कविराज ने बड़े गर्व के साथ सुबन्धु, बाण और स्वयं को ही वक्रोक्ति मार्ग में निपुण कहा था।[3] ये तीनों ही कवि श्लेष के प्रयोग में दक्ष थे। बाण ने कादम्बरी में उज्जयिनी के नागरिकों को वक्रोक्ति में निपुण बतलाया है।[4] *यद्यपि इस प्रसङ्ग में उसका अर्थ वाक्चातुर्य लिया जा सकता है परन्तु चन्द्रापीड की कादम्बरी के प्रति उक्ति में कवि ने श्लेष का प्रयोग करके वक्रोक्ति-नैपुण्य प्रदर्शित किया है।*[5] यह भी सम्भव है कि अनुराग-प्रकाशन का नायिक

---

१ धन्या केयं स्थिता ते शिरसि शशिकला किन्नु नामैतदस्या
नामैवास्यास्तदेतत् परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः ?
नारीं पृच्छामि नेन्दुं कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद् विभोर्वः ॥ मुरा० १ १

२ भिक्षार्थी स क्व यातः ? सुतनु बलिमखे ताण्डवं क्वाद्य भद्रे ?
मन्ये वृन्दावनान्ते क्व नु स मृगशिशुर्नैव जाने वराहम्।
बाले कच्चिन्न दृष्टा जरठवृषपतिर्गोप एवास्य वेत्ता
लीला-संलाप इत्थं जलनिधिहिमवत्कन्ययोस्त्रायतां वः ॥
—कुवल० पृ० १६२ ३

३ सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा ॥ —राघव पाण्डवीय० १ ४१

४ वक्रोक्तिनिपुणेनाख्यायिकाख्यानपरिचय-चतुरेण विलासिजनेनाधिष्ठिता।
—का०, पृ० १०२

५ देवि जानामि कामरति निमित्तीकृत्य प्रवृत्तोऽयमविच्छिन्नसंतापतन्त्रो व्याधिः।
सुतनु स त्वां न तथा त्वामिव व्यथयति यथाऽस्मान्। इच्छामि देहदानेनापि स्वस्थामत्रभवतीं कर्तुम्। उत्कम्पिनीमनुकम्पमानस्य कुसुमेषुपीडया पतिता-

की राहोलयो मे छिपा कर रखने के लिये ही उस प्रसङ्ग मे श्लेष का प्रयोग किया हो। परन्तु संवादो मे सर्वत्र नहीं तो बहुधा वह श्लेष का प्रयोग करता रहता है, इसमे कोई अत्युक्ति नहीं है।

श्लेष शिलष् धातु से बना है, जिसका अर्थ जुड़ना है[1] यद्यपि भास ने इसका अर्थ मन को अच्छा लगना भी किया है।[2] एक से अधिक अर्थों के जुड़ा रहने से इसे श्लेष कहते है।[3] संभवतः संघात नामक लक्षण ही इसके मूल मे है। क्योंकि उसका स्वरूप भी इसी प्रकार का है।[4] प्राचीन आचार्यों को अभिमत श्लेष गुण भी इसमें काम करता है। क्योंकि उसका स्वरूप भी अनेक पदो का एक पद की भांति प्रतीत होना ही है।[5] यह बात दूसरी है कि उसमे अर्थ-विचार न होकर केवल सन्धियो मे वर्णो को परस्पर मिला कर रखने पर बल दिया जाता है। दण्डी का लक्षण तो बन्ध मे गाढ़ता लाने वाला ही है जो कि समास मे भी संभव है। पर इसमे सन्देह नहीं कि श्लेष अलङ्कार के मूल मे लक्षण और गुण दोनो उसी प्रकार काम कर रहे है जिस प्रकार काव्य के पारिभाषिक रसशब्द के मूल मे आस्वाद और ध्वनि।[6]

श्लेष को सामान्य रूप मे दो प्रकार का माना जाता है—सभङ्ग और

मवेक्षमाणस्य पततीव मे हृदयम्। अनङ्ग शरे तनुभूते ते भुजलते गाढसंताप-तया च दृष्ट्या वहमि स्थलकमलिनीमिव रक्तनामग्रमाम्।

—का०, पृ० ३८८

१ श्लिष् आलिङ्गने धापा० ११८६। तथा—समाश्लिषज्जतु वाष्छम्।
—सिकौ०, पृ० २४५

२ गुणवान् खल्वयमानाप, अपरिचयात्तु न श्लिष्यते मे मनसि।
—स्वबा० १

३ श्लिष्टै पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते। —सादि० १०, ११

४ यत्राल्पैरक्षरै श्लिष्टैर्विविधैर्मुपवर्ण्यते।
तमप्यक्षरसंघात विद्याल्लक्षण-सम्मितम्॥ —नाशा० १६ ७

५ श्लेषो विघटमानार्थ घटमानत्व-वर्णनम्।
स तु शाब्द सजातीयै शब्दैर्वन्ध मुखावह॥ —चन्द्रा० ४, १
तथा—श्लेषो बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानात्मा॥ —सादि० ८ पृ० २६६

६ शिलष्टमस्पृष्टशैथिल्यम्। —काद० १, ४३

७ रस्यते इति रस तथा रस शब्द प्रादुर्भावे इति शब्दा रसा पठ्यन्त इति।
—अभि० भा० १, पृ० २६५ २६१

अभङ्ग। इनका स्वरूप समझाने के लिए जतुकाष्ठन्याय और एकवृन्तगत फलद्वयन्याय इन दोनों न्यायों का प्रयुक्त किया जाता है। क्योंकि सभङ्ग में अनेक पद मिलाकर ऐसे रख जाते हैं कि एक ही शब्द मालूम देता है परन्तु अर्थ करते समय वे तोड़कर पृथक् कर दिये जाते हैं।[1] जैसे एक बड़ी मेज बनाने में कई तख्तों का प्रयोग किया जाता है पर वे ऐसे जोड़े जाते हैं कि एक ही पट्टा प्रतीत होता है। जैसे—

नात काकोदरो येन द्रोग्धाऽपि करुणात्मना।
पूतनामारणख्यातः स मेऽस्तु शरणं प्रभुः ॥[2]

इस पद्य में श्रीकृष्ण और राम दोनों की एक साथ प्रार्थना की गई है। राम के पक्ष में काक-उदर पूतनामा रणख्यात इस प्रकार पद मानना है। परन्तु श्रीकृष्ण के पक्ष में काकोदर पद सर्पवाचक होने से ज्यों का त्यों ही रहेगा। इसी प्रकार उत्तरार्ध में पूतना+मारण+ख्यात इस प्रकार विग्रह करके एक समस्त पद होगा।

अभङ्ग श्लेष में शब्दों को तोड़ना नहीं पड़ता, एक वृन्तगत फलद्वयन्याय से इसमें एक शब्द में कई अर्थ सन्निहित रहते हैं। जब इस अलङ्कार का प्रयोग करते हैं तो विशेष्य का साथ में प्रयोग करना होता है। जैसे—

पवतं भवि पवित्रं जन्म नरकस्य बहुमतङ्गहनम्।
हरिमिव हरिमिव हरिमिव सुरसरिदम्भः पतन्नमत ॥[3]

इस पद्य में तीन बार हरि शब्द आया है जो कि विष्णु, इन्द्र और सिंह का वाचक है। ये तीनों ही उपमान हैं, चतुर्थ उपमेय सुरसरिदम्भस् है। इसलिये पूर्वार्ध के विशेषण चारों ही पक्षों में सङ्गत होते हैं। इनमें पहले तीन अभङ्ग में हैं पर चतुर्थ बहुमतङ्गहनम् एक बहु+मतङ्ग+हनम् इस प्रकार सभङ्ग है।

काव्य बिम्ब में श्लेष का प्रयोग पर्याप्त उपकारी होता है। जितने भी अर्थ निकलते हैं उतने ही बिम्ब वहाँ पर बनते हैं। जैसे उदाहृत पद्य में गङ्गा का पहाड़ों के बीच में से होकर निकलना, उसकी पावनता के कारण सहस्रों व्यक्तियों का उसमें स्नान करना, नरक के कारणभूत पाप को नाश करने में

---

१ माद० १ प० २८५
२ कुवल० प० ७४
३ माद० ७ प० २५४ मक्र० ८२२

पावनता की भावना उसके तट पर क्रीड़ा और अगाधता इनके मानसचित्र अव-बोध के साथ साथ बनते हैं। उसी प्रकार इन्द्र के पवतों के पंख काटने की घटना, वज्र धारण करना, असुरों के साथ संग्राम सदृश भावों के शब्द चित्र बनते हैं। सिंह के पक्ष में भी पहाड़ों पर चढ़ने में पत्थरों का तोड़ना और हाथियों को मारने का भावात्मक चित्र सम्मिलित में उभर आता है। एक साथ इन अनेक शब्दचित्रों के बनने में एक पूरी चित्रशाला सी बन जाती है। नल-चम्पू में त्रिविक्रम भट्ट को श्लेष में अच्छी सफलता मिली है।

उपमा अलङ्कार में शब्द-साम्य के लिये इस अलङ्कार का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है। वास्तविक समानता न रहने पर भी इसके द्वारा समानता प्रस्तुत करने वाला बिम्ब बनता है परन्तु उसमें उपमेय का बिम्ब बनने में विशेष सहायता नहीं मिलती। इस लिये उत्तम कवि इसका प्रयोग बहुत कम मात्रा में करते हैं। वाल्मीकि और कालिदास जैसे कवियों की रचनाओं में श्लेष के केवल छींटे मिलते हैं। जैसे—

सुग्रीवस्य नदीनाञ्च प्रसादमनपालयन।[1]

इस पद्य में प्रसाद शब्द का अनुग्रह और निर्मलता दोनों अर्थ है। सुग्रीव के पक्ष में अनुग्रह और नदी के पक्ष में जल की निर्मलता अर्थ लिया जाता है। इसी प्रकार—

पयोधरीभूत चतुसमुद्रा जगोप गोरूपधरामिवोर्वीम।[2]

इस श्लोकार्ध में उपमेय गाय और उपमान पृथ्वी दोनों के विषय में सङ्गति करने के लिये पयोधरीभूत-चतु-समुद्रा पद के दो अर्थ निकलते हैं—

'अपयोधरा पयोधरा भूता चत्वार समुद्रा यस्या सा' अर्थात् चारों समुद्र जिसके स्तन से बन गये हैं। और

पयसा अधरी भूताश्चत्वार समुद्रा यस्या सा अर्थात् जिसके दूध से चारों समुद्र भी कम पड़ गये हैं।

इस प्रकार सरल होने के कारण दोनों ही भावों के बिम्ब बनते हैं।

माघ, भारवि, बाण और श्रीहर्ष आदि पश्चाद्वर्ती कवियों ने इस श्लेष का अतिशय मात्रा में प्रयोग किया है। इनके श्लेष उपमा, रूपक, विरोध आदि

---

१ वाल्मी० ४, २७, ४४

२ रघु० २ ३

अलङ्कारों के सहायक के रूप में आये हैं। कहीं कहीं स्वतन्त्र रूप में भी। यथा—

चेतो न लङ्कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्राऽपि च साभिलाषम्।[1]

यहां 'मदीयं चेतः लङ्कां न अयते' 'मदीयं चेतः नलं कामयते', मदीयं चेतः अनलं कामयते, अन्यत्र कुत्र अपि साभिलाषं न' और अन्यत्र कुत्रापि साभिलाषं न इस प्रकार सभङ्ग या भङ्ग श्लेष के द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया गया है। कुमारी के स्पष्ट अपने प्रियतम का निर्देश करने में कुमारी-जनोचित लज्जा की हत्या होने की संभावना से श्लेष के द्वारा आशय प्रकट कराया गया है। पञ्चनली में तो कवि ने इस प्रवृत्ति को चरम शिखर पर पहुँचा दिया है। पर जहाँ यह दूसरे अलङ्कार के सहायक के रूप में आता है और सरल होता है वहां अवश्य बिम्बनिर्माण में सहायक होता है। जैसे—

विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः॥[2]

यहाँ एक चित्र बौद्धिक है तो दूसरा चाक्षुष है। दुर्बोध नीतिमार्ग भी जिस पर चलने का प्रकार स्पष्ट हो अपनाना सरल है परन्तु उसके सही-सही प्रयोग का प्रकार बताने वाला व्यक्ति मिलना कठिन है यह बौद्धिक बिम्ब है।

चाक्षुष—गहरे पानी वाले तालाब में सीढ़ी आदि बनी हो तो प्रवेश करना सरल होता है परन्तु यदि सीढ़ियां न बनी हों या तालाब ऐसे स्थान पर हो जहाँ का मार्ग ही ज्ञात न हो तो वहां तक पहुँचना कठिन हो जाता है।

इस प्रकार कवि के विवक्षित भाव समझने में यहां श्लेष अलङ्कार सहायक ही बना है। इस लिये श्लेष का प्रयोग सर्वथा वर्जित नहीं है पर अपेक्षा यह की जाती है कि वह सरल हो और बिम्ब वनने में बाधक न हो। रसादि के प्रसङ्ग में दुरूहता के कारण उसका प्रयोग भाव प्रतीति में बाधक बन जाता है। इसी लिये आनन्दवर्धन ने काले च ग्रहण त्यागौ नातिनिर्वहणैपिता[3] की चेतावनी दी है।

अन्य शब्दालङ्कार दुर्बोध होने के कारण पाठक या श्रोता के लिये पहेली बन जाते हैं। अतः उनमें काव्य बिम्ब बनने में सहायता नहीं मिलती।

१ नै० च० ३ ६७
२ किरा० २, ३
३ ध्वन्या० २ १८

नवम परिच्छेद

साम्य-मूलक अलङ्कार व शब्दचित्र

अर्थालङ्कारों में काव्यबिम्बों में सहायक अलङ्कारों में सर्वाधिक उपकारी उपमा ही है। उसमें साम्य स्पष्ट रहने से सुबोधता भी रहती है। उसी को घुमा फिरा कर कहने से अनेक उक्ति-प्रकार बन जाते हैं।[1] उपमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत का वर्णन होने से दो समानान्तर पदार्थ प्रस्तुत किए जाते हैं। उपमान के प्रकाश में उपमेय का स्वरूप और निखर कर पाठक की दृष्टि के आगे उभरता है। इसके कारण देशी विदेशी सभी आलोचक बिम्ब विधान में इसे उपयोगी स्वीकार करते हैं। प्राचीन आचार्यों में किसी न किसी ने सभी अलङ्कारों का शिरोमणि एवं काव्य-चमत्कार का अनिवार्य माध्यम मानते हुए इसे कवियों की माता ही घोषित किया था।[2] दूसरे आचार्य ने इसकी तुलना नटी के साथ की है जो अकेली विभिन्न भूमिकाओं में आती है। इसी प्रकार उपमा थोड़े से उक्तिभेद से अनेक अलङ्कारों को जन्म देती है। अप्पयदीक्षित ने विस्तार से उन्हें गिनाया है।[3]

---

१ तथा हि— 'चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्रः' इत्युपमेयोपमा। 'मुखं मुखमिवे-' त्यनन्वयः। "मुखमिव चन्द्रः" इति प्रतीपम्। 'चन्द्रं दृष्ट्वा मुखं स्मरामि" इति स्मरणम्। 'मुखमेव चन्द्रः" इति रूपकम्। 'मुखचन्द्रेण तापः शाम्यति" इति परिणामः। किमिदं मुखमुताहो चन्द्रः' इति सन्देहः।—'चन्द्र इति चकोरास्त्वन्मुखमनुधावन्ति' इति भ्रान्तिमान्। 'चन्द्र इति चकोरा कमलमिति चञ्चरीकास्त्वन्मुखे रज्यन्ति' इत्युल्लेखः। 'चन्द्रोऽयं न मुखम्" इत्यपह्नवः। 'नूनं चन्द्रः" इत्युत्प्रेक्षा। 'चन्द्रोऽयम्" इत्यतिशयोक्तिः।

तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमा ज्ञानात्।

ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदसहिता सा॥ —चित्रमी०, पृ० ४३

२ अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्। अलङ्कार-शेखर-केशवमिश्र, उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम॥ —पृ० ३६ पर उद्धृत

३ उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्र-भूमिका भेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥ —चित्रमी० ४१ पृ०

उपमा अलङ्कार का मूल आधार है सादृश्य या साधर्म्य। यह मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है—रूप साम्य और प्रभावसाम्य। गुणक्रिया रूप साधर्म्य होने पर प्रभाव साम्य होता है। रूप-साम्य के लिए उपमान उपमेय में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव की योजना की जाती है। तीसरा साम्य शब्द साम्य शब्द मात्र की सहायता से प्रतिपादित किया जाता है। उसमें क्योंकि शब्द बिम्ब के निर्माण अथवा विवक्षित आशय के मूर्तीकरण में कोई सहायता नहीं मिलती वह अन्तर को स्पष्ट नहीं करता। अतः आचार्यों में सभी ने उसे स्वीकार नहीं किया। उसकी सत्ता को प्रमाणित करने के लिए रुद्रट का सम्मति प्रस्तुत करना पड़ा।[1] शब्द-साम्य बिना श्लेष का काव्यता के नहीं बनता। जैसे—

सकल कल पुरमेतज्जात सम्प्रति सुधांशु बिम्बमिव।[2]

यहाँ सकला कलायस्य और कलकलेन सह वर्तमानम् इन विग्रहों में नगर एवं चन्द्र बिम्ब दोनों की समानता समझ में आती है।

यद्यपि नारी का मुख और चन्द्रमा दोनों में वास्तविक समानता कुछ नहीं है तथापि हृद्यता शीतलता प्रसाद आदि कुछ समानताओं को दृष्टि में रख कर यह तुलना की जाती है। सभी तुलनाएँ इस आंशिक समानता को दृष्टि में रखकर की जाती है। क्योंकि पूर्ण रूप से किसी की समता किसी के साथ सम्भव नहीं है।[4]

यह समानता उत्कृष्ट गुण वाले के साथ हो तो उसके प्रकाश में प्रकृत का स्वरूप स्पष्ट होगा पर हीन गुण वाले के साथ होने पर यह उद्देश्य सिद्ध न होगा। अधिक गुण वाले के साथ समता में भी अनुपात का ध्यान रखना आवश्यक होता है। अन्यथा तब भी बिम्ब न बनेगा या विकृत बनेगा। इस कारण आचार्यों ने अलङ्कार दोषों के प्रसङ्ग में प्रधानतया उपमा के ही

---

१ स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमा-समुच्चयौ किन्तु।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवतः। —रुद्रट० ४ ३२

२ साद० पृ० ८७

३ तु०—ननु पुरे सकलत्व कलकल शब्दसाहित्यम् सुधांशबिम्बे कला साकल्यम् इति नकोऽनुगतो गुणो यस्येत मदम् श्लेष भित्तिकाऽभेदाध्यवसायमूलयाऽतिशयोक्त्या अस साधारण्यावभासः —विमा० पृ० ५५

४ सर्व सर्वेण सारूप्य नास्ति भावस्य कस्यचित्।
यथाप्रसक्ति कृतिभिरुपमा सुप्रयुज्यते॥ —भामा० २ ४४

दाय गिनाये हैं। इस प्रकार के दो उदाहरण भामह के अनुसार पहले दिखाये जा चुके हैं।[1]

उपमा के भेद आचार्यों ने बहुत गिनाये हैं परन्तु कुछ तो व्याकरण के अनुसार क्विप क्यच् आदि प्रत्ययों के प्रयोग के आधार पर हैं। वे काव्य-बिम्ब की दृष्टि से महत्त्व नहीं रखते। अतः यहाँ केवल उन पर विचार करेंगे जिनसे काव्य-बिम्ब का निर्माण करने में सहायता मिलती है।

इनमें प्रथम पूर्णोपमा है जिसमें उपमान, उपमेय साधारण धर्म और वाचक शब्द चारों का शब्द से उपादान होता है। इस भेद को लगभग सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। इसके भी श्रौती एवं आर्थी ये दो भेद किये हैं जिनका आधार वाचन और द्योतन का भेद है। इव और यथा अथवा इव के अर्थ में 'तत्र तस्येव'[2] से विहित वति प्रत्यय के प्रयोग में श्रौती पूर्णोपमा स्वीकार की है और तुल्य कल्प वद्‌च आदि प्रत्ययों के योग में आर्थी स्वीकार की है।[3] इस भेद का कारण भी यह बताया है कि इवादि शब्दों को सुनते ही उपमानोपमेय भाव का बोध हो जाता है। प्रायः उपमान का स्थान इव के साथ ही रहता है परन्तु तुल्य के प्रयोग में कभी उपमेय के अनुसार पर्यवसान होता है तो कभी उपमान के अनुसार तो कभी उपमान एवं उपमेय समविभक्तिक होते हैं। फलतः इसमें पाठक या श्रोता को पर्यालोचन करना पड़ता है कि यहाँ पर्यवसान किसमें होता है।[4]

इसका वास्तविक आशय क्या है? यही कि इवादि के द्वारा सादृश्यभाव तुरन्त प्रतीत हो जाता है और फलस्वरूप साधर्म्य के स्पष्ट हो जाने से शब्द चित्र बनने में सरलता रहती है जबकि वाचक प्रत्ययों के प्रयोग में सादृश्य की कुछ विलम्ब से उपस्थिति होती है। जब सादृश्य का बोध देर से होगा तो निश्चय ही शब्द चित्र नहीं बन पायेगा। शास्त्रीय भाषा में प्रयुक्त शाब्दबोध शब्द का तात्पर्य वाक्यार्थ में अन्वित सभी शब्दों के सामूहिक अर्थबोध में बोद्धा के मस्तिष्क में एक पूरा चित्र उतर जाना ही है। जैसे—अरविन्द-सुन्दर वदनम् इसका शाब्द बोध 'अरविन्द के द्वारा बोधित समानता के हेतु सौन्दय

---

१ द्र० अ० ३ टि० ८५-६०

२ पा०, ५, १ ११६

३ श्रौती यथेववा शब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि ।
आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः ॥ —साद०, १० १६

४ वही, पृ० २६३

से युक्त पदार्थ अरविन्द से यह मुख अभिन्न या एक रूप" है। इस प्रकार के बोध होने का कारण यह है कि जब "अरविन्दम् इव सुन्दर वदनम्" यह कहते हैं तो अरविन्द और वदन दोनों उपमान उपमेय समान विभक्तिक हैं। शास्त्रीय सिद्धान्त है कि समान विभक्तिकयोर्नामार्थयोरभेदातिरिक्त सम्बन्धाऽव्युत्पन्न" अर्थात दो समानाधिकरण प्रातिपदिकों का परस्पर अभेदान्वय ही सम्भव है। परन्तु अभेदान्वय होगा कैसे? जैसे 'घट पटो न' यह बाधक बुद्धि घट और पट में अभेद ज्ञान नहीं होने देती इसी प्रकार अरविन्द और वदन दोनों भिन्न पदार्थों का अभेदात्मक बोध सम्भव नहीं होगा। इसलिए अरविन्दमिव का लक्षणा से 'अरविन्द के द्वारा वाचित सादृश्य का हेतु' यह अर्थ लिया जाता है। उसका अभेदान्वय सुन्दर के धर्म सौन्दर्य में होता है। पुनः उसका अभेद संसर्ग उस सौन्दर्य से विशिष्ट वदन से।

इसका तात्पर्य यही है कि 'अरविन्दम इव सुन्दर वदनम्' ये चारों पद अपने आप में स्वतन्त्र होकर पृथक्-पृथक् अर्थ को बोध कराने वाले हैं। जब तक इनका परस्पर सम्बन्ध नहीं जुड़ेगा, तब तक कोई वाक्यार्थ नहीं बनेगा। जब तक वाक्यार्थ नहीं बनता तब तक कोई शब्द-चित्र नहीं बन पायगा या मुख और कमल की एक समन्वित प्रतिमा हमारे मानस-फलक पर नहीं उतर पायगी। यहाँ अरविन्द जो उपमान को चुना है उसके पीछे उसमें निहित वर्ण, सुगन्ध और विकस्वरत्व धर्म हैं जो कि सुन्दरत्व के मूल हैं। मुख में इन सभी गुणों के अस्तित्व की भावना है और उसके परिमाण का अनुमान उपमान गत धर्मों के अनुपात से लगाया जा सकता है। क्योंकि सिद्धान्ततः उत्कृष्ट गुण वाले के साथ ही समानता की जाती है तभी उपमेय की गुणवत्ता भासित हो सकती है।

यह पूर्णोपमा कभी एक वाक्य में सीमित होती है तो कभी दो में। इसी प्रकार कभी एक ही उपमान के साथ समानता की जाती है तो कभी एक से अधिक के साथ। पुनः कभी एक ही साधारण धर्म को लेकर अनेक के साथ तुलना की जाती है और कभी पृथक्-पृथक् धर्म को लेकर पृथक्-पृथक् उपमानों से। इनमें सर्वप्रथम रूप साम्य का उदाहरण रघुवंश का 'पाण्ड्योऽयम्' आदि। पद्य है।[१] इसमें श्यामवर्ण के पाण्ड्य-नरेश की तुलना पर्वतराज हिमालय से की गई है। पर्वत का निम्न भाग जहाँ घास आदि न जमा हो, काला होता है। राजा का डील-डौल पर्वतराज के समान है। प्रभात काल में पड़ती सूर्य की

१ रग० पृ० १८६
२ रघु० ६ ६१ ह० प० ७२

लाल लाल किरणों का साम्य शरीर पर किये गये लाल चन्दन के अङ्गराग से है। अङ्गराग सारे शरीर पर लगाया जाता है, परन्तु वस्त्रों और आभूषणों के कारण तन तो उसका ढका हुआ है, केवल मस्तक पर दिखाई दे रहा है। इस लिए सानुदेश (उपत्यका) पर ही धूप की स्थिति वर्णित की है। गले पर पड़े मोतियों के लम्बे हार की तुलना निर्झर से की गई है। इस प्रकार राजा के शरीर आकार, वर्ण, भूषा सबके समानान्तर उपमान रखने से यहां बिम्ब और प्रतिबिम्ब भाव बनाया गया है। इसमें पर्वत एवं राजा का पूरा चित्र उभर आता है।

बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव

इस प्रसङ्ग में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव के स्वरूप पर विवेचन करना उचित होगा। लोक में देखा जाता है कि सूर्य या चन्द्र का बिम्ब दर्पण अथवा जल में प्रतिबिम्बित होता है। इनमें सूर्य या चन्द्र के मण्डल की आकृति बिम्ब कहलाती है तो दर्पण या जलाशय में पड़ी छाया प्रतिबिम्ब कहलाती है। प्रकृत में उपमेय की छाया और उपमान की छाया दोनों सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं। परन्तु जब दोनों को आस-पास रखा जाता है तो अत्यधिक समानता के कारण उनमें परस्पर बिम्ब और प्रतिबिम्ब का सा सम्बन्ध दिखाई देता है। यह सम्बन्ध साधारण धर्म के कारण होता है।

वस्तुनो भिन्नयो धर्मयो परस्परसादृश्यादभिन्नतयाध्यवसितयोर्द्विरुपादानं बिम्ब-प्रतिबिम्बभावः।

इस लक्षण के अनुसार बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव में पदार्थों की समानता का आधार स्वरूपमात्र न होकर तत्तद्गत धर्मों की समानता भी होती है। यही कारण है कि दृष्टान्त अलङ्कार में उपमेय और उपमान दोनों का अपने-अपने समान धर्म के साथ प्रतिबिम्बन होता है।[1] साहित्यदर्पणकार ने इसी बात को स्पष्ट करने के लिए लिखा था कि औपम्य में साधारण धर्म दो प्रकार से विवक्षित होता है।

१ उपमेय और उपमान दोनों का गुण या साधारण धर्म एक ही हो और एक बार एक ही शब्द से कहा जाय।

२ दोनों के साधारण धर्म का पृथक्-पृथक् कथन हो। परन्तु वह भी दो प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है। या तो सचमुच ही दोनों के धर्म पृथक्

---

१ तु —दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्। —सा० द०, १०, ५१

पृथक् हो या वास्तव में एक होने पर भी दो वाक्यों में पृथक्-पृथक् शब्द में कहे गये हों।

वास्तव में एक गुण क्रिया रूप धर्म न होने के कारण ही बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव में उपमेय और उपमान के धर्मों का निर्देश पृथक्-पृथक् किया जाता है। कोई क्रिया या वाचक यदि दोनों को परस्पर जोड़ दे तो उपमानकार बन जाता है और ऐसा न हो तो दृष्टान्त रहता है। उदाहरण के लिए पाण्ड्योऽयम में इव साधर्म्य का वाचक है। असारोपितमस्यारत्व आदि समुचित राज्यगौरव धर्मों का निर्देश प्रतिनिर्देश है जो कि साधर्म्य को स्पष्ट करता है। वाचक इव ने उपमानोपमेय भाव को वाच्य बनाया है और आभाति क्रिया ने दोनों में एकवाक्यता ला दी है। वास्तव में यहाँ आभाति भी क्रिया रूप धर्म है ही जो कि दोनों में अनुगामी है। पर कभी कभी इस प्रकार की कोई क्रिया नहीं भी होती है जैसे—

> विद्युत्वन्त ललितवनिता मेन्द्रचाप सचित्रा
> सगीताय प्रहत मुरजा स्निग्धगम्भीरघोषम्।
> अन्तस्तोय मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रलिहाग्रा
> प्रासादास्त्वा तुलयितुमल यत्र तस्तैर्विशेष[2]॥

मेघदूत के इस पद्य में यहाँ धर्म विद्युत्त्व और ललितवनितात्व इन्द्रचाप सामित्व और सचित्रत्व स्निग्धगम्भीर घोषत्व और प्रहत मुरजत्व अन्तस्तोयत्व और मणिमयभूमित्व तुङ्गत्व और अभ्रलिहशिखरत्व हैं जिनके द्वारा मेघ और प्रासादों की समानता सिद्ध होती है। साम्य का शाब्दिक प्रतिपादन तुलयितु से होता है। इस प्रकार इन समानान्तर धर्मों में व्यतिरिक्त कोई अन्य ऐसा धर्म यहाँ पर नहीं है जो इन दोनों को जोड़ता हो। तुलयित कहने से साम्य वाच्य हो गया है अन्यथा दृष्टान्त अलंकार होता। जयरथ ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि विद्युद्वनिता आदि का धर्म के रूप में ही ग्रहण हुआ है जिसकी सूचना विशेष शब्द में दी है। सब धर्म अलग अलग कहे गये हैं इस लिये उन्हें अनुगामी धर्म भी नहीं कह सकते। परस्पर समानता बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव के कारण ही है जिसमें उनमें अभेद प्रतीति होती है।[3]

---

१ एकरूप क्वचित क्वापि भिन्न साधारणो गुण।
भिन्ने बिम्बानुबिम्बत्व शब्दमात्रेण वा भिदा —साद० १० २३ २८

२ मदु २ १

३ एकस्यैव धर्मस्य सम्बन्धिभेदेन द्विरुपादान वस्तुप्रतिवस्तुभाव।

गिनाये हैं जो कि साधारण धर्म की स्थिति के कारण बनते हैं।[1] यह धर्म कहीं पर तो उपमेय और उपमान दोनों में ही अविन रहता है जैसे—

सञ्चारिणी दीपशिखेव[2] आदि पद्य में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में दो पृथक पृथक उपमायें हैं। प्रथम में इन्दुमती की समानता सञ्चारिणी दीपशिखा से है। सञ्चारिणी पद दोनों के साथ अन्वित है। उत्तरार्ध में 'स स भूमिपाल' उपमेय है और 'नरेन्द्र मार्गाट्ट' उपमान है। दोनों का अनुगामी धर्म 'विवर्णभाव प्रपद' है। 'य य' और 'स स' के निर्देश प्रतिनिर्देश ने दोनों को परस्पर सम्बद्ध कर के एक पूर्ण बिम्ब बना दिया है

धर्म कहीं पर केवल बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव की स्थिति में पाया जाता है। जैसे पूर्वाग्रहुन 'विद्युत्वान' आदि पद्य में। कहीं पर दोनों ही प्रकार से रहता है। जैसे 'पाण्ड्योऽयम' आदि पद्य में कहीं पर वस्तु प्रतिवस्तु भाव से मिश्रित होकर बिम्ब प्रतिबिम्बभाव को प्राप्त होता है। कहीं वह धर्म वस्तुतः न रहता हुआ भी उपचार से लाया जाता है तो कहीं शब्द मात्र में स्थित रहता है।

दोनों की एकत्र स्थिति—वस्तु प्रतिवस्तुभाव में साधर्म्य की स्थिति में प्रतिवस्तूपमा होती है इस में एक ही धर्म दो पृथक शब्दों से दो वाक्यों में कहा जाता है परन्तु इसमें उदाहरण भी मिलते हैं जहां कि वस्तु प्रतिवस्तुभाव के द्वारा बिम्ब प्रतिबिम्बभाव बनाया जाता है और पुनः उन को अनुगामी धर्म से जोड़ा जाता है यहां वस्तु प्रतिभान और बिम्बप्रतिबिम्ब के सामानाधिकरण्य की बात परस्पर विरुद्ध और बेतुकी प्रतीत होती है। क्योंकि दोनों के स्वरूप भिन्न हैं। परन्तु यह धर्म के प्रतिपादन की रीति पर निर्भर करता है उदाहरण के लिये मूर्च्छा से मुक्त होती उर्वशी की तुलना अन्धकार से कुछ २ रिक्त होती हुई रात्री से तथा क्षय के समय अधिकांश धुएं से विरहित अग्नि की ज्वाला से तथा किनारा टूटने के कारण पहले गदली हुई किन्तु धीरे धीरे निर्मल होती गङ्गा की धारा से का जाने से मालोपमा बनाती है[3] यहां मुच्यमाना एवं रिच्यमाना दोनों

---

१ तत्र च क्वचिदनुगाम्येव धर्मः। क्वचिच्च केवलं बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नः। क्वचिदुभयम्। क्वचित् वस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बितं बिम्बप्रतिबिम्बभावम्। क्वचिच्च धर्मोऽनप्युपचरित। क्वचिच्च केवलशब्दात्मकः। रस० २,१

२ द्र० अ० २ टि० ५०

३ आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गा रोधःपतनकलुषा गृह्णतीव प्रसादम्॥ —विक्रम० १ ६

विशेषण एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं। "छिन्न-भूयिष्ठधूमा" और "प्रसाद गृह्णती" सर्वथा पृथक् धर्म है परन्तु धूम के त्यागने एवं निर्मल होने में अवस्था के पौर्वापर्यमात्र का भेद होने से साम्य है। यहाँ आविलत्व को त्यागना नैर्मल्यग्रहण के माध्यम से प्रकट किया गया है। अतः इन दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है। पुनः तमस् का त्याग एवं छिन्न होने के कारण धूम का त्याग एवं नैर्मल्य-ग्रहण के रूप में आविलत्व का त्याग और मूर्च्छा से मुक्त होना इन सब के वस्तुतः एकार्थीभाव के कारण वस्तु प्रतिवस्तु-भाव है। इस प्रकार यहाँ इन दोनों सम्बन्धों-वस्तुप्रतिवस्तुभाव और बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का परस्पर साङ्कर्य है। "लक्ष्यते" इस क्रिया ने इन सभी को परस्पर सम्बद्ध कर दिया है। वह सब का अनुगामी धर्म बन गया है। मालोपमा की दृष्टि से यह अनेकधर्मा है, उपमा की दृष्टि से समान-धर्मा पर दोनों सम्बन्धों पर आश्रित। अब इस के बिम्ब पर दृष्टि डालें तो तीनों उपमान बिम्बों के प्रकाश में उपमेय बिम्ब 'मूर्च्छा' से मुक्त होती हुई वरतनु' चमक उठता है। इस प्रकार यह बहुरंगी चित्र है। जिस में पृष्ठभूमि में कई चित्रों की झलक है। जैसे प्रभात में पूर्व की अन्धकाराच्छन्न रात्री, रात्री में अग्नि की ज्वाला का धूम से आवृत होना, किनारे के पतन से नदी-जल की आविलता इन का पूर्वाभास होगा। यह स्मृति के द्वारा प्रत्यक्ष होगा। इनके प्रकाश में अब नायिका के स्वरूप का चित्र देखा जाय तो झुटपुटे के समय ईषत्प्रकाशोन्मुख रात्री निर्धूम अग्निज्वाला एवं स्वच्छप्राय गङ्गाजल के तुल्य ही उर्वशी का स्वरूप मूर्छा की खिन्नता के कारण कुछ-कुछ मलिन, स्वभावतः उज्ज्वल सामाजिक की दृष्टि के समक्ष उभर आता है। एल०एस० भण्डारे इस कालिदास की अद्भुत कल्पना की देन मानते हैं[1]।

इस काव्य-बिम्ब की विशेषता यह है कि इस में लक्ष्य के स्वरूप का ज्ञान लक्षणों के द्वारा होता है और कवि ने पाठक की कल्पना खगों का उड़ान का अवसर दे दिया है कि इन अवस्थाओं में रात्री, अग्निज्वाला एवं गङ्गा की धारा का कैसा रूप होता है और उन की तुलना में उर्वशी का कैसा होगा। इस प्रकार के सश्लिष्ट बिम्ब प्राय बहुत कम मिलते हैं।

उपचरित धर्म—कहीं-२ यह धर्म उपचरित या आरोपित होता है। जैसे –

---

1 This stanza is an effusion of the poetic imagination deeply stirred at the sight of Urvashi's gradually recovering her senses from a deep swoon undoubtedly written by Kalidasa in moments of his highest inspiration

— L S Bhandare, Im of Kali p 12

शतकोटि कठिन चित सोऽह तस्या सुधरमय मूर्ते ।
यनाकारिषि मित्र स विकलहृदयो विधिर्वाच्य ॥

राम की इस उक्ति म अपन मन का वज्र क तुल्य बताया गया है। मन का काठिन्य अन्य है और वज्र का अन्य। दोनो का उपचार म एकीकरण किया गया है। कठोर पर साधारण धर्म शब्द मात्र म विद्यमान होता है। जैसे—

यत्र वसन्ति समनसि मनजपशो च शीलवन्त सवत्र समाना मन्त्रिणो मुनय इव[2]

यहा मुनियो की भाति मन्त्रियो का सज्जन व दुष्ट के प्रति समान वृत्ति बताई गई है। ऐसे स्थल म बिम्ब धूमिल हो रहेगा।

वधर्म्यमूलक उपमा—कहीं-कहीं वैधर्म्य से भी काव्य बिम्ब पाये जाते हैं। जैसे—

म्रियमाणव नश्यत्पुदके रेखव खल जने मत्री ।
सा पुन सुजन कृता अनघा पाषाण रेखव ॥[3]

यहा पूर्वार्ध और उत्तरार्ध म दो पृथक्-पृथक् उपमाए हैं। पूर्वार्ध म दुष्ट के साथ की गई मित्रता उ म है और पानी म खीची गई रेखा उपमान है। दोनो का अनुगामी धर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाना है। उत्तरार्ध म सज्जन के साथ की गई मित्रता और पत्थर की लकीर का उपमानोपमेय भाव है। अनघाव साधारण धर्म है। अत इन दोनो उपमाओं म स्थित वधर्म्य म व्यतिरेकोपमा की सृष्टि होती है। अन्धकार म प्रकाश की भांति वैधर्म्य म साधर्म्य के स्पष्टतर होने से दो बिम्ब समानान्तर किन्तु परस्पर सिद्ध बनते है। इसी प्रकार—

मृदघट इव सुख भद्यो दु सधानश्च दुजनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघटवद दुर्भेद्यश्चाश सधय[4] ॥

इस श्लोक म पूर्वोक्त भाव दो परस्पर विरुद्ध उपमाओ म प्रस्तुत किया गया है। फलत पूर्वार्ध और उत्तरार्ध म पृथक्-पृथक् दो खण्डबिम्ब बनते हैं। एक पक्ष बौद्धिक रहता है इस म ध्यान म आनन्द यह है कि आपातत उपमेय और

१ यथा माता विवर्जितवन स्वामगता रामस्याक्ति । अत्र काठिन्य पार्थिवा धर्मश्चित्त उपचरित　　　　　—रस० पृ० १७६

२ दशा प　६

३ अ० प　८

४ अज्ञात कत क मुभ पित

उपमान मूर्त प्रतीत होने है जब कि प्रथम में अमूर्त और मूर्त दोनों है। नीच स्वय अमूत है पर रेखा मूर्त है। एक ही उपमा में वैधर्म्य पर आश्रित तुलना निम्न पद्य में है—

न भवति भवति च न चिर भवति चिर चेत् फले विसवादि।
कोप सत्पुरुषाणा तुल्य स्नेहेन नीचानाम्॥[1]

यहा कोप की स्थायिता और अस्थायिता को लेकर सज्जन व दुर्जन में तुलना की गई है। नीच के प्रेम की तुलना में सज्जन के कोप की अचिर-स्थायिता के कारण व्यतिरेक होने पर भी तुल्य शब्द का प्रयोग होने से उपमा बन गई है।

व्यतिरेक में इसका अन्तर यही मानना होगा कि उसमें उपमेय और उपमान के मध्य तारतम्य का भाव प्रधान रहता है जबकि इसमें वैधर्म्य पर आधारित औपम्य। साम्य व्यतिरेक में भी विवक्षित होता है पर प्राधान्य में नहीं। इसी कारण वह आक्षिप्त भी रहता है। वस्तुत वैधर्म्य की स्थिति में साम्य सभव ही रहा है जैसे—अकलङ्क मुख तस्या न कलङ्की विधुर्यथा।[2]

इसमें मुख की तुलना चन्द्रमा से की है। मुख को निष्कलङ्क होने के कारण कलङ्की चन्द्रमा से बढकर कहा है। जोमाकर ने अब वैधर्म्य अलङ्कार पृथक् स्वीकार कर लिया तो इस पृथक् प्रकार का स्वीकार करने से इतना ही औचित्य हो सकता है कि व्यतिरेक में एक की अन्य की न्यूनता और आधिक्य सत्ता आधार मानी जाय और वैधर्म्य में विपरीत धर्म को। जैसे—

कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्ड
त्यजति मुदमुलूक प्रीतिमाश्चक्रवाक।[3]
उदयमहिमरश्मिर्याति चास्त हिमाशु—
हतविधिलसितानां हि विचित्रो विपाक।[4]

इसमें कुमुदो का मुकुलन और कमलो का विकास परस्पर विरोधी एक काल-भावी के रूप में प्रस्तुत किये गये है। यहा इनकी प्रतिस्पर्धा का भाव विवक्षित नही है। प्रतिस्पर्धा में व्यतिरेक होता है।

---

१ अर०, ८
२ नाद०, पृ०, २२४
३ उद्दिष्टस्य प्रतिपक्षतयानुनिर्देशो वैधर्म्यम्। —अ० २५
४ शिव०, ११ ६४ अर०, १०५ (उ०)

व्यतिरेक और वैषम्य अलंकारों में दो परस्पर समानान्तर बिम्ब बनते हैं जो कि विरुद्ध अथवा समान धर्म वाले होते हैं। समान धर्म में न्यूनाधिक्य से अन्तर आ जाता है। यद्यपि दो समानान्तर बिम्बों से एक पूर्ण बिम्ब नहीं बन पाता परन्तु तुलना के कारण उनमें जटिलता आ जाती है। जैसे—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना—
माविष्कृतोऽरुण-पुरस्सर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥[1]

यहाँ भी समान वर्णन के प्रसङ्ग में सूर्य एवं चन्द्र का एक ही काल में उदय और अस्तमन प्रस्तुत किया गया है। यहाँ प्रतिस्पर्द्धा का भाव न होकर स्थितिवैषम्य विवक्षित है। परन्तु इन दोनों के समकालिक उदयास्तमन का सम्बन्ध समाज के उत्थानपतन के साथ बिम्ब प्रतिबिम्बभाव से जोड़ देने के कारण बिम्ब चाक्षुष से बौद्धिक में बदल गए हैं। उसकी प्रतिक्रियास्वरूप एक समवेदना का सवेदन और होता है जो कि हृदय पर गहरी छाप डालता है। यही इसका वैशिष्ट्य है।

कल्पित उपमान—कहीं पर इस बिम्ब को विशेष प्रभावशाली बनाने के लिए नवीन उपमान की कल्पना करनी पड़ती है। यह नया उपमान कभी तो सृष्टि का पदार्थ ही नहीं होता और कभी कवियों द्वारा सर्वथा अप्रयुक्तपूर्व होता है। पहले प्रकार को भी दो प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है। एक में उस उपमान की नास्तिक अविद्यमानता अभिहित होती है तो दूसरी में गम्य। पहली में 'यदि' का प्रयोग होने के कारण आचार्यों ने उसे या तो अद्भुतोपमा[2] या उत्पाद्योपमा[3] नाम दिया है अथवा अतिशयोक्ति के एक अवान्तर भेद के रूप में गिना है।[4] जैसे—

---

१ शाकु० ४. २

२ तु० यदि किञ्चिद् भवेत्पद्मं सुभ्रु विभ्रान्तलोचनम् ।
तत् मुखश्रियं धत्तामित्यसावद्भुतोपमा ॥ —काव्य०, २. २४

३ तु० उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम् ।
तदोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥ —(शिव० ३. ८)
अनोपमानायमुत्पाद्यापमयन प्रतीयमानमभिधीयमानं च सादृश्यमभिहित-
मिति सेयमुत्पाद्योपमा नाम विद्वन्यासमासु प्रपञ्चोपमाभवति ।
—सर० पृ० ४१३

४ यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् । —का० प्र० का० १०, १००

पुष्प प्रवालोपहितं यदि स्यात् मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रोष्ठपर्यस्त-रुचः स्मितस्य ॥[1]

इस पद्य में नव पल्लव पर रखा श्वेत कुसुम एवं मूगे के ऊपर मोती ये सम्भावित हैं और लोक में उनकी स्थिति देखी जा सकती है । यहाँ पार्वती के लाल अधरों पर बिखरी मुस्कान-मात्र का बिम्ब कवि ने प्रस्तुत करना है । इसलिए उसका चित्रफलक छोटा होने से चित्र भी छोटे-छोटे हैं । उपमान चित्र दो हैं ना उपमेय एक। फलस्वरूप बहुरंगी चित्र प्रस्तुत हुआ है। इसके विपरीत जहाँ चित्र-फलक बड़ा होना है और चित्रणीय भी अनुपात में बड़ा हो तो उसी प्रकार बड़ा चित्र प्रस्तुत किया जाता है। जैसे माघ के "उभौयदि" आदि[2] पद्य में उपमेय श्रीकृष्ण का वक्ष स्थल है । प्रभावशाली पौरुष चित्र प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक है कि वक्ष स्थल विस्तीर्ण वर्णित किया जाय । आकाश से अधिक विस्तृत वस्तु क्या होगी ? वर्ण्य के श्याम वर्ण से उसका भी वर्ण-साम्य है । इस प्रकार दोनों की आकार, आयाम एवं वर्ण तीनों प्रकार से समानता सिद्ध हो जाती है । पुनः आकाश-गङ्गा का प्रवाह दूधिया होने से मोतियों के हार से वर्ण में समान कहा है । नदी का प्रवाह चौड़ा होता है, इसलिए उसके प्रकाश में मोतियों का हार कई लड़ियों वाला सूचित होता है। दो समानान्तर रेखाओं में गङ्गा के प्रवाह का प्रपात गले में पड़े मोतियों के हार का चित्र ही प्रस्तुत करता है। इस प्रकार यह बिम्ब चित्रणीय पदार्थ के अनुपात के अनुरूप ही बड़ा है।

लोक में सम्भव होने पर भी अप्रयुक्त उपमान से बना चित्र—

सद्यो-मुण्डित-मत्तहूण-चिबुक-प्रस्पर्धि नारङ्गकम् ।[3]

इस पद्य में ऐसे उपलब्ध होता है । हूण क्योंकि इस पृथ्वी पर वस्तुतः विद्यमान जीव है । मदिरा से उपरक्त एवं स्वभावतः रक्तवर्ण किन्तु अभी-अभी किये गये क्षौर (Shave) के कारण और लाल उसकी ठुड्डी इसी लोक की वस्तु है । पर कवियों की दृष्टि उधर न जाने के कारण यह अयोनि अर्थ ही रह गया है । इस उपमान की तुलना में उपमेय नारङ्गी का रङ्ग पाठक की अन्तर्दृष्टि को प्रत्यक्ष हो जाता है ।

---

१ कुम० १, ४४ । अस० ने इसे असम्बन्ध में सम्बन्ध रूपा अतिशयोक्ति का उदाहरण माना है । पृ० २२८

२ द्र० ऊपर टि० ३८

३ साद०, ८, पृ० २६६

प्राचीन काल में कवि रंगों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए विविध उपमानों का प्रयोग करते थे। कालिदास ने दग्ध मदन की भस्म को कपोत कर्बुर कह[1] कर उसका वर्ण प्रत्यक्षकल्प किया है तो नारायण को भी असित श्याम[2] कहकर उनके वर्ण का भान कराया है। किसी कवि ने उदित होते सूर्य का वर्ण क्रुद्ध वानर के रक्ततर कपोलों के साम्य में प्रदर्शित किया है।[3] बाण स्थान स्थान पर ऐसे उपमानों के द्वारा ही उपमेय के वर्ण का प्रत्यक्षीकरण कराते हैं।[4]

रशनोपमा—उपमा का एक प्रकार रशनोपमा है जिसमें उपमेयोपमानभाव की शृङ्खला सी बँध जाती है। इसके माध्यम से यह शब्दचित्र की एक डोर सी बनती है और उसके प्रभाव में उपमेय का वैशिष्ट्य मूर्त हो जाता है। उसका एक उदाहरण पीछे दिया जा चुका है।[5] दूसरा वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड में है। उसमें देवता और असुरों के युद्ध का वर्णन है। जैसे—

शरभेण यथा सिंहाः सिंहेन द्विरदा यथा।
द्विरदेन यथा व्याघ्रा व्याघ्रेण द्वीपिनो यथा।
द्वीपिनेव यथा श्वानः शुना मार्जारका यथा।
मार्जारेण यथा सर्पाः सर्पेण च यथाखवः॥
तथा ते राक्षसाः सर्वे विष्णुना प्रभविष्णुना।
द्रवन्ति द्राविताश्चान्ये शायिताश्च महीतले॥[7]

श्लिष्टोपमा—श्लिष्टोपमा जो कि शब्द पर ही निर्भर करती है भी

---

१ कुमा० ४ २७

२ वही ६ ३०

३ अरुमुदयति मुद्रा भञ्जन पद्मिनीनामुदयगिरिवनाली बालमन्दार-पुष्पम्।
विरहविधुरकोकद्वन्द्व-बन्धुर्विभिन्दन् कुपितकपिकपोल क्रोडताम्रस्तमांसि॥
—साद० पृ० २७२

४ तु० अस्तमुपयाति च प्रत्यक्पयस्विमण्डलं लाङ्गलिका स्तबक मदशकलविपि कमलिनीकामुके कठोर सारसशिर शोण रुचिपि सावित्रे तथामय तेजसि तरुणतरतमालश्यामले च मलिनयति व्याम व्यामव्यापिनि तिमिर-सञ्चये।
—हर्ष० पृ० ७३

५ कथिता रशनोपमा। यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता।
—साद० १० २५

६ द्र० अ० ७ पृ० ३०० टि० २६५

७ वा० रा० ७ ७ २० २२

दुहरे शब्दचित्रों की दृष्टि से बहुत महत्त्व रखती है। उसमें श्लेषकृत चमत्कार भी रहता है। परन्तु यदि श्लेष दुर्बोध हो तो चमत्कार की अनुभूति में रुकावट पड़ती है। बाण को श्लिष्टोपमा के विधान में सर्वाधिक सफलता मिली है। जैसे कादम्बरी के वर्णन में—

पृथ्वीमिव समुन्मग्नि-महाकुलभूभृद्व्यनिकरां शेषभागनिषण्णाम्, मधुमासलक्ष्मीमिवषट्पदाटनावल्लियमाणकुसुमरजा-धूसर-पादरागाम् शरदमिवापादिनमानग-जन्म-पक्षिरवापनीत-नीलकण्ठमदाम, गारीमिव स्वनाशुक-रचितोत्तमाट्गाभरणाम् उर्दायितेत्राधनलेखामिव मधुकरकुन्तलीनतमालकाननाम् इन्दुमूर्तिमिवाद्दाम-मन्मथविताम् गृहीतगुरुकलत्राम।

इन विशेषणों में कादम्बरी के अङ्गों का वर्णन करते हुए श्लेष के द्वारा उपमानों के सौष्ठव के प्रकाश में उनका अतिशय प्रस्तुत किया गया है।

पूर्ण एवं खण्ड बिम्ब—यह उपमा यदि समस्तवस्तुविषया हो तो उपमेय का सर्वाङ्गपूर्णचित्र प्रस्तुत करती है। यदि एकदेशविवर्तिनी हो तो खण्ड बिम्ब बनता है। समस्तवस्तुविषया पूर्णोपमा ही होती है। जैसे—

तत प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्।
शररत्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव ॥[1]

इस पद्य में बाणों से उत्तर दिशा के राजाओं का उन्मूलित करते हुए उधर प्रस्थान करते रघु की सूर्य की किरणों से भूमि का रस खींचते हुए उत्तरायण की उन्मुख सूर्य से की है। यहाँ उपमेय और उपमान दोनों के पूर्ण चित्र प्रस्तुत किये गये हैं।

एकदेशविवर्तिनी उपमा में उपमा के किसी अङ्ग का साम्य बोध होता है। जैसे—

नेत्रैरिवोत्पलैः पद्ममुखैरिव सरःश्रियः।
पदे पदे विभान्ति स्म चक्रवाकैः स्तनैरिव ॥[3]

---

१ का० ३४३

२ रव०, ४ ६१ टु०—औपम्यानरत्वाद् यत्र ह्यनेक कारकमुपमानोपमेयतया निर्दिष्ट तत्रानेकपामपि प्रयोग । यथा तत इत्यादि।

—सामुसि०, पृ० ४०३

३ एकदेशविवर्तिन्युपमा वाच्यत्वगम्यते।
भवेता तत्र साम्यस्य ॥ —सादं०, १०, २५-२६

तद वलाना यगपदुन्मिषितेन तावत
सद्य परस्परतलामधिरोहता द्वे ।
प्रस्पन्दमान परुषतरतारमन्त—
श्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमर च पद्मम

इस पद्य म जन के निद्रा-त्याग के कारण खलन नयनो और सूर्योदय के कारण विकसित होन कमल दोनो की परस्पर तुलना की गई है प्रस्पन्दमानप रुषतरतारम और प्रचलित भ्रमर य दोनो विशेषण उपमेय और उपमान के साधारण धर्म हैं जिनसे दोनो का बिम्बप्रतिबिम्बभाव बनता है। परस्परतला[1] के द्वारा ही इन दोनो का पारस्परिक औपम्य प्रतीत होता है। तब पर्याय म दोनो के उपमानोपमेयभाव म उपमेयोपमा स्वीकार करेंगे तो ऐसे स्थल म वह स्पष्ट नहीं होगी। इसलिये जगन्नाथ ने दो वाक्यो म ही उपमेयोपमा स्वीकार करने की आलोचना की है[2] एक वाक्य म भी यदि दोनो के बिम्ब बन जाते हैं तो आवश्यक नहीं है कि दो वाक्यो म ही यह अलङ्कार हो यथार्थ म केवल मुख कमल के सदृश कमल मुख के सदृश कहने मात्र से काव्य का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो जाता तब तक कि वाञ्छा का साम्य की अनुभूति न हो जाय। अनुभूति होने पर ही काव्य बिम्ब बनेगा इसलिये—

कौमदीव भवती विभाति मे कातराक्षि भवतीव कौमुदी ।
अम्बुजेन तुलितं विलोचनं लोचनेन च तवाम्बुजं समम् ।[3]

इस पद्य म केवल उपमानोपमेय भाव की चर्चा है पर इतना कहने मात्र से स्पष्ट बिम्ब नहीं बनता इसके विपरीत—

सविता विधवति विधुरपि सवितरति दिनन्ति यामिन्य ।
यामिनयन्ति दिनानि च सुख-दुःख वशीकृते मनसि[4] ।

इस पद्य म सुखदुःखवशीकृत मनसि इस कथन मे सविता विधवति

---

१ रस० ५ ६६

२ तदवल्गुना० इति कालिदास पद्य प्रतिपाद्यायामुपमानोपमेयतायायुग पदुपमेयोपमानभावायामुपमेयोपमाया वाक्यभेदाभावादव्याप्तिश्च ।
—रस० पृ० २०६

३ वही पृ० १९६

४ सविता० इति कस्यचित्कवे पद्य परस्परोपमायामतिव्याप्त । न चेय मुपमेयोपमेति शक्यते वक्तुम । वही पृ० २०१

आदि वाक्यों में लक्षणा द्वारा सन्तापजनक पदार्थों का भी असन्तापजनक होना आदि धर्म अनुभूति के विषय बन जाते हैं और बौद्धिक बिम्ब बन जाता है।

यद्यपि जगन्नाथ इस पद्य में परस्परोपमा मानते हैं उपमेयोपमा नहीं पर वस्तुतः परस्परोपमा पृथक मानने की आवश्यकता नहीं है अन्य-योग का व्यवच्छेद इसमें भी सम्भव हो ही जाता है। केवल दुराग्रह छोड़ने की आवश्यकता है।

अनन्वय—इस अलङ्कार में गुणातिरेक की अभिव्यक्ति के लिये उपमेय को ही उपमान के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उसमें उपमेय सदृश संसार में अन्य कोई पदार्थ नहीं है यह सूचित किया जाता है। फलतः ऐसी स्थिति में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव सम्भव नहीं है। परन्तु यदि वातावरण उस प्रकार का बना दिया जाय तो उसमें भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव सम्भव होता है। जैसे—

> सागर चाम्बर प्रख्यमम्बर सागरोपमम्।
> रामरावणयोर्युद्ध रामरावणयोरिव।[2]

अप्पयदीक्षित ने इसका पाठ थोड़ा भिन्न दिया है—

> **गगन गगनाकार सागर सागरोपम।**
> **राम रावणयोर्युद्ध रामरावणयोरि व।।**[3]

इसका कारण यह है कि पहले पद्य में सागर और अम्बर का परस्पर उपमानोपमेयभाव होने से उपमेयोपमा अलङ्कार है। हां, उत्तरार्ध में अनन्वय अलङ्कार है। क्योंकि युद्ध को ही उपमेय और उपमान रूप में प्रस्तुत किया गया है। आकाश और सागर की विशालता और गहनता के प्रकाश में राम-रावण के युद्ध की भीषणता का व्यापक चित्र भासित हो उठता है।

इसी प्रकार 'जननि त्वमिव त्वं विजयसे'[4] इसमें पूर्व-वर्णित गङ्गा की प्रभावुकता के प्रकाश में गङ्गा के प्रभावातिशय की अनुभूति होती है।

रूपक—रूपक अलङ्कार उपमा की ही भांति काव्यबिम्ब के लिये महत्त्वपूर्ण है। यहां तक कि पश्चिमी आलोचकों ने उसे काव्यबिम्ब से अभिन्न ही मान लिया है। लक्षणा के प्रभाव से उसमें बिम्ब की संवेदकता में आ जाती है। इस

---

१ उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वय। सा० द० १०,२६

२ वाग० ६ ११० २३-२४

३ कुवल०, पृ० १०

४ जगन्नाथ-गंगा-लहरी (पीयूष लहरी) १७

उपमा में इतना ही अन्तर है कि उपमान और उपमेय के अभेद का आहार्य ज्ञान होता है। इसे ही आरोप या ताद्रूप्यप्रतीति कहते हैं। यद्यपि अप्पयदीक्षित ने ताद्रूप्य और अभेद ये दो भेद किये हैं[1] परन्तु यह उक्ति-वैचित्र्य ही है। "मुख ही चन्द्रमा है" यह शाब्द अभेद है तो 'मुख के रूप में चन्द्रमा है' यह आर्थ अभेद है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों की साथ-साथ स्थिति में दोनों का सामूहिक बिम्ब बनता है। परन्तु यदि समस्त-वस्तु विषयक परम्परित एवं माला-रूपक में सन्निविष्ट और सर्वांग गौण शब्द चित्र बनता है तो निरंग रूपक एकदेशिक। जैसे 'मुख-कमल' कहने मात्र से केवल मुख और कमल की अस्पष्ट आकृति दृश्य होगी पर यदि मुख और कमल का समस्तवस्तुविषयक रूपक प्रस्तुत किया जायगा तो व्यापक चित्र बनेगा। जैसे—

रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन स ।
अभिवृष्य मरुत्सस्य कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥[2]

यहाँ एक वस्तु चित्र प्रकट होता है कि रावण से सताये देवताओं को इस प्रकार वाणी से सान्त्वना देकर विष्णु अन्तर्हित हो गये। दूसरा अप्रकृत अर्थ यह है कि अनावृष्टि के कारण सूखे में मुरझाये धानादि को जल की वर्षा से सींच कर मेघ अदृश्य हो गया। इस प्रकार यह सांग रूपक पूर्ण बिम्ब बनाता है। ये तो दोनों ही चाक्षुष बिम्ब हैं। वैसे वाणी का चाक्षुष बिम्ब सम्भव नहीं है और इस पद्य में विष्णु के वचन भी नहीं हैं इसलिए श्रवण बिम्ब भी नहीं बन सकता। परन्तु वस्तुतः स्वयं कवि विष्णु के वचनों की सद्य-प्रतिक्रिया अपनी टिप्पणी द्वारा प्रस्तुत कर रहा है। इसलिए उसने वचन में अमृत का आरोप किया है जो कि मन में पुनर्जीवन का सञ्चार करने वाला है। सूख रही सारी वनस्पतियों को वर्षा का पानी पुनर्जीवन देकर लहलहा देता है।[3] इसी प्रकार विष्णु द्वारा रावण को मारने का आश्वासन दिया जाने से देवताओं के हृदय में अपने प्राण की आशा सञ्चारित हो उठी और उनके मुरझाये चेहरे खिल उठे। यही कवि का विवक्षित है। वागमृत के वर्षण की देवताओं पर प्रतिक्रिया केवल हृदय में अनुभव की वस्तु नहीं है प्रत्युत नयनों से देखी जाने वाली है। इसलिए यह चाक्षुष बिम्ब ही है पर उनके खिले

---

१ तच्च क्वचित्प्रसिद्धविषयभेदं पर्यवसित क्वचिदभेदं प्रतीयमानं एवं तदाऽ-र्मारोपमात्रं पर्यवसितम्। —कुवल०, पृ० ८६

२ रघु० १० ४८

३ तु०—यथा हि अवग्रहेण क्लान्तानि सस्यानि अमृतेन जलेन अभिवृष्य निरादधाति। —दप० २७५

चेहरो से आशा का अनुभव यह भाव-लोक की वस्तु है। अत यह भाव-बिम्ब बनता है।

श्लेष मे करम्बित होकर यह रूपक सश्लिष्ट बिम्ब प्रस्तुत करता है। जैसे—

> विकसितमुखीं रागासङ्गाद् गलत्तिमिरावृति
> दिनकर-करस्पृष्टामैन्द्रीं निरीक्ष्य दिश पुर ।
> जरठलवली-पाण्डुच्छायो भृश कलुषान्तर
> श्रयति हरित हन्त प्राचेतसीं हरिणद्युति ॥[1]

इस पद्य मे प्रस्तुतार्थ प्रभातवर्णन है। कवि ने चन्द्रास्तमन एव सूर्योदय की समकालभाविता और उसमे होने वाले प्राकृतिक दृश्य का चित्र कई अलङ्कारो के रंगो से रंग कर प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत चित्र है कि सूर्योदय निकट होते ही पूर्व दिशा मे छाया अन्धकार क्षीण हो गया। क्षितिज मे कुछ आलोक छा गया। अरुणिमा के प्रसार ने अँधेरा दूर कर दिया। क्रमश रवि-किरणें लक्षित होने लगी। परिणाम-स्वरूप चन्द्रमा का बिम्ब पकी हरफारेवडी के समान पीला या फीका पड गया, उसके अन्तर की श्यामच्छाया अत्यन्त मलिन दीखने लगी। और वह पश्चिम दिशा का आश्रय लेने लगा है।

इस पद्य मे कवि ने कुछ शब्द जैसे "मुखी" "राग" "आवृति" "कर" "ऐन्द्री" पुर" "कलुषान्तर" "प्राचेतसी" श्लिष्ट प्रयुक्त किये हैं। पूर्वा के लिए "ऐन्द्री दिश" और पश्चिमा के लिए "प्राचेतसी" का प्रयोग नायिकाभाव का उद्‌बोधन कराते है तो दिनकर और हरिणद्युति अन्य शब्दो के सानिध्य से नायक के भाव का प्रत्यय कराते हैं। फलत अब अन्य अर्थ का भान होता है। चन्द्रमा रूपी नायक पहले पूर्वदिशा रूप किसी इन्द्र नामक व्यक्ति की पत्नी से काम क्रीडा करता रहा। वह उसे अपने प्रति ही अनुरक्त समझता था। परन्तु कुछ समय के पश्चात् उसने देखा कि दिनकर रूपी किसी व्यक्ति ने हाथो से उसे छू लिया या पकड लिया। उसके हाथो का स्पर्श पाकर उस ऐन्द्री का मुँह प्रसन्नता से खिल उठा। भावावेश मे उसके शरीर से वस्त्र या उसका आवरण भी नीचे खिसक गया। यह सब अपने देखते ही देखते होता देखकर चन्द्रमा का मुह उतर गया उसका रग फीका पड गया, ईर्ष्या और अवसाद से हृदय और मलिन हो गया और कोई और मार्ग न देखकर वह प्रचेतानामक किसी व्यक्ति की पत्नी का आश्रय खोजने लगा।

---

[1] साद० पृ० २३७

इस प्रकार श्लेष अलंकार के द्वारा एक ओर तो प्राकृतिक दृश्य का संश्लिष्ट बिम्ब है। 'ऐन्द्री दिशं' 'दिनकर' 'हरिण द्युति' इन शब्दों में कोई आरोप नहीं किया गया है। विशेषणों के कारण यद्यपि यहाँ समासोक्ति बनती है परन्तु विश्वनाथ ने इसे एकदेशविवर्ति रूपक ही माना है। उसके अनुसार नायक और नायिका का आगार अर्थ होगा। उपपति वाला अर्थ शृंगाराभास की अनुभूति कराता है। 'जरठरजनी पाण्डुच्छाय' यह उपमा और गजब ढा रही है। ऐसा सही समय हेतु इस निशान ने निकाला है, एक ओर वह विस्मय का भाव उत्पन्न करता है दूसरी ओर खेद एवं सहानुभूति का।

इस प्रकार दृश्य और भावात्मक दोनों ही बिम्ब इस पद्य में हैं। परन्तु कवि जो प्रभाव और उल्लास का वातावरण प्रस्तुत करना चाहता है वह उपपतिवृत्तान्त से मारा जाता है। क्योंकि यह परस्त्रीगत रति का वर्णन होने से व्यभिचार का ही प्रभाव उत्पन्न करता है जो कि शिष्ट समाज के लिए अरुचिकर है अतः ही यथाशक्ति लोग उससे दूर रहें। अतः यह नितान्त सहानुभूति के साथ-साथ उल्लास के भी सूचक हो सकता है। क्योंकि शृंगार का अनुकरण हास्य-जनक होता है।[1] समाज में इस प्रकार अनाचार फैलाने वालों के लिए सहानुभूति नहीं हो सकती। जब इसकी अपेक्षा रामायण का निम्न पद्य-समुदाय चाक्षुष और मानस दोनों प्रकार का सशक्त बिम्ब प्रस्तुत करता है।

> ध्यानं निदर शयनं विनिःश्वसन्तं सतप्रासुता ।।
> दैन्य-पादप संछिन्न शोकाभास विस्तृति सुप्ता ।।
> प्रमोहानन्त-सत्त्वेन सतापीपविग्रेणुना ।
> आक्रान्तो दुःख शलेन महता कैकेयी-सुत ।।[2]

इसमें भरत के हृदय पर पड़े दुःख के भार का पतन से आरोपित किया है। समस्तवस्तुविषयक सांगरूपक के द्वारा जो व्यापक पूर्ण बिम्ब बना है उसमें भरत के मानसिक सन्ताप की अनुभूति होती है। कवि की समवेदना का संवेदन सामाजिक को भी होता है। इसलिए यह समर्थतर सशक्त बिम्ब है। पहले पद्य में श्लेष के कारण और विशेषणों के प्रभाव से समासोक्ति की सम्भावना होने पर भी प्रभाव के अभावान्वित होने से विश्वनाथ ने उसमें एकदेशविवर्त्ति रूपक ही स्वीकार किया है समासोक्ति नहीं।

---

१ शृंगारानुकृतिर्हास्यः । —नाट्य० ६ ४१

२ वाल्मी० २ ८५ १९ ४०

परम्परित रूपक भी बिम्ब के निर्माण मे सहायक होता है। श्लेष के द्वारा उसे और स्पष्टता एव रंगीनी मिलती है। जैसे—

> विद्वन्मानसहस वैरिकमला-सङ कोचदीप्त-द्युते
> दुर्गामार्गणनीललोहित-समित्स्वीकार वैश्वानर।।
> सत्यप्रीतिविधानदक्ष-विजयप्राग्भाव-भीम प्रभो!
> साम्राज्य वरवीर वत्सरशत वैरिञ्चमुच्चै क्रिया ।।[1]

यह मालाश्लिष्टपरम्परित रूपक का उदाहरण है। इसमे वर्ण्य राजा मे हस, सूर्य, शङ्कर अग्नि दक्ष और भीमसेन का आरोप श्लेष के द्वारा किया गया है। वस्तुत इसमे साम्य शब्दकृत है जो कि श्लेष मे उत्पादित है। वास्तविक साम्य न होने से यह स्थायी प्रभाव नही छोडता। विविध विशेषणो से सङ्केतित विभिन्न घटनाओ के परस्पर असम्बद्ध खण्ड चित्र बनते हैं। पर सबके सम्मिलित होने से वर्ण्य राजा के असाधारण प्रभाव का निष्काय बिम्ब बनता है।

निरङ्ग रूपक भी खण्ड बिम्ब ही प्रस्तुत करता है। नैषधकार ने इस त्रुटि को समझकर ही तुरन्त परम्परित रूपक मे दूसरा पूर्ण बिम्ब अगले पद्य मे रखा है—

> निपीय यस्य क्षितिरक्षिण कथास्तथाद्रियन्ते न बुधा सुधामपि।
> नल सितच्छत्रित-कीर्तिमण्डल स राशिरासीन्महसा महोज्ज्वल ।।[2]

इसमे विमल कीर्ति-प्रसार मे श्वेतच्छत्र का आरोप निरङ्ग रूपक बनाता है परन्तु आधार दण्ड आदि न होने से बिम्ब नही बनता। "मण्डल" शब्द भी अकिञ्चित्कर हो गया है। अत दूसरा पद्य प्रस्तुत किया है—

> रस कथा यस्य सुधावधीरिणी नल स भूजानिरभूद् गुणाद्भुत ।
> सुवर्णदण्डैक सितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डल ।।[3]

यहा "भूजानि" शब्द से समग्र भूमण्डल पर नल का अधिकार अभिव्यक्त होकर उत्तरार्ध के "एक" शब्द को साधक कर रहा है। उसमें अनुरूप अशेषशत्रु-क्षयकृत प्रताप को स्वर्णदण्ड एव तदुत्पादित कीर्ति-राशि को अद्वितीय छत्र के रूप मे प्रस्तुत किया है। इस प्रकार स्वर्णदण्डमण्डित विशाल श्वेतच्छत्र का

---

१ का० प्र० का० १० ४ ४ (उ)
२ नैष०, १, १
३ वही, १, २

चाक्षुष बिम्ब उसमें सश्लिष्ट धधकती अग्नि के सदृश उज्ज्वल प्रताप-पुञ्ज व चतुर्दिक् प्रसृत यशोराशि का प्रभावात्मक बिम्ब उभरता है।

विश्वनाथ द्वारा उदाहृत निरङ गरूपक के उदाहरण में भी[1] पुलकाङ्कुर में कण्टकाग्र का आरोप एकदेशी बिम्ब ही बनाता है हल्की चुभन की सी ही अनुभूति होती है। इसमें चाटुका चमत्कार प्रधान है।

उपमा की भांति साधर्म्यमूलक होने पर भी कभी-कभी यह वैधर्म्यमूलक भी मिलता है। जैसे—

> सौजन्याम्बुमरुस्थली सुचरितालेख्यद्युभित्तिर्गुण—
> ज्योत्स्नाकृष्णचतुर्दशी सरलतायोगश्वपुच्छच्छटा।
> यैरेषाऽपि दुराशया कलियुगे राजावली सेविता
> तेषा शूलिनि भक्तिमात्र-सुलभे सेवा कियत्कौशलम्॥[2]

इसमें राजावली में सहजसुलभ दुर्गुणों को स्पष्ट करने के लिए वैधर्म्यमूलक मालापरम्परित रूपक बांधा गया है। सामान्य रूप से राजाओं को सौजन्य, आदि गुणों से रहित बताया जाता तो राजाओं की प्रकृति स्पष्ट नहीं होती। पर जब उन्हें सज्जनता रूपी जल के लिए मरुस्थल सदाचाररूप चित्र बनाने के लिए शून्य की दीवाल गुण रूपी चांदनी के लिए कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी एवं सीधेपन के लिए कुत्ते की पूछ बताया गया तो जल के सर्वथा अभाव से ग्रस्त रेगिस्तान, बिना आधार के चित्र बनाने की असफल चेष्टा, कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी का अधकार एव कुत्ते की पूछ का टेढापन इनका बिम्ब मस्तिष्क में उभर आता है। उनके प्रकाश में राजाओं का इन गुणों से रहित होना और उनके प्रति सर्वथा कुत्सा का भाव प्रतीति का विषय बन जाता है। उसके प्रकाश में भक्तिमात्र से सुलभता यह शंकर का गुण सर्वथा उनकी महत्ता की अनुभूति कराता है।

अधिकारूढ वैशिष्ट्य रूपक

जब उपमेय में उपमान का आरोप करते हुए उपमान में कुछ ऐसा धर्म बताया जाता है जो कि सामान्य रूप से उपमेय में तो रहता हो पर उपमान

---

१ दास कृतागसि भवदुचित प्रभूणा
पादप्रहार इति सुन्दरि नात्र दूये।
उद्यत कठोर पुलकाङ्कुर-कण्टकाग्र—
यद् भिद्यते मृदु पद ननु सा व्यथा मे॥ —साद० १० पृ० ३०६

२ वही पृ० ३०७

से दोनों का अभेद सिद्ध करने के लिये आरोपित ही हो तो उसे आचार्यों ने अधिकारूढवैशिष्ट्य रूपक की संज्ञा दी है।[1] वामन ने उसे विशेषोक्ति स्वीकार किया है।[2] इसका उद्देश्य भी बिम्बनिर्माण ही है। क्योंकि विशेषण के द्वारा उस आधिक्यसम्पादन का और क्या प्रयोजन हो सकता है? दो हाथ पैर वाले मानव का चार हाथ और मुख वाले व्यक्ति से साम्य अथवा अभेद कैसे होगा? कैसे उनका एकाकारक बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होगा? उदाहरण के लिये—

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरि ।
अभाल-लोचन शम्भुर्भगवान् बादरायण ॥[3]

यहां बादरायण व्यास का ब्रह्मा, विष्णु और महेश से तादृप्य अथवा अभेद विवक्षित है परन्तु इन तीनों के चतुर्वदनत्व, चतुर्भुजत्व एवं भाललोचनत्व रूप कुछ असाधारण धर्म हैं जिनके कारण बादरायण के साथ उनका तादृप्याकारक बिम्ब सम्भव नहीं है। अतः अचतुर्वदनत्व, द्विभुजत्व एवं अभाललोचनत्व रूप विशिष्ट धर्म से युक्त ब्रह्मादि का आरोप किया है। फलतः इतर-मानवसामान्य के निरूपण में ब्रह्मादि के साथ एकत्व-बुद्धि सम्भव हो जाती है और उनका बिम्ब बन जाता है। इसी प्रकार—

वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च ।
तासु तेष्वप्यनासक्त साक्षाद्भर्गो नराकृति ॥[4]

यहां किसी वर्ण्य को मानव शरीर में स्वयं शिव बनाना अभीष्ट है, परन्तु शिव के साथ उस वर्ण्य की एकात्मता समान धर्म के बिना कैसे सम्भव होगी? पुनः शिव तो कान्ता-संश्लिष्टदेह होने से मानव-सामान्य से भेद रखते हैं। और उस अवस्था में प्रस्तुत का वैशिष्ट्य भी कैसे सिद्ध होगा? अतः भर्ग से 'तासु तेष्वप्यनासक्त' ये विशेषण भी साथ लगाया है। फलतः सांसारिक वैभव एवं विषय-भोगों में अनासक्ति रूप सामान्य धर्म के कारण वर्ण्य और उपमान का तादृप्याकारक बिम्ब बन जाता है। कालिदास का—

---

१ अधिकारूढवैशिष्ट्यरूपकं यत्तदेवतत् । —साद० १०

२ एकगुणहानिकल्पनायां गुणसाम्यदार्ढ्यं विशेषोक्ति । —का० सू० वृ०, ४, ३ २३

३ अप्पयदीक्षित ने 'वेधा द्वेधा' और 'अचतुर्वदन०' इन दोनों को क्रमशः अधिकाभेदरूपक और न्यूनतादृप्य रूपक का उदाहरण माना है। —कुवल०, पृ० १७-१६

४ वही।

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधि ॥[1]

यह पद्य भी इसी अधिकारूढवैशिष्ट्य का सुन्दर उदाहरण है। क्योंकि इसमें शकुन्तला के रूप में पुष्प, किसलय, रत्न, मधु एवं पुण्यफल का आरोप किया है परन्तु असाधारणत्व बताने के लिये अनाघ्रात आदि विशेषण इन उपमानों का अन्य पुष्पादि से असमानत्व सूचित करते हैं। फलत विस्मय की अनुभूति होने के साथ-साथ शकुन्तला के रूप का एक विलक्षण बिम्ब बनता है। भण्डारे महाशय इस उक्ति में कालिदास को मानव-सौन्दर्य को जन्म-जन्मान्तर के तप का फल मानने वाला समझते हैं।[2]

असमर्थ रूपक बिम्ब नहीं—पर यह आरोप्य आरोपित भाव उन्हीं पदार्थों का सम्भव है जिनका बिम्ब बन सकता हो। उसके अभाव में आरोप का कोई अर्थ नहीं है। उदाहरण के लिये—

मथ्नामि काव्य-शशिनं प्रथितार्थरश्मिम् ।[3]

इस रूपक को लीजिये। यहाँ काव्य का शशी के साथ बिम्ब किसी भी प्रकार नहीं बन सकता, न तो यहाँ आकारसाम्य है जो कि सर्वप्रथम भासित होता है न गुण क्रिया साम्य। चन्द्र शैत्यादि के अनुभव के कारण आह्लादक होता है तो काव्य भाव बोध के द्वारा आह्लादक होता है। इस प्रकार दोनों में वैषम्य स्पष्ट है। बिम्ब निर्माण की असामर्थ्य के कारण ही इसे आचार्यों ने रूपक का उदाहरण नहीं बनाया है। कवि समय प्रसिद्धि में स्वीकृत उपमानों में ही रूपक के अङ्गीकार का आशय भी यही है कि उनमें तो सादृश्य की भावना परम्परा में सन्निहित है। परन्तु मनमाने उपमानों का आरोप करने से उच्छृङ्खलता आने का भय है। समर्थ अथवा असमर्थ रूपक बनने में वह बिम्ब की सिद्धि नहीं होगी।

---

१ शाकु० २ १०

2 Kalidasa probab does not believe that human beauty is a freak of nature or capricious gift of God, but is the fruit or reward of capricious religious merit stored in many previous births —Im of Kali p 43 44

३ साद० ६ पृ० ७४०

आचार्यों ने समस्त, असमस्त, व्यस्त, व्यस्ताव्यस्त आदि अनेक भेद इस रूपक के किये हैं। इसका तात्पर्य यही है कि ये सभी प्रकार काव्य-बिम्ब के निर्माण में सहायक हो सकते हैं। जहां अनुगामी धर्म होता है, वहाँ तो उसके आधार पर रूपक बनता है। उसके अभाव में श्लेषोत्पादित या उपचरित साधर्म्य के द्वारा या आकारसाम्य में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव प्रस्तुत किया जाता है। अनुगामी धर्म का उदाहरण 'अनाघ्रात' आदि पद्य में है तो शब्द-साम्योत्पादित धर्म 'विद्वन्मानसहंस' आदि में है। उपचरित धर्म निम्न पद्य में पाया जाता है।

> पर्यङ्को राजलक्ष्म्या हरितमणिमयः पौरुषाब्धेस्तरङ्गो
> भग्नप्रत्यर्थिवंशोल्बणविजयकरिस्त्यानदानाम्बुपट्टः।
> सङ्ग्रामत्रासताम्यन्मुरलपतियशोहंस-नीलाम्बुवाहः
> खड्गः क्ष्मा-सौविदल्लः समितिविजयते मालवाखण्डलस्य॥[1]

राजलक्ष्मी पर्यङ्कशायिनी नहीं होती, अतः उपचार से आश्रय अर्थ लेना होगा। इसी प्रकार क्षमा में रानी का आरोप शब्द में नहीं किया है, राजा के खड्ग का सौविदल्ल या कञ्चुकी कहना तभी संगत हो सकता है जबकि पृथ्वी में रानी का आरोप होगा। इसलिये मालापरम्परित रूपक है।

परिणाम—परिणाम अलङ्कार का रूपक से अन्तर इतना है कि उपमान उपमेय का कार्य-निर्वाहक होने से उपमेय से सर्वथा अभिन्न-प्राय बन जाता है। आरोप में तो दो पदार्थ पृथक रहने से अभेद का आहार्य ज्ञान ही होता है। अन्यथा घट पट इन दोनों पदार्थों के समान मुख और चन्द्र के तात्त्विक भेद की बुद्धि तो रहती ही है। इसी लिये रूपक में लक्षणा स्वीकार करते हैं।[2] परिणाम में विषय और विषयी समान प्रयोजन-साधक होने से सर्वथा अभिन्न बन जाते हैं। रूपक अलङ्कार प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के काव्य बिम्ब साथ-साथ प्रस्तुत करता है किन्तु परिणाम दोनों का सम्मिलित है। उदाहरण के लिये—

---

१ अस० पृ० १२८

२ अत एव च 'विषयितावाचकपदेन विषयिवृत्तिगुणवतो लक्षणया सारोपयोपस्थितौ विषये तस्याऽभेदेन संसर्गेण विशेषणतयान्वयः। एवञ्च 'मुखं चन्द्र' इत्यत्र चन्द्रवृत्तिगुणवदभिन्नं मुखमिति धी। अत एवालङ्कारभाष्यकार 'लक्षणा परमार्थ यावता रूपकम्' इत्याह।

—रग०, पृ० २३६

वनेचराणा वनिता-सखाना दरीगृहोत्सङ्ग निषक्तभास ।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूरा सुरतप्रदीपा ॥[1]

इस श्लोक में हिमाचल की वनस्पतियों को अपनी आभा से वनचरो की दीपिका का प्रयोजन-मात्र बनाया गया है और 'दरीगृहोत्सङ्ग निषक्तभास' इसका हेतु प्रस्तुत किया गया है। यहाँ वनस्पतियो की दीप्ति से गुफाएँ प्रकाशित होती हैं साथ में दीपक की भी आकृति उसी प्रकार उभर आती है। जैसे आजकल प्रचलित कुन्दा नामक पुष्प के पुष्पत्व एव कुन्दे की आकृति का समकाल में ही प्रत्यक्ष होता है। तात्पर्य यह है कि औषधियों के प्रत्यक्ष के साथ साथ दीपकों भी प्रत्यक्ष अभेदेन होता है। इसी प्रकार सीता की कुशलता का समाचार लाने पर अकिञ्चन राम का पुरस्कार के रूप में किया गया हनुमान का आलिङ्गन[2] समकालिक और अभिन्न रूप में बिम्ब प्रस्तुत करता है।

स्मरण—उपमान को देख सुन कर उपमेय की स्मृति हो जाना स्मरण अलङ्कार कहा जाता है।[3] स्मृति नामक एक भाव भी है। दोनो में भेद यह माना गया है कि अलङ्कार सादृश्य पर आधारित रहता है किन्तु भाव सस्कार मात्र है और नामादि के श्रवण से या किसी अन्य कारण को देख कर उदबुद्ध हो सकता है।[4] जैसे—

दिव्यानामपि कृतविस्मया पुरस्ता
दाम्भस्त स्फुरदरविन्दचारुहस्ताम् ।
उदवीक्ष्य श्रियमिव काञ्चिदुत्तरन्ती-
मस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरि ॥[5]

माघ के इस पद्य में स्मरण के आधार पर दो बिम्बो की सृष्टि होती है—

१ कमल हाथ में लिये क्लिन्नवस्त्रा सुन्दरी का सरोवर से बाहर आना।
२ समुद्रमथन के समय कमल करा लक्ष्मी का समुद्र से बाहर निकलना।

अन्तर इतना होगा कि दूसरे बिम्ब में पृष्ठभूमि में विस्मय मुग्ध कुछ दिव्य

---

१ कु०स० १ १०
२ एष सर्वस्व भूतस्तु परिष्वङ्गो हनुमत ।
मया कालमिम प्राप्य दत्तश्चास्तु महात्मन । —वा०रा०, ६, १, १४
३ सदृशानुभवाद् वस्तु-स्मृति स्मरणमुच्यते । —सा०द०, १०,२७
४ तु० सादृश्य-मूलकस्यैव स्मरणस्यालङ्कारत्वम् ।
अन्यस्य तु व्यञ्जितस्य भावत्वम् । —रस०, पृ० ७८
५ शिव०, ८, ६४

आकृतियाँ भी दीखती हैं। यह स्मृति-बिम्ब का अच्छा उदाहरण है। पद्य में लक्ष्मी की स्मृति के स्थान पर समुद्र मथन की घटना का स्मरण वर्णित है। इस में लक्ष्मी की स्मृति व्यङ्ग्य होती पर 'प्रियमिव' कहने से वह वाच्यायित हो गई है। 'अरविन्द' आदि पद्य[1] इसका अच्छा निदर्शन है।

विश्वनाथ ने राघवानन्द के मत में वैसादृश्य में भी स्मृति दिखाई है पर 'तु' निपात उनकी अरुचि सूचित करता है। उदाहरण के लिये—

> शिरीषमृद्वी गिरिषु प्रपेदे यदा यदा दुःख-शतानि सीता।
> तदा तदाऽस्याः सदनेषु सौख्य लक्षाणि दध्यौ गलदश्रु रामः॥[2]

इस पद्य में वन के कष्टों की तुलना में राजप्रासाद के सुखों की स्मृति सीता के प्रति राम के मन में समवेदना जगाती दिखाई गई है। इसे स्मृति भाव या प्रेमालङ्कार ही मानना उचित है। 'गलदश्रु' क्रिया-विशेषण इसकी पुष्टि करता है।

उल्लेख—अनेक व्यक्तियों द्वारा एक व्यक्ति या वस्तु के अनेक प्रकार से देखे जाने तथा एक व्यक्ति या पदार्थ के एक ही व्यक्ति द्वारा विषय-भेद से अनेक रूप में देखे जाने के वर्णन में उल्लेख माना गया है।[3] इस प्रकार एक ही वस्तु के अनेक बिम्बों की सृष्टि होने से उनकी शृङ्खला घूमती फिल्मों की रील की भाँति प्रतीत होगी जिनके मध्य वर्ण्य खड़ा होगा। इस प्रकार यह अनेक खण्डबिम्बों का सामूहिक रूप होगा। इसका उत्तम उदाहरण श्रीमद्-भागवत का 'मल्लानामशनि' आदि प्रसिद्ध श्लोक है।[4] उसमें न केवल श्रीकृष्ण का विविध रूपों में वर्णन है अपितु दर्शकों के भय आदि भावों से सम्पृक्त बिम्बों की सृष्टि भी है।

---

१ अरविन्दमिदं वीक्ष्य खेलत्खञ्जनमञ्जुलम्।
स्मरामि वदनं तस्याः चारुचञ्चललोचनम्॥ —सा॰द॰ ३०३

२ राघवानन्दमहापात्रास्तु वैसादृश्यात् स्मृतिमपि स्मरणालङ्कारमिच्छन्ति। तत्रोदाहरणं तेषामेव। यथा— शिरीषमृद्वी' आदि। —वही, पृ॰ ३०३

३ क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख इष्यते॥ —वही, १० ३७

४ मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥ —भापु॰, १०, ४३, १७

जब एक ही व्यक्ति एक बो अनक रूप म प्रस्तुत करता है तो वर्ण्य क व्यक्तित्व क साथ सम्बद्ध अनक घटनाओं क चित्र पृष्ठ भूमि म उभर आते हैं। उसक मूल म निहितभाव उनको परस्पर समन्वित कर देता है। उदाहरण क लिय मरणासन्न वाली का—

> आव्रजन्ती ददर्शाथ पति निपतित भुवि।
> हन्तार दानवेन्द्राणा समरेष्वनिवर्तिनाम ॥
> क्षेप्तार पर्वतेन्द्राणा वज्राणामिव वासवम।
> महावातसमाविष्ट महामेघौघनि स्वनम ॥
> शक्रतुल्य-पराक्रान्त वृष्टवेवोपरत घनम।
> नन्दन नदता भीम शूर शूरेण पातितम ॥
> शार्दूलेनामिषस्यार्थे मृगराज यथा हतम।
> अर्चित सर्वलोकस्य सपताक सवेदिकम ॥
> नगहेतो सुपर्णेन चैत्यमुन्मथित यथा।

यह वर्णन उसक अतीत क पराक्रम-पूर्ण कार्यो की झाकियाँ पृष्ठ भूमि म उपस्थित करता हुआ उसक दुधर्ष परन्त समाप्त प्राय व्यक्तित्व का शब्दचित्र प्रस्तुत करता है। कवि की उसक साथ समवेदना तारा की विकलता चित्र को रगीन बनाती हैं। बीच-बीच म आई उपमाएँ उस चित्र को और स्पष्ट कर रही है। फलत बाली और उसक आस-पास का एक बडा भावनामय वातावरण यहा पर प्रस्तुत किया गया है। कभी कभी एक व्यक्ति को अनक रूप म एक-देशिकभद स पथक-पृथक देखन के रूप म उसका व्यक्तित्व उभारा जाता है। यदि अन्य अलकार का स्पर्श उस मिल जाय तो उसम और रगीनी आ जाती है। जैस—

> विपुल नितम्ब बिम्बे मध्येक्षाम समुन्नत कुचयो।
> अत्यायत नयनयोमम जीवितमेतदायाति ॥[2]

इस पद्य म आती हुई मालविका का विभिन्न अगो क वर्णन म अस्पष्ट चित्र उभारा है। इसलिय अन्य अन्गो का उल्लेख नहीं है। दूर स आते व्यक्ति पर स्थूल दृष्टि ही पडती है। इसलिय वर्ण आदि का प्रदर्शन इसम नहीं है। एतद् मम जीवितम' इस आरोप म नायक की तद्विषयक रति, उत्सुकता हर्ष और आतुरता की भी अनुभव होता है। फलस्वरूप इन भावो क स्पर्श म यह चित्र अत्यन्त सशक्त हो गया है।

---

१ वा०रा० ४ १६, २१-२५

२ मालवि० ३ ७

श्लेष के स्पर्श से यह अलङ्कार अधिक चमत्कार-पूर्ण इसीलिये होता है कि उसमें दुहरे बिम्ब बनते हैं। (१) प्रस्तुत के गुणों का, (२) अप्रस्तुत का। अप्रस्तुत की महनीयता के प्रकाश में प्रस्तुत का व्यक्तित्व और उभर आता है। जैसे बाणकृत पुष्पभूति के वर्णन प्रसङ्ग में —

गुरुर्वचसि, पृथुरुरसि, विशालो मनसि जनकस्तपसि, सुपात्र तेजसि, सुमन्त्रो रहसि, बुधः सदसि अर्जुनो यशसि भीष्मो धनुषि निषधो वपुषि, शत्रुघ्न समरे, शूरः शूरसेनान्तमणे दक्ष प्रजा-क्रमणि ।[1]

गुरु से राजा की गरिमा का भी बोध होता है और बृहस्पति का भी। फलत बृहस्पति के समान उसकी वाक्पटुता सूचित होती है। इसी प्रकार पृथु शब्द से छाती की विस्तीर्णता और महाराज पृथु का जैसा व्यक्तित्व पुराणों में वर्णित है, वैसा ही महान व्यक्तित्व पुष्पभूति का प्रतिभासित होता है।

अपह्नुति

यह अलङ्कार रूपक से इतना ही पार्थक्य रखता है कि इसमें प्रस्तुत का निषेध भी होता है। अन्यथा आरोप इसमें भी होता है।[2] प्रस्तुत का निषेध होने पर भी शब्दार्थ की सामर्थ्य से उसका बिम्ब भी बनता है और अप्रस्तुत का भी। निषेध का यह अर्थ नहीं कि प्रस्तुत का बोध होना ही नहीं। या हो तो आर्थ निषेध में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों साथ साथ कैसे रखे जायें। जैसे—

विराजति व्योम-वपुः पयोधिस्तारामयास्तत्र च फेनभङ्गाः ।[3]

यहां आकाश के शरीर से समुद्र और तारा के रूप में झाग होने की बात कही गई है। आर्थ आरोप व्याज छल आदि शब्दों के प्रयोग से भी होता है। जैसे—

प्रियासु बालासु रतक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितं च बिभ्रतम् ।
स्मराजितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च ॥[4]

इस पद्य में हंस की लाली चोंच एवं पञ्जों की लाली के बहाने अनुराग रूपी वृक्ष के दो पत्तियों वाले या किसलय रूप में बढ़े हुए अङ्कुर के रूप में प्रस्तुत किया है। इसलिए पाठक का सर्वप्रथम उसकी लाल-लाल चोंच और पञ्जों

---

१ हर्ष० २ पृ० २७८-७६

२ प्रकृतं प्रतिषिध्यान्य-स्थापनं स्यादपह्नुतिः । —साद०, १०, ३८

३ वही, पृ० ३१३

४ नैष०, १, ११८

यह अर्थक्षेपानुप्राणित छेकापह्नुति है इसके द्वारा सर्वप्रथम बालिका की स्वाभाविक चेष्टा का बिम्ब बनता है परन्तु निषेध करने और मक्षिका का नाम लेने पर उसकी भी इसी प्रकार की चेष्टाएँ होने से उसकी सारी हलचलें मूर्त हो उठती है।

उत्प्रेक्षा—जिस प्रकार काव्य-बिम्ब की उपकारिका उपमा है, उसी प्रकार उत्प्रेक्षा भी। काव्य बिम्ब के प्रमुख उपकरण कल्पनातत्त्व का चमत्कार इस अलंकार में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जब दोनों में यह भेद किया जाता है कि लोकसिद्ध पदार्थ में तुलना करना उपमा का विषय है और लोकासिद्ध पदार्थ के रूप में प्रस्तुत करना उत्प्रेक्षा का[1] तो स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि इसमें नई उद्भावना होती है परन्तु वह अनिश्चयपर्यवसायिनी होती है। अतः यह अतिशयोक्ति से पृथक् हो जाती है। उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा बनने वाले बिम्ब का एक उदाहरण प्रथम अध्याय में प्रस्तुत किया जा चुका है।[2] इस अलंकार के मूल में दो प्रवृत्तियाँ काम करती है—

१ किसी वस्तु को देखकर उसके सम्बन्ध में कौतूहल से तरह-तरह के विचार उठना। ये तर्क वितर्क, सन्देह आदि के रूप में उत्पन्न होते है।

२ देखी गई वस्तु की प्रतिक्रिया-स्वरूप उल्लास या विषाद के अनुरूप उसको नया-नया रङ्ग देना।

परन्तु यह नया रङ्ग देने के लिए भी कोई आधार तो खोजना ही पड़ता है। वह आधार सादृश्य ही है। प्रस्तुत की वस्तु-स्थिति को केवल अवास्तवत्व कल्पित कर देने में इसमें अध्यवसान की भावना आती है। जब हम उस वर्ण्य को कल्पित वस्तु के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो उसका वास्तविक स्वरूप और मूर्त हो उठता है। जैसे चारों ओर छाई दूधिया चाँदनी का प्रकाश प्रत्यक्षगम्य बनाने के लिए दूध की धाराएँ पड़ने की कल्पना।[3] यद्यपि आकाश में दूध की धाराओं का पतन सम्भव नहीं है तथापि इस प्रकार की सम्भावना का उद्देश्य

---

१ यदायमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति। तदोपमैव येनेवशब्द साधर्म्य-वाचकः। यदा पुनरयं लोकादसिद्धः कविकल्पितः। तदोत्प्रेक्षैव येनेवशब्द सम्भावनापरः॥ —(चक्रवर्ती) सजीवनी, पृ०, ७२

२ द्र० अ०, , टि० ०७

३ तिमिर-निकर-मध्ये रश्मयो यस्य गौरा सुतजल इव पटे क्षीरधारा पतन्ति। —मृच्छ०, १, ५७

यही है कि उस प्रकार का वातावरण निर्मित करके उसके परिवेश में वर्ण्य को देखा जाय कि वह कैसा प्रतीत होगा। इस प्रकार नये रूप की सृष्टि की जाती है। वह जब तक पाठक या श्रोता को प्रत्यक्ष भासित न होगा, तब तक कवि का आशय हृदयङ्गम होगा ही नहीं। उदाहरण के लिए—

> लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
> असत्पुरुष-सेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥[1]

यहाँ चारों ओर छाये अन्धकार की सघनता को स्पष्ट करने के लिए उसके द्वारा अङ्गों के लेपन और आकाश से काजल की वर्षा की सम्भावना की गई है। इसलिए इस उत्प्रेक्षा के द्वारा वह सघनता जितनी स्पष्ट प्रतीत हो रही है, उतनी केवल अन्धकार का नाम लेने से सम्भव नहीं थी। इसी प्रकार प्रतिक्षण बढ़ते अन्धकार के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण काजल की वर्षा की कल्पना से किया गया है।

इस उत्प्रेक्षा के द्वारा ऐन्द्रिय और मानस या अमूर्त दोनों प्रकार के बिम्ब प्रस्तुत करने में बाण को असाधारण सफलता मिली है। पारिजातकुसुमगन्धगर्भी के गन्ध के वर्णन में कवि ने घ्राण-बिम्ब प्रस्तुत करते हुए—

अभिमुखभितयाऽनुलिम्पन्तमिव, तर्पयन्तमिव, पूरयन्तमिव घ्राणेन्द्रियम्[2] इन कल्पनाओं से गन्ध का प्रभाव स्फुट किया है। पुण्डरीक की अनुरागमयी दृष्टि का स्पष्ट करने के लिए—'रतिरस-निःस्यन्दमिव क्षरन्ती, अमृतमिव वर्षन्ती मदमुकुलितेव, वेदालसेव, निद्राजडेव'[3] इन उत्प्रेक्षाओं में हेतु की योजना की है। इस प्रसङ्ग में बाण ने रस दृष्टि को सङ्कलित किया है। इनमें पहली सम्भावना से प्रसरत्, दूसरी से प्रेम तीसरी में मुकुलित, चतुर्थ से मज्जन्ती और पांचवीं से स्थिरा दृष्टि सूचित की है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

> प्रसरत्-प्रेम्णा सुदूरं परिवल्गद्बुधतम्
> सप्रेम-स्यात प्रेमगर्भं मनसो द्रवाय ।
> मुकुल-सम्मीलयमानं मुकुलं वदन्ति
> मज्जन्-नासाग्रनिष्ठं तु निमज्जिनं स्यात
> स्थिरा स्थिरा विदूरा तरिताय-निष्ठाम ॥[4]

---

१ काद० २, ३६२ (भास स्वप्न०, १ १५, चारु० १, १६)

२ का०, पृ० २६३

३ वही, पृ० २७१

४ अलङ्कारसर्वस्व पर रेवाप्रसादकृत हिन्दी टीका, पृ० ५६६

इनमें पहली दो दृष्टि की भावगर्भितता एवं महाश्वेता पर उसकी प्रतिक्रिया को प्रस्तुत करती हैं, दूसरी तीन संभावनाएँ दृष्टि के आकार के साथ-साथ कारण की संभावना से संश्लिष्ट हैं, ये वर्ण्य चरित्र की मानस स्थिति को प्रत्यभासित कर रही हैं।

तन्नूनमनामृतास्वादयतो विधे करतल-परामर्श-क्लेशेन ये विगलिता लोचनयुगलादश्रुबिन्दवस्तभ्य एतानि जगति कुमुदकुवलय-सौगन्धिक-वनान्युत्पन्नानि

इस वाक्य में कादम्बरी के रूपातिशय को देखकर चन्द्रापीड के मन का विस्मयातिरेक और अधिक मूर्त हो उठा है। संसार की कोमल वस्तु कुमुद कुवलय आदि जिन्हें देखकर लोग उल्लास का अनुभव करते हैं, जिसके अश्रुबिन्दु से उत्पन्न हुए वह कितना सुन्दरी और कितनी सुकुमार होगा, यह मानस प्रतिक्रिया इस उत्प्रेक्षा में मूर्तरूप हो उठी है।

कभी-कभी इन अप्रत्याशित संभावनाओं में सन्देहालंकार का भ्रम होने लग जाता है—

> **रञ्जिता नु विविधास्तरु-शैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु।**
> **पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण ॥**[2]

यहाँ अन्धकार के अतिशय से वृक्षों का कालिमा से रंग देना, आकाश का नीचे झुका या ढका हुआ सा लगना, ऊबड़-खाबड़ प्रदेशों के सम दिखाई देने में उनको भरा जाना और दिशाओं के अन्तराल को अन्धकार से समाप्त कर एकत्रित कर दिया जाना संभावित है। इससे सारा अन्धकारमय वातावरण प्रत्यक्ष हो उठा है। 'नु' निपात के आने से प्रश्नार्थ की प्रतीति होने के कारण सन्देह अलंकार का भ्रम होता है पर वस्तुतः उभयकोटिक ज्ञान होने पर ही सन्देह हुआ करता है। यहाँ दूसरा पक्ष तो है ही नहीं। संभावित पक्ष ही प्रबल है।

यह अलंकार वर्णना में अधिक उपयोगी होता है और नई कल्पना या संभावना से या तो प्रस्तुत को रंगीन बना देता है अथवा एक नई ही सृष्टि उत्पन्न कर देता है।

जगन्नाथ ने संभावना के आधारभूत सादृश्य के आधार पर इसके कई भेद गिनाये हैं। उनमें कई तो अन्य अलंकारों से मिश्रित रूप हो हैं। जैसे रूपक से मिश्रित होगी तो रूपकोत्प्रेक्षा, अपह्नुत्यनुप्राणित होगी तो श्लिष्टोत्प्रेक्षा होगा। बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव भी इसमें स्वीकार किया है। सबका उद्देश्य यही है कि

---

१ अलंकार सर्वस्व पर रेवाप्रसाद द्विवेदी हिन्दी टीका पृ० ३४४

२ साद०, पृ० ३७२

काव्य बिम्ब प्रस्तुत करना या सभावना के द्वारा प्रस्तुत को अप्रस्तुत के रूप मे देखना। अप्रस्तुत के रूप मे देखने पर भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब-सम्बन्ध ही सामने आयेगा।[1]

सन्देह—उपमेय म उपमान का सन्देह उत्पन्न होने से ये अलङ्कार बनता है। इसमे भी उपमेय के साथ मे उपमान को रखकर तद्रूपता का सन्देह चमत्कारी ढङ्ग से रखा जाता है। तुल्य बल का उभयकोटिक ज्ञान होने मे दोनो ही पदार्थो का बिम्ब उपस्थित किया जाता है। आचार्यो ने इसके तीन भेद स्वीकार किये हैं—शुद्ध सन्देह निश्चयगर्भ निश्चयान्त।[2] बिम्ब की दृष्टि से इनमे कोई विशेष अन्तर नही पडता। क्योकि यह सन्देह भी वास्तविक न होकर आहार्य ही होता है। अन्तर इतना ही है कि प्रथम मे आकाक्षा अन्त तक बनी रहती है, द्वितीय मे मध्य-मध्य मे निर्णय भी होता जाता है। तृतीय मे तो आकाक्षा की निवृत्ति ही हो जाती है। बिम्ब पर प्रभाव पडेगा यदि उक्त सशय का भाव सादृश्य पर आधारित न हो एव चमत्कारी भी न हो। जैसे—

अधिरोप्य हरस्य हन्त चाप परिताप प्रशमय्य बान्धवानाम् ॥
परिणेष्यति वा न वा युवाय निरपाय मिथिलाधिराजपुत्रीम् ॥[3]

इस पद्य मे राम के सुकुमार शरीर को देखकर मिथिला-निवासियो का सीतावरण के सम्बन्ध मे सन्देह प्रकट किया गया है। यहा सादृश्य पर आधारित न होने से न सन्देह अलङ्कार है न इसमे सीता या राम के शरीर का बिम्ब ही सम्भव है। इसी प्रकार—

मरकतमणि मेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा तमाल ।
रघुपतिमवलोक्य तत्र दूरादृषिनिकरैरिति सशय प्रपेदे ॥[4]

इस पद्य मे यद्यपि श्यामवर्ण के कारण राम मे मरकत मणि के पर्वत और तमाल वृक्ष का सन्देह प्रकट किया गया है परन्तु यहाँ सन्देह की वादियाँ

---

१ द्विविधो हि तावद् धर्मोऽपि—स्वत एव साधारण साधारणीकरणा-पायेनासाधारणोऽपि साधारणीकृतश्च। स चोपाये क्वचिद्रूपक क्वचिच्छलेष, क्वचिदपह्नुति क्वचिद्बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव, क्वचिदुपचार, क्वचिदभेदाध्यवसायरूपोऽतिशय। —रस० पृ० ३०४

२ शुद्धो निश्चयगर्भोऽथ निश्चयान्त इति त्रिधा। —साद०, १० ३३

३ रस०, पृ० २५६

४ वही, पृ० २५७

अप्रस्तुतों के ही सम्बन्ध में है जबकि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' की भांति सन्देह प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के विषय में होना चाहिए। हां, व्यञ्जना से राम के श्याम वर्ण और शरीर के डील-डौल का भान माना जाय तो एक बिम्ब उसका और दो अप्रस्तुतों के बिम्ब मान जा सकते हैं। अन्यथा विषय का भान न होने से भ्रान्ति का विषय बनता है।

साहित्य सुधा-सिन्धुकार के उदाहरण

द्विधाकृतात्मा किमयं दिवाकरो विधूमरोचिः किमु वा हुताशनः ।'[1]

इस पद्य में भी प्रस्तुत में अप्रस्तुत का सन्देह प्रकट करते हुए भी प्रस्तुत के स्वरूप की कोई रूपरेखा नहीं दी है। अतः उभयकोटिक बिम्ब की दृष्टि से यह भी उपयुक्त निदर्शन नहीं है। इसकी तुलना में—

इदं कर्णोत्पलं चक्षुरिदं वेति विलासिनि ।
न निश्चिनोमि सततं किन्तु दोलायते मनः ।।[2]

इस पद्य में नयन में कर्णोत्पल का सन्देह तुल्यकोटिक होने से दोनों का खण्डबिम्ब बनता है। माघ के—

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः ।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ।।[3]

इस श्लोक में भी विषय नारद का कोई वर्णन नहीं है। विमर्शिनीकार इस त्रुटि को लक्ष्य करके ऐसे स्थलों में केवल विषयियों का सन्देह मानते हैं। उन के अनुसार संशय का उपयुक्त उदाहरण निम्न श्लोक है—

किं पङ्कजं किमुसुधाकरबिम्बमेतत्
किं वा मुखं कलमहरं मदिरेक्षणायाः ।
यद् दृश्यते मधुकराम-कुरङ्गकान्ति
नेत्रद्वयानुकृति कार्ण्यममुष्य मध्ये ।।[4]

---

१ सा० सु० सि० ८ (उ०) ३०७
२ वही ८ (उ०) ३०९
३ वही ८, ३०८ (उ०)
४ तु०—अत्र (किं तारुण्यतरोः इत्यादौ) प्रकृतायास्तव्या सन्देहप्रतीति-विषयत्वाभावाद् विषयिणामञ्जर्यादीनामेव सन्देहः। विषयविषयिणोर्यथा-किं पङ्कजम् इत्यादि।　　　　—विम० पृ० १४३

जगन्नाथ ने परगत सशय मे अनाहार्य ज्ञान माना है।[1] परन्तु वहा भी यदि विषय का ज्ञान सशेता को नही होगा तो भ्रान्ति ही मानना होगा, सशय नहीं। यह सशय बिम्ब-प्रतिबिम्ब मे भी होता है। जैसे —

सपल्लवा किं नु विभाति वल्लरी सफुल्लपद्मा किमियं न पद्मिनी।
समुल्लसत्पाणिपदा स्मितानना मितीक्षमाणैः समलम्भि सशय ॥[2]

यहा पूर्वार्ध और उत्तरार्ध मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।

भ्रान्तिमत्—विषय मे विषयी के आहार्यज्ञान को भ्रान्ति या भ्रान्तिमान् कहा जाता है।[3]

इस अलङ्कार मे भी यदि प्रस्तुत मे स्वरूप का वर्णन पहले करके तब पात्रो का उपमान की भ्रान्ति होने का वर्णन हो तो दोनो ही पक्षो का बिम्ब होने से पूर्ण बिम्ब होगा। अन्यथा एक ही पक्ष अर्थात् विषयी का ही बिम्ब बन सकेगा, विषय का नही। उदाहरण के लिए—

ओष्ठे बिम्बफलाशयालमलकेषूत्पाधजम्बूधिया
कर्णालङ्कृतिभाजि दाडिमफलभ्रान्त्या च शोणे मणौ।
निष्पत्या सकृदुत्पलच्छददृशामात्तक्लमाना मरौ
राजन् गुञ्जराज पञ्जर-शुकैः सद्यस्तया मूर्छितम् ॥[4]

यहाँ नाना का रानियो के होठो मे बिम्ब का, केशो मे पके जामुन के फल का, भूषण मे जडे लाल मणियो मे अनार के फल का भ्रम दिखाया है। यहा उपमेय और उपमान के धर्मो का उल्लेख नही किया गया है, वे प्रतीयमान ही हैं। इस कारण केवल वस्तुओ के आकृतिबिम्ब ही सम्भव है। पूर्ण बिम्ब निम्न उदाहरण मे बनेगा—

१ यत्र हि कविना परनिष्ठ सशयो निबद्ध्यते प्रायस्तत्रानाहार्य।
—रस० पृ० २६४

२ अत्र पल्लवफुल्लपद्मे पाण्याननयो प्रतिबिम्बकोट्या पृथङ् निर्दिष्टे।
—वही,

३ सदृश धर्मिणि तादात्म्येन धर्म्यन्तरप्रकारका नाहार्यो निश्चय सादृश्यप्रयो-ज्यश्चमत्कारी प्रवृत्ते भ्रान्ति। सा च पशुपक्ष्यादिगतायस्मिन् वाक्यसन्दर्भे-न्नुद्धत स भ्रान्तिमान्।
— रस०, पृ० २६६

४ अम०, पृ० १५१

अयमहिमरुचिभजन प्राचीचीं कुपियवलीमुखतुण्डताम्रबिम्ब ।
जलनिधिमकरैरदीक्ष्यते द्राड नवरुधिरारुणमासपिण्ड लोभात ॥[1]

इसम सूय के मण्डल को वानर क लाल मुख के सदश वर्णित किया है। अत उसमे समुद्र स्थित नाका का मास-दण्ड का लाभ लालिमा की समानता को लकर हुआ है। इस कारण साधारण धम एक ही है।

पुसिआ कण्णाहरण दणील किरणाहआ ससिमऊहा ।
माणिणिवअणामि सकज्जलसुसड काए दहएण ॥[2]

यहा कवि का विवक्षित है कि मानिनी प्रियतमा क उज्ज्वल कपोल पर पडती चद्रमा की किरणें कर्णाभरणरचित इद्रनील मणि की किरणो से ससपृष्ट हाकर नील वण का लक्षित हुई। प्रियतम न अश्रु स प्रवाहित हाकर कपोल-स्थल तक आये उनको काजल की शड का मे पोछन क निमित्त छू लिया। यहाँ इद्रनाल मणि की किरण और चद्रकिरण का मणिदर्पण तुल्य कपाल पर कज्जल रखा का बिम्ब प्रतिबिम्बभाव है जिसस भ्रातिमान बनना है। फलत दोना पक्षा के बिम्ब बनते है। ऐसे स्थला म ही पूण बिम्ब बनते है।

शोभाकर के अनुसार सदेह और भ्रान्ति बिना सादश्य क भी हाते है।[3] इसका उदाहरण उसने हषचरित स दिया है जिसम हष राजलक्ष्मी को अभिशाप पथ्वी को महापाप और राजा को रोग मानता दिखाया गया है।[4] पर भ्रान्तिमान तभी हाना है जब प्रत्येता को प्रस्तुत का ज्ञान ही न हो। यहा एसी स्थिति नहीं है। अवसाद क कारण ही श्री आदि म प्रतिकूल बुद्धि होन का

---

१ विम० पृ० १५३

२ अत्र सकज्जलत्वे द्रनील किरणाहतत्वयाबिम्ब प्रतिबिम्बभाव ।
—अस०, पृ० १५३

३ सन्देहसम्भावनयायथास्ति प्रतीति भद स्फुट एव तदवत ।
सादृश्य-हेत्वन्तरया भ्रमपु न लशत क्वाऽपि विशष-बुद्धि ॥
प्रतीतिभेदेन विना न वाच्य कुत्राप्यलङ कारगतश्च भेद ।
निमित्त भेदन च भिन्नताया प्रसज्ज्यत सा खलु सशयादौ ॥
—अर० (परि० श्लो०) ५३

४ दैवमपि हष तदवस्थ पितशोक विह वलीकृत श्रिय शाप इति मही महापातकमिति राज्य रोग इति भोगान भुजगा इति निलय निरय इति मयमानम हच० पृ० ५६

वर्णन है, अज्ञानवश नहीं। अन्यथा "प्रासादीयति कुट्यां भिक्षु" सदृश प्रयोगों में भी भ्रान्तिमान् मानना होगा।

तुल्ययोगिता व दीपक—इन दोनों ही अलङ्कारों में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दोनों के समानान्तर काव्य-बिम्ब बनते हैं।[1] पहले में केवल प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत का एक धर्म से सम्बन्ध होता है तो दूसरे में दोनों का बहुधा प्रस्तुत एक ही होता है तो अप्रस्तुत अनेक होते हैं। यदि एक प्रस्तुत अनेक अप्रस्तुत होंगे तो उनके उतने ही पृथक्-पृथक् बिम्ब होंगे, पश्चात् प्रभाव-साम्य से एक संश्लिष्ट बिम्ब बनता है। तुल्ययोगिता में दो प्रस्तुतों के संश्लिष्ट बिम्ब का उदाहरण निम्न पद्य है—

> सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
> प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः॥[2]

इसमें सन्ध्या के समय गाय के आश्रम को लौटने का प्रसङ्ग होने के कारण सन्ध्या एवं नन्दिनी गौ दोनों ही प्रस्तुत हैं। इसलिए समान वर्ण वाली होने से दोनों का ही संश्लिष्ट बिम्ब दो समानान्तर बिम्बों के मिलन से बनता है।

अप्रस्तुतों के एक धर्म से सम्बन्ध होने से बिम्ब नीचे लिखे पद्य में मिलता है—

> यञ्चति बाल्ये सुदृशः समुदञ्चति गण्डसीम्नि पाण्डिमनि।
> मालिन्यमाविरासीद् राकाधिपलवलि-कनकानाम्॥[3]

इस पद्य में राकाधिप, लवली और कनक (सुवर्ण) तीनों उपमान होने से अप्रस्तुत हैं। इनका सम्बन्ध "मालिन्यम् आविरासीत्" इस धर्म से किया गया है। यहाँ सुन्दरी के कपोलों पर यौवन-सुलभ पाण्डिमा का एवं चन्द्रमा, हरफा-रेवड़ी और सुवर्ण के रंग के बिम्ब प्रस्फुट हो जाते हैं।

दीपक से बने प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के सम्मिश्र बिम्ब का निदर्शन निम्न पद्य है—

---

१ (अ) नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता।
—का० प्र० का०, १०, १०४

(आ) प्रकृतानामप्रकृतानां चैकसाधारणधर्मान्वयो दीपकम्।
—रस० पृ० ३२२

२ रघु०, २, १५

३ रस०, ३१८

बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सती च योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥[1]

यहाँ पतिव्रता स्त्री और मानव का स्थिर प्रकृति का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव प्रस्तुत किया गया है। बिम्ब प्रतिबिम्बभाव का यहाँ भी पारिभाषिक शब्द में नहीं लेना चाहिए। केवल परस्पर साम्य में तात्पर्य है। इसी प्रकार—

कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराणि सिंहानाम् ।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्ते अमृतानाम् ॥[2]

यहाँ प्रस्तुत कुलबालिकानां स्तनाः और शेष अप्रस्तुत हैं जिनका "अमृतानां कुतः स्पृश्यन्ते" इस धर्म से सम्बन्ध किया गया है। परस्पर समान वस्तुएँ होने के कारण इनका बिम्ब सरलता से बन जाता है।

प्रतिवस्तूपमा—वस्तु प्रतिवस्तुभाव पर आधारित यह अलङ्कार एक ही धर्म का दो भिन्न-भिन्न शब्दों में कहने से बनता है।[3] फलतः पूर्णोपमा की ही भाँति साम्य के स्पष्ट होने से बिम्ब बनना सरल है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव पर आधारित उपमा का एक उदाहरण उपमा के प्रसङ्ग में दिया जा चुका है। अन्य उदाहरण—

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥[4]

यहाँ सकृद्युक्त-तुरङ्ग अर्थात् घोड़ा एक बार ही जोतना और फिर खोलना ही नहीं एवं रात दिन चलना एक ही बात है जिसे पृथक्-पृथक् शब्दों में कहा गया है। इस प्रकार एक ही साधारण धर्म होने से दोनों वाक्यों की समानता के आधार पर बिम्ब बनता है। विश्वनाथ ने मालाप्रतिवस्तूपमा[5] एवं

---

१ शिव० १७२

२ का० प्र० का० १० ४५७ (उ०)

३ प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥ —साद० १०, ५०

४ शाकु० ५ ४

५ विमल एव रविर्विशदः शशी प्रकृतिशोभन एव हि दर्पणः ।
शिवगिरिः शिवहाससहोदरः सहज-सुन्दर एव हि सज्जनः ॥
—साद०, पृ० १२६

वैधर्म्यमूलक प्रतिवस्तूपमा[1] के भी उदाहरण दिये हैं। उनका तात्पर्य भी यही है कि समान वाक्यार्थों के द्वारा अभिप्रेत आशय को मूर्तरूप किया जाय।

दृष्टान्त

बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव पर आधारित यह अलङ्कार स्पष्ट ही काव्यबिम्ब की धारणा लिए हुए है। इसमें वाचक शब्द का प्रयोग तो नहीं होता पर दो समानान्तर वाक्य मिलते-जुलते भाव होने से एक दूसरे के समान प्रतीत होते हैं। उपमेय-उपमानभाव वाच्य न होकर व्यङ्ग्य होता है। इसमें उपमा की भांति केवल उपमेय और उपमान का ही बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव नहीं होता अपितु धर्मों का भी होता है। इसीलिए यहां धर्म को साधारण न कह कर समान ही कहा जाता है। क्योंकि साधारण धर्म तो वह होता जो दोनों पक्षों में रहे। इसी लिये विश्वनाथ ने 'सधर्मस्य वस्तुनः[2] और रुय्यक ने "तस्यापि"[3] कहकर समान धर्म का सङ्केत किया है। जैसे—

> तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव।
> ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथाहि कुमुद्वतीं दिवसः।[4]

इस पद्य में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध अर्थ में भिन्न होने पर भी भाव में समान हैं। इसलिए दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव होने से दृष्टान्त अलङ्कार बनता है।

निदर्शना—बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव की दृष्टि से दृष्टान्त अलङ्कार की भांति यह भी काव्य-बिम्ब के निर्माण में विशेष रूप से सहायक है। 'सम्भवद्-वस्तु सम्बन्धा निदर्शना' में तो बिम्बप्रतिबिम्बभाव समान व्यापार के कारण बनता ही है[5] असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा में भी वह अर्थ विश्रान्ति के लिये अनिवार्य होता है[6]। जैसे—

---

१ भवाय एव चतुराश्चक्रिकाचामकर्माणि।
विनावल्लीन निपुणा सुदृशो रतनर्माण ।। वही

२ तु० दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्। —वही, १०, ५१

३ तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बभावतया निर्देशेदृष्टान्त। अलं० २७

४ शाकु० ३, १६

५ क्रियैव स्व-स्व-कारणया सम्बन्धो च उपमा-परिकल्पकोऽवगम्यते सा अपरा निदर्शना। —सा मु सि० ८, २२३

६ अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक। —का० प्रा० का० १०, ९७

कोऽत्र भूमिवलये जनान् मुधा तापयन् सुचिरमेति सम्पदम् ।
वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं ततः ॥

इस पद्य में दो वृत्तान्त प्रस्तुत हैं (१) व्यर्थ में सत्ता-मद में लोगों को सताकर अधिक दिन उन्नत न रह सकना (२) दिन भर लोगों को तपाकर सूर्य का सायकाल के समय अस्त हो जाना—ये दोनों परस्पर समानता लिये हैं। इस समानता के आधार पर ये बिम्ब प्रतिबिम्ब-भाव में मूर्त हो जाता है।

असम्भवद्वस्तुनिदर्शना में तो बिम्ब प्रतिबिम्बभाव के बिना वाक्यार्थ-विश्रान्ति ही नहीं होती। जब बिम्ब प्रतिबिम्बभाव होता है तो काव्यबिम्ब की सत्ता स्वयं सिद्ध हो जाती है। विशेषकर वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना में जहाँ दो सर्वथा परस्पर असम्बद्ध वाक्य साथ-साथ रख जाते हैं, उपमानोपमेय भाव के द्वारा ही उनको परस्पर सम्बद्ध किया जाता है। जैसे—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥[2]

यहाँ राजाओं के अन्तःपुर की स्त्रियों में दुर्लभ सौन्दर्य के तपस्वि-कन्याओं में होने और वन की लताओं द्वारा उद्यान की लताओं के तिरस्कृत किये जाने में परस्पर कोई सम्बन्ध न होने के कारण उपमानोपमेय-भाव की कल्पना की जाती है। इससे बिम्बप्रतिबिम्ब की योजना होती है। इसमें असाधारण सौन्दर्य की छाया मस्तिष्क में घूम जाती है। दीक्षित के अनुसार यहाँ प्रतिवस्तूपमा है[3]। यह एक का धर्म दूसरी वस्तु में देखने के कारण भी होती है। जैसे—

योऽनुभूतः कुरङ्गाक्ष्यास्तस्या मधुरिमाऽधरे ।
समास्वादि स मृद्वीका रसे रसविशारदैः ॥[4]

इस पद्य में कुरङ्गाक्षी के अधर के मधुर स्वाद के रस में पान का वर्णन आपाततः सङ्गत प्रतीत नहीं होता। अतः यहाँ उपमानोपमेयभाव की कल्पना हुई कि अधर-रस मृद्वीका रस के तुल्य स्वादिष्ठ है। फलतः दोनों के बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव में अधर रस के स्वाद का अनुभव द्राक्षारस के अनुभव की तुलना

---

१ साद० पृ० ३३१

२ शाक० १ १७

३ अत्रान्तःपुरेषूद्यानेषु च वपुषो लतानां च दुर्लभत्व समानो धर्मो वाक्यद्वये दुर्लभ दूरीकृता इति पृथगुपात्तः । अल०, पृ० १८

४ साद० पृ० ३३३

से होता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ चाक्षुष या श्रावण बिम्ब न बनकर रस-बिम्ब बनता है। यद्यपि अलङ्कार-सर्वस्वकार द्वारा दिये गये वाक्यार्थवृत्ति निदशना के उदाहरण —

> त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्।
> इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः॥[1]

इस पद्य में शोभाकर[2] और जगन्नाथ ने वाक्यार्थ[3]-रूपक स्वीकार किया है परन्तु इन दोनों वाक्यों के अर्थ में परस्पर कोई सम्बन्ध या सङ्गति न होने से उपमानोपमेय-भाव के बिना कोई गति नहीं है। रूपक के उदाहरणों मुखचन्द्र आदि में कोई विसङ्गति का अनुभव नहीं होता है।

ये मालारूप में भी पाई जाती है जैसे—

स खलु धर्मबुद्ध्या विषलता सिञ्चति, कुवलयमालेति निस्त्रिंशलतामालिङ्गति, कृष्णागुरुधूमलेखेति कृष्णसर्पमवगूहति रत्नमिति ज्वलन्तमङ्गारमभिस्पृशति, मृणालमिति दुष्टवारणदन्त मुसलमुन्मूलयति मूढो विषयोपभोगेष्वनिष्टानुबन्धिषु यः सुखबुद्धिमारोपयति।[4]

व्यतिरेक—उपमेय का उपमान से अधिक गुण वाला वर्णित करने से व्यतिरेक अलङ्कार बनता है।[5]

बिम्ब निर्माण में इसकी उपयोगिता तुलना की दृष्टि से है। एक पदार्थ विषम गुण वाले अन्य पदार्थ की तुलना में अधिक स्पष्ट होता है। जैसे श्वेत वर्ण की वस्तु पर काला या अन्य गहरा रङ्ग अधिक खिलता है। दीपक का प्रकाश अन्धकार में उज्ज्वल होता है, प्रकाश में नहीं। अतः कम गुण वाले की तुलना में रखने से उपमेय का स्वरूप अधिक प्रकाश में आ जाता है। जैसे—

> इत्युक्त्वा मृगशावाक्षीमलातसदृशेक्षणा।
> अभ्यधावत्सुसङ्क्रुद्धा महोल्का रोहिणीमिव॥[6]

---

१ अल०, पृ० २७३

२ इत्यादौ वाक्यार्थयोः समानाधिकरण-निर्देशाच्छैतारोपसद्भावे न वाक्यार्थरूपकं वक्ष्यते इति निदर्शनाबुद्धिं कार्या। अर०, पृ० २१

३ रग० पृ० ३४२-४३

४ का०, पृ० २८९

५ उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।—का० प्र० का० १०, १०५

६ वारा० ३, १८, १७

यहां मृगशावाक्षी और अलातमदृशेक्षणा ये दोनों विशेषण परस्पर विरोधी रूप में सीता और शूर्पणखा के क्रमशः सुन्दर एवं भयंकर रूप को प्रत्यक्षवत् करते हैं। इसी प्रकार महालता और रोहिणी ये उपमेय और उपमान वैषम्य लिये हुए शूर्पणखा के भीषण रूप की तुलना में सीता की सुकुमारता का अभिव्यक्त करते हैं। यहाँ यह स्वरूपगत वैषम्य (Contrast) सीता की और शूर्पणखा को आखों के परस्पर विरोधी रूप को मूर्त करने में बहुत सफल रहा है। इसी प्रकार—

अकलङ्क के मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा।[1]

इस पद्य में मुख के निष्कलङ्कत्व एव चन्द्रमा के कलङ्कित्व इस वैषम्य में दोनों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु[2]॥

इसमें चन्द्रमा का कृष्ण पक्ष में क्षीण होकर शुक्ल पक्ष में पुनः बढ़ जाना सबको प्रत्यक्ष है उसकी तुलना में यौवन के अधिक अस्थिरता सबको प्रत्यक्ष सी हो जाती है। इस प्रकार बिम्ब ग्रहण में व्यतिरेक का उपयोग स्पष्ट है।

कुछ लोग उपमान से उपमेय की न्यूनता प्रकाशन में भी व्यतिरेक स्वीकार करते हैं। विश्वनाथ ने उसका बहुत समर्थन किया है।[3] जहां तक उदाहरण की सङ्गति का प्रश्न है विश्वनाथ का मत वहां सङ्गत हो जाता है परन्तु बिम्ब निर्माण की दृष्टि में वह इतना उपयोगी सिद्ध नहीं होता। सम्भवतः अन्य आचार्यों ने इसलिये उस प्रकार की चर्चा नहीं की या अस्वीकार ही कर दिया।

प्रतीप

साम्य मूलक अलङ्कारों में एक प्रसिद्ध अलङ्कार प्रतीप भी है जिसमें प्रसिद्ध उपमेय को उपमान के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इससे उपमेय का प्रतिबिम्ब रूप में और उपमान का बिम्ब रूप में प्रस्तुतीकरण होता है। जैसे—

एषा धर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।
सीतेव शोकसन्तप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति ॥[4]

---

१ साद० पृ० ३३४

२ वही।

३ उपमानान्न्यूनताथवा। साद० १० ५२
हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषा हसैर्दूतपथः सितावृतः। पृ० ३३२

४ वारा० ४ २८७

यहाँ उत्तरार्द्ध मे धूप मे तपी और नव वर्षा म भाप छोड़ती पृथ्वी की तुलना शोक मे सन्तप्त सीता मे की है। वाष्प के भाप और अश्रु दोना का वाचक होने मे श्लेष यहा उपकारी सिद्ध हो रहा है। यहा पृथ्वी और सीता का बिम्ब प्रतिबिम्बभाव भी बन रहा है। क्योकि पृथ्वी धर्म-परिक्लिष्टा है जबकि सीता शोक-सन्तप्ता है।

परन्तु 'नववारिपरिप्लुता" यह विशेषण पृथ्वी के साथ अधिक है। वाष्प-विमोचन दोना मे अनुगामी धर्म बन गया है। फलत यहा दोना का काव्य-बिम्ब अच्छा है।

अप्पयदीक्षित ने प्रतीपअलङ्कार के पाच भेद गिनाये हैं[1]। जिनमे मूल भाव प्रसिद्ध उपमेय का उपमान बनाना सुरक्षित रहता है। उसम भी बिम्ब निर्माण की क्षमता अच्छी है। जैसे—

अहमेव गुरु सुदारुणानामिति हालाहल ! तात मा स्म दृप्य ।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन वचनानि दुर्जनानाम ।।[2]

यहा दुर्जनों के वचना को हालाहल से भी कठोर बताया है। हालाहल स बढ़कर बताने मे खल वचन की तीक्ष्णता का अतिशय प्रत्यक्ष सा अनुभूत होता है। कही उपमेय का तिरस्कार करके उपमान के गुणा का आधिक्य कही उपमान का तिरस्कार करके उपमेय का आधिक्य वर्णित होता है। कही उपमान म उपमेय के औपम्य की ही असगति कही जाती है तो कही उपमेय के रहते उपमानो का व्यर्थ बता दिया जाता है। ये सभी भेद उपमेय और उपमान के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करके चमत्कार उत्पन्न करते है। इस लिये बिम्ब-निर्माण की दृष्टि से सभी उपयोगी है।

---

१ कुवल०, १२-१७
२ वही, १४ (उ०)

दशम परिच्छेद

काव्य-बिम्ब एवं सादृश्येतर-सम्बन्ध-मूलक अलङ्कार

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि साम्य-मूलक अलङ्कार सादृश्य सम्बन्ध के द्वारा शब्द चित्रों के निर्माण में सर्वथा सहायक होते हैं। पर सादृश्य से भिन्न सम्बन्धों पर आधारित अलङ्कार भी इस कार्य में कम उपयोगी नहीं होते। उनमें से कुछ गुणीभूतव्यङ्ग्य के रूप में ही चमत्कारी होते हैं। ऐसे अलङ्कारों में सर्वप्रथम समासोक्ति अलङ्कार आता है।

समासोक्ति— यह अलङ्कार नाम से अपने स्वरूप को इतना ही प्रकट करता है कि इसमें थोड़े से शब्दों में बहुत कुछ कहा जाता है। वस्तुतः कार्य लिङ्ग अथवा विशेषणों के प्रभाव से इसमें वर्ण्य में अवर्ण्य के व्यवहार का आरोप होता है। वर्ण्य में श्लेष का प्रयोग न होने पर भी विशेषणों के श्लिष्ट या अश्लिष्ट होने से अप्रस्तुत के व्यवहार की प्रतीति होती है। इसी कारण इसके नाम की अन्वर्थता है कि इन थोड़े से शब्दों में ही अप्रस्तुत का भी बोध हो जाता है। अप्रस्तुत व्यङ्ग्य होता है परन्तु वाच्य के समान ही स्फुट होने या वाच्य के समान ही प्राधान्य होने से यह अलङ्कार की श्रेणी में आता है।[1]

मानवीकरण—पाश्चात्य काव्यशास्त्र सम्मत अलङ्कारों में एक मानवीकरण भी है। यह रोमाण्टिक काव्य का अतिमहत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसी के माध्यम से कवि प्राकृतिक उपादानों में मानवी भावनाओं के दर्शन करता है। शैले की कविता 'क्लाउड' एवं 'ओड टु दि वैस्ट विंड' कीट्स की 'ओड टु दि नाइटिंगेल' इसके सजीव उदाहरण हैं। यह मानवीकरण की भावना भारत में वैदिक काव्य से लेकर आधुनिकतम संस्कृत काव्य तक पुष्कल रूप में पाई जाती है। उषा सविता सूक्तों में यह प्रवृत्ति प्रत्यक्ष है। रामायण का 'चञ्चच्चन्द्र०', आदि पद्य पहले उदाहृत हो चुका है।[2] समासोक्ति के मूल में भी यह

---

१ समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहार-समारोपः प्रस्तुते-
ऽन्यस्य वस्तुनः ॥ —सा०द०, १०, ५६-५७

२ द्र० अ० २ टि० २३

मानवीकरण की प्रवृत्ति ही है। उदाहरणों में भी स्पष्ट हो जाएगा कि इस अलङ्कार से कितने सुन्दर काव्य-बिम्ब बनते हैं।

कार्य-साम्य—प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत के तुल्य ज्ञान के कारण कभी प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप होता है। फलस्वरूप प्रस्तुत की चेष्टाओं का बिम्ब तो बनता ही है अप्रस्तुत की चेष्टाओं का भी बनता है यही अप्रस्तुत की चेष्टाओं का प्रत्यक्षीकरण उसके व्यवहार का आरोप कहलाता है। पीछे उदाहृत "विकसितमुखी" आदि पद्य में श्लिष्ट विशेषणों के कारण से सूर्य और चन्द्र में परस्त्रीलम्पट व्यक्तियों के व्यवहार का आरोप देखा था। निम्न उदाहरण में धान के पौधे चावलों के भरे पूर्णपात्र सिर पर रखे पट्टिकाबद्ध गौराङ्गी कन्याओं के रूप में देखे गये हैं—

> खर्जूर-पुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः।
> शोभन्ते किञ्चिदानम्राः शालयः कनकप्रभाः ॥[2]

यहां लिङ्ग की समानता न होकर कार्य की समानता है। भारतीय परम्परा है कि विवाह आदि के अवसर पर नववधू के स्वागत के लिए अथवा किसी मान्य अतिथि के स्वागत के लिए सिर पर पूर्णकलश अथवा चावलों से भरा पूर्णपात्र रखे कन्याएँ द्वार पर खड़ी की जाती हैं। यहां आर्थ श्लेष अलङ्कार का प्रयोग 'शिरोभिः' में देखा जा सकता है। क्योंकि उसका अर्थ अग्रभाग एवं सिर दोनों होते हैं। 'शिरोभिः' के स्थान पर "मूर्धभिः" कर देने पर भी अन्यार्थ की प्रतीति की हानि न होगी। अब विचार कर देखें कि पद्य में विवक्षित यह आशय मूर्त होता है या नहीं।

लिङ्ग-विशेषण के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ के व्यवहार का आरोप तो बहुधा देखा जाता है। निम्नलिखित पद्य इसका अच्छा निदर्शन है—

> सेवमाने दृढं सूर्ये दिशमन्तकसेविताम्।
> विहीन-तिलकेव स्त्री नोत्तरा दिक् प्रकाशते ॥[3]

यहां 'दिशम्' शब्द-स्त्री-लिङ्ग है और अन्तक" शब्द पुलिङ्ग है। "उत्तरा दिक्" भी स्त्री-लिङ्ग है। "सेवमाने" यह धर्म ऐसा है जो कि सूर्य में आश्रय अर्थ में उपचरित है। सूर्य में अप्रस्तुत नायक का व्यवहार करने पर

१ द्र० अ० ६, टि०
२ वा० रा०, ३, १६, १७
३ वही, ३, १६, ८

सवमान को अपना मुख्य जय भुञ्जान या उपभाग कुर्वाण हो गया। फलस्वरूप सूय म शठ नायक के व्यवहार का आरोप व दक्षिण दिशा म अनङ्ग शब्द म बोध्य परपुरुष से उपभुक्तपूव (परस्त्री) के व्यवहार का आरोप होता है उत्तरार्द्ध म वर्णित्ता या रागिता स्वकीया नायिका के व्यवहार का बोध होता है। इस प्रकार मय के दक्षिणायन होने म उत्तरदिशा के शोकवहुल होने का प्रस्तुत अथ विम्बित होता है पुन अपने प्रिय के परस्त्रागामी होने म शृङ्गार विरत स्वकीया नायिका का बिम्ब बनता है। साथ साथ सूयमण्डल को निकट म बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है जो कि अन्वय है। इस प्रकार एक पूर्ण बिम्ब इसम देखने को मिलता है।

निम्नलिखित गाने म गजल म नायिका के व्यवहार के दर्शन किए गए हैं—

त्रियामे याति यामो वीक्षसे कस्यागत वाले ?।
प्रिय वस्त्र शुभ त्व वीक्षसे यस्यागत वाले ?॥
शशी द्वारे चिरादास्ते प्रसादाथ तव श्रीमान ।
अत प्रयानसौ का वीक्षसे यस्यागत वाले ?॥
इद नीलाम्बर चित्र तथा रत्नावली तारा ।
सुमञ्जा किं तदय वीक्षसे यस्यागत वाले ?॥
किमथ शोभन मकनरतमिस्र कशपाशोऽयम ?।
शठो यातोऽन्यत किवाक्षसे यस्यागत वाले ?॥
सखा त कौमदी मूका दधाना दीपितामुल्काम
विचन्न किं गता त्व वाक्षसे यस्यागत वाले ?॥
सुख निद्रा रम मग्नस्तवोऽस्त ग शिशुर्लोक ।
त्रिनिशा व वराकी वीक्षसे कस्यागत वाल ?।
किमथ शोभन श्याम मुख त मानस दूनम ?
अलज्ज को गतस्त्व वीक्षसे कस्यागत वाले ?॥[1]

इस गजल म गजल म विभिन्न नायिकाओं के व्यवहार के दशन किए गय हैं जो अपने प्रिय की प्रतीक्षा म रात भर जाग रही है। इस प्रकार यहा काय साम्य है तो त्रियामा म स्त्रीलिङ्ग और के प्रिय म पुंलिङ्ग लिङ्गसाम्य के बाद सम्बोधन इसने इनको स्पश करा देता है द्वितीय चरण म चन्द्रमा म प्रिय के व्यवहार का आरोप है। प्रमाद शब्द म श्लेष के

---

१ शिवप्रसाद भारद्वाज— त्रियामा प्रति अभिनवगगगाविन्द पृ० ३३

कारण नायिकात्व की पुष्टि होती है। चन्द्रमा में निशापतित्व की बुद्धि लोक-प्रसिद्ध है। अतः आरोप की आवश्यकता नहीं है।

तृतीय चरण में "नीलाम्बर में श्लेष-रूपक और रत्नावली तारा" में व्यस्त रूपक है, "मुसज्जा" शब्द के प्रयोग से नायिका का प्रतीयमान वासर राज्ञीत्व अगले खण्ड में "केशपाश" का अलङ्कार में अध्यवसान नायिकाभाव का पोषक है जो कि त्रियामा में खण्डिता[1] और विप्रलब्धा[2] के व्यवहार का आरोप कराता है। कौमुदी में नायिका की सखी का आरोप उसी का पोषण है। चारों ओर फैले प्रकाश में जलाई मशाल का अध्यवसान नायक की खोज के व्यापार में सहायक है पर इसको आरोप नहीं मान सकते। चाँदनी के दूर दूर तक फैलने में रात्री के प्रियतम का खोजने की सम्भावना की गई है।

इस प्रकार इस गीतिका में विशेषण, काय और लिङ्ग तीनों का वैशिष्ट्य काम कर रहा है। श्लेष अलङ्कार का प्रयोग इस अलङ्कार को अधिक चमत्कृत और प्रत्यक्षायित कर देता है। इस वर्णन में त्रियामा पाठक को विविध रूप में प्रतीक्षा करती युवती के रूप में दिखाई देती है।

विशेषण-साम्य

समान विशेषणों के प्रयोग में भी अप्रस्तुत के व्यवहार के दर्शन होते हैं। श्लेष अलङ्कार का प्रयोग इसमें विशेष सहायक होता है। जैसे—

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे॥[3]

इसमें भी गन्धवह में पुंलिङ्ग और लता में स्त्रीलिङ्ग नायक नायिका के व्यवहार का साधक है "चुम्बिता" शीकरैः करम्बिताङ्गी ये विशेषण स्पर्श के अतिरिक्त चुम्बन व स्वेद-रूप सात्त्विक भाव के बाधक हैं। "स्मितशोभिकुड्मला" में उपमा-रूपक में देह के कारण तथा "स्मित" का लक्षणा से विकसित अर्थ लेने से तुल्य विशेषणत्व सिद्ध है। 'दर-कम्पिनी' में पवनवशात् लता के स्वाभाविक तरलित होने में वेपथु की सम्भावना लता में नायिका-भाव के

---

१ पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंभोगचिह्नितः।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता॥ —साद०, ३, ७५

२ प्रियः कृत्वापि सङ्केतं यस्या नायाति संनिधिम्।
विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता॥ —वही, ३, ८३

३ नैष०, १, ८५

व्यवहार को दृढ़ करती है। इसीलिए 'दरादगम्या' का सान्निध्य अनुकूल बैठता है। इस नायक-नायिका-भाव के व्यवहार के आरोप से मानवीकरण की प्रक्रिया पूर्ण हो गई है और प्रकृति के व्यापार में उनकी प्रेमलीला के प्रत्यक्षकल्प दर्शन होते हैं।

शोभाकर ने समासोक्ति के प्रसङ्ग में बौद्धिक बिम्बों के भी उदाहरण दिये हैं। शास्त्रीय विषयों में भी एक शास्त्र के विषय में दूसरे शास्त्र के व्यवहार के आरोप में भी यह *अलङ्कार स्वीकार किया है।* जैसे—

सत्पक्ष सङ्गतिरुपोयसपक्षसत्त्वो
दूरीकृताखिलविपक्षगतिनरेन्द्र ।
बाधोज्झितस्वविषय प्रतिपक्षहीन
साध्य विधेहि विदुषा धृतसाधुवाद[1] ।।

यहाँ लौकिक विषय में न्यायसम्मत अनुमानसम्बन्धी पञ्चलक्षण के व्यवहार को आरोपित किया गया है। परन्तु इस प्रकार के बिम्बों से मानवीकरण का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

अप्रस्तुत-प्रशंसा —समासोक्ति से विपरीत इस अलङ्कार में अप्रस्तुत से प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है।[2] इसमें पहले वाच्यार्थ का बिम्ब बनता है, तदनन्तर व्यङ्ग्य अर्थ का। व्यङ्ग्य अर्थ प्रायः बौद्धिक होता है। उदाहरण के लिए—

तावत् कोकिल विरसान् यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन् ।
यावन्मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति ।।[3]

जगन्नाथ के इस पद्य में कोयल को आम के विकास तक किसी वन में रहने का उपदेश दिया गया है। पक्षी को इस प्रकार का उपदेश दिया जाना सम्भव नहीं है। अतः किसी दुर्गति में पड़े मनुष्य को अनुकूल समय आने तक किसी परदेश में दिन काटने के परामर्श की प्रतीति होती है। इसमें वाच्यार्थ-बोध के साथ ही उसका बिम्ब बनता है और बाद में प्रस्तुत का बौद्धिक बिम्ब बनता है।

---

१ अत्र लौकिके नैयायिकादि-प्रसिद्ध-पञ्चलक्षणक-हेत्वव्यवहारारोप । —अर०, (उ०) २२२

२ अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् सा यत्र प्रस्तुताश्रया । —कुवल०, ६६

३ जगन्नाथ—भावि, १, ६

इस अलङ्कार के सामान्य से विशेष और विशेष से सामान्य की, कारण से कार्य और कार्य से कारण की एवं समान अप्रस्तुत से समान प्रस्तुत की प्रतीति रूप पाँच भेद माने हैं। परन्तु सबका उद्देश्य बिम्ब प्रस्तुत करना ही है, भले ही वह ऐन्द्रिय हो या बौद्धिक हो। पिछले उदाहरण में अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य के बोध का बिम्ब दिखाया जा चुका है।

> **ये यान्त्यभ्युदये प्रीतिं नोज्झन्ति व्यसनेषु च ।**
> **ते बान्धवास्ते सुहृदो लोकः स्वार्थपरोऽपरः ॥**[1]

यहाँ अप्रस्तुत मित्र की उन्नति में प्रसन्न होने वाले ही वास्तविक बन्धु हैं शेष स्वार्थी हैं, यह कारण रूप वाच्यार्थ है। इससे प्रस्तुत व्यङ्ग्य है कि मैं हित की बात कहता हूँ, वास्तविक मित्र और शत्रु को पहचानो, मेरी बात पर विश्वास करो। यहाँ पहले वाच्य अर्थ का बिम्ब बनता है, बाद में व्यंग्य का।

> **उद्वेजनीयो भूतानां नृशंसः पापकर्मकृत् ।**
> **त्रयाणामपि लोकानामीश्वरोऽपि न तिष्ठति ॥**
> **कर्मलोकविरुद्धं तु कुर्वाणं क्षणदाचर।**
> **तीक्ष्णं सर्वजनो हन्ति सर्पं दुष्टमिवागतम् ॥**
> **लोभात् पापानि कुर्वाणः कामाद् वा यो न बुध्यते ।**
> **हृष्टः पश्यति तस्यान्तं ब्राह्मणी करकादिव ॥**
> **न चिरं पापकर्माणः क्रूरा लोक-जुगुप्सिता ।**
> **ऐश्वर्यं प्राप्य तिष्ठन्ति शीर्णमूला इव द्रुमा ॥**[2]

राम के द्वारा खर के प्रति कहे गये इन पद्यों में सामान्य अर्थ अप्रस्तुत में कहा गया है। इससे प्रस्तुत विशेष का बोध होता है कि तू सारे प्राणियों को सताने वाला निर्दयी और पापी है, बड़े-बड़े सामर्थ्यशाली भी ऐसा आचरण करके शीघ्र मिट जाते हैं, तू तो होता ही कौन है। तेरे जैसे अत्याचारी को सभी लोग मारना चाहते हैं, मैं ही नहीं। तूने पाप तो किये पर यह नहीं सोचा कि इस का परिणाम क्या होगा। तुम्हारे जैसे निन्दनीय कर्म करने वाले व्यक्ति धन-वैभव पाकर अत्याचार करते हैं पर शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यह भाव इन पद्यांशों में प्रकट किया गया बौद्धिक बिम्ब का निर्माण करता है। बीच-बीच में 'सर्पं दुष्टमिवागतम्' 'ब्राह्मणी करकादिव', 'शीर्णमूला इव

---

१ ला०, पृ०, १०६
२ वाल्मी०, ३, २६, ३-८, ७

द्रुमा' म उपमाय भी इस प्रकाशित अभिप्राय को मूल बनान म सहायक हैं। इनसे पहले बौद्धिक बिम्ब बनता है और तत्पश्चात ऐन्द्रिय बिम्ब । सप का मृत्यु वश की जन खावरी होना आदि प्रत्यक्ष बिम्ब हैं । इसी प्रकार—

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम ।
विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥[1]

इस पद्य म उत्तरार्द्ध म विष का भी अमत बन जाना और अमृत का विष बन जाना जो कहा है यह लोक म देखने म नहीं आता । इसमे प्रस्तुत सामान्य द्योतित होता है कि हानिकारक वस्तु लाभकर और लाभकर वस्तु हानिकर हो जाया करती है ।

इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमदलं श्यामेव हेमप्रभा ।
कार्कश्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीताया पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हा सगर्हा इव[2] ॥

इस पद्य म अप्रस्तुत चन्द्रमा हिरणिया की आखें मूगा सोना कोयल के शब्द और मोर के पख लोक म प्रत्यक्ष होने वाली वस्तुएँ हैं। इनके द्वारा चाक्षुष और श्रावण बिम्ब बनत हैं । किन्तु ये सभी उपमान कोटि में रख गये पदाथ होने म अप्रस्तुत हैं । इनमे सीता क मुख नेत्र अधर कलवर का वण कण्ठस्वर का माधुय एव पुष्पचित्रित नील कुन्तल का असाधारण सौन्दय प्रत्यक्षवत हो जाता है । उसका तह म छिपा सौन्दय की भावोत्सरता और उससे विस्मय एव आनन्द की अनुभूति होती है । इस प्रकार पहले चाक्षुष और श्रावण दूसरी तह में भी वही, ततीय चतुथ स्तर पर मानस बिम्ब या भाव बिम्ब बनते हैं। यहा चन्द्रमा का कालिमा म पुत जाना हिरनियो की दष्टि का पथराई सा लगना आदि काय हैं जो कि अप्रस्तुत ह क्योंकि सहसा इन कार्यों या परिणामों की चर्चा अनावश्यक सी लगती है। अत प्रस्तुत कारण के रूप में सीता के मुख आदि की अनुपमता जो कि विवक्षित होने स प्रस्तुत है बोधित होती है । इस प्रकार अप्रस्तुत काय म प्रस्तुत कारण का बोध रूपा अप्रस्तुत प्रशसा है ।

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीय सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमत ।

---

१ रघु० ८ ४७
२ साद० १० प० ३४३

न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्र पतित
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः[१] ।।

यहां अत्यन्त मधुर, पर-तृप्तिकारी और अपने विकृत रूप गुड़, शकरा, खांड मिसरी आदि से सबको प्रसन्न करने वाले ईख का अनुर्वर भूमि में बोया जाने पर न बढ़ना यह सामान्य अर्थ अप्रस्तुत है, इससे किसी लोक प्रिय, अत्यन्त गुणवान् व विद्वान् व्यक्ति का किसी अगुणग्राही के आश्रय में जाकर उन्नति न कर पाना यह सामान्य अर्थ प्रस्तुतरूप से बोधित होता है। दोनों ही बातें तथ्य हैं। पुन कवि की टिप्पणी कि ईख के न बढ़ने के लिये उस भूमि को ही दोषी ठहराना चाहिये स्वयं ईख को नहीं, प्रस्तुत रूप में उस गुणवान् व्यक्ति की उन्नति न होने का निमित्त उस अगुणज्ञ को ही ठहराना चाहिये, यह आशय यहां प्रतीत होता है। लोक-सभवी होने से दोनों के ही बिम्ब पाठक या श्रोता के मस्तिष्क में बन जाते हैं।

विश्वनाथ ने श्लेषानुप्राणिता[२] एवम् असभवदवस्तु-मूला[३] ये दो भेद और स्वीकार किये हैं, उनका भी सारूप्य के आधार पर दोनों प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बिम्ब प्रस्तुत करना ही प्रयोजन है।

पर्यायोक्त

इस अलङ्कार में प्रतीयमान अर्थ को भी प्रकारान्तर से अभिहित करके वाच्य बना दिया जाता है[४] इसकी विशेषता यही होती है कि इसमें दोनों ही अर्थ प्रस्तुत होते हैं। इन दोनों ही अर्थों का बिम्ब इस अलङ्कार के द्वारा बनता है। जैसे—

न स सङ्कुचित पन्था येन वाली हतो गत ।
वचने तिष्ठ सुग्रीव मा वालि-पथमन्वगा[५] ।।

---

१ (भर्तृ ५-) व्याख्या० २, पृ० १४५

२ तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने च द्विधा, श्लेषमूला सादृश्यमात्रमूला च ।
—साद०, पृ० ३४३-४४

३ (वाच्यरूप) असभवे—कोकिलोऽहं भगवान् काक समान कालिमादया ।
अन्तर कथयिष्यन्ति काकली—कोविदा पुन ।।
—वही, पृ०, ३४४

४ पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते । —वही, १०, ६१

५ वाल्मी० ४, ३०, ८१

यहा विवक्षित अर्थ यही है कि जो बाली को मार सकता है वह तुझे भी मार सकता है पर इस बात को घुमाकर कहा गया है। पहले अर्थ से राम द्वारा बाली के मारे जाने के दृश्य का बिम्बन होता है दूसरे अर्थ मे सुग्रीव की छाती पर भी बाण तना हुआ भावावेश दिखाई देता है। इसकी तह मे राम के क्रोध की अनुभूति छिपी है। फलत पहले चाक्षुप बिम्ब बाद मे भाव बिम्ब का निर्माण होता है। इसी प्रकार—

अनेन पर्यासयताश्रु बिन्दून मुक्ताफलस्थूलतमान स्तनेषु।
प्रत्यर्पिता शत्रुविलासिनीनामाक्षेपसूत्रेण विनेव हारा ॥[1]

इस श्लोक मे शत्रुओ की विनाश रूप अर्थ उनकी स्त्रियो के वक्षस्थल पर टप टप पडनेवाली अश्रुधारा के छल से बिना धागे की मुक्ता माला पहनाने के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार पहले स्त्रियो के वक्ष स्थल पर पडे मोटे मोटे अश्रुबिन्दु अन्तर्दृष्टि मे दिखाई देते हैं तदनन्तर शत्रुनाश का अवर्णित भाव भी दृश्यवद्ध सा भासित होता है।

परिकर—विशेषणो के साभिप्राय प्रयोग मे परिकर अलङ्कार बनता है[2]। उसका तात्पर्य यही है कि उन विशेषणो मे अन्तर्निहित आशय जो कि व्यङ्ग्य होता है श्रोता या पाठक के मस्तिष्क मे मुद्रित हो जाय। जैसे—

गुणानुरक्तामनुरक्त साधन कुलाभिमानी कुलजा नराधिप।
परैस्त्वदन्य क इवापहारयन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम ॥[3]

यहाँ गुणानुरक्ताम अनुरक्तसाधन कुलाभिमानी कुलजाम मनोरमाम ये विशेषण साभिप्राय हैं। श्लेष के स्पर्श के कारण यद्यपि इसमे और गम्भीरता आ गई है पर श्लेष की सम्बन्ध साधी उपमा से है जिसके कारण ये विशेषण दोनो ओर सम्बद्ध हो गये हैं। पर यदि श्लेष न भी हो तो भी इन विशेषणो मे परिकर अलङ्कार सुरक्षित है। कोई भी स्वाभिमानी जिसमे पुरुषार्थ और आत्मसम्मान की भावना होगी गुणवती एव अपने प्रति अनुराग रखने वाली उच्च कुल मे उत्पन्न एव सुन्दरी पत्नी को पराये हाथो मे नही जाने देता है। इसी प्रकार अपने वश की मान मर्यादा का विचार रखने वाला राजा एसे वश-परम्परागत राज्याधिकार को जिसमे प्रजाजन और सारे अधिकारी

१ रघु० ६ २८
२ उक्तै विशेषणै साभिप्रायै परिकरो मत। —काव्य० १० ५७
३ किरा० १ ३१

स्वामीभक्त और अपने पक्ष में हो, अपने राज्य व भूमि को कभी शत्रुओं में नहीं छिनने देता है। जो ऐसा करता है, उसे धिक्कार है। उसे अपनी मान-मर्यादा का कोई विचार नहीं है। वह पौरुष-विहीन है। इस प्रकार की फटकार युधिष्ठिर को दी गई है। अतः सारे विशेषण विशेष तात्पर्य में रखे गये हैं।

मम्मट व जयरथ के विचार में वैसे इसका प्रयोजन अपुष्टार्थ दोष के निराकरण से भी सिद्ध हो जाता है। तथापि अनेक विशेषण यदि इस प्रकार भाव गर्भित हों तो विशेष चमत्कार उत्पन्न होने से पृथक् अलङ्कार मानना उचित है।[1]

कुछ आचार्यों ने इसे जाति, गुण, द्रव्य और क्रियागत वैशिष्ट्य को लेकर चार भागों में विभक्त किया है।[2] परन्तु इसमें बिम्ब-निर्माण में कोई नई विशेषता न जान से हमने उनके उदाहरण नहीं दिये हैं।

इस अलङ्कार के लिये विशेष्य के उत्कर्ष अथवा प्रसङ्गानुसार उस पर कटाक्ष करने के लिये विविध विशेषणों का साभिप्राय प्रयोग किया जाता है। जैसे—

> कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी,
> कृष्णाकेशोत्तरीय-व्यपनयन-पटुः पाण्डवा यस्य दासाः ।
> राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं
> क्वाऽऽस्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः[3] ॥

यह श्लोक महाभारत-युद्ध के प्रसङ्ग में आया है। दुर्योधन के ये विशेषण उसकी दण्डनीयता को सूचित करते हैं। इनमें दुर्योधन द्वारा किये गये सारे अपकार प्रत्यक्षवत् हो जाते हैं।

आचार्यों में कुछ यह विवाद उठा है कि परिकर एक विशेषण पर भी

---

१ यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषतार्ऽभिधानात्तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः, तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यलङ्कार-मध्ये गणितः । —का० प्र० का०, पृ० ५४१
विशेषणानां चात्र बहुत्वमेव विवक्षितम् । अन्यथा ह्यपुष्टार्थस्य दोषत्वा-भिधानात् तन्निराकरणेन स्वीकृतस्य पुष्टार्थस्याय विषयः स्यात् । एवंविधानेकविशेषणोपन्यासद्वारेण वैचित्र्यातिशयः सम्भवतीत्यस्या-लङ्कारत्वम् । —विम०, पृ० ३४५

२ सा० सु० सि० ८ २५४

३ वेस० ५, २६

आधारित होता है अथवा अनेक विशेषण ही दमक लिये आवश्यक हैं। मम्मट, विमर्शिनीकार आदि आचार्यों का विचार ऊपर दिया जा चुका है। जगन्नाथ का कथन है कि दोषाभाव और चमत्कार दोनों पृथक धर्म हैं। परन्तु यदि एक स्थान पर दोनों बातें आ जाती हैं तो इसमें कोई हानि नहीं है। इस प्रसंग में एक विशेषण के प्रभावशाली होने का उदाहरण निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

> मन्त्र मीलितमौषध विलित त्रस्त सुराणा गण
> त्रस्त सान्द्रसुधारसैर्विदलित गारुत्मतग्रावभि ।
> वीचिक्षालितकालियाहित पदे स्वर्लोककल्लोलिनि
> त्व ताप शमयाधुना मम भवज्वालावलीढात्मन ॥[1]

इसमें गङ्गा का एकमात्र विशेषण 'वीचिक्षालित-कालियाहितपद' गङ्गा का सर्वातिशायिनी तापनाशकता को सूचित करता है। क्योंकि जिसने अपने चरणों के बल से अत्यन्त सविष कालिय नाग को भी निर्विष कर दिया उन विष्णु के चरणों को धोने से उत्पन्न नदी में उन चरणों में वह विषनाशकता निसर्गत आ गई है। इसलिये जहाँ मन्त्र आदि काम नहीं आते वहाँ विष्णु चरणादभूत होने से वही भव विष-कृत ताप को शान्त करने में समर्थ है। तात्पर्य यह है कि चिकित्सा रोग के अनुसार होता है। मन्त्रादि सामान्य विषों को दूर कर सकते हैं संसार विष को नहीं। विष्णु-चरणादभूत होने के कारण उसकी औषध गङ्गा ही है। इस प्रकार एक ही विशेषण यहाँ समग्रश्लोक को चमत्कृत कर रहा है। अधिक विशेषणों से अधिक चमत्कार की उत्पत्ति होगी। जैसे ऊपर उद्धृत कर्ता आदि पद्य में। इसी प्रकार—

> एकातपत्र जगत प्रभुत्व नव वय कान्तमिद वपुश्च ।
> अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढ प्रतिभासि मे त्वम् ॥[2]

इसमें भी विशेषण विशेष्यों की अनुपक्षायता प्रतिबिम्बित करते हैं।

परिकराङ्कुर—कुछ आचार्य विशेष्यों के साभिप्राय होने पर प्रस्तुत अङ्कुर अलङ्कार की स्थिति स्वीकार करते हैं। जैसे— चतुर्णां पुरुषार्थाना

१　तदसत्। विशेषणानेकत्व हि व्यङ्ग्याधिक्याधायकत्वाद वैचित्र्य विशेषाधायकमस्तु नाम। न तु प्रकृतालङ्कार शरीरमेव तदिति शक्य वक्तुम्। 'वीचि-क्षालितकालियाहितपद' इति प्रागुक्त एकस्यैव विशेषणस्य चमत्कारितायाः अनपह्नवनीयत्वात्।

—रस० पृ० ३८७

२　रघु० २ ४७

दाता देवश्चतुर्भुज ।[1] यहाँ भगवान की चार भुजाएँ होना एक साथ चारों पुरुषार्थ प्रदान करने की सामर्थ्य सूचित करता है। रेवा प्रसाद द्विवेदी ने विमर्शिनी की हिन्दी व्याख्या में अलङ्कार कौस्तुभकार का मत उद्धृत करते हुए इसका अन्तर्भाव उसके माई उपापति के अनुसार परिकर में ही माना है।[2] वैसे विशेष्य के साभिप्राय होने पर व्यङ्ग्यार्थ की सम्भावना होती है। जैसे "रामोऽस्मि सर्वं सहे" "जीवत्यहो रावण" आदि में, परन्तु यदि यह साभिप्रायता गुणीभूतव्यङ्ग्य के रूप में हो तो निश्चय ही ऐसे स्थलों में अलङ्कार ही स्वीकार करना होगा। जैसे—

> धर्मात्मजस्य यमयोश्च कथैव नास्ति,
> मध्ये वकोदर-किरीटभृतोबलेन।
> एकोऽपि विस्फुरित-मण्डल चापचक्रं
> कः सिन्धुराजमभिषेणयितुं समर्थः ॥[3]

इस पद्य में 'धर्मात्मजस्य' 'यमयो' वृकोदर-किरीटभृता' ये शब्द विशेष तात्पर्य के व्यञ्जक हैं। 'धर्मात्मजस्य' युधिष्ठिर के लिये आया है जो कि उस को केवल धर्मकार्य के आचरण में निरत और पराक्रमशून्य सूचित करता है। 'यमयो' नकुल-सहदेव के लिये आया है। वे दोनों जुड़वाँ थे। चिकित्सा-विज्ञान वाले कहते हैं कि इस प्रकार के बालक अन्य बालकों की तुलना में अल्पशक्ति वाले होते हैं। इस लिये उन दोनों में शक्ति की सम्भावना ही नहीं हो सकती। रहे पाण्डवों में भीम और अर्जुन जो कि तीसमारखाँ बनते हैं पर उनमें 'वृकोदर' तो केवल पेटू है, ज्यादा खाने वाला बलवान् तो होता नहीं, रहा अर्जुन, वह 'किरीटभृत्' है अपना मुकुट ही सँभालता है, तात्पर्य यह है कि वह तो शृङ्गारप्रिय छैल है, योद्धा तो फैशन आदि से दूर हर समय मरने मारने के लिये सन्नद्ध रहता है। उनकी तुलना में सिन्धुराज 'विस्फुरित-मण्डल चापचक्र' है, युद्ध में पराक्रम से जब धनुष को गोलाकार करके बाणवर्षा होगी तो ये युद्ध में सामने खड़े भी नहीं रह सकते, लड़ना तो दूर की बात है। उपयुक्त विशेष्य यद्यपि इस प्रकार व्यञ्जक है तथापि व्यङ्ग्य उत्तरार्द्ध के वाच्यार्थ की सिद्धि

---

१ साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्कुरः ।
चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः ॥ —कुवल० ६३

२ विशेष्यविशेषणोभयसाभिप्रायत्वेऽपि परिकर एवेति त्वस्माकं यविष्ठभ्रातृसमापते पक्षः ।
—विम० पृ० ३४९

३ वेम० २, २६

के अड ग बन गये हैं। अत यहा गुणीभूतव्यङ्ग्य होने मे अलङ्कार ही है। ये विशेष्य अरन व्यङ्ग्य आशय म युधिष्ठिर आदि के उस स्वरूप को मूत कर देने म सक्षम है।

व्याजस्तुति

यहा व्याजेन स्तुति और व्याजरूपा स्तुति इन व्युत्पत्तिया मे निन्दा म प्रशसा एव प्रशसा म निन्दा का भाव अभिव्यक्त होता है।[1] वह व्यङ्ग्यीभूत आशय मूत होकर चमत्कार उत्पन्न करता है। जैसे—

> त्व तु द्वित्रपदानि गच्छसि महीमुल्लङ्घ्य यान्ति द्विष
> त्व बाणान दशपञ्च मुञ्चसि परे शस्त्राण्यशेषाण्यपि ।
> ते देवीपतयस्त्वदस्त्रनिहतास्त्व मानुषीणा पति
> निन्दातथु क्य स्तुतिस्त्वपि कय तत सुज्ञ निर्णीयताम ॥[2]

इसम आपातत वर्ण्य राजा की निन्दा और शत्रुओ की प्रशसा प्रतीत होती है कि राजा दो तीन ही कदम चल पाता है पर शत्रु पृथ्वी को लाँघ कर कहीं का कहीं पहुँच जात हैं। वह दस या पाँच बाण छोड पाता है जब कि वे सारे ही हथियार चला देते हैं वे देवाङ्गनाओ क पति है पर वह केवल मानवियो का भर्ता है। इस वाच्यार्थ म एक बिम्ब इसी प्रकार का बनता है पर पार्यन्तिक व्यङ्ग्य म वर्ण्य क दो तीन पैर बढाने ही शत्रु राज्य छोड कर भागते दिखाइ देत हैं उसके दस पाँच बाण छोडते ही बैरी साहस छोडकर हार मानने दीखते हैं इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ से दूसरा बिम्ब बनता है। फलस्वरूप यह भी काव्य बिम्ब निमाण म सहायक अलङ्कार है।

सूक्ष्म—चिह्ना द्वारा किसी वृत्तान्त की सूचना होने म यह अलङ्कार होता है।[3] यहाँ भी व्यङ्ग्यार्थ वाच्याथ का साधक होता है। जैसे—

---

१ यत्र स्तुतिरभिधीयमानापि प्रमाणान्तराद् बाधितस्वरूपा निन्दायां पर्यवस्यति तत्रासत्यत्वाद व्याजरूपा स्तुतिरित्यनुगमेन तावदेका व्याजस्तुति । यत्रापि निन्दा शब्देन प्रतिपाद्यमाना पूर्ववद बाधितरूपा स्तुतौ पर्यवसिता भवति सा द्वितीया व्याजस्तुति । व्याजेन निन्दामुखेन स्तुतिरिति कृत्वा ।

—अस०, पृ० ४१६

२ सासुसि० (उ) ३७४

३ सलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽथ आकारेणेङ्गितेन वा ।
कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्म तदुच्यते ॥ —साद० १० ९१ ९२

कूजित नूपुराणा च काञ्चीना निनद तथा ।
स निशम्य तत श्रीमान् सौमित्रिर्लज्जितोऽभवत् ॥[1]

यहा नूपुरो के कूजित और काञ्ची की घण्टियो की रुनझुन को सुनने मात्र से लक्ष्मण का लज्जित होना नूपुर आदि के शब्द से व्यक्त महलो मे चल रही विपरीत रति से सङ्गत होता है। सूक्ष्म अलड्कार इसी व्यञ्जना पर आधारित है। लज्जा का कारण—

नेक्षेतार्क न नग्ना स्त्री न च ससृष्ट-मैथुनाम् ।[2]

यह स्मृतिवचन है। यह विपरीत रति का व्यड्ग्यार्थ ही बिम्ब बनता है। इसी प्रकार—

वक्त्रस्यन्दिस्वेद बिन्दु-प्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्न कुड्कुम कापि कण्ठे ।
पुस्त्व तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखालिलेख ॥[3]

इस पद्य में मुख के स्वेद से बह कर गले तक आए केसर से तन्वी द्वारा किये गये विपरीत सुरत की अभिव्यक्ति सूक्ष्म अलड्कार का मूल है। अत उसके हाथ पर बनाई गई खड्गरेखा के एव स्वद के साथ बहते केसर के चाक्षुष बिम्ब से व्यड्ग्य विपरीत रति का सूक्ष्म बिम्ब बनता है। 'व्यञ्जयन्ती और 'स्मित्वा' दोनों पद व्यड्ग्य को वाच्यायित कर रहे हैं।

समुच्चय—खले कपोतिका न्याय से गुण और क्रिया का यौगपद्य, सदसद्-योग इस अलड्कार के आधार है।[4] इस प्रकार इसमें कई खण्ड-चित्र बनने के पश्चात् एक सामूहिक चित्र बनता है। जैसे—

शशी दिवसधसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिज मुखमनक्षर स्वाकृते ।
प्रभुर्धनपरायण सतत-दुर्गत सज्जनो
नृपाड्गणगत खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥[5]

---

१ वारा० ४, ३३, २५

२ यास्मृ० १, १३५

३ सादि०, पृ० ३६४

४ समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके ।
खले-कपोतिका-न्यायात् तत्कर स्यात् परोऽपिचेत् ।
गुणौ क्रिये वा युगपत् स्याता यद्वा गुणक्रिये ॥ —साद०, १०, ८४-८५

५ वही, पृ० ३६०

यहा मत और अगत का साथ-साथ याग वाना क खण्डबिम्ब प्रस्तुत करता है। जैसे चन्द्रमा सत है ता दिवस धूसरता असत है सरोवर सत है ता वारिज हीनता असत है। चतथ चरण इन सबक कष्टप्रभाव का अनुभूतिबिम्ब प्रस्तुत करता है। केवल सदयोग म बना बिम्ब निम्न पद्य में देखा जा सकता है—

अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरीच विद्या षड जीवलोकस्य सुखानि राजन ॥[1]

यहा गिनाय गये छ जीवलोक के सुख सत है। उनक खण्ड बिम्बो का सामूहिक अनुभूत्यात्मक बिम्ब बनता है।

गुण क्रियाओ के यौगपद्य से बनन वाल काव्य बिम्ब का सुदर उदाहरण अलकारसर्वस्व में दिया गया है—

न्यञ्चत कुञ्चितमुन्मुख हसितवत साकूतमाकेकर
व्यावृत्त प्रसरत प्रसादि मुकुल सप्रेमकाय स्थिरम।
उदभ्रान्तमपाङ गवत्ति विकच मज्जत्तरङ गोत्तर
चक्षु साधु च वतत रसवशादेकैकमन्यक्रियम ॥[2]

इस पद्य म नायिका की विभिन्न दृष्टियो यौगपद्य म वर्णित है। रसवशात शब्द म उनकी अनुभूतियों के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है। दृष्टि-सूचक पद विशेषण होने पर भी शतृ णिनि मतुप आदि प्रत्ययो क द्वारा दृग व्यापारो की सूचना देते हैं। इनमे नायिका की आन्तरिक अवस्था का जो अनुभूति बिम्ब बनता है वह पृथक है। सञ्जीवनाकार क आधार पर रेवा प्रसाद द्विवेदी ने इनका अच्छा स्पष्टीकरण किया है।[3]

---

१ मभा० ५ ३३ २२

२ अत्रोकेकरादयो गुणशब्दा न्यञ्चदि यादय क्रियाशब्दा इति सामस्त्यन गुण क्रिया यौगपद्यम। प्रसादि-सप्रेमेत्यादीना गमातङ्कृत्तद्धितेषु सम्बन्धाभिधानमिति सम्बन्धस्य वाच्यत्वात तस्य च सिद्धरूपत्वेन गुणवाद गुण शब्दत्वेन गुणयौगपद्यम इति द्रष्टव्यम। —असवृ० पृ० ५६७

३ न्यञ्चित—स्यान्यञ्चित न्यञ्चदपाङ गभागम।
कुञ्चित—अग्रान्ग-मङ कोचि तु कुञ्चित स्यात।
उन्मुख—उदञ्चित तूर्ध्वमपाङ गमाडि ग
हसित—निमेषशून्योल्लसित विहासि ॥
साकूत—साकूतमाकाङ्क्षितभावगर्भम
आकेकर—आकेकर तिर्यगराजताग्म।

जमत्क्रियाओं का योग निम्न पद्य में पाया जाता है—

दासीकृतानपि नरान परिपीडयन्ति
कारागृहेषु विनिपात्य विमर्दयन्ति ।
अत्रत्यवित्तमपहृत्य बलादपीमे
स्वीयेषु कोष-भवनेषु निपातयन्ति ॥[1]

यहां 'परिपीडयन्ति' 'विमर्दयन्ति' सदृश असत्क्रियाएँ एककालिक होने से समुच्चय की सृष्टि करती हैं। इनके खण्ड-बिम्बों को मिलाकर मिश्र बिम्ब बनता है। जयदेव के निम्नगीत में क्रियाओं के यौगपद्य से बना मिश्र-बिम्ब परिणति में शृङ्गार का अनुभूत्यात्मक बिम्ब बनाता है—

पतति पतत्रे प्रचलति पत्रे शङ्कित भवदुपयानम्
रचयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पन्थानम् ।
मुखरमधीरं त्यज मञ्जीरं रिपुमिव केलिसुलोलम्
चल सखि कुञ्ज सतिमिरपुञ्ज शीलय नीलनिचोलम् ॥[2]

इन पङ्क्तियों में 'रचयति', 'पश्यति' 'त्यज' 'चल' 'शीलय' आदि क्रियाओं का योग है। पतति, प्रचलति शङ्कित-सदृश पद शतन्त और क्त प्रत्यय लिये होने से क्रियागर्भित है।

व्यावृत्त—तिर्यङ्निवृत्त वलित वितानय
प्रसरत्—प्रेम्णा मुदर परिवल्गदुक्तम ॥
प्रमादि—मन्त्र विलास स्मयते प्रसन्नम
मुकुल—सम्मील्यमान मुकुल वदति ।
सप्रेम—स्यात् प्रेमगर्भ मनसो द्रवाय
कम्प्र—उत्कम्प्रमुत्कम्पित-पक्ष्मतारम ॥
स्थिर—स्थिर विदूरान्तरिताथनिष्ठ
उदभ्रु—उद्वर्तित तूर्ध्वविकम्पितभ्रु ।
भ्रान्त—विभ्रान्तरक्त मदमन्थर स्यात्
अपाङ्गवृत्ति—विक्षेपि पार्श्वे यदपाङ्गवृत्ति ॥
विकच—विकासिदृश्ये सविशेषलक्ष
मज्जत्—नासाग्रनिष्ठ तु निहंचिल (मज्जित) स्यात ।
तरङ्गोत्तर—तरङ्गित यद् द्युतिरूर्मिकल्पा
सास्र—उत्कण्ठित राग-निवद्ध-बाष्पम् ॥ —विम०हि०व्या०, पृ० ५६६

१ नैच० १३, १७
२ गी०गो० ५ ३-४

सम—विषम के विपरीत इस अलङ्कार में अनुरूप वस्तुओं का परस्पर समग चमत्कार का जनक होता है। अप्पयदीक्षित ने विषम की भाँति इसके भी ३ भेद माने हैं। वे अनुरूप कार्य की उत्पत्ति इष्ट की प्राप्ति और अनुरूप वस्तुओं का परस्पर संसर्ग हैं।[1] इसमें समान गुणवान पदार्थों का बिम्ब बनता है। जैसे—

चित्रं चित्रं बतबत महच्चित्रमेतद् विचित्रं
जातो दैवादुचित घटना-संविधाता विधाता।
यन्निम्बाना परिणतफल स्फीतिरास्वादनीया
जातस्तया कवलनकलाकोविदः काकलोक ॥[2]

यहाँ असत पदार्थों के मेल से बिम्ब बनता है। इसी प्रकार—

त्वमर्हता प्राग्रहर स्मृतोऽसिनः
शकुन्तला मूर्तिमतीव सत्क्रिया।
समानयन तुल्यगुण वधूवर
चिरस्य वाच्य न गत प्रजापति ॥[3]

इसमें श्रेष्ठ पुरुष दुष्यन्त के अनुरूप सत्कार शकुन्तला का मेल उत्तम पदार्थों का समग बताया गया है। उत्प्रेक्षा के स्पर्श ने प्रभावुकता के आधान के साथ-साथ एक बौद्धिक बिम्ब की योजना और कर दी है। इस प्रकार के बिम्ब शशिनमुपगतेय सदृश पद्यों के रूप में बड़ी मात्रा में साहित्य में सुलभ हैं।

इसी प्रसङ्ग में रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अप्पयदीक्षित के अनिष्टावाप्ति रूप विषम के निदर्शन—

नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मन।
तत्तु तत्रैव रमते हता पाणिनिना वयम ॥[4]

---

१ समं स्याद् वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयो।
सारूप्यमपि कार्यस्य कारणेन समं विदु
विनानिष्टं च तत्सिद्धिर्यमर्थं कर्तुमुद्यत ॥ —कुवल० ९१ ९२

२ वही पृ० ११०

३ शाकु० ५ १५

४ शशिनमुपगतेय कौमुदी मेघमुक्त
जलनिधिमनुरूप जह्नुकन्यावतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौरा
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्य विवव्रु ॥ —रघु० ६ ८६

को इष्टावाप्ति-रूप सम का उदाहरण माना है।' उनका तर्क है कि मन का प्रिया में रमण तो इष्ट ही है इसमें अनिष्ट क्या रहा ? परन्तु इस पक्ष को स्वीकार करने पर पद्य में आये 'तु' और 'हृता पाणिनिना वयम्' से पद्य निरर्थक हो जाते हैं। स्वयं 'तु' निपात आपातिक अनिष्टावाप्ति का सूचक है। तब तो 'हृता' के स्थान पर 'उपहृता' कहना चाहिये था। वास्तव में अलङ्कारत्व चमत्कार-निबन्धन है और चमत्कार अनिष्ट मानने में है इष्ट मानने में नहीं। अतः इसे विषम का ही उदाहरण मानना उचित है।

अनुरूप कारण से कार्य की उत्पत्ति निम्न पङ्क्तियों में वर्णित है—

उर्वशी—अमृतं खलु ते वचनम्। अथवा चन्द्रात् अमृतमिति किमाश्चर्यम्?[2]
यहाँ व्याघ्र्याथ-सादृशी आकृति तादृश मधुर वचनम् सम-पयवसायी है।

विरोधमूलक अलङ्कार—आपाततः विरोध पर आधारित अलङ्कारों से बने जटिल बिम्ब विरोधाभास के रूप में पाये जाते हैं। श्लेष में वे सश्लिष्टतर और उज्ज्वल बन जाते हैं। विरोध कारण और कार्य के स्वरूप, देश और कालगत वैषम्य के कारण प्रतीत होता है। इनमें सर्वप्रथम विरोधाभास आता है जिसमें आपाततः विरोध प्रतीत होता है। विरोध में धूमिल और विरोध का परिहार होने पर सश्लिष्ट बिम्ब बनते हैं। शब्दोच्चारण से जाति गुण क्रिया और द्रव्य की प्रतीति होने से तद्गत विरोध का भान होता है।[3] 'अपि' आदि वाचक न रहने पर वह व्यङ्ग्य रहता है। इसमें विरुद्ध अर्थ का पहले और पश्चात् समाहित अर्थ का बिम्ब बनता है।

जहाँ विरोध व्यङ्ग्य होता है वहाँ पहले अविरुद्ध वाच्य का, बाद में विरुद्ध व्यङ्ग्य का बिम्ब बनेगा। जैसे—

शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्मै त्वम्।
यस्मिन् प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च॥[4]

इसमें वाच्यार्थ समुच्चयपरक है कि राजा के कोप-पात्र को शनि और अशनि (वज्र) दोनों ही मारते हैं और प्रीतिपात्र उदार (महान आशय वाला)

---

१ विम० व्या०, पृ० ४८४

२ विक्र०, पृ० २५

३ इह जात्यादीनां चतुर्णां पदार्थानां प्रत्येकं तन्मध्य एव सजातीयविजातीयाभ्यां विरोधिभ्यां सम्बन्धे विरोधः। —अल०, पृ० ४५२

४ का० प्र० का०, पृ० १३६

एव अनुकूल पत्नी वाला बन जाता है। निधनता की अवस्था मे तो पत्नी आदि परस्पर लडते रहते हैं। जैसे—

अम्बा तुष्यति न मया न स्नुषया साऽपि नाऽम्बया न मया।
अहमपि न तया न तया वद राजन कस्य दोषोऽयम ॥[1]

इसमे दारिद्रय के कारण कवि के परिवारगत आतरिक कलह का वणन है। वाच्याथ की विश्रान्ति के पश्चात शनि और शनि का अभाव 'उदार और न। उदार अर्थात कृपण यह विरोध प्रतीत होता है। उसमे परस्पर विरोधी भी तुम प्रसन्न करने को काय करते हैं। यह व्यग्याथ प्रतीत होता है[2] अपि न होकर यहा च है जिससे विरोध व्यग्य होता है। यहा बिम्बो की शृखला इस प्रकार है—

१ वाच्य अथ २ विरोधाभास ३ वस्तु ध्वनि ४ राज विषयक चाटु।

शोभाकर यहा अचिन्त्य अलकार मानता है।[3] जहा श्लेष के स्पश मे ही विरोधाभास बनता है वहा श्लेष की सत्ता अवश्य माननी चाहिए।[4] विरुद्ध अथ पयन्त तक नही रहता यह कारण तक नही है। पयन्त तक न रहने से ही इसे विरोधाभास कहा जाता है। देखना तो यह है कि विना श्लेष के स्पश के विरोध बनता है या नही। जैसे—

सन्तत-मुसलासङ्गाद बहुतरगहकमघटनया नृपते।
द्विजपत्नीना कठिना सति भवति करा सरोज-सुकुमारा ॥[5]

यहा विना ही श्लेष के विरोधाभास बनता है। परन्तु—

---

१ विश्वेश्वर नाथ रेउ—राजा भोज पृ० १४९

२ अत्र प्रथमार्धे शनिरशनिश्चेत्यनेन विरुद्धावपि त्वदनुगतनाथमेव काय कुरुत इति वस्तु ध्वन्यते। —का० प्र० का० पृ० १३९
अत्र सामानाधिकरण्याभावेन चस्य समुच्चयार्थत्वादप्यर्थत्वाभावेन च विरोधस्याऽवाच्यत्वेऽपि व्यङ्ग्यत्वमस्त्येव। परन्तु वस्तुन एव राजोत्कर्षतया प्राधान्याद वस्तुध्वनित्वेन व्यवहार।
—का० प्र० उ० पृ० १३९ ८०

३ अविलक्षणाद विलक्षणकार्योत्पत्तिश्चाचिन्त्यम। —अर० ५८

४ त० सनिहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च इत्यादौ विरोधाभासोऽपि विरुद्धार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य प्ररोहाभावान्न श्लेष। —साद० पृ० २८७

५ साद० पृ० ३५३

सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च, पुण्डरीकमुखी हरिणलोचना च, बालातपप्रभाधरा कुमुदहासिनी च ।[1]

इन विशेषणों में भास्वन्मूर्ति (सूर्यबिम्ब एवं उज्ज्वल आकार वाली) पुण्डरीक-मुखी (सिंह के से मुख वाली और कमलवदना) ये स्पष्ट रूप में दो-दो अर्थ लिए हैं। 'समवाय इव विरोधिना पदार्थानाम्' कहने से विरोध वाच्य हो गया है। "शनिरशनि" आदि में च समुच्चयार्थक होने से विरोध व्यङ्ग्य है। "गम्भीरं च प्रसन्नं च त्रास-जननम् च रमणीयं च कौतुक-जननं च पुण्यं च"[2] सदृश स्थलों में भी यही स्थिति होगी।

विभावना—विभावना और विशेषोक्ति अलङ्कार विस्मयावह बिम्ब प्रस्तुत करते हैं।

विशेषोक्ति—बिना कारण के कार्य का होना[3] और कारण होने पर भी कार्य का न होना[4] लौकिक कार्यकारण-भाव के विरुद्ध जाने के कारण बुद्धि को एक झटका सा देता है किन्तु काव्य क्षेत्र में वैचित्र्यावह होने के कारण चमत्कार की सृष्टि करता है। भावक कवि की उस कल्पना के साथ साधारणीकरण करके उसी प्रकार के बिम्ब का साक्षात्कार करता है। लोक में भले ही बिना कारण के कार्य सम्भव न हो पर काव्य में सम्भव है। जब वैदिक ऋषि ब्रह्म अथवा आत्मा के लिए कहता है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥[5]

यहाँ पूर्वार्ध में बिना पाँव शीघ्र गमन, बिना हाथ के वस्तु को पकड़ना, बिना नेत्र के दर्शन, बिना कानों श्रवण, ये सब बिना कारण के होने वाले व्यापार हैं। ग्रहीता इसी प्रकार से सब-कुछ होता अन्तर्दृष्टि से देखता है। यही काव्य-बिम्ब पयन्त में विस्मय की सृष्टि करता है। इसी प्रकार—

तनोतु भूमिं दहतादधानि सच्छलिनो लोचनपावको वः ।
धूमानभिज्ञोऽपि रतेरजस्रमश्रुस्रुते योऽजनि सूत्रधारः ॥[6]

---

१ हर्ष०, पृ० ७१
२ वही, पृ० २१०
३ विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते । —साद०, १० ६६
४ विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः । —का० प्र० का०, १०, १०८
५ श्वेता० उप०, ३, १९
६ अर० (उ०) ७१९

इस पद्य म बिना धुएँ के आसू उत्पन्न करन क लिए शङ्कर के नयन-दहन को उत्तरदायी ठहराया है। यहा कल्पना म रति की अश्रुधारा का एव शङ्कर क ततीय नत्र स अग्नि निकलने का बिम्ब बनता है।

> धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चला ।
> प्रभवोऽप्यप्रमत्ता स्ते महामहिमशालिन ॥[1]

विशेषाक्ति के इस उदाहरण म महान् व्यक्तिया के विस्मयावह व्यक्तित्व का अस्पष्ट बौद्धिक बिम्ब प्रस्तुत किया गया है।

> उपनिषद परिपीता गीता च हन्त मति पथ नीता।
> तदपि न हा विधुवदना मानससदनाद् बहिर्याति ॥[2]

यहा उपनिषद आदि का अनुशीलन रूप कारण रहने पर भी प्रिया का अनुराग दूर होने रूप काय का अभाव दिखाया है। यहाँ निर्वेद रूप भाव की अनुभूति का बिम्ब बनता है।

विषम—इसम कारण के गुण के विरुद्ध काय का गुण वर्णित होन अभीष्ट सिद्धि न होन क साथ अनथ प्राप्ति का विषाद एव दो विरूप पदार्थों की एकत्र अवस्थिति बताना य तीनो बातें विरोध का अनुभव कराती हैं।[3] इसकी विशेषता यह है कि इसम ऐन्द्रिय बिम्ब की अपेक्षा प्रभाव का बिम्ब अधिक रङ्गदार रहता है। जैस—

> आनन्दममन्दमिम कुवलयदललोचने ददासि त्वम् ।
> विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरा शरीर मे ॥[4]

इस पद्य म प्रमिका के प्रति चाटु म उसके साक्षात्करण स आनन्द की अनुभूति एव उसी के विरह से सन्ताप के अनुभव मे एक विलक्षण वैषम्य का अनुभव होता है। अत यह बिम्ब अस्पष्ट है। सर्वाधिक बिम्बग्राही विषय का उदाहरण कालिदास का निम्न पद्य है—

---

१ सादि०, पृ० ३५१

२ रग० पृ० ४३७

३ गुणौ क्रिये वा चेत्स्याता विरुद्धे हेतुकार्ययो ।
यद्वा रब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सभव ॥
विरूपया सघटना या च तद विषम मतम ॥ —सादि० १०, ७० ७१

४ वही पृ० ३५३

न खलु न खलु बाणः संनिपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः ।
क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशित-निपाता वज्रसाराः शरास्ते ॥[1]

इसमें मृग के शरीर की मृदुलता का भान तूल राशि में, बाणों की कठोरता की वज्रसारत्व एवं तूल राशि में अग्नि-प्रक्षेप में होता है। इसमें मृग की सर्वथा प्रतीकाराक्षमता अभिव्यक्त की है। पुनः ऋषियों की उस मृगशावक के प्रति करुणा और सहानुभूति का स्पर्श इस बिम्ब को अधिक प्रभावशाली बना देता है।

असङ्गति—कार्य और कारण के भिन्न-भिन्न स्थलों में रहने से विरोध की प्रतीति कराने वाले[2] इस अलङ्कार में पहले स्थूल तथ्य का बिम्ब और पश्चात् उसके प्रभाव से विस्मय आदि का बिम्ब रहता है। यह भिन्नदेशिता जितनी स्पष्ट होगी, उतना ही सशक्त बिम्ब भी होगा। जैसे—

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपान-तर्ति तदीयाम्।
श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद् ध्यानात्तव त्वन्मयतां तदाप्य ॥[3]

इस पद्य में सोपानारोहण रूप कारण दमयन्ती में दिखाया गया है परन्तु श्रमजन्य श्वासाधिक्य नल में वर्णित है जो कि असङ्गत प्रतीत होता है। इस लिए स्थूलबिम्ब सोपानारोहण एवं श्वास-मोचन के होते हैं। किन्तु विप्रलम्भ-शृङ्गार की अनुभूति और कामावस्था के कारण उसमें भावना की तरलता आ गई है। इसलिए पार्यन्तिकबिम्ब विप्रलम्भ शृङ्गार की सङ्कल्प, श्वास-विमोचन निरन्तर दमयन्ती-विषयक ध्यान आदि नलगत कामावस्थाओं का है।

श्लेष के स्पर्श से इसमें अधिक चमत्कार आ जाता है। दीक्षित के उदाहरण में राज-विषयक चाटु के रूप वर्ण्य राजा की रानियों की करुण दशा का श्लेष-संसृष्ट असङ्गति से किया है जो कि दीक्षित की दृष्टि से इस अलङ्कार का दूसरा प्रकार है[4]—

---

१ शाकु०, १, १०

२ कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः । —साद०, १०, ६६

३ नैष०, ३, १०६

४ अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा। —कुवल०, ८६

त्वत्खड्ग-खण्डित सपत्नविलासिनीना
भूषा भवत्यभिनवा भुवनैकवीर ।
नेत्रेषु कङ्कणमयोरहु पत्रवल्ली
चोलेन्द्रसिंह तिलक करपल्लवेषु ।।[1]

यहा कङ्कण (कम+कण) पत्रवल्ली (पत्रयुता वल्ली) तिलक (तिल+क) इन शब्दो म श्लेष है। अत पहले वाच्य की सङ्गति के लिए अभिप्रेय सत्ता के रूप म नयनो म कगन पैरो में पत्ररचना और हाथ म तिलक का बिम्ब बनता है जो हास्य की सृष्टि करता है। किन्तु शीघ्र ही वास्तविक अर्थ अश्रुबिन्दु, पैरो म बेतो के उलझन तथा हाथ की अञ्जलि म तिलमिश्रित जल लिए स्त्रियो की अवसाद पूर्ण आकृतियो का बिम्ब उभरता है। उनके प्रति समवेदना राजविषयक चाटु मे तिरोहित हो जाती है।

परिसङ्ख्या—अर्थ सम्भावित अर्थ के व्यपोह पर आधारित इस अलङ्कार मे वास्तविक विरोध नहीं रहता। किन्तु किसी वस्तु या प्रश्न के उत्तर म सम्भावित विषय से भिन्न अर्थ निकलने या निश्चित करने मे जो अपनी सभावना को आघात सा लगता है यही विरोध है।[2] यद्यपि इसके शाब्द और आर्थ व्यपोह वाक्यान्तर-मूलक या बिना उसके, श्लेष पर आधारित या बिना श्लेष के इस प्रकार अनेक भेद गिनाये गये हैं तथापि बिम्ब की दृष्टि से इसका महत्त्व इस प्रकार है कि पहला बिम्ब सभावित अर्थ का बनता है, पर उसका अपोह करने पर पर्यवसित अर्थ का। श्लेष के द्वारा भी इसी प्रकार दो बिम्ब बनते हैं। अप्रत्याशित अर्थ की स्थापना म विस्मय की अनुभूति इसमे रंगीनी लाती है। वैसे अधिक चमत्कार इसमे श्लेष से ही आता है जिसमे बाण का अधिक सफलता मिली है। उदाहरण के लिए—

यस्मिश्च गतानि गिरीणा विपक्षता प्रयतानां परस्वम दर्पणानामभि-मुखावस्थानम शूलपाणि प्रतिमाना दुर्गाश्लेष जलधराणा चाप धारणम् आदि।[3] इस सन्दर्भ म विरुद्ध पक्ष या विरोधित्व शत्रुत्व विरोध मे खड़े होने का

---

१ कुवल० पृ० १०३

२ प्रश्नादप्रश्नतो वाऽपि कथिताद वस्तुनो भवेत।
तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा।
परिसख्या —साद०, १०, ८१-८२

३ का० पृ० ११२

साहस, दुग-मथयण, हाथ मे धनुर्धारण-सदृश अन्य अर्थो का निषेध अर्थ से हैं, एव वा की प्रयोग न होने से वह व्यङ्ग्य हैं।

अथ तस्या कुसुमायुध एव स्वेदमजनयत्, सम्भ्रमानुरान-श्रमो व्यपदशोऽजनत। उत्कम्प एव गति रुरोध, नूपुरखाङ्गष्टहगमण्डलमपयशो लेभे, नि श्वास-प्रवृत्तिरेवाशुक चल चकार चामरानिलो निमित्तता ययौ।[1]

इत्यादि अश मे उपोद् शब्द है परन्तु न मे नही, एव व प्रयोग के साथ-साथ व्यपदेश अपयशो लाभ और निमित्तमात्र आदि शब्द के द्वारा किया गया है।

न के प्रत्यक्ष प्रयोग मे अपोह् आवाति आश्रम के वणन मे पाया जाता है। जैसे—*यत्र च मलिनता हविधूमेषु न चरितेषु मुखराग शुकेषु न कोपेषु,* तीक्ष्णता कुशाग्रेषु न स्वभावेषु, चञ्चलता कदलीदलेषु न मनःसु आदि।[2]

यहा आचानत चरित की मलिनता का बौद्धिक क्रोध के कारण मुख के लाल होने का चाक्षुष, स्वभाव की तीक्ष्णता व मन की चञ्चलता का अनुभून्यात्मक चित्र बनता है परन्तु निषेध के अनन्तर मलिनता राग और चञ्चलता म चाक्षुष किन्तु तीक्ष्णता म स्पर्श गुण का चित्र बनता है।

अन्य विरोधमूलक अलङ्कारो मे विचित्र विकल्प अधिक, विशेष, व्याघात और प्रत्यनीक आत है। ये सभी वाच्यार्थ म सीधे बिम्ब निर्माण करते है। विचित्र म अभीष्ट-सिद्धि के लिए विपरीत काय किया जाता है।[3] जैसे—

> अक्षि-स्पृश्या भवति नगरी नाम वाराणसीव
> दुराद् धूतध्वज वितलिभिमन्दिरलक्षणीया।
> यस्या लोका अमर पदवीं लब्धुकामा म्रियन्ते
> गत्तु चोच्चैरनिमिषधुनीवारि मज्जन्ति सन्त ॥[4]

यहा अमर होने के लिए उसके विपरीत काय मरने और ऊपर (स्वग) जाने के लिए गङ्गा मे डुबकी लगाने की चर्चा है। पूर्वार्ध म पताकाओ से अलङ्कृत मन्दिरो वाली काशी का बिम्ब है उत्तरार्द्ध मे वहा शरीर त्यागने व गङ्गा मे स्नान करते लोगो के बिम्ब दीखते है। पद्यन्त मे विस्मय की अनुभूति होती है।

---

१ का०, पृ० ३४५

२ वही, पृ० ८१

३ विचित्र तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्ट-फलाय चेत्। —साद०, १०, ७२

४ भास०, १, ८८

विशेष— इसमें विषय एक वस्तु का एक साथ अनेकत्र होने, बिना आधार आधेय के विद्यमान रहने, एवं अन्य कार्य करते हुए अकस्मात् किसी कठिन कार्य के सम्पन्न हो जाने का वर्णन है।[1] उद्देश्य इस रीति से तीनों प्रकार के बिम्ब उपस्थित करके प्रभावातिशय उत्पन्न करना है। जैसे—

> **दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्प गुणगणा येषाम्।**
> **रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिव कवयो न ते वन्द्या ॥**[2]

इसमें कवियों के दिवङ्गत हो जाने पर भी उनके काव्य की अमरता प्रतिपादित हुई है। यह बौद्धिक बिम्ब है।

> **प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा**
> **पर्यङ्के सा दिशि दिशि च सा तद्वियोगातुरस्य।**
> **हं हो चेतः प्रकृतिरपरा नाऽस्ति ते काऽपि सा सा**
> **सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ॥**[3]

इसमें भावनावश एक प्रेमिका के सर्वत्र दृष्टिगत होने का वर्णन है। पाठक की भावना का साधारणीकरण कवि की भावना के साथ होने पर उसे भी प्रेमिका सर्वत्र दिखाई देगी। तृतीय प्रकार का बिम्ब निम्न गाथा में देखा जा सकता है—

> **चौर्य-रताऽऽकुलिते पुनि प्रिय हरिष्यसीति किं चोद्यम् ॥**
> **व्रजन्ती मुखज्योत्स्नाभरैस्तिमिरमपि नोत्स्यसि ॥**[4]

इसमें प्रिय का हृदय हरने के साथ मार्ग मार्ग के अन्धकार का निवारण भी सम्भव होता है। इसमें गमनोद्यत अभिसारिका के साथ मार्ग में प्रकाश एवं कल्पना में नायिका के असाधारण सौन्दर्य का बिम्ब भी बनता है।

व्याघात—इस अलङ्कार का स्वरूप अन्य द्वारा अपनाये गये उपाय या साधन से उसके विरुद्ध कार्य का विम्बन है।[5] जैसा—

---

१ यदाधेयमनाधारमेकं चानेकगोचरम्।
किञ्चिदन्यत्कुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा ॥
कार्यस्य करणं दैवाद् विशेषस्त्रिविधस्ततः ॥ —साद०, १० ७३-७४

२ वही, पृ० ३५५

३ असं०, पृ० ५०२

४ अर०, (उ०) ३४७

५ व्याघातः स तु केनाऽपि वस्तु येन यथाकृतम्।
तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तदन्यथा ॥ —साद०, १० ७५

> दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः ।
> विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः ॥[1]

इस पद्य में शिव के नेत्र की अग्नि से दग्ध काम को सुन्दरियों द्वारा नयन से ही पुनर्जीवित कर दिये जाने का वर्णन है। यहाँ शिव के नयन से कामदहन का मिथिक बिम्ब और कल्पना से सुन्दरी के नयन में कामोज्जीवन की अनुभूतिमय बिम्ब बनता है।

प्रत्यनीक—शत्रु का प्रतिकार न कर सकने पर उसके सम्बन्धी का अपकार वर्णित करने पर यह अलङ्कार होता है।[2] इसका उदाहरण नैषध के निम्न पद्य में देखा जा सकता है—

> जितस्तवास्येन विधुः स्मरः श्रिया कृतप्रतिज्ञौ मम तौ वधे कुतः ।
> तवेति कृत्वा यदि तज्जितं मया न मोघसङ्कल्पधरा किलामराः ॥[3]

यहाँ चन्द्र और काम द्वारा नल के वैर का बदला दमयन्ती से लेने की बात विरोध का अनुभव कराता है। नल का अप्रतिम सौन्दर्य एवं दमयन्ती के अनुराग का प्रतिभान बिम्ब-निर्माण के मूल हैं।

सामर्थ्य-समर्थनभाव-मूलक अलङ्कार

कुछ अलङ्कार जिनमें समर्थ्य समर्थन-भाव काम करता है, समानान्तर दो वाक्यों द्वारा बिम्ब की सृष्टि करते हैं। उनमें प्रमुख अर्थान्तरन्यास है। इसमें सामान्य से विशेष का और विशेष से सामान्य का समर्थन किया जाता है। विश्वनाथ के मत में कार्य से कारण एवं कारण से कार्य का समर्थन भी होता है।[4] फलतः दो समानान्तर बिम्ब बनते हैं। जैसे—

> सा सन्न्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती
> शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद् दुःखदुःखेन गात्रम् ॥
> त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
> प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥[5]

---

१ साद०, १०, ७५ पृ० ३८५

२ वही, १०, ८६-८७

३ नैष०, ६, १४५

४ सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ॥ —साद०, १०, ६३

५ मेघ०, २ ३२

मेघदूत के इस पद्य में पूर्वार्ध में विरहिणी यक्षिणी का अमस्कृत वेष, विस्तर पर पड़ा क्षीण शरीर, दृष्टि-बिन्दु एवं पश्चात् अश्रुपूर्ण के भावचित्र बनते हैं। बाद में बौद्धिक बिम्ब और उसकी तह में मर्मवेदना का अनुभूत्यात्मक बिम्ब उभरता है।

लोकोत्तर चरितमर्पयति प्रतिष्ठा
पत्ता कुल नहि निमित्तमुदात्ततायाः।
वातापितापनमुने कलशात प्रसूति—
र्लीलायितं पुनरमुष्य समुद्रपानम् ॥[1]

यहाँ पूर्वार्ध में सामान्य का अर्थ बौद्धिक बिम्ब का निर्माण करता है और अगस्त्य द्वारा समुद्रपान-रूप विशेष से जिससे पूर्वार्ध के अर्थ की पुष्टि की गई है, स्मृति द्वारा चाक्षुष बिम्ब की सृष्टि होती है।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥[2]

इस पद्य में पूर्वार्ध में सहसा कार्य न करना रूप कार्य वर्णित है जिसका बौद्धिक बिम्ब बनता है, उत्तरार्द्ध में विमृश्यकारी का सम्पत्तियों द्वारा स्वयं-वरण-रूप कारण-रूप में प्रस्तुत अर्थ उसका समर्थन करता है। इस प्रकार लोकमान्य होने के कारण उसका चाक्षुष बिम्ब बनता है। इसी प्रकार विमृश्यकारित्व रूप कारण का सम्पद्वरण-रूप कार्य से समर्थन है। सहसाकारित्व के निषेध रूप कार्य का समर्थन अविवेक की विपन्मूलता रूप कारण से किया गया है। निषेध का विधि से समर्थन होने से यहाँ समर्थक वैधर्म्यमूलक है।

पृथ्वि स्थिरा भव भुजङ्गम धारयैनां
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः ॥
दिक्कुञ्जराः कुरुत तत्रितये दिधीर्षां
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥[3]

यहाँ कुछ ही क्षणों में होने वाली धनुर्ज्यारोपण-क्रिया-रूप कारण से प्रथम तीन चरणों में प्रार्थनादि कार्यों का समर्थन किया है। काव्य का आशय स्पष्ट होने के साथ ही मञ्च पर खड़े लक्ष्मण की आनन्दिनी मूर्ति मात्र दृष्टि के समक्ष प्रत्यक्ष हो जाती है। यही उसका चमत्कार है।

---

१ अमरु० पृ० ४००
२ किरा०, २, ३०
३ हनु० ना०, १, २१

काव्यलिङ्ग—कारण रूप पदार्थ या वाक्यार्थ से कार्य का समर्थन करने से निष्पन्न¹ इस अलङ्कार से निर्हेतु दोष का निराकरण करके वाक्य में बिम्ब ग्राहिका शक्ति आ जाती है। जैसे—

> त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायां—
> मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ॥
> अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
> क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥²

यहाँ कारण रूप प्रथम तीन चरणों में चतुर्थ की संगति होती है। वाक्यार्थ के उत्पन्न हो जाने पर चित्रलिखिता यक्षिणी के पैरों में झुके यक्ष का रूप मूर्त हो जाता है।

अर्थापत्ति—दण्डापूपिका या कैमुतिक न्याय पर आधारित यह अलङ्कार³ एक अर्थ से अन्य अर्थ की स्वतः सिद्धि बाधित करके उसकी प्रतीति में बाधक ग्रन्थि को दूर करके बिम्ब निर्माण में सहायक होता है। जैसे—

> तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।
> कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥⁴

यहाँ कुसुमायुध के साथ और पिनाकपाणि के साथ अपि का प्रयोग एक ओर काम के अत्यंत दुर्बल अस्त्र दूसरी ओर शङ्कर की दुर्धर्षता को अभिव्यक्त करता है। कुसुम-सदृश सुकुमार अस्त्र वाला होकर भी हर का धैर्य भङ्ग कर सकता हूँ प्रबल अस्त्र होने पर तो कहना ही क्या ? तथा पिनाकपाणि का भी धैर्य भङ्ग कर सकता हूँ औरों का तो करना कठिन ही क्या है। इसमें काम की अकल्प्य शक्ति सूचित होती है।

कहीं कहीं बिना 'अपि' के भी यह अलङ्कार होता है। जैसे—

> निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम् ॥
> मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु निविश्य हृदि स्थितः ॥⁵

---

१ हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते। —साद०, १० ६४

२ मदू० २ ४४

३ दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते। —साद० १०, ८३

४ कु०स० ३, १०

५ नैच० ४ ११

यहाँ जौ आदि की नोक के पाद में चुभने से उत्पन्न व्यथा से पर्वत के अन्दर प्रवेश के कारण वेदना की स्वतःसम्भविता सिद्ध होती है। पहले शूक शिखा के चुभने से उत्पन्न व्यथा का कल्पना से अनुभव करना होगा। उसकी तुलना में पर्वत के प्रवेश में उत्थित पीड़ा की गम्भीरता का अनुभूति-बिम्ब कल्पना में बनता है।

अनुमान—हेतु से अन्य अर्थ की अनुमिति पर आधारित इस अलङ्कार में एक वाक्यार्थ से अन्य वाक्यार्थ का बिम्ब बनता है।[1] यह अनुमान व्याप्तिज्ञान पर आधारित न होकर कार्यकारण भाव पर आश्रित है। जैसे—

ध्रुवमधीतवतीयमधीरता दयित-दूत-पतदगतवेगत।
स्थिति-विरोधकरीं द्वयणुकोदरी तदुदितः स ह्रियो यदनन्तरं ॥[2]

यहाँ हंस से भेंट होने के पश्चात दमयन्ती के विकल होने रूप लिङ्ग से हंस की गति की शीघ्रता से दमयन्ती के अधीरता सीखने का अनुमान किया गया है। ध्रुव के उत्प्रेक्षा-वाचक होने पर भी[3] उसमें बाधा नहीं पड़ती। लिङ्गलिङ्गि भाव बना ही रहता है।

हेतु—कारण और कार्य का अभेद मानने की भावना पर आधारित हेतु अलङ्कार[4] दोनों के पौर्वापर्यक्रम का लुप्त करके अभेदात्मक बिम्ब का निर्माण करता है। भामह-सदृश आचार्य इसको अलङ्कार ही नहीं मानते हैं[5] तो अन्य व्याख्याविद् गण में अभिन्न स्वीकार करते हैं।[6] किन्तु जिस प्रकार कारण-कार्य की सहभाविता में अक्रमातिशयोक्ति नामक पृथक् भेद माना गया है।[7] इसी प्रकार दोनों के अभेदमूलक चमत्कार को दृष्टि में रखते हुए इसे पृथक् अलङ्कार मानना ही उचित है। जैसे—

---

१ अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्। —साद०, १०, ६३

२ नैष०, ४

३ मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव शब्दोऽपि तादृशः॥ —काद०, २ २३४

४ अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह। —साद०, १०, ६४

५ हेतुश्च सूक्ष्मोलेशोऽथ नालङ्कारतया मतः। —भामा० २, ८६

६ इदं काव्यलिङ्गम् इति, हेत्वलङ्कार इति केचिद् व्याजह्रुः।
—कुवल०, पृ० १२८

७ अक्रमातिशयोक्तिः स्यात् सहत्वे हेतु-कार्ययोः। —वही, पृ० ४,

भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोर्हृदयस्य महोत्सवावसानमिव ।
द्वारपिधानमिव धृतेर्मन्ये तस्यास्तिरस्करणम्[1] ।।

इस पद्य में मालविका के नेत्रों से ओझल होने को नायक उनके सौभाग्य का फिर जाना मानता है। वस्तुतः नायिका का अदर्शन नेत्रों के दुर्दैव का कारण है। परन्तु कवि की विवक्षा का प्राधान्य होने के कारण कार्य-कारण में अभेद की सम्भावना की गई है। इव उत्प्रेक्षावाचक है अतः उत्प्रेक्षा एवं हेतु का समावेश है। यही स्थिति हृदय के महोत्सव का अन्त तथा धैर्य का द्वार बन्द होने की कल्पना की है। उनमें भी कार्यकारण के अभेद की कल्पना है। यहाँ मालविका का अदर्शन का चाक्षुष प्रत्यक्ष के अभाव की निषेध है जो भूतले घटो नास्ति इस ज्ञान के तुल्य है। किन्तु नेत्रों के भाग्य का अस्तमन, हृदय के उत्सव का अन्त प्रतिनिषेधात्मक अनुभूति के विषय हैं। फलतः पहले सौभाग्य और हर्ष का अनुभव होने के पश्चात् मन को जो सूनापन और अन्धकार का अनुभव होता है, यहाँ भी भावना के कारण वैसा ही अनुभव नायक को मालविका के अदर्शन में होना है। उस अनुभूति का बिम्ब बनने पर नायक के साथ दर्शक या पाठक का साधारणीकरण सम्भव है और तभी इसका वाक्यार्थबोध होता है।

ललित—अप्पय्यदीक्षित द्वारा विवेचित यह अलङ्कार सामान्य रूप में अप्रस्तुत प्रशंसा से मिलता-जुलता होकर भी बिम्ब निर्माण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें वर्ण्य वस्तु के प्रतिबिम्ब का प्रतिपादन किया जाता है।[2] वर्ण्य जब प्रस्तुत है तो उसका प्रतिबिम्ब अप्रस्तुत होगा। प्रस्तुत बिम्ब होगा। वर्ण्य के प्रतिबिम्ब का बोध होने पर उसके प्रकाश में बिम्ब का बोध अनिवार्य है। अन्यथा वाक्यार्थ विश्रान्ति सम्भव नहीं है। जैसे—

निर्गते नीरे सेतुमेषा चिकीर्षति ।

यहाँ वर्ण्य अथवा बिम्ब है कि अवसर बीतने पर मान करना। तात्पर्य यह है कि नायक के अनुरोध को ठुकरा कर पहले उसे त्याग दिया। अब मनाना चाहती है। इस प्रकार प्रस्तुत का बोध अप्रस्तुत में ही होता है। दोनों अर्थों का बिम्ब प्रतिबिम्बभाव स्पष्ट है इसी प्रकार —

---

१ मालवि० २, ११

२ वर्ण्यं स्याद् वर्ण्यवृत्तान्ते प्रतिबिम्बस्य वर्णनम् । ललितम् ।

—कुवल० १२८

> अयासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
> लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
> बालामजातरजसं कलिकामकाले
> व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥

इस पद्य में किसी बालिका को सम्भोग के लिए छेड़ते कामुक को इस अनुचित कार्य से वर्जित करके तरुणी से प्रेम करने को कहा गया है। इसमें दीक्षित ने प्रस्तुताङ्कुर माना है जो प्रस्तुत से प्रस्तुत के ही द्योतन में होता है।[2] यहाँ स्पष्ट ही अचेतन भृङ्ग का वृत्तान्त अप्रस्तुत प्रतीत होता है। किन्तु दीक्षित के अनुसार वाटिका में मँडराते भ्रमर को ही लक्ष्य करके यह वचन कहा गया है। अतः भृङ्ग भी प्रस्तुत है। पर प्रश्न यह है कि क्या भृङ्ग दीक्षित की भाषा को समझता है या वर्जन को मान लेगा। अतः सन्निधि में इस प्रकार की बात कहने पर कोई सङ्केत न होने से अर्थशक्तिमूल ध्वनि मानी गई है और सङ्केत से व्यङ्ग्य के स्पष्ट कर दिया जाने पर अलङ्कार[3]। "किं भृङ्ग सत्या मालत्या केतक्या कण्टकेद्धया" और 'अयासु तावद्" आदि पद्य में ऐसा कोई सङ्केत नहीं है। किन्तु व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्यार्थ सुन्दर होने से गुणीभूतव्यङ्ग्य है अतः अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार दोनों ही स्थलों में मानना उचित है।

लोकोक्ति—इसी प्रकार का अन्य अलङ्कार लोकोक्ति है।[4] उसमें लो

---

१ कुवल०, पृ० ८५, इसमें प्रसिद्ध हिन्दी कवि बिहारी लाल के—

> नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल।
> अली कली ही सौं बंध्यौ आगे कौन हवाल ॥

बिहारी सतसई १७ इस दोहे का भावसाम्य है।

२ प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुरः। —कुवल० ६७

३ तु० शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या साऽन्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः ॥
—ध्वन्या० २, २३

इसमें ध्वनि और अलङ्कार में स्पष्ट अन्तर दिखाया है। "वत्से मा गा विषाद" आदि श्लोक में "विषाद" "श्वसन" "ऊर्ध्वप्रवृत्त" आदि अनेकार्थ शब्दों से होने वाले व्यङ्ग्य को "प्रत्याख्यानं सुराणामिति भय-शमनच्छद्मना कारयित्वा" इस सङ्केत से वाच्य कर दिया गया है।

४ तु० लोक-प्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति कथ्यते।
भुजङ्ग एव जानीते भुजङ्गचरणं सखे ॥ —कुवल० १५७

बिम्ब-ग्राहिका शक्ति स्वयं है ही। क्योंकि परम्पराप्राप्त भाव रहने में उनके मूल में आद्य बिम्ब काम करता है। उदाहरण के लिए—

> शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
> शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।[1]

इन पद क्रिया को लें। 'लोचने मीलयित्वा' यह स्पष्ट ही बिम्बात्मक कथन है। जैसे आँख बन्द करने पर कुछ भी दिखाई नहीं देता, इसी प्रकार आँख मींचकर अर्थात् चुपचाप सब कुछ सहने यह भाव निकलता है।

मिथ्याध्यवसिति—यह अलंकार किसी बात का असम्भव सिद्ध करने के लिए मिथ्याध्यवसान करने में निष्पन्न होता है।[2] वस्तुतः यह असम्भवद्वस्तु-सम्बन्धा निदर्शना से दूर नहीं है। क्योंकि उसमें भी किसी कार्य की असम्भवता सूचित करने के लिए समानान्तर असम्भव व्यापार प्रस्तुत किये जाते हैं। दीक्षित ने उक्त उदाहरण में मिथ्याध्यवसिति के साथ-साथ निदर्शना का अस्तित्व भी स्वीकार किया है[3]। जैसे—

> अस्य क्षोणिपतेः परार्धपरया लक्षीकृताः सङ्ख्यया
> प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणबधिरश्राव्याः किलाकीर्तयः।
> गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरा-
> न्मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि[4]॥

इसमें परार्ध से आगे की संख्या, अंधों से द्रष्टव्य व बहरों से सुनी जाना अष्टम स्वर, बांझ के पुत्र मूक द्वारा गान, कछुवी के दूध से बना समुद्र सभी संसार में असम्भव पदार्थ हैं। वर्ण्य के अपयश का सर्वथा अभाव दिखाने के लिए यह सारा ताना बाना फैलाया गया है। परन्तु काव्य का विषय बना देने में यह भी श्रोता के बोध का विषय बनने से बिम्बित होता है। किसी हुए कार्य दुष्करता बताने के लिए भी इस प्रकार की असम्भव कल्पना की जाती है। जैसे—

---

१ मेघ० २, ५०

२ किञ्चिन्मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम्।
मिथ्याध्यवसितिर्वेश्या वशयेत् खस्रजं वहन्॥ —कुवल० १२७

३ अत्रोदाहरणं निदर्शनाप्रभेदम्। वही

४ नैष० १२, १०६

केनोत्तुङ्ग-शिखा-कलाप-जटिलो बद्ध: पटान्ते शिखी
पाशैः केन सदागतेरगतिता सद्य: समासादिता।
केनानेकपदानवासितसटः सिंहोऽर्पितः पञ्जरे
भीमः केन च नैकनक्रमकरो दोर्भ्यां प्रतीर्णोऽर्णवः ॥[१]

इस पद्य में राक्षस के पकड़े जाने पर विस्मय प्रकट करता चाणक्य इस कार्य की तुलना इन असंभव कार्यों से करता है। इसमें स्पष्ट ही निदर्शना है।

गूढोक्ति—*अन्य को लक्ष्य करके कहने वाली बात यदि अन्य को सम्बोधित करके कही जाय,* वहाँ अप्पयदीक्षित ने गूढोक्ति मानी है। उदाहरण दिया है—

वृषापेहि परक्षेत्रादायाति क्षेत्ररक्षकः[२]।

यह परस्त्री से समागत करते व्यक्ति को लक्ष्य करके कहा गया वचन है। वास्तव में "वृष" और "क्षेत्र" शब्द के श्लिष्ट होने से ही इस अलङ्कार का अवसर बनता है। अन्यथा यह रूपकातिशयोक्ति या अप्रस्तुतप्रशंसा का ही उदाहरण है। जो आचार्य अप्रस्तुतप्रशंसा को श्लिष्ट विशेषण और श्लिष्ट विशेष्य पर आधारित स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार यह अप्रस्तुतप्रशंसा ही है।[३] इसमें भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का ग्रहण होता है। इसी प्रकार शाकुन्तल का—

चक्रवाकवधु आमन्त्रयस्व सहचरं समुपस्थिता रजनी" ।[४]

यह वचन गौतमी की उपस्थिति का सङ्केत करता हुआ शकुन्तला को दुष्यन्त को विदा करने का सङ्केत देता है। इस अन्यसन्निधि-वैशिष्ट्य के आधार पर अर्थशक्तिमूल ध्वनि का स्थल माना जा सकता है और *नायक-नायिका के विघटन का हेतु होने से गौतमी में रजनी के अध्यवसान से रूप*कातिशयोक्ति का अवसर बनता है। श्लेष न होने से गूढोक्ति का अवसर नहीं है पर बिम्बग्राहिता इसमें भी है।

---

१ मुरा० ७, ६

२ गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेद् यद् य प्रति कथ्यते। —कुवल० १५४

३ तु० श्लेषमूलापि समासोक्तिवद् विशेषणमात्र-श्लेषे श्लेषवद् विशेष्य-स्यापि भवतीति द्विधा। —साद०, पृ० ३४४

४ शाकु० (अ० ३०) पृ० ६८

इसी प्रकार विवृतोक्ति एवं युक्ति अलङ्कार बिम्ब की दृष्टि से उपयुक्त है। आनन्दवर्धनादि के अनुसार विवृतोक्ति श्लेष में और युक्ति सूक्ष्म में अभिन्न है।

उपरिगत विवेचन उदाहरणों से य सिद्ध करता है कि आचार्यों को य अलङ्कार उनकी बिम्बग्राहकता के कारण ही अभिमत थे। उनमें उत्पन्न चमत्कार विवक्षित अर्थ का बिम्ब ही उपस्थित करता है। इसके अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन नहीं है।

---

१ विवृतोक्ति श्लिष्टगुप्त कविनाविष्कृतयदि।
वृषापेहि परक्षेत्रादिति वक्ति ससूचनम ॥ —कुवल० १५५
युक्ति परातिसन्धान क्रियायाममगुप्तये।
त्वामालिखन्ती दृष्टवान्य धनु पौष्प करेऽलिखत ॥ —वही १५६

ग्यारहवाँ परिच्छेद

प्रतीकात्मक व साध्यवसानबिम्ब तथा अतिशयोक्ति

प्रतीक का स्वरूप—काव्य में भावाभिव्यक्ति के साधनों में प्रतीक भी एक है। यह पारिभाषिक या सांकेतिक शब्द होता है जो अपने अन्तस् में बहुत सा भाव समेट रहता है। जैसे यौन सम्बन्ध की इच्छा का वाचक 'काम' शब्द सब प्रकार के विषय-सुखों की कामना का सूचक बन गया है।

प्रतीक का अर्थ स्पष्ट करने के लिये अनेक विद्वानों और विचारकों ने उस की विभिन्न व्युत्पत्तियाँ दी हैं और विस्तृत विवेचन किया है जिसका सार निम्न प्रकार से है—

१ प्रति + कन प्रत्यय—प्रत्येति प्रतीयते वाऽनेन—वाचस्पत्यम्[1]

२ प्रति + इण + कन् अथवा प्रति + ईकन—शब्दकल्पद्रुम[2], शब्दार्थचिन्तामणि[3]

३ प्रति + अञ्च—प्रत्यङ अञ्चति प्रतिरूप वा—मोनियर विलियम्स कोष[4] अमरकोष

४ अङ्ग—

५ अङ्ग, अवयव, प्रतिकूल, विलोम, प्रतीप—शब्दार्थ-चिन्तामणि

६ अङ्ग, प्रतिरूप, विलोम, शब्द या वाक्य के अंग प्रतिमा, चिह्न (Symbol)—मेदिनी कोष वाचस्पत्यम्

---

१ भाग० ३, पृ० ४४५७ स्तम्भ १

२ भा० ३ पृ० २६८, स्त० २

३ अङ्ग अवयव त्रि। प्रतिकूले, प्रतीपे, विलोमे, प्रतिगता ईलक्ष्मीय यन वा, नद्युतश्चेति कप। प्रत्यति प्रतीयते वा। इण् गता। अल्मीकादयश्चेति साधुर्वा०। भा० ३, पृ० २४६, स्त० २

४ मोवि० स० इ० डि० पृ० ६७५, स्त० १

है। प्रतीकात्मक प्रयोग में किसी क्रिया के मूल में निहित परोक्षीकरण प्रायश प्रभाव के रूप में मानसिक स्थिति, मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न दैहिक परिवर्तन अन्तर्निहित है। काव्य में वर्णित इस प्रकार के परिवर्तनों को भारतीय काव्यशास्त्र में अनुभाव कहा गया है।

प्रतीकों का प्रयोग साहित्य में बहुत प्राचीन है। कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि कला के क्षेत्र में प्रतीकों का प्रयोग बहुत प्राचीन है। बौद्धकला में पवित्रचक्र महात्माबुद्ध द्वारा साक्षात्कृत शाश्वत सत्य का तथा हिन्दू कला में भगवान शङ्कर का तृतीय नेत्र संहारशक्ति का प्रतीक समझा जाता है।[1]

पश्चिम में साहित्य में प्रतीकवाद के आधुनिक आन्दोलन के सन्दर्भ में आक्सफोर्ड डिक्शनरी में टी० ई० ह्यूम नामक अंग्रेज अमरिकन साहित्यकार एजरा पाउण्ड और एमी लावेल को इसके प्रवर्तन का श्रेय दिया गया है[2]।

वास्तव में वाग्व्यवहार को सशक्त करने और अभिव्यञ्जक बनाने के लिये उसमें साङ्केतिकता लानी पड़ती है। संसार के अनन्त पदार्थों को पृथक् शब्दों से गिनाना कठिन है। पर एक साङ्केतिक शब्द से बहुतों का बोध कराना सम्भव हो जाता है। जैसे विभिन्न इन्द्रियों के सम्पर्क से उनके विषय के ग्रहण को एक पारिभाषिक शब्द प्रत्यक्ष से अभिहित करते हैं।

इसी प्रकार स्मृति, ध्यान, चिन्तन आदि से उत्पन्न ज्ञान के लिये प्रतिभान शब्द का प्रयोग करने से सबका एक साथ बोध हो जाता है। यह भी कथन अनुचित नहीं है कि रूढ उपमान प्रतीक बन जाते हैं। उदाहरण के लिये प्राचीन साहित्य में पृथ्वी की तुलना गाय से होती रही है[3]। इसका परिणाम यह हुआ

---

1 Western Aesth p 552

2 Imagist School of Poetry had its philosophor the English man T E Hulme for its prophet the cosmopolite American Ezra Pound and for its expounder the American Poetess Amy Lowell All the I S according to their temperament, sought to act upon Hulme Theory, that the chief aim was to attain accurate and definite description and that it was essential to prove that beauty might be found in small common place things

—OX Dict Vol 10 pp 1577

३ पयःप्रदीभूतवन्तु समुद्रा जुगोपमास्पदरामिवार्वीम। रघु २ ३

कि गौ शब्द पृथ्वी-वाचक ही बन गया[1]। संसार की तुलना अश्वत्थ(अश्व स्थ) से प्राचीन साहित्य में होती रही है[2]। आगे चलकर अश्वत्थ शब्द प्रतीक ही बन गया है। परन्तु एक दो बातें विचारणीय हैं। क्या प्रतीक यथार्थ में बिम्ब से सर्वथा भिन्न है जो उसे बिम्ब से आगे की स्थिति माना जाता है ? यदि वह बिम्ब के बाद की वस्तु है तो उसका बिम्ब-निर्माण में कोई उपयोग होना ही नहीं चाहिये। क्योंकि अवस्थाभेद हो गया। दूसरी बात यह है कि क्या प्रतीक के प्रयोग के मूल में सादृश्य का भाव निहित नहीं रहता, यदि सादृश्य नहीं रहता तो एक शब्द अन्य वस्तु का प्रत्यायक किस आधार पर बनता है ? पुनः जिस अर्थ का उससे संकेत लेते हैं उसी का बोध क्या कराता है और का क्यों नहीं कराता ? जब रूढ उपमानों को प्रतीक संज्ञा दी जाती है तो सादृश्य उनसे लुप्त कैसे हो गया ? या तो उन्हें उपमान न कहें जब उपमान के रूप में उन्हें पहचानते हैं तो कुछ न कुछ सादृश्य मूल में स्वीकार करना होगा। उदाहरण के लिये आजकल क्रान्ति के लिये 'लाल कनेर' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसका आधार है ? भले ही इतिहास और परम्परा में उसका सम्बन्ध हो पर मूल सम्बन्ध को भुला तो नहीं दिया गया। क्रान्ति में होने वाले रक्तपात के रक्त वर्ण का सादृश्य क्या उस लाल कनेर में निहित नहीं है ? तिरंगे झण्डे में पाये जाने वाले तीन रंग जो समृद्धि, मैत्री और बलिदान का भाव द्योतित करते हैं, राष्ट्रीय ध्वज में जो अशोक-चक्र का चिह्न मैत्री शान्ति आदि का भाव द्योतित करता है, क्या मूल में उसके सादृश्य नहीं छिपा है। ये सब लाक्षणिक प्रयोग हैं और लक्षणा बिना सम्बन्ध के बनती ही नहीं। यह ठीक है कि सभी प्रतीकात्मक प्रयोगों के मूल में सादृश्य नहीं होता परन्तु अधिकतर प्रतीक इसी पर आधारित होते हैं। अन्य सम्बन्ध आश्रय-आश्रयिभाव, तादर्थ्य, कार्यकारण-भाव आदि भी उसके मूल में है। जैसे "कुर्सी को सलाम' यह प्रयोग किया जाता है, इसमें कुर्सी अधिकार का प्रतीक है क्योंकि कुर्सी पर बैठने वाला अधिकारी सत्ता रखता है।

वस्तुतः प्रतीक को बिम्ब की एक विधा मानकर प्रतीकात्मक बिम्ब कहना ही उचित है। क्योंकि बिम्बन का भाव तो प्रतीक के प्रत्यायक भाव में अन्तर्हित है। यदि वह बिम्बन नहीं करता तो वह प्रतीक कहला ही नहीं सकता।

---

१ द्र० निघण्टु १ १ गौरिति पृथिव्या नामधेयम, नि० २, ५

२ ऊर्ध्वमूलोऽवाक्-शाख एषोऽश्वत्थ सनातन । कठो०, ६, १

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम । गीता १५, ७

३ विश्व कवि टैगोर का नाटक 'लाल कनेर" उदाहरण है।

जिसने रूपक से प्रतीक का सम्बन्ध जोड़ा है वह सत्य के अधिक निकट है। क्योंकि प्रतीक में बिम्बन की सामर्थ्य है और रूपक में भी। जैसा हम पहले कह चुके है कि प्रतीक के मूल में लक्षणा है और रूपक के मूल में भी लक्षणा है। लक्षणा यदि गौणी होगी तो रूपक और अतिशयोक्ति अलंकार होंगे। इसमें वन प्रतीक सादृश्यगर्भ होंगे। *जिनको कुछ आलोचक साध्यवसानबिम्ब पुकारते हैं*[1] वे रूपकातिशयोक्ति के ही रूप हैं। अन्य प्रतीक भी भेद में अभेद रूप अतिशयोक्ति मूल में लिये हुए हैं।

वस्तुतः जब कवि या साहित्यकार अपनी भावना या विचारों को प्रकट करने के लिए सांकेतिक भाषा का प्रयोग करता है तब वह प्रतीकात्मक बन जाती है। पीछे रूढ़ शब्द लावण्य और मण्डप की चर्चा की जा चुकी है। हम गम्भीरता से विचार करें तो इन शब्दों का प्रयोग करने पर होने वाली सूनन क्रिया समझ में आ जायगी। अन्यथा हम उस भाव को ही नहीं समझेंगे। जैसे लावण्य का वाच्य अर्थ नमकीनपन है। किसी खाद्य पदार्थ में नमक यदि अधिक पड़ जाय तो जिह्वा और कण्ठ में खराश उत्पन्न होती है जो कि उसमें निहित क्षार गुण का धर्म है। क्षार के उस तीखेपन का दर्शन जब हम सौंदर्य में करते हैं तो नीचे नख शिख का व्यवहार होता है। इस व्यवहार के मूल में नमक की तीक्ष्णता का अनुभव यदि स्वीकार करते हैं तो बिम्ब की सत्ता हमने स्वयं स्वीकार कर ली। प्रतीकों में वाच्यार्थ के स्थान पर व्यङ्ग्य अर्थ प्रबल तो रहता है पर जब व्यङ्ग्य अर्थ का बोध प्रतीक में स्वीकार करते हैं तो बिम्ब तो स्वयं मान लिया। क्योंकि जो अर्थ प्रतीत होगा वह बिम्ब हो तो रहेगा। इसलिए प्रतीक को बिम्ब से सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि लविस महाशय इमेज के साथ साथ सिम्बल शब्द का प्रयोग भी करते हैं[2]।

---

१ अखौरी काव्यात्मक बिम्ब २०

2 Have I no harvest but a thorn
To let me blood and not restore
What I lost with corodal fruit ?
Sure there was wine,
Before my sighs did dry it
There was Corn
Before my tears did drown it
The images are still conventional symbols only, but notice how cleverly the temple has used these Christian symbols Thorn and blood bread and wine for his nefarious purpose　　　—The Poe Im p 81

इस प्रसङ्ग मे रमारञ्जन मुखर्जी के विचार भी सहायक सिद्ध होगे। उनका कहना है कि कवि प्रत्येता तक अपना अनुभव उससे उत्पन्न होने वाले आनन्द के साथ ही सम्प्रेषित करता है। यह कार्य वह पूर्ण बिम्ब के द्वारा ही सम्पन्न कर सकता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का इस निमित्त सम्पूर्ण सम्बद्ध अगो को एकत्रित करके एक पूर्ण चित्र प्रस्तुत करना होता है। इस सम्प्रेषण के लिये कवि को सामाजिक की कल्पना-शक्ति को इस प्रकार नियन्त्रित करना होता है कि वह कवि के अनुभव को अपने अनुभव के तुल्य ही मान सके। यह तभी सभव है कि कवि ऐसे शब्दो का प्रयोग करे जो कि उसके अनुभव के प्रतीक बन जाय या वह इस परिप्रेक्ष्य मे प्रतीको का महत्त्व समझे। इसलिये *कविता इस प्रकार के प्रतीकात्मक शब्दो की एक शृङ्खला कही जा सकती है,* इस दृष्टि से कि वह सामाजिक म अपने आस्वादात्मक अनुभव का प्रतीकात्मक रूप मे सङ्क्रान्त करती है। पर इसके लिये आवश्यक है कि सामाजिक मे उन प्रतीको को समझने और ग्रहण करने की सामर्थ्य हो[1]।

वस्तुत जब प्रतीक-सम्बन्धी विवेचन पश्चिमी साहित्य के सिद्धान्तो के परिप्रेक्ष्य मे किया जाता है तो निश्चित ही वहा के वातावरण और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान म रखना पडता है। इसलिये आधुनिक समीक्षको ने प्रतीक-सम्बन्धी चिन्तन पश्चिम मे विशेष कर फ्रास मे हुए प्रतीकवादी आन्दोलन के आधार पर ही किया है। उसे हम सस्कृत-साहित्य या काव्यशास्त्र मे भी खोजने का यत्न करें तो यह हठधर्मी ही होगी। पाश्चात्य साहित्य की अपनी परम्परा है और उसके मूल मे वहा की सास्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितिया रही है। फलत यहाँ का साहित्यशास्त्र और पश्चिम का काव्य-शास्त्र दोनो स्वतन्त्र रूप मे फले-फूले है। बहुत सी बातें यदि दोनो मे समान रूप से मिलती है तो आनुषङ्गिक रूप मे। हा, वतमान युग मे कुछ पश्चिमी साहित्य की प्रवृत्तियाँ सस्कृत साहित्य म आ गई हैं, उनका विवेचन भावी काव्य-शास्त्री करेंगे। यह भी मानने मे हमे सङ्कोच नही है कि प्रस्तुत प्रबन्ध म बिम्ब और प्रतीक-सम्बन्धी अध्ययन पश्चिमी साहित्य के प्रभाव के कारण ही करना पड रहा है। अन्यथा सस्कृत-काव्यशास्त्र मे विद्यमान बिम्ब और प्रतीक-सम्बन्धी चिन्तन की ओर आधुनिक चिन्तको की दृष्टि ही नही गई थी।

अस्तु, सस्कृत-काव्य-शास्त्र म प्रतीक-सम्बन्धी चिन्तन उसी दृष्टि से नही

---

1 Im in Poe p 70-71

हुआ है जिसे पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में पाया जाता है। यहाँ प्रतीक लाक्षणिक वक्रता रूढिवक्रता के अन्तर्निहित हैं या फिर अप्रस्तुतप्रशंसा या अतिशयोक्ति अलंकार के रूप में।

जब सादृश्य को लेकर प्रतीक का प्रयोग किया जाता है तब रूपकाति शयोक्ति अलंकार या अप्रस्तुतप्रशंसा का तुल्य अप्रस्तुत में तुल्य प्रस्तुत का बाधरूप प्रकार प्रयुक्त होता है। वैदिक साहित्य से लेकर पश्चाद्वर्ती संस्कृत साहित्य तक में इस प्रकार के प्रतीक मिलते हैं जो अपनी अभिव्यञ्जना शक्ति से अपने साथ सम्यक सम्पूर्ण अर्थ को समाहृत किये रहते हैं। इस व्यञ्जकता के कारण वे उसके साथ सम्बद्ध सम्पूर्ण वातावरण को बिम्बित करते हैं। उदाहरण के लिये हठयोग में जिसे बिन्दु के नाम से पुकारते हैं उसे ही वैदिक साहित्य में ऊर्ध्वबुध्न अवत या ऊर्ध्वबुध्न अवाग बिल' नाम दिया गया है। कबीर ने उसे औंधा घड़ा नाम दिया। उपनिषद में ब्रह्म को ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ कहा तो गीता में उसे संसार के लिये प्रयुक्त किया। इस तो उपनिषदों एवं पुराणों में जीव और ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ ही है[1]। श्रीमद् भागवत में पुरञ्जन की कथा सारी ही प्रतीकात्मक है जिसमें शरीर के लिये पुर शब्द का जीवात्मा के लिये पुरञ्जन बुद्धि के लिये पुरञ्जनी का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार शरीर में रहने वाली वायु प्राण अपान व्यान समान उदान इन पाँच भेदों के कारण पाँच सिर वाले नाग के नाम से सङ्केतित है। वृद्धावस्था को कालकन्या के नाम से और दिनों को गन्धर्व सेना में व मृत्यु को यवनराज नाम से निर्दिष्ट किया है[2]। यहाँ सादृश्य सम्बन्ध होने से रूपकातिशयोक्ति तो नहीं मान सकते पर भेद अभेद रूपा अतिशयोक्ति माना जा सकता है।

धर्मशास्त्रों मन्त्र और तन्त्रों में इस प्रकार के प्रतीकों की भरमार है। भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् ये व्याहृतियाँ प्रतीक नहीं तो क्या हैं? शरीर के अन्तर्वर्तिनी सात चेतना की धाराओं जिन्हें शीर्षण्य प्राण भी कहा गया है[3] को रेभ नाम से पुकारा है[4]। हिरण्यगर्भब्रह्मा को कहते हैं[5]। ब्रह्मा के

१ तु० कठो० ५ २
भापु० ४२८ ५४
२ वही, ४ २६
३ सप्त वै शीर्षण्या प्राणा शत०ब्रा० १३ ७ २
४ यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभिसंनवन्ते ॥—ऋग०१० ७१, ३
५ हिरण्यगर्भो लोकेशो विरिञ्चिश्चतुराननः। अको० स्व० व० १ १ ११

आधिदैविक स्वरूप को भुला दिया जाय तो हिरण्यगर्भ ब्रह्माण्ड नहीं तो क्या है? अण्डे को तोड़ो तो बीच में से पीला पीला पदार्थ निकलता है, वही हिरण्य है। हिरण्य गर्भोऽस्य' इस व्युत्पत्ति से हिरण्यगर्भ शब्द अण्डे का ही वाचक सिद्ध होता है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए ब्रह्मा अपने इस भौतिक रूप का ही परिचय देते हैं।[1] ऐं, ह्रीं, क्लीं, ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, श्रौषट्, वौषट्, वषट् आदि सभी प्रतीकात्मक शब्द हैं जो गम्भीर अर्थ आत्मसात् किये हुए हैं। एक अक्षर को भी साभिप्राय मान लेने पर[2] उनमें से बहुत से बीज मन्त्र या प्रतीक बन गये हैं। ज्योतिष, छन्द आदि शास्त्रों में द्रव्य-वाचक शब्द संख्या के रूप में प्रतीक रूप में ही प्रयुक्त होते हैं।[3] ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र को इस दृष्टि से लें—

आस्नो वृकस्य वर्तिकामभीके युवं नरा नासत्यामुमुक्तम्।
उतो कविं पुरुभुजा युवं ह कृपमाणमकृणुतं विचक्षे॥[4]

अश्विनी-सूक्त में आये इस मन्त्र को शब्दार्थ की दृष्टि से लें तो यहाँ लौकिक कथा ही लगती है कि नासत्या ने भेड़िये के मुख में बटेर को छुड़ाया जो कि एक बुद्धिवादी व्यक्ति की समझ में नहीं आ सकती। परन्तु यास्क द्वारा दिये गये व्याख्यान को देखें तो सब स्पष्ट हो जाता है और प्राकृतिक व्यापार दृष्टिगोचर होता है। उसके अनुसार वृक सूर्य है और वर्तिका रात्री है। नासत्य प्रभातकाल में दिखाई देने वाले कोई नक्षत्र हैं। उनके उदित होने पर दिन निकलने का समय निकट आ जाता है। इसी प्रकार प्रभात में चेतना की धाराएं

---

१ क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥
—भागु० १०, १४, ११

२ तु० अकारः प्रीतिदायी स्यान्निषेधेऽथ विपर्ययः।
आकारो हर्षदस्तद्वदपि स्वाधात्यादिषु नाचितः॥ —च० च० १ १६

३ शिवः शशी दिनेश्वरस्सुरेशशेष-संज्ञको
बहिस्सरोजधातरौ कनिश्च चन्द्रमाः क्रमात्।
घृताख्य-धर्मनामकौ च शालिपूर्वकः करः
प्रकीर्तिता फणीश-पिङ्गलेन पट्कलेऽभिधा॥
—दुःखभञ्जन वाग्वल्लभ—१, २२

४ ऋग्० १, ११६, १४

फूटती है। उनन कवि की अन्तदृष्टि नाना स ना का दर्शन करने के लिये समर्थ हो जाती है।

उपनिषदा म सप्त ऋषियों क नाम म गरीर की ज्ञानेन्द्रियों का ही ग्रहण हुआ है। इसका अर्थ यह है कि गौतम, भरद्वाज आदि नाम प्रतीक ही हैं।[1] पुराणों म आध्यात्मिक अर्थ की दृष्टि स प्रतीक का प्रयोग पुरञ्जन के प्रसङ्ग म देख चुके हैं। लौकिक पक्ष म इस प्रयोग का सबसे उत्तम निदर्शन भ्रमरगीत है। लोक म भ्रमर प्रेम मार्ग पर खरा न उतरने के लिये बदनाम हैं। जो पुरुष नित्य विभिन्न स्त्रियों म अपना प्रेम बदलता रहता है, उसे भ्रमरवृत्ति कहा जाता है। गोपिया श्रीकृष्ण के सदृश रूप वाले उद्धव को देखकर और उन्हें श्रीकृष्ण का प्रतिनिधि जान कर उन्हें अस्थिर प्रेम के लिये ताना देती हैं। इसी प्रसङ्ग मे मधुकर को सम्बोधित करके जो उपालम्भ दिया जाता है उसमे भ्रमर अस्थिर प्रेम वाले पुरुष का प्रतीक है। उसका सङ्केत भागवतकार ने स्वय कर दिया है[2] परन्तु वही वह उद्धव को मधुकर का प्रतीक बनाता है। क्योंकि श्रीकृष्ण के रूप और वेष के समान प्रकृति भी समान होगी, ऐसी कल्पना की है। परन्तु इन पद्यों म मधुपति आदि शब्द होने से प्रतीकात्मक रूप सर्वथा प्रत्यक्ष हो गया है। जैसे—

मधुप कितव बन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमाला-कुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदु-सदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥[3]

इस भ्रमरगीत से प्रेरणा लेकर लिखे गये उत्तरवर्ती भ्रमर-गीतों म यह प्रतीकात्मकता अधिक निभाई गई है—

---

१ इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गौतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्र-जमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद् यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ।

—बृह० २, २, ४

२ काचिन्मधुकरं दृष्ट्वाध्यायन्ती कृष्ण-सङ्गमम् ।
प्रिय-प्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥ —भापु० १०, ४७

३ वही, १०, ४७, १२

जा जा रे भौंरा दूर दूर।
रंग रूप औ एक हि मूरति मेरो मन कियौ चूर चूर॥
जौलौं गरज निकट तौं रे है काज सरै पै रहैं धूर।
सूरस्याम अपनी गरजन कों कलियन रस लै घूर घूर॥[1]

इसमें अप्रस्तुत व्यापार का ही प्रत्यक्ष रखा गया है।

कालिदास ने भी इसी अस्थिर प्रेम की वृत्ति के कारण दुष्यन्त को मधुकर नाम से सम्बोधित कराया है—

अभिनव-मधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्यचूतमञ्जरीम।
कमल-वसति-मात्र निर्वृतो विस्मृतोऽस्येना कथम्॥[2]

यहाँ मधुकर शब्द का प्रयोग प्रतीक के रूप में हुआ है। इस प्रकार प्रथम अङ्क में शकुन्तला के मुख के चारों ओर मँडराते मधुकर को कर्दोकर के विचार के अनुसार[3] दुष्यन्त के प्रतीक के रूप में देखें तो 'चलापाङ्गा'[4] आदि उसकी उक्तियाँ सब उस प्रतीक में अन्वित हो जाती हैं। अब यहाँ देखा जाय कि इन प्रतीकात्मक प्रयोगों के साथ भावादि का बिम्बन होता है या नहीं।

इसी प्रकार अपने विशिष्ट धर्मों के लिये कुछ प्राणी पदार्थ या धर्म प्रतीक ही बन गये हैं। उदाहरण के लिये कुत्ता अपनी दीन वृत्ति और चापलूसी के लिये बदनाम है। कुटिलता के लिये उसकी पूँछ प्रसिद्ध है। पौरुष के लिये सिंह प्रतीक बन गया है। रक्त-लोलुपता के लिये और क्रूरता के लिये भेड़िया और दयापात्रता एवं ऋजुता के लिये गाय प्रतीक बन गये हैं। जब इनका प्रतीक के रूप में प्रयोग होता है तो इनके व्यापार साथ साथ प्रतिबिम्बित होते हैं। जैसे—

लाङ्गूल-चालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदर-दर्शनं च।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते, गजपुङ्गवस्तु-
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते॥[5]

---

१ सूर भ्रमरगीतसार (रामचन्द्र शुक्ल सम्पादित) पृ० ३५२
२ शाकु० ५, १
३ अशोका ते कालिदास पृ० २२३-२४
४ शाकु० १, १३
५ नीश० ३७

इस श्लोक में दो टकों के लिए तरह तरह की चापलूसी करने वाले सेवक और स्वाभिमानी व्यक्ति के प्रतीक के रूप में क्रमश कुत्ते और हाथी का व्यक्तित्व प्रस्तुत किया गया है। इसमें दोनों की चेष्टा का कवि ने पूर्णबिम्ब प्रत्यक्ष कर दिया है। इसी प्रकार कुत्ते की पूँछ को खल की प्रकृति का प्रतीक बना कर वर्णन करते हुए—

स्वेदितो मर्दितश्चैव रज्जुभि परिवेष्टित ।
मुक्तो द्वादशभिर्वर्षे श्वपुच्छ प्रकृति गत ॥

इस श्लोक में उसका पूरा शब्द चित्र प्रस्तुत किया गया है। हंस शब्द शास्त्रों में आत्मा एवं परमात्मा दोनों के लिए प्रयुक्त होता रहा है वह नीर-क्षीर के विवेचन के लिए भी प्रतीक बन गया है। अत उपनिषद् में हंस का प्रयोग ब्रह्म या आत्मा के लिए है तो सरस्वती का वाहन हंस को मानना भी प्रतीकात्मक भावना ही है। वेणीसंहार में द्रौपदी से गौ का व्यवहार कराया गया है।[2]

इस प्रकार के प्रयोगों में भल्लट कवि को बहुत सफलता मिली है। उनके पद्यों में प्रतीक रूप में प्रस्तुत पदार्थों या व्यक्तियों के पूर्ण व्यापार प्रतिबिम्बित होते हैं। उदाहरण के लिए उनका एक पद्य ऐसा प्रभावशाली है कि हिन्दी के कवियों ने भी उसका प्रतीक और रूपक के रूप में प्रयोग किया है—

विशाल शाल्मल्यानयन-सुभगं वीक्ष्य कुसुमं
शुकस्यासीद बुद्धि फलमपि भवेदस्य सदृशम् ।
इति ध्यात्वोपास्त फलमपि च दैवात परिणतम्
विपाके तूलोऽन्त सपदि मरुता सोऽप्यपहृत ॥[3]

इसमें असार संसार का प्रतीक सेमल का फूल बनाया गया है। उसके आकर्षण पर मुग्ध होने वाले मानव को प्रतीक तोते को बनाया है। इसी प्रतीक को हम कबीर के दोहे में ज्यों का त्यों देखते हैं—

सेमर सुवना सेइआ दुइ ढढी की आस।
ढेंढी फूटि चटाक दे सुअना चला निरास ॥

---

१ तु० नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव कुरुषे चेत् ।
विश्वस्मिन्नधुनान्य कुलव्रतं पालयिष्यति क ॥ —भावि० १ १२

२ हस्ताकृष्टविलोलकेशवसना दु शासनेनाज्ञया
पाञ्चाली मम राजचक्रपुरतो गौगौरिति व्याहृता ॥ —वेसं० २ २५

३ भल्ल० श० १०७

भक्त सूरदास ने इस भाव को रूपक बाध कर कहा है परन्तु आगे मारा भाव प्रतीकात्मक रूप में ही रहने दिया है। उनके शब्द इस प्रकार है—

यह ससार फूल सेमर को सुन्दर देखि लुभायो।
चाखन लाग्यो रुई उड गई हाथ कछु नहि आयौ॥

इन उदाहरणो को देखते हुए कोई यह नही कह सकता कि प्रतीको मे बिम्बन की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। बिम्बन के बिना इनका आशय ही स्पष्ट नही होगा। प्रतीक प्रयोग का एक अन्य प्रभावपूर्ण उदाहरण निम्न प्रकार मे है—

शाखारोधस्थगितवसुधामण्डले मण्डिताशे
पीनस्कन्धे सुसदृश-महामूलपर्याप्त-क्बन्धे।
दग्धे दैवात सुमहति तरौ तस्य सूक्ष्माड कुरेऽस्मि-
न्नाशाबन्ध कर्मपि कुरुतेच्छायमर्थी जनोऽयम्॥

चार्वाक राक्षस द्वारा भ्रम उत्पन्न कर दिये जाने पर भीम की दुर्योधन के हाथो निहत जान कर एव गदा-युद्ध मे अनिपुण अर्जुन की मृत्यु की सभावना करके मुमूर्षु युधिष्ठिर उत्तरा के गर्भ मे सभावित बालक से तर्पण श्राद्ध की आशा करती द्रौपदी के वचनो पर कटाक्ष कर रहा है। यहा पाण्डवकुल एव विशालवृक्ष की स्थूल समानता होने पर भी तर्पण पिण्डदान की आशा और छाया की कामना दोनो मे कोई साम्य नही है। पुन 'इद' सर्वनाम जो कि सन्निकृष्ट पदार्थ का बोधक होता है स्पष्ट ही द्रौपदी की ओर सकेत कर रहा है। इस प्रकार प्रस्तुत के शब्द से कथन के कारण यहाँ अतिशयोक्ति तो सभव है ही नही, अप्रस्तुतप्रशसा का अवकाश भी हरा गया प्रतीत होता है। किन्तु 'अय जन' का विशेष द्रौपदी का वाचक न मानकर जन-सामान्य या मानवमात्र का वाचक मान ले तो स्पष्ट ही अप्रस्तुतप्रशसा सा बन जाता है। यहा 'तरौ' 'सूक्ष्माड कुरे' और 'छाययार्थी' ये शब्द स्फुट प्रतीक है और लोक मे प्रसिद्ध 'बास के वास डूब गये वहाँ पोगिया को क्या गणना' इस आभाणक की स्मृति कराता है। गहा बद्धमूल विशालवृक्ष के वनाग्नि से दग्ध हो जाने पर नये अड कुर से छाया की आशा रखना एक पूर्ण चाक्षुष बिम्ब उत्पन्न कर पश्चात् प्रसड ग से बद्धमूल, पराक्रमी पाण्डव-कुल के विनाश, मन मे घोर निराशा ससार की मृगतृष्णा-परता के कारण उपहासनीयता का भाव बिम्ब प्रस्तुत होता है। *यह एक स्पष्ट सश्लिष्ट बिम्ब है।*

---

१ वेस० ६ २६

जब कवि किसी आध्यात्मिक यौगिक अथवा अन्य विषय का प्रतिपादन करना चाहता है तो उसी विषय के प्रतीकों का प्रयोग करता है। ये प्रतीक वास्तव में उस विषय के पारिभाषिक शब्दों की ओर सङ्केत करते हैं। उनके साथ जुड़ा हुआ सारा भाव उन शब्दों के द्वारा मूर्त हो उठता है। उदाहरण के लिये—

> हित्वा तस्मिन भुजगवलय शम्भुना दत्त हस्ता
> क्रीडाशैले यदि च विहरेत्पाद-चारेण गौरी।
> भङ्गी भक्त्या विरचितवपु स्तम्भितान्तर्जलोध
> सोपानत्व कुरु मणितटाऽऽरोहणायाग्रयायी ॥[1]

यहा सर्पाकृति का कुण्डलिनी नाडी के लिये भुजगवलय स्वयम्भू लिङ्ग के लिये शम्भुना ब्रह्मरन्ध्र के लिये 'क्रीडा शैल' इसी के मध्य स्थित मणिपीठ के लिये 'मणितट' का प्रयोग है। शिव की इच्छा ज्ञान-क्रियात्मिका शक्ति के लिये गौरी पद प्रयुक्त हुआ है।[2] परन्तु योग और तन्त्र से सम्बद्ध रहस्य को गर्भित किये इन शब्दों का आशय वही समझ सकता है जो कि उस विषय का ज्ञाता हो। अन्य के लिये यह सब दुर्बोध हो जायगा और दुर्बोध होने पर बिम्ब नहीं बनेगा। इस कारण आचार्यों ने ऐसी रचना में अप्रतीत दोष की स्थिति मानी और[3] तद्विषयक ज्ञाता की दृष्टि में इसे गुण माना है।[4] इसी प्रकार कई लौकिक व्यापार न्यायों के रूप में प्रसिद्ध हो गये हैं। जैसे अपनी दुःख-गाथा व्यर्थ में सुनाने के लिये अरण्य-रोदन शब्द का प्रयोग होता है। धनवान परन्तु शरीर से गात्र-मटोल व्यक्ति के लिये 'हम कुम'[5] शब्द का प्रयोग प्रतीक ही है जो कि अपने साथ सम्पृक्त समूचा अर्थ समेटे हुए है। ऐसे प्रतीकात्मक प्रयोग कवि अलङ्कारों के द्वारा करता है जिससे वे पाठक या श्रोता के लिये उद्वेजक न हो जायें। क्योंकि चमत्कार के रूप में वक्तव्य का प्रत्यक्षीकरण ही अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। यह अलङ्कार जब व्यङ्ग्य रूप में रहता है, तब

---

१ मेघ० १ ६४

२ विशेष के लिये—

रञ्जनसूरि देव—मेघदूत एक अनुचिन्तन, पृ० ११०

३ अप्रतीतमिदं प्राहु केवल शास्त्रभाषितम्। —सा०सु०सि० ५, ६३

४ प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्ज्ञत्वे सत्यप्रतीतत्व गुण।

—का०प्र०का०, पृ० ३५७

५ चतुर्भाणी—ईश्वर दत्त कृत धूर्तविटसंवाद, पृ० ७

प्रतीक अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। क्योंकि उसकी व्यञ्जक शक्ति विशेष रमणीयता लिये प्रकाशित होती है। जैसे—

> **नेत्रा नीता सतत-गतिना यद्विमानाग्र-भूमी-**
> **रालेख्याया स्वजल-कणिका-दोषमुत्पाद्य सद्य ।**
> **शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशो जालमार्गै-**
> **र्धूमोद्गारानुकृति-निपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥**[1]

यहाँ सामान्यरूप से नेत्रा, सततगति, आलेख्य, दोष, शङ्का, जालमार्ग, जर्जर ये शब्द क्रमश ले जाने वाला, पवन, चित्र, विकार, खटका, झरोखा और कणश इन वाच्यार्थों में प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु नेतृ-शब्द नायकत्व का प्रतीक है, सततगति अविरतता का, आलेख्य उत्तम एवं प्रयत्न रक्षणीय वस्तु का, दोष तोड फोड, व्यभिचार आदि का, शङ्का मन मे अपने ही अपराध मे उत्पन्न दण्डनीयता के भय का, जालमार्ग छल-कपट, अनुचित उपाय, या जर्जर खण्ड खण्ड-भाव का। अत वाच्यार्थ मे तो *स्वभावोक्ति एव उत्प्रेक्षा अलङ्कार* ही है परन्तु इन प्रतीकात्मक शब्दो मे तस्कर कर्म के लिये सदा नगर में घूमते रहने वाले नायक द्वारा सीढी आदि द्वारा भवन की ऊँची मजिलो मे सुरक्षित उत्तम वस्तुओ को खराब करके पुन पकडे जाने के डर से अप्रत्यक्षमार्ग खिडकी आदि से कूद कर हाथ पैर तुडवाने वाले आगन्तुको का व्यवहार आरोपित होने मे समासोक्ति व्यङ्ग्य है। इसके अतिरिक्त 'सकेतित स्थान मे ले जाने वाले सूचक के द्वारा राजमहल की ऊपरी मञ्जिलो या चन्द्रशालाओ मे गुप्तमार्ग से ले जाये गये चौर-कामुक अद्भुत रूप वाली सुन्दरियो के साथ व्यभिचार-दोष उत्पन्न करके पकडे जाने के डर से सारे लज्जा छोड कर गुप्त मार्ग या खिडकी आदि से निकलते हैं' यह अन्य व्यङ्ग्य अर्थ निकलता है। यहाँ इस व्यञ्जकता-शक्ति के कारण आचार्यो ने प्रतीयमान अर्थ की छाया होने से लावण्य नामक गुण की सत्ता स्वीकार की है।[2] आनन्दवर्धन ने काव्य में स्थित इस प्रतीयमान की तुलना स्त्रियो के शरीर मे अङ्गो मे पृथक् भासित होने वाले लावण्य से की है।[3] लावण्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

> **मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।**
> **प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥**[4]

---

१ मघ० २, ६

२ द्र० रञ्जन सूरिदेव—मघदूत एक अनुचिन्तन पृ० ४३

३ प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम ।
   यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।—ध्वन्या० १, ४

४ मद्द० एक अनु०, पृ० ४३

कुन्तक के अनुसार लावण्य पदों के यथोचित सन्निवेश से शारीरिक अङ्ग-प्रत्यङ्गों के यथोचित संगठन से उत्पन्न सौन्दर्य है जो कि प्रत्येक को भासित होता है।[1] हमारे विचार में यह आनन्दवर्धन के तात्पर्य के विपरीत है। प्रतीयमान अर्थ प्रत्येक को प्रतीत न होकर केवल काव्यमर्मज्ञ व्यक्तियों को ही भासित होता है ऐसा कुन्तक भी स्वीकार करता है। अतः कुन्तक को अभिमत लावण्य आनन्दवर्धन को अभिमत लावण्य से पृथक् स्वीकार करना होगा। हाँ, व्यङ्ग्य अर्थ के द्वारा उत्पन्न चारिमा और वक्र-सौन्दर्य से उत्पन्न चमत्कार के लिये दोनों ही छाया शब्द का प्रयोग करते हैं।[2]

अस्तु यहाँ व्यङ्ग्य समासोक्ति अलङ्कार के द्वारा अधिक चमत्कार आने से प्रतीक का वास्तविक चमत्कार प्रत्यक्ष हो जाता है। साथ ही इन व्यङ्ग्यार्थों की बिम्बात्मकता भी स्पष्ट है। अतः प्रतीकों को बिम्ब से पृथक न मान कर प्रतीकात्मक बिम्ब की संज्ञा देनी अधिक उचित है।

बहुधा सूक्ष्म अलङ्कार में गूढ अर्थ की अभिव्यक्ति प्रतीकों के द्वारा ही की जाती है। उदाहरण के लिये किसी सुन्दरी के पुरुषायित की सूचना उसके हाथ पर खड्ग की रेखा से इसी कारण सम्भव होती है कि खड्ग पौरुष का प्रतीक है। 'पौरुष' शब्द में यह सब भाव आ जाता है।[3]

अतिशयोक्ति

प्रतीकों का एक रूप जब वह गौणी लक्षणा पर आधारित होता है,

---

१ वर्णविन्यासविच्छित्तिपदसन्धानसम्पदा।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं तल्लावण्यमिहोच्यते ॥　　—वक्रो० १, ३२

लावण्यं पुनरेतासामेव सकलविशिरस्कमिव सौन्दर्यं सकललोकगोचरतामायाति। प्रतीयमानं पुनः काव्यपरमार्थज्ञानामेवानुभवगोचरतां प्रतिपद्यते। वही, पृ० ५२

२ तु० शरीरीकरणं यत्र वाच्यत्वं न व्यवस्थितम्।
तत्रालङ्कारता परां छायां यात्यध्वन्यङ्गतागता ॥
—ध्वन्या० २ २८

माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम्।
यत्र कामपि पुष्णाति वक्रच्छायातिरिक्तताम् ॥ वही, १ ५०

३ तु० वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख ॥
—साद० १० पृ० ३६४

अतिशयोक्ति अलङ्कार के रूप में प्रयोग में आता है।[1] जब उपमान में उपमेय का सर्वथा निगरण हो जाता है, वाक्य में केवल उपमान का ही प्रयोग होता है। तब अतिशयोक्ति अलङ्कार आता है। यह चमत्कार की पराकाष्ठा है। क्योंकि उपमानोपमेय भाव का यह उपमा/रूपक/उत्प्रेक्षा/अतिशयोक्ति या भेद/भेदाभेद/अभेदाभास/अभेद इस प्रकार चतुर्थ सोपान है। उपमा में उपमेय और उपमान का भेद स्पष्ट रहता है। रूपक में यद्यपि दोनों में तादरूप्य-कथन के द्वारा अभेद का आरोप किया जाता है तथापि दोनों के शब्दतः कथन से भेद भी स्पष्ट है। जैसे 'घट पट-सदृश' इस कथन में दोनों का स्पष्ट भेद रक्षित है। 'घट पटो न' ऐसा कहने से भी दोनों का पार्थक्य स्पष्ट है। परन्तु 'घट पट एव' कहें तो दोनों का वास्तविक भेद तो उनके आकृतिभेद से स्पष्ट ही है। अभेद केवल आरोपित है। उत्प्रेक्षा में यह अभेद साध्य या अनिश्चित ज्ञान में अभेदाभासमात्र होता है। जैसे—'घट पट मन्ये' इस स्थान में। पर जब हम घट का सर्वथा निगरण करके केवल पट का ग्रहण करेंगे तो दोनों में सर्वथा एकत्व-बुद्धि होगी। यद्यपि दोनों में एकत्व की यह बुद्धि भ्रान्ति में भी रहती है परन्तु उसमें वक्ता को एक का तो ज्ञान ही नहीं रहता। जैसे—

पलाश मुकुलभ्रान्त्या शुकतुण्डे पतत्यलि ।
सोऽपि जम्बूफलभ्रान्त्या तमलि धर्तुमिच्छति ॥[2]

इस पद्य में भ्रमर को तोते की चोंच में अनार के पुष्प का भ्रम दिखाया है और शुक को भ्रमर में जामुन के फल का। यहाँ न भ्रमर को शुकतुण्ड का भान है और न शुक को भ्रमर की वस्तुस्थिति का। इससे विपरीत अतिशयोक्ति में जान बूझ कर प्रस्तुत का शब्द से उपादान न करके निगरण किया जाता है। प्रतीक का प्रयोग भी प्रस्तुत के स्थान पर होता है। जैसे—

विप्रोषितकुमारं तद् राज्यमस्तमितेश्वरम् ।
रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ ॥[3]

यहाँ प्रयुक्त 'आमिष' शब्द मृतक मांस का वाचक है। परन्तु प्रकृत में यह अर्थ सङ्गत नहीं बैठता। फलतः लोक प्रसिद्ध को ग्रहण अर्थ शिकार का वाचक होकर यह प्रतीक बन गया है। अतएव मृत अर्थ सर्वथा छोड़ दिया है। अब यह उस राज्य का हथियाने के लिए उत्कट शत्रुओं की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा

---

१ सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते । —सा० [illegible] १०, ४

२ कुवल०, पृ० [illegible]

३ रघु ११, [illegible]

का अवगमन कराता है। उसमे बिम्बित होती है गिद्धा की या कुत्ता का माम के टुकड के लिये होनी छीना-झपटी और उसके प्रकाश म रघुकुल के राज्य का हथियान क लिय प्रतिस्पर्धा। यहा अतिशयोक्ति तो नहा है परन्तु प्रतीक क मूल अथ को छोडने का उदाहरण है।

अतिशयोक्ति क मूल म अतिशय की भावना छिपी है। अतिशय का स्वरूप भरत ने सवसाधारण म पाय जान वाल गुणा का कीतन करक कुछ आधिक्य बतलाना कहा है।[1] उसका सार यही है कि किसी वस्तु को बढा चढा कर कहना ही अतिशयोक्ति है। इसमे अधिक बढा कर कहना क्या होगा कि एक वस्तु का अस्तित्व ही दूसरे पदाथ म अन्तभुक्त हो जाय? इसका सुन्दर उदाहरण है—

> सुधाबद्धग्रासरुपवनचकोररनुसृता
> किरज्ज्योत्स्नामच्छा लवलिफलपाक प्रणयिनीम।
> उपप्राकाराग्र प्रहिणु नयने तकय मनाग
> अनाकाश कोऽय गलित हरिण शीत किरण ॥[2]

यहा पर प्राकार क अग्रभाग के समीप खिडकी म दिखाई देन किसी सुन्दरी के मुख का गलितहरित शीतकिरण म अध्यवसान किया गया है। पूर्वाध और उत्तराध म प्रतिपादित विशेषण प्रधान रूप म शीत किरण को ही विशिष्ट करत हैं लक्षणा स ज्योत्स्ना द्वारा वाच्य अथ मुख का कान्ति एव गलित हरिण शात किरण म बोध्य मुख विचार म हा प्रतात होत हैं। यहा बिम्ब का ग्रहण स्पष्ट है पहल चन्द्रमा का पश्चात सुन्दरी क मुख का। उपमान चन्द्र की अपक्षा मुख का वैशिष्ट्य गलित हरिण म वाच्य निष्कलङ्कत्व उसम सवथा उज्ज्वलत्व बोधित होता है जिसम व्यङ्ग्य व्यतिरेकालङ्कार की छाया भासित होती है। उसका तह म नायक का विस्मय अद्भुत की व्यञ्जना कराता है और उसक भी मूल म नायक की नायिका विषयक रति अपना आभा लिय है। इस अनुभूति से सम्पृक्त होने क कारण यह एक सीमित परन्तु पूण बिम्ब है। यहाँ प्रस्तुत एव अप्रस्तुत का सवथा अभद हो गया है, अत यह अभेदात्मक बिम्ब है। योगशास्त्र म प्रसिद्ध —

---

१ बहून गुणान कीतयित्वा सामान्य जनसभवान।
विशेष कीयते यस्तु नय सोऽतिशयो बुधै ॥ —नाशा० १६ २०

२ कवन्द्र० पृ० ३६

गोमांस भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।[1]

इस वचन मे सादृश्य की भावना नहीं है, अतः ये अतिशयोक्ति का भी विषय नहीं है। इसी प्रकार उपनिषदों मे हृदयाकाश के लिये प्रयुक्त दहर पुण्डरीक सादृश्य-मूलक न होने से अतिशयोक्ति अलङ्कार का विषय नहीं है। इसके विपरीत—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः[2] ॥

इसमे "निशा" शब्द सामान्य रूप से रात्री का बोध कराता है परन्तु लक्षणा से वह सुषुप्ति का बोधक है। व्यङ्ग्य मे सासारिक सुखों की पारिणामिक असारता का भुलाकर विषय-भोगों मे आसक्त रहना, यह अर्थ बोध का विषय बनता है। यहाँ पार्यन्तिक व्यङ्ग्य को लेकर तो यह ध्वनि है परन्तु वाच्यार्थ मे अतिशयोक्ति अलङ्कार का विषय है। प्रस्तुत के निगरण के साथ अप्रस्तुत का आरोप होने मे अप्पयदीक्षित आदि ने अतिशयोक्ति के इस प्रकार का रूपकातिशयोक्ति संज्ञा दी है[3] और आधुनिक समीक्षक इस साध्यवसानबिम्ब से पुकारते हैं। इस अलङ्कार की बिम्ब-ग्राहिता उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। इसी प्रकार—

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनुत्विषा वलयिता शतैर्विद्युताम् ।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी[4] ॥

इस पद्य मे कादम्बिनी का श्यामवर्ण के सादृश्य से श्रीकृष्ण मे अध्यवसान किया गया है, स्मरण मात्र मे ही आतप को दूर करने से सामान्य कादम्बिनी से इसका व्यतिरेक है। करुणया मे चेतन धर्म का अध्यवसान है। 'विद्युता" से चारो और खड़ी गोपिकाओं का अध्यवसान हुआ है। इसी प्रकार वृन्दावन के यमुनातीरस्थित कदम्ब वृक्ष मे सुरद्रुम का अध्यवसान किया गया है। इस प्रकार पहला बिम्ब मेघमाला का है जो अपनी छाया से धूप को रोकती है, बिजलियाँ चमकती लगती है। उसके पश्चात् गोपिकाओं से घिरे श्रीकृष्ण का

१ हयोप्र० ३,४७
२ गीता २,६६
३ रूपकातिशयोक्ति स्यान्निगीर्याध्यवसानत । ---कुवल०, ३६
४ रग, १,१

बिम्ब बनता है। विद्युत् की आभा के प्रकाश में गोपिकाओं के घनश्यामोज्ज्वल गौरवर्ण का भान होता है। पर यहाँ एक वैषम्य है जो कि इस शब्दचित्र को खण्डित कर देता है। वह वैषम्य यह है कि यदि यह चित्र वृक्ष पर आरूढ़ श्रीकृष्ण का हो तो गोपिकाएँ तो वृक्ष पर नहीं होंगी वे तो पृथ्वी पर होंगी। विद्युत मेघ के बीच में चमकती है इधर उधर नहीं। यदि कदम्ब के नीचे खड़े श्रीकृष्ण का शब्द-चित्र प्रस्तुत किया हो तो भी संगति नहीं बैठती। मेघ वृक्ष के नीचे नहीं होता, ऊपर रहता है। पुनः पर्वत शिखर पर तो मेघ की स्थिति वर्णित होती है पर वृक्ष के नीचे नहीं। अतः तृतीय चरण का बिम्ब ठीक नहीं बनता। यदि जगन्नाथ के अनुसार ऐसी स्थिति की कल्पना की जाय तो दूसरी बात है। इसके विपरीत--

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥[1]

यहाँ नायिका के मुख में कमल का, नेत्रों में कुवलय का, काञ्चनवर्णा गात्रयष्टि में सुवर्णलतिका का पुनः उसमें सौकुमार्य एवं सुभगत्व के दर्शन एवं उसके अवलोकन से हृदय पर होने वाली प्रतिक्रिया का उत्पातपरम्परा से व्यञ्जन विस्मय भाव की व्यञ्जना कराता हुआ नायिका का एक अद्भुत एवं पूर्णशब्दचित्र प्रस्तुत करता है जिसमें वर्णयिता की रागवृत्ति का स्पर्श प्राण-वृत्ति का आधान कर रहा है। इस उदाहरण में पाई जाने वाली वक्रता चमत्कार का मूल है। इसी वक्रता के कारण भामह ने इसे वक्रोक्ति नाम दिया था[2] एवं आनन्दवर्धन ने भी इसी चमत्कारिता रूप अतिशय का ग्राह्य रूप में स्वीकार किया।[3] उनके अनुसार अतिशयोक्ति जिस किसी भी अलंकार में रहती है उसी में चमत्कार का आधिक्य हो जाता है। लोचनकार के अनुसार अतिशयोक्ति में पाई जाने वाली वक्रता लोकोत्तर रूप में स्थिति ही है और वही लोकातिक्रान्तगोचरता अलंकारता है। इस अतिशयोक्ति के प्रभाव में

१ का० प्र० का० १० (उ०) ४४६

२ सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥

—भामा०, २ ८५

३ तत्रातिशयोक्तिर्यमलंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलंकारमात्रतैव ।

—ध्वन्या० पृ० ४०७

विवक्षित अर्थ नवीन रूप में वैचित्र्य धारण करता है। उसमें वर्णित स्त्री आदि विभाव बना दिये हैं।[1]

अतिशय का एक प्रकार प्रस्तुत का निगरण था तो दूसरा प्रकार असम्बन्ध में सम्बन्ध का प्रतिपादन है। इसका चमत्कार नैषध में देखा जा सकता है जहाँ कि दमयन्ती के नगर के भवन स्वर्ग को छूने वाले दिखाये गये हैं। वहाँ के क्रीडापर्वत पर जड़े मरकतमणि की किरणें ब्रह्माण्ड के ऊपरी भाग से टकरा कर नीचे की ओर मुड़ जाती हैं, कामधेनु अपनी गर्दन ऊँची करके उन किरणों को घास समझ कर चाटती है। इस प्रकार वहाँ नित्य ही गोग्रास देने का व्रत चला करता है।[2] वास्तव में भामह द्वारा प्रयुक्त "विभाव्यते" क्रिया का अर्थ विशेष रूप में संस्कार रूप में प्रत्यक्षीकरण के योग्य किया जाता है, यही समझना चाहिये। भरत ने भाव का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए "भावित-वासित" यह कहा भी है। इस प्रकार वक्रतामयी अतिशयोक्ति के द्वारा प्रतिपादित *अर्थ का प्रत्यक्षीकरण होता है, यही फलितार्थ निकलता है। अभिनव* ने "प्रमदोद्यानादि-विभावतां नीयते" के साथ-साथ "विशेषेण च भाव्यते रसमयीक्रियते" यह स्पष्टीकरण किया है।[3] पहले बताये प्रकार से रस का साक्षात्कार भी प्रत्यक्षीकरण से ही होता है। इसलिये इसका निष्कर्ष भी यही निकलता है। इस उदाहरण में बिम्ब का ग्रहण होता है या नहीं इसका निर्णय सहृदय ही कर सकते हैं।

---

१ शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्य-यमेवासावलङ्कारस्यालङ्कारभाव, लोकोत्तरतैव चातिशय, तेनाति-शयोक्तिः सर्वालङ्कार-सामान्यम्। तथाहि-अनया अतिशयोक्त्या, अर्थ सकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते तथा प्रमदोद्यानादि विभावतां नीयते। —लो० पृ० ४६७

२ वदर्भी-केलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भैः—
ब्रह्माण्डाघात भग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखैः।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्य-देश गताग्रैः—
यद्गोग्रास-प्रदानव्रत-सुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म॥
—नैष० २, १०८

३ भू इति करणे धातुस्तथा च भावित वासित कृतमित्यनर्थान्तरम्। लोकेऽपि च प्रसिद्धम्। अहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति तच्च व्याप्यर्थम्। —नाट्य०, पृ० ३४५

अतिशय का तीसरा प्रकार सम्बन्ध में असम्बन्ध है। यह भी चारुत्वप्रद का जनक होने से प्रतिपादित अर्थ को नूतन करता है। जब पुरूरवा उर्वशी को देखकर नारायण को उसका निर्माता मानने को तैयार नहीं होता तो इसमें उस रूप का असाधारणत्व और उसमें अद्भुत विस्मय का भाव अनुभूति का विषय है।[1]

अतिशयोक्ति का एक प्रकार यदि के द्वारा नवीन दृश्य की सम्भावना करना है। इसके उदाहरण पूर्वोद्धृत पद्य 'पुष्पं प्रवालोप०'[2] और 'उभौ यदि०'[3] हैं। पहले में सम्भावित उपमान लोक में सम्भवी पदार्थ है तो द्वितीय में असम्भवी।

जहाँ इस प्रकार अलंकार प्रयोग में कोई बिम्ब न बनेगा वहाँ वह असमर्थ ही रहेगा। जैसे—

यदि त्रिलोकी गणना परा स्यात् तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात्।
पारे परार्द्धं गणितं यदि स्याद् गणयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात्।।[4]

इस पद्य में कोई बिम्ब प्रस्तुत नहीं किया गया है। इसी प्रकार—

अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा।
इदमेवंविधं भावि भवत्याः स्तनजृम्भणम्।।[5]

इस पद्य में आकाश और स्तनों के बीच के अवकाश में अनुपात का ध्यान नहीं रखा गया है। इस लिये यहाँ भी कोई बिम्ब नहीं बनता।

अन्य भेद रूपा अतिशयोक्ति में विस्मय के उदय के कारण भावबिम्ब की सृष्टि होती है। जैसे—

अन्यदेवाङ्गलावण्यमन्याः सौरभसम्पदः।
तस्याः पद्मपलाशाक्ष्याः सरसत्वमलौकिकम्।।[6]

---

१ अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
  शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
  वेदाभ्यास-जडः कथं नु विषय-व्यावृत्त-कौतूहलो
  निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।। —विक्र० १ १०
२ द्र० अ० ६ टि० ३६
३ द्र० अ० ६ टि० ३७
४ नैष० ३ ४०
५ काद० १ ६१
६ साद० १० पृ० ३२४

इसमें सुन्दरी का अङ्ग-लावण्य आदि लोक-सामान्य होने पर भी असामान्य बनाने से कल्पना से उसके असाधारण सौन्दर्य का बिम्ब बनता है। इस उदाहरण में चाक्षुष, स्पर्श और घ्राण तीनों के बिम्ब हैं। उनमें एक सम्मिलित व्यापक बिम्ब की सृष्टि होती है। भेद में अभेद का कथन तो रूपकातिशयोक्ति में हो ही गया है।

अतिशयोक्ति का एक प्रकार कार्यकारण-भाव का विपर्यय-कथन है। इस के तीन प्रकार होते हैं—१ कार्यकारण की पूर्वापरभाविता में विपरीतस्थिति। अर्थात् सामान्य नियम के विरुद्ध कारण से कार्य की पूर्ववर्तिता का प्रतिपादन। द्वितीय में दोनों की सहभाविता तृतीय में कारण की चर्चा-मात्र से कार्य की उत्पत्ति का कथन[1]। जैसे—

> उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं
> घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः।
> निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमः—
> स्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः॥[2]

इस पद्य में महर्षि मारीच ने प्रसाद से पूर्व ही शकुन्तला एवं पुत्र की उपलब्धि-रूप सम्पत्-प्राप्ति की चर्चा है। कारण मारीच की कृपा है और फल-प्राप्ति कार्य है। इस प्रकार कार्य-कारण के क्रम में विपर्यय को स्पष्ट देखा जा सकता है। यहाँ दो बिम्ब पूर्वार्ध के हैं, उनके प्रकाश में यह तृतीय बिम्ब अधिक सशक्त बन जाता है। इसमें पुत्र-सहित पत्नी की प्राप्ति, इस अर्थ को शब्द में न कहकर व्यंग्य रखा है। सम्पत्प्राप्ति-रूप प्रतीक से उसका सङ्केत कराया है। व्यञ्जना-प्रिय कवि ने यह कार्य सामाजिक के लिए छोड़ दिया है कि वह हृदय से अनुभव करे कि सम्पत्ति के लिए तरसने वाले को इस प्राप्ति के होने से कितना हर्ष होता है। उसके प्रकाश में दुष्यन्त के उल्लास का अनुमान किया जा सकता है। अतः पहले चाक्षुष बिम्बों का बोध होता है, तत्पश्चात् भाव-बिम्ब का।

इसी प्रकार कार्यकारण के सहभाव का बिम्ब—

---

१ कार्यकारणयोर्विपर्ययश्च द्विधा भवति। कारणात् प्रथमं कार्यस्य भावे, द्वयोः समकालत्वे च। चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे।
सा॰द॰, पृ॰ ३२५ —कुवल॰, ४२

२ शाकु॰, ७, ३०

अविरलविलोल जलद कुटजार्जुननीप-सुरभिवन वात ।
अप्रमायात कालो हत[1] हता पथिकगेहिन्य ॥

इस पद्य में है। यहाँ वर्षा ऋतु के आगमनरूप कारण और प्रोषितभर्तृ काओं की निष्प्राप्तिरूप कार्य दोनों की समकालभाविता दिखाई गई है। इसमें मेघों का चाक्षुष सुरभिवनवात के घ्राण और स्पर्श के बिम्ब एवं प्रोषित भर्तृकाओं की विरहव्यथा का भाव बिम्ब समकालभावी है।

सहोक्ति

कार्य और कारण के एक साथ होने का वर्णन जब सह या सहवाचक शब्दों के साहचर्य से होता है वहाँ सहोक्ति अलङ्कार माना जाता है। इसके मूल में अतिशयोक्ति अलङ्कार रहा करता है। यही इसके[2] चमत्कार का कारण होता है। यदि श्लेष भी हो तो चमत्कार अधिक बढ जाता है। जैसे—

सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक प्रिय ।[3]

यहाँ राग शब्द अनुराग एवं रक्तिमा का वाचक होने से श्लिष्ट है। अधरों में यौवन-कृत लालिमा से प्रियतम के मन में अनुराग का उदय होने में जो कार्यकारण में कालभेद चाहिए था वह यहाँ नहीं रखा गया है। यहाँ अति शयोक्ति है। सह का प्रयोग होने से सहोक्ति बनती है। यहाँ अधरदल की लालिमा का चाक्षुष बिम्ब होने के साथ-साथ अनुरागोदय का अनुभूति बिम्ब भी बनता है।

यामोषधिमिवायुष्मन्नन्वेषसि महावने।
सा देवी मम च प्राणा रावणेनोभय हृतम्[4] ॥

यहाँ पर भी सहोक्ति हो है पर व्यग्य है। क्योंकि आपात में सीता एवं जटायु के प्राण दोनों ही प्रस्तुत होने एवं दोनों का हृतम् से सम्बन्ध होने के कारण तुल्ययोगिता अलङ्कार ही है। परन्तु जटायु के प्राणहरण और सीता के हरण में कार्यकारण भाव का पौर्वापर्य है। अत अतिशयोक्ति बनती है पर दोनों के एक साथ होने का भाव व्यङ्ग्य होने से सहोक्ति ध्वनित है। इसमें विशेष चमत्कार उपमा के कारण है। क्योंकि औषधि भी यदि घन

१ अम० २२८
२ मादo, ५५
३ वही पृ० ३२५
४ वाराo ३ ६७ १५

जगत में खोजी जाय तो बहुत छानबीन और सूक्ष्म दृष्टि से देखती होती है। इसी प्रकार सीता को खोजने की मुद्रा बिम्बित होती है। उत्तरार्ध में सीता-हरण और जटायु वध की क्रिया बिम्बित होती है। यहाँ देवी शब्द सीता के उज्ज्वल रूप के साथ-साथ औषधि के दीप्ति-युक्त होने का भान कराता है। इसी प्रकार यह मिश्रित बिम्ब बनता है।

अलङ्कारसर्वस्वकार द्वारा स्वीकृत द्वितीय अतिशयोक्ति[1] कार्य-कारण-भाव के विपर्यय-रूप अतिशयोक्ति-भेद से अभिन्न ही है।

अतिशयोक्ति-मूलक होने के कारण सहोक्ति भी बिम्ब निर्मायक अलङ्कार है। पण्डितराज जगन्नाथ ने उसका अन्तर्भाव भेदे अभेद-रूपा अतिशयोक्ति में करना चाहा है।[2] पर वह युक्ति-सङ्गत नहीं बैठता। क्योंकि अतिशयोक्ति में अध्यवसान ही अपेक्षित है, सहोक्ति में सहभाव भी विवक्षित होता है। जैसे—

> मान्ययमाप गमन सह शैशवेन
> रक्त तथैव मनसाऽधर-बिम्बमासीत्।
> किञ्चाभवन् मृगकिशोरदृशो नितम्ब
> सर्वाधिको गुरुरय सह मन्मथेन ॥[3]

इस पद्य में सर्वथा पृथक् गमन और शैशव के मान्द्य में अभेदाध्यवसान के कारण अतिशयोक्ति है परन्तु दोनों की सहभाविता वर्णित होने से सहोक्ति भी है। यदि सहोक्ति का अन्तर्भाव करना ही हो तो कार्यकारण की समकाल भाविता रूप अतिशयोक्ति में करना चाहिए न कि भेदे अभेद-रूपा में। जगन्नाथ के अपने उदाहरण—

> केशवधूनामथ तव कोपैः प्राणेश्च साकं प्रतिभूपतीनाम्।
> त्वया रणे निष्कम्पणेन राजश्चापस्य जीवा चकृषे गुणेन[4] ॥

---

१ कार्यकारणयो समकालत्वे पौर्वापर्यव्यत्यये चातिशयोक्ति।—अस०, पृ० ४८३

२ किञ्चिद् वैलक्षण्यमात्रेणैवालङ्कारभेदे वचनभङ्गीनामानन्त्यादलङ्-कारानन्त्यप्रसङ्गादिति सत्य, गुण-प्रधान-भावाऽऽलिङ्गितस्य सहभावस्या-लङ्कारान्तराद् विच्छित्ति विशेषमनुभवन्त प्राचीना एव सहोक्तेः पृथगलङ्कारताया प्रमाणम्। —रग०, पृ० ३६२

३ वही पृ० ३६३

४ वही, पृ० ३५८

इस पद्य म केशा काष प्राण एव धनुष की डोरी का आकर्षण सवथा पृथक होन पर भी सहभाव के द्वारा अभदाध्यवसान किया गया है। काय कारण के बिम्ब साथ-साथ बनने से इसम चमत्कार आ जाता है। इस प्रकार अतिशयोक्ति और सहोक्ति प्रतीकात्मक एव साध्यवसानाबिम्ब के निमाण म अय त उपकारक होती हैं।

बारहवाँ परिच्छेद

काव्यात्मक वर्णन एवं स्वभावोक्ति आदि अलङ्कार

आचार्यों ने यदि काव्य की पुरुष के रूप में कल्पना की[1] तो कविता की कामिनी के रूप में उनका पूरा व्यक्तित्व उभारने के लिए उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का भी रूपक बाँधा है।[2] इसका कारण यही है कि जिस प्रकार एक मात्र हाथ या पैर अथवा मुख का वर्णन करने में किसी प्राणी का पूरा व्यक्तित्व प्रकाश में नहीं आता इसी प्रकार किसी वस्तु के एक-पक्ष-मात्र को प्रस्तुत करने से उसका पूर्ण स्वरूप सामाजिक को स्पष्ट नहीं हो सकता। किसी मनोभाव का प्रकाशन करने में पूर्व उसकी परिस्थिति भी बतानी होगी जो कि उस भाव के उदय का मूल है। इसी प्रकार भाव का उदय बताने मात्र से भी काम नहीं चलेगा। दूसरे पक्ष में उसकी प्रतिक्रिया और परिणाम बताना भी अनिवार्य है। कभी यह सब एक ही पद्य में आ जाता है और कभी इसके लिए अनेक वाक्यों की रचना करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए एक वाक्य में—

> हे रोहिणि त्वमसि रात्रिकरस्य भार्या
> एनं निवारय पतिं सखि दुर्विनीतम्।
> जालान्तरेण मम वासगृहं प्रविश्य
> श्रोणीतटं स्पृशति किं कुलधर्म एषः ॥[4]

इस पद्य में कवि का विवक्षित भाव आ गया है। ऐसे स्थल में परिस्थिति आदि का अनुमान करने का भार सामाजिक पर छोड़ दिया जाता है। अनेक

---

१ यदेतद् वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ ॥ —कामी०, १, ३

२ नैषा नैषा कस्य कविताकामिनी कौतुकाय। —प्रस०, १, प्रस्ता० २२

३ शब्दार्थौ ते शरीरम्, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहू, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। —कामी०, १ -, पृ० १६

४ कालि० श्रुति०, २६

वाक्यों के लिए रामायण आदि प्रबन्ध उदाहरण हैं। अतः काव्य के मुक्तक एवं प्रबन्ध दो भेद माने गये हैं। प्रबन्ध के भी सामग्री एवं विवक्षित विषय के आधार पर महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि भेद बताये गये हैं। दूसरी ओर किसी रस की अभिव्यक्ति के लिए विभाव, अनुभाव, सञ्चारिभाव और स्थायि-भाव की आवश्यकता बताई गई है। विभाव के भी आलम्बन और उद्दीपन दो भेद किये हैं। अनुभावों को यत्नज अयत्नज दो रूपों में विभक्त करके अयत्नज को सात्त्विक संज्ञा दी गई है।[1] उद्दीपन विभाव के लिए देश और काल के अतिरिक्त आलम्बन के रूप, गुण, आकार, चेष्टा, प्रवृत्ति, स्वभाव आदि एवं उत्थान-पतन, उसके सहकारी व विरोधी, इन सबको आधार माना जाता है। यह सब अनेक वाक्यों में आने से इन सबको एक सूत्र में बाँधने के निमित्त सबको मिलाकर महावाक्य स्वीकार किया गया। इस प्रकार काव्य-पुरुष का पूरा व्यक्तित्व बनता है। आचार्यों ने इस निमित्त महाकाव्य में नगर, प्रासाद, चरितनायक की दिनचर्या, विभिन्न क्रीडाएँ, जलविहार, उद्यानभ्रमण, मन्त्रणा, प्रस्थान, सन्धि, विग्रह, दूत-सम्प्रेषण, प्रभात, दिन, सन्ध्या, मृगया, मधुपान, नदी, समुद्र आदि जलाशय, विभिन्न ऋतु, तात्पर्य यह कि जीवन और भाव से सम्बद्ध सभी बातों का पूरा विवरण देना आवश्यक बताया है।[2] इन वर्णनों को चमत्कारी या आकर्षक बनाने के लिए कुछ काव्यरूढियाँ एवं मान्यताएँ स्थापित की गई हैं।[3] जिनका उल्लङ्घन काव्य में वैरस्य का उत्पादक होने से दोष माना

---

१ रसानुकूलविकृतिर्भावः स द्विविधो मतः।
आन्तरश्चैव शारीर इतीह सर्वसम्मतम्॥
शरीरोऽपि द्विधा सात्त्विकानुभावविभेदतः।
स्वपरान्यतर प्राप्त-सुख-दुःखादि-भावनम्॥
तस्य यदन्तःकरणं सत्त्वं तद्वृत्तया तथा।
अयत्नजो देहधर्मः सात्त्विको भाव उच्यते॥ —रसच०, पृ० ६७

२ नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः। उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः।
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदय-वर्णनैः। मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि।
—काद०, १, १६-१७

३ मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः
रक्तौ च क्रोधरागौ सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि।
तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसङ्घो
ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः॥

लिया गया है।[1] यदि चमत्कारक हो तो इस प्रसिद्धि का उलङ्घन क्षम्य ही नहीं, गुण भी मान लिया गया है।[2] इन वर्णनों में भी औचित्य का निर्वाह अपेक्षित है।[3] कवि वर्णन की धाक में आदमी के पेट में दांत दिखाने लगे या सड़क पर कमल खिलाने लगे तो यह हास्यास्पद स्थिति होगी। इसीलिए देशकाल कृत औचित्य का निर्वाह अनिवार्य है।[4]

इसके अतिरिक्त वर्ण्य पदार्थों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए उनके रङ्ग रूप आदि की कुछ कल्पनाएँ की गई हैं। अरिसिंह ने इस प्रकार की प्रसिद्धियों को तीन प्रकार की गिनाया है—१ अविद्यमान वस्तु का वर्णन, २ विद्यमान वस्तु का भी वर्णन न करना, ३ किसी पदार्थ, जाति आदि का एक निश्चित देश या काल में होना।[5] साहित्य-दर्पणकार एवं केशव मिश्र ने[6] भी इस प्रकार की प्रसिद्धि या कविरूढियों का परिगणन किया है। इनके आधार पर कवियों ने अपने-अपने काव्यों में नगर, ग्राम, नदी, तालाब, सूर्योदय, चन्द्रोदय, मधुपान, सुरत, वन-विहार और जलविहार आदि के वर्णन किये हैं।

पादाघातादशोको विकसित बकुलो योषितामास्यमद्यै-
र्यूनामङ्गेषु हाराः स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः।
मौर्वीरोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो-
र्भिन्नं स्यादस्य बाणैर्युवजनहृदयं स्त्री-कटाक्षेण तद्वत् ॥

—सा०द०, ७, २३-२४

१ तु० पादाघातादशोकस्ते सञ्जाताङ्कुरकण्टकः ॥
अत्र पादाघातादशोकेषु पुष्पमेव जायते इति प्रसिद्धं न त्वङ्कुर इति कविसमयख्यातिविरुद्धता। —वही पृ० २४६

२ कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता। —वही, ७, २२

३ वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्। —ध्वन्या०, ३ ३२

४ तु० विरुद्धं नाम तद् यत्र विरोधस्त्रिविधो भवेत्।
प्रत्यक्षेणानुमानेन तद्वदागमवर्त्मना ॥
यो देशकाल लोकादि प्रतीपः क्वापि दृश्यते।
तमामनन्ति प्रत्यक्षविरोधं शुद्धबुद्धयः ॥ —सर०, १, ५४-५५

५ असतोऽपि निबन्धेनानिबन्धेन सतोऽपि च।
नियमेन च जात्यादेः कवीनां समयस्त्रिधा ॥ —काव्यकल्प०, १, ५ ६४

६ द्र० ऊपर टि० ७

७ अलशे०, ६, २ (पृ० ५६-६८) चौ०प्र०

भोज ने अनेक प्रकार की क्रीडाओं एवं दिनचर्याओं का परिगणन किया है।[1] कुछ वर्णन ऐसे हैं जो प्रसङ्ग के अनुसार कवि स्वयं उद्भावित करता है। जैसे वाल्मीकि रामायण और महाभारत में दशरथ[2], राम[3] व युधिष्ठिर[4] के यज्ञों का विस्तृत वर्णन, शिशुपाल वध में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का वर्णन[5], नैषध में दमयन्ती के विवाह में बरातियों का भोजन[6] और परिवेषिकाओं के साथ उनका परिहास।[7] ये वर्णन कवि की इच्छा पूरी करने के लिए न होकर नायक के चरित-वर्णन को सर्वाङ्गीण बनाने के लिए किये जाते हैं। इसलिए उनका काव्य के प्रकृत कथानक का अविच्छेद्य अङ्ग एवं यथास्थान निवेश अनिवार्य है।[8] आनन्दवर्धन ने इसीलिए ऐसे वर्णनों के प्रसङ्ग में कवि को सावधान रहने का निर्देश किया है कि रस-परिपाक की दृष्टि से ही वर्णन होने चाहिये केवल शास्त्र

---

१ अष्टमीचन्द्रकं कुन्दचतुर्थी सुवसन्तकं ।
आन्दोलन-चतुर्थ्येक-शाल्मली-मदनोत्सव ॥
उदकक्ष्वेडिकाशोकोत्तंसिका चूतभञ्जिका ।
पुष्पावचायिका चूतलतिका भूतमातृका ॥
कदम्बयुद्धानि नव-पत्रिका बिसखादिका ।
शक्रार्चा कौमुदी यक्षरात्रिरभ्यूष-खादिका ॥
नवेक्षु-भक्षिका तोयक्रीडा प्रेक्षादि-दर्शनम् ।
द्यूतानि मधुपानं च प्रकीर्णानीति जानते ॥ —सक०, ५, ९३-९६

२ वाल्मी०, १, १२-१६

३ वही, ७, ९१-९२

४ म०भा०, २, ६, १५

५ शिशु०, १५

६ यदादि हेतु सुरभि समुद्भवे भवेद् यदाज्य सुरभिर्घृत तत ।
दधीभिरेभ्य प्रवितीय पायस तदोघ कुल्या तट-संकत कृतम् ॥
—नैष०, १६, ७०

७ वही, १६ ४८-१०४

८ तु० ऋतुरात्रिदिवार्केन्दूदयास्तमय-कीर्तने ।
काल काव्यस्य सम्पन्नो रसवृष्टि नियच्छति ॥
राजकन्या-कुमारस्त्री-सेना-सेवाङ्गभङ्गभि ।
पात्राणा वर्णन काव्ये रस स्रोतोऽधितिष्ठति ॥
—सक०, ५, १३१-३२

प्रतिपादित खानापूरी के लिए नहीं।[1] इसी औचित्य को दृष्टि में रखकर वाल्मीकि-रामायण में अयोध्या काण्ड में अपने शाप के वर्णन-प्रसङ्ग में दशरथ के मुख में वर्षा ऋतु का वर्णन कराया गया है।[2] अरण्यकाण्ड में पञ्चवटी-निवासकाल में प्रसङ्गागत हेमन्त ऋतु का वर्णन है।[3] वह भी कुछ श्लोकों में सीमित है। किष्किन्धाकाण्ड में वर्षा ऋतु[4] और शरद्[5] का वर्णन आता है। वहाँ भी वाली की मृत्यु के उपरान्त सुग्रीव को किष्किन्धा का राज्य मिल जाने पर भी वर्षा ऋतु में सीता की खोज सम्भव न होने से इतने समय तक राम के लिए प्रतीक्षा करना अनिवार्य था।[6] इस अवकाश को भरने के लिए वह वर्णन आया है। कालिदास ने दशरथ की मृगया के प्रसङ्ग में वसन्त ऋतु[7], रघु की दिग्विजय-यात्रा के प्रसङ्ग में शरद्[8] और कुश के जल-विहार के प्रसङ्ग में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन[9] किया है। इन सभी वर्णनों का प्रासङ्गिक अनुकूलता उन्हें कथानक का अविच्छेद्य अङ्ग बना देती है।

इसी प्रकार कादम्बरी के महाश्वेतावर्णन[10] और दशकुमारचरित में अवन्ति-सुन्दरी व राजवाहन के प्रथम दर्शन के प्रकरण में भी[11] वसन्त ऋतु का वर्णन अवसर प्राप्त होने से खटकता नहीं है हर्षचरित में आये ग्रीष्मऋतु के वर्णन का[12] भी औचित्य है। परन्तु भारवि के किरातार्जुनीयम्[13] एवं माघ के शिशुपालवध[14]

---

१ इतिवृत्तवशायाता कथंचिद् रसाननुगुणा स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्या-प्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयः यथा कालिदासप्रबन्धेषु। —ध्वन्या०, ३३५ पृ०

२ वारा०, २, ६३, १४-१८

३ वही, ३, १६, १-२६

४ वही, ४, २८, १-५४

५ वही, ४, ३०, २२-६२

६ प्रवृत्ता सौम्य चत्वारो मासा वार्षिक-संज्ञिता। नायमुद्योग-समयः प्रविश त्वं पुरीं शुभाम्॥ —वही, ४, २६, १४

७ रघु०, ६, २५-५६

८ वही, ४, १५-२६

९ वही, १६, ४३-५३

१० पृ० २६०-२६२

११ पू०पी०, ५ उच्छ्वास

१२ हर्ष० २, पृ० ११६-१ ३

१३ किरा०, १०, १८-३७

१४ शिव०, ६

मे ये वर्णन भरती के होने से कथावस्तु के अङ्ग नही प्रतीत होते। यात्रा के प्रसङ्ग मे एक ही बार मे छ ऋतुओ का वणन युक्ति-सङ्गत नही लगता। द्वारका स इन्द्रप्रस्थ जाने तक प्राचीनकाल की सी यात्रा मे १-२ ऋतु बीत जाना तो सम्भव था। परन्तु एक ही पर्वत पर निवास करते हुए छओ ऋतुएँ बीतना सम्भव नही।

पाश्चात्य समीक्षको के मत की असारता—संस्कृत काव्यो मे पाये जाने वाले, विशेष कर कादम्बरी के वर्णनो को देखकर पश्चिमी आलोचको ने कहा है कि इन कवियो को वर्णन करने की झख सी है जिसके कारण वे प्रकृति के सौन्दय का अवलोकन नही करने देते[1]। परन्तु वे यह भूल जाते है कि जब सम्पूर्ण मानव जीवन का वृत्त प्रस्तुत किया जाता है तो इस प्रकार के वणन आयेगे ही। क्या उनके काव्यो मे नदी पर्वत नगर आदि के वर्णन नही आते? नाटको उपन्यासो यहा तक कि लघु कथाओ मे भी बाजार, रेस्तरा, क्लब थियेटर वन मार्ग होटल आदि के व पार्टियो के वणन आते हैं। टामस हार्डी के मेयर आव कास्टर ब्रिज मे मार्ग, रेस्तरा, टी-स्टाल, चाय पार्टी होटल, अनाज की मण्डी नगर-परिसर (Sub urban) के खेतो आदि के विस्तृत वणन है पर वे कोई बुरे नही लगते।[2] बल्कि उनके अभाव मे एक रिक्तता ही प्रतीत होती है दोष तभी है जब वे अनुपात मे अधिक हो या अप्रासङ्गिक हो।

वणनों की प्रत्यक्ष-कल्पता—यह सर्वविदित तथ्य है कि काव्य काव्य है, इतिहास या भौगोलिक सर्वेक्षण का विवरण (Report) नही। अत उसमे पाये जाने वाले वर्णन सजीव प्रत्यक्ष दृश्य से होने चाहियें वृत्तान्त मात्र नही। इस लिये कवि चार बातो का ध्यान रखना है—

१ वणन उद्दीपन विभाव या पृष्ठ भूमि के रूप मे रागवृत्ति से सम्पृक्त हो।
२ वणनो मे देश काल, प्रकृति आदि के औचित्य का निर्वाह हो।
३ वे कल्पना के स्पर्श से रोचक हो।
४ वणन सजीव एव यथार्थ प्रतीत होने चाहियें।

---

१ कीथ संस्कृ० सा० इतिहास (मङ्गलदेव-कृत अनुवाद) पृ० १४१

२ तु० पृ० ११ १३ १३ २२ ३६ ३७ ४३-३१३
पृ० ४० पर माइकल हैन्चार्ड के और पृ० ३२३-२४ पर एलिजाबेथ जेन के शरीर एव आकृति का वणन भी द्रष्टव्य हैं। श्रमिक व्हिटल की थाप्टी का वर्णन (पृ० ३२४) भी तुलनीय है।

इनमें पहले का निर्वाह वाल्मीकि रामायण, कुमारसम्भव, रघुवंश, सौन्दरनन्द-सदृश काव्यों में मिलता है। राम कथा के आरम्भ में इक्ष्वाकु-वंशी क्षत्रियों का प्रभाव वर्णित हुआ है।[1] कुमार-सम्भव के आरम्भ में हिमालय के त्रिविध महत्त्व के निरूपण के[2] पश्चात् कथा का प्रारम्भ होता है। रघुवंश में वर्ण्य सूर्यवंशी राजाओं के उदात्त गुणों की नींव पर[3] कथानक प्रसृत होता है। सौन्दरनन्द के आरम्भ में अश्वघोष ने इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियों द्वारा कपिलवस्तु बसाने की विस्तृत चर्चा की है।[4]

कथा के विकास के लिए भी कवि मध्य में ऋतु आदि का वर्णन करता है जो रस परिपाक और कथानक को नया मोड़ देने में सहायक होता है। रामायण में राम के वियोग में अयोध्या का वर्णन,[5] चित्रकूट में राम-सीता-विहार,[6] युद्ध-काण्ड के आरम्भ में समुद्र का लोमहर्षण वर्णन,[7] कुमार-सम्भव के तृतीय सर्ग में आकालिक वसन्तोदय,[8] पार्वती का वर्णन,[9] रघुवंश में स्वयंवर,[10] वसन्तोदय[11] व ग्रीष्म का वर्णन,[12] शिशुपालवध में द्वारका[13] एवं रैवतक पर्वत का वर्णन[14] इसी प्रकार के हैं। वे प्रसंग के अनुसार आये होने से असामयिक नहीं लगते। राम-वियोग में अयोध्या की अवस्था का वर्णन प्रकृत रस करुण का पोषक है। कुमार-सम्भव का वसन्तोदय मदनदाह की भूमिका होने से अवसर के अनुकूल है। कादम्बरी में महाश्वेता-वृत्तान्त में वसन्त ऋतु-वर्णन, कादम्बरी के प्रासाद की अतुल समृद्धि, चन्द्रापीड के गुरुकुल से लौटने पर नगर की स्त्रियों की चहलबाजी सब प्रासंगिक ही है।

---

1 बाल० ५, १-६
2 कुमा० १, १-१६
3 रघु० १, ६
4 सौन० १
5 बाल० २, ११८
6 वही - ९५
7 वही - ४
8 कुम० ३, २४-३९
9 वही, ३, ५२-५६
10 रघु० ६
11 कुम०, ९, २५-२८
12 वही १६, ४८-५२
13 शिशु० ३
14 वही ४

द्वितीय नियम वर्णनों को अनुचित, अस्वाभाविक वर्णन से रोकने के लिये है। जो वस्तु जिस प्रदेश में होती है और जिस ऋतु में, उसमें उसका वर्णन उचित और यथार्थ प्रतीत होता है। इसी प्रकार जिस श्रेणि या स्थिति व सामर्थ्य के व्यक्ति जो कार्य कर सकते हैं, उन्हीं को वह काम करता दिखाया जाय तो वर्णन सच्चा और मूर्त लगेगा। अन्यथा अनुचित या कोरी गप्प लगेगी। इस कारण आचार्यों ने काव्य में उत्तम मध्यम और अधम प्रकृतियाँ वर्णित की हैं। प्राचीन महापुरुषों से लोकान्तर गमन कराये गये लोकान्तर-गमन की सामर्थ्य उनकी दिखाई। इसके लिये उनका व्यक्तित्व उतना ही महान् वर्णित किया। यही कारण है कि आज न किसी गँवार को पट्टांशुक वस्त्र पहन रेशमी रुमाल से पसीना पोंछते दिखाना दोष बताया है।[1] कालिदास जयदेव आदि द्वारा शिव-पार्वती व राधाकृष्ण की सम्भोग-लीला के वर्णन की कटु आलोचना हुई है।[2] भामह ने मेघ, पवन, चन्द्रमा आदि को दूत बनाने की प्रवृत्ति[3] यन्त्रगज के छल से उदयन को बन्दी बनाने की कथा[4], वेश्या के लिये राजा का किसी सज्जन पुरुष को सताना[5] आदि कथा प्रसङ्गों की

---

१ द्र०अ० ७ टि० ३१ (मक० उ०) १, ७०

२ भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात्। प्रकृतिर्ह्युत्तम-मध्यमाधमभावेन दिव्यमानुष भावेन च विभेदिनी। तथा च केवलमानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्तार्णव लङ्घनादिलक्षणा व्यापारा उपनिबध्यमाना सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति, तत्र त्वनौचित्यमेव हेतुः। —ध्वन्या० पृ० ३३०
तथाहि महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसम्भोग-शृङ्गार-निबन्धनाद्य-नौचित्यं शक्तितिरस्कृतत्वात् ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते। यथा कुमारसम्भवे देवी-सम्भोग-वर्णनम्। —वही, पृ० ३१८

३ अयुक्तिमद्यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः।
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः॥
अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते॥ —भामा० १, ४२-४३

४ अन्तर्योध-शताकीर्णं सालङ्कायननेतृकम्।
तथाविधं गजच्छद्म नाज्ञासीत् स स्व-भूगतम्॥
सचेतसो वनेभस्य चर्मणा निर्मितस्य च।
विशेषं वेद बालोऽपि कष्टं किं नु कथं नु तत्॥ —वही, ४, ४०, ४, ६

५ अभार्योढेन संस्कारमन्तरेण द्विजन्मना।
नरवाहनदत्तेन वेश्यावान् निशि पीडितः॥ —वही ४, ४९

आलोचना की है। काव्य मे अतिरञ्जन होता है पर उसकी सीमा होती है। हाथियो के मदजल से व घोडो के मुख के झाग से नदी बहने की बाते किसको यथार्थ जॅचेगी ?[1]

इसका तात्पर्य यही है कि कल्पना का प्रसार सीमा तक चाहिये जो यथार्थ प्रतीत होता रहे, शास्त्र, दर्शन, इतिहास, पुराण एव तथ्या के विरुद्ध न हो। तभी वणन मूत हो सकते हैं।

काव्य के प्रमुख तत्त्वा मे वस्तु, नेता और रस की गणना होती है। इनमे वणन का विषय नेता सवप्रथम है जिसके अड्ग-प्रत्यड्ग का वणन आलम्बन के रूप म किया जाता है। इसी प्रकार नायिका के रूप और नख-शिख का वर्णन भी काव्य का महत्त्वपूण विषय चला आया है। वाल्मीकि-रामायण मे राम का अड्ग-प्रत्यड्ग सामुद्रिक सिद्धान्ता के आधार पर वर्णित है।[2] कालिदाससदृश पश्चाद्वर्ती महाकवियो ने भी इस परम्परा का पालन किया है।

वर्णन मे उपयोगी अलड्कार

काव्य के वणन प्रेस-रिपोर्टर के स न होकर प्रत्यक्ष दृष्ट मे होने हैं। इसके लिये कवि अनेक अलड्कारो का प्रयोग करता है। रुद्रट ने अर्थालड्कारा का वर्गीकरण करते हुए उन्हे वास्तव, अतिशय, औपम्य और श्लेष इन चार श्रेणियो मे बाटा है। वास्तव का सम्बन्ध वस्तुवणन से है जिसम अतिरञ्जन आदि का स्पश नही रहता।[3] इससे वण्य का यथाथ स्वरूप प्रत्यक्ष होता है। सञ्जीवनीकार के अनुसार वस्तु के अतगत जाति, गुण, क्रिया, आदि सभी वस्तुएँ आती हैं। कवि-कृत कल्पना के वैचित्र्य से वही वस्तु-वर्णन अलड्कार बन जाता है।[4] यह तभी सम्भव है जब कि वस्तु के वणन के लिये प्रयुक्त सभी विशेषण साथक हो।

---

१ तेषा कटतटभ्रष्टैर्गजाना मदबिन्दुभि ।
प्रावर्तत नदीघोरा हस्त्यश्वरथ-वाहिनी ॥ —वही, ४, ३९

२ द्र० लेखक का शो०प० 'सौन्दर्योपमानेषु सामुद्रिक-प्रभाव'। Ind Studies Delhi University, Vol No 1, Dec 1972, pp 75 80

३ अर्थस्यालड्कारा वास्तवमौपम्यमतिशय श्लेष ।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निश्शेषा ॥
वास्तवमिति तज्ज्ञेय क्रियते वस्तु स्वरूपकथन यत् ।
पुष्टार्थमविपरीत निरुपममनतिशयश्लेषम ॥ —रुद्रा० ७ ९-१०

४ यद्वि यावदस्ति जातिगुणक्रियात्मक पदाथजात सवमेवेतद् वस्तु कथ्यते। तदेव कविकल्पितविच्छित्तिसध्रीचीनमलड्कार । —सञ्जीवनी, पृ० १९

वास्तव श्रेणि में रुद्रट द्वारा परिगणित अलङ्कार निम्नलिखित हैं—

सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिवृत्ति, परिकर, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित, एकावली ।[1]

पर यह वर्गीकरण उचित नहीं है । क्योंकि सहोक्ति अतिशयोक्तिमूला होने से इसमें आ ही नहीं सकती । दीपक और व्यतिरेक में औपम्य व्यङ्ग्य रहता है । परिसंख्या में श्लेष का स्पर्श स्पष्ट मिलता है । भाव का सम्बन्ध वस्तु के स्थान पर मनोवृत्ति से है । विषम विरोधमूलक अलङ्कार है । पुनः इन अलङ्कारों का कार्य वस्तु के स्वरूप पर प्रकाश डालने की अपेक्षा प्रभाव आदि बढ़ाना है । इनके स्थान पर तद्गुण, सामान्य, अतद्गुण, पूर्वरूप, भाविक, उन्मीलित, प्रौढोक्ति भी वर्ण्य के बिम्ब निर्माण में सहायक होते हैं ।

जाति—वास्तव श्रेणी के अलङ्कारों में वर्ण्य के बिम्ब-निर्माण में उपयोगिता की दृष्टि से सर्वाधिक उपयोगी जाति है जिसे स्वभावोक्ति के नाम से भी पुकारा जाता है । उसकी परिभाषा ही यह स्पष्ट करती है कि उसका कार्य वर्णनीय पदार्थ या वस्तु की आकृति को अविकल एवं यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना है । साम्य या अतिशय से प्रकृत का वास्तविक स्वरूप अवच्छादित हो जाता है । इसलिए उनमें पदार्थ या रूप या तो कल्पना के रंग में रञ्जित करने की प्रवृत्ति है अथवा दर्पण में दृश्य प्रतिबिम्ब के द्वारा तुलनात्मक रूप से बिम्ब का प्रस्तुत करने की । प्रतिबिम्ब क्योंकि मूल पदार्थ की छाया होता है, इसलिए वास्तविक नहीं होता । इसके अतिरिक्त औपम्य और अतिशय में द्रष्टा और वर्णयिता की मानस प्रतिक्रिया का योग भी रहता है । वस्तुस्वरूप-कथन ही अन्य अलङ्कारों से इसका अन्तर स्पष्ट करता है ।

दण्डी ने वाङ्मय को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति इन दो श्रेणियों में विभक्त करते हुए जाति को प्रथम अलङ्कार घोषित किया है और उसका कार्य विभिन्न अवस्थाओं में वर्ण्य पदार्थों का यथायथरूप प्रकाशित करना बताया है ।[2]

प्राचीन आचार्य इस प्रयोजन के लिए अर्थव्यक्ति नामक गुण को मानते

---

१ रुद्रट० ७ ११-१२

२ नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा ।।　　　—काव्या० २ ८

थे ।[1] परन्तु ध्वनिवादियों ने स्वभावोक्ति अलङ्कार से उसकी गतार्थता मान ली और उसकी पृथक् सत्ता सर्वथा अस्वीकृत कर दी ।[2]

उद्भट ने स्वभावोक्ति को असामान्य रूप में पदार्थ-स्वरूप व्यक्त करने से अलङ्कार माना है ।[3] सम्भवतः इसका आधार यही है कि औपम्य में अतिरञ्जन रहता है, दूसरे रूपसाम्य होने पर भी पूर्ण व्यक्तित्व का जैसा चित्र स्वभावोक्ति से बनता है वैसा उपमादि में नहीं बनता । जैसे—

भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥[4]

इस पद्य में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव के द्वारा कम्बोजों के दाढ़ी वाले मुखों एवं शहद की मक्खियों से भरे उनके छत्तों की परस्पर तुलना से आकृतिसाम्य प्रस्तुत किया गया है। पर इसमें मुख का सिर से लेकर ठुड्डी तक का कैसा रूप था इसका ज्ञान नहीं होता । वस्तुतः बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव में वस्तु का रूप दर्पण में देखे की भांति प्रतीत होता है जब कि स्वभावोक्ति में प्रत्यक्षदृष्ट सा । उसमें प्रतिक्षण परिवर्तित गति का भी बिम्ब होता है ।

उद्भट के कथनानुसार प्रत्यक्षीकृत स्वरूप व्यङ्ग्य होता है पर स्फोट सिद्धान्त के अनुसार वाच्यार्थ[5] बोध के साथ-साथ पदार्थ की आकृति स्पष्ट हो जाने में वह वाच्य ही रहा, व्यङ्ग्य कहां है ?

वस्तुतः स्वभावोक्ति में वस्तु का वास्तविक स्वरूप बिना किसी अतिरञ्जन के प्रस्तुत किया जाता है। यदि वह प्रत्यक्षवद् भासित हो जाय तो स्वभावोक्ति

---

१ वस्तुस्वभावस्फुटत्वमलंकृतिः । —काव्यालसू० ७ १४

२ अथवा ध्वनिः स्वभावोक्त्यलङ्कारेण तदा पुनः । अङ्गीकृत इति सम्बन्धः । —साद० ८ १५

३ क्रियायां सम्प्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम् ।
कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता ॥ —कासास० ३ ५

मृगबालादेः स्वसमुचितं व्यापारं प्रवृत्तस्य ये हेवाकाः स्वजात्यानुरूप्यणाभिनिवेशविशेषास्तदुपनिबन्धः स्वभावोक्तिः । तस्याश्चालङ्कारत्वमसाधारणपदार्थस्वरूप-ध्वननात् । पृ ३४८

४ रघु० ४, ६६

५ तस्मात् वर्णव्यतिरिक्तो वैखर्यादिनाद-सहित-वर्णाभिव्यङ्ग्यः अखण्डः स्फटिकादिवत् पररूपग्राही व्यापकः मनोमात्र-ग्राह्यः स्फोटः अङ्गीक्रियते ।
—माधवशास्त्रि-भण्डारिकृत स्फोटविमर्शिनी, पृ० ८

है अन्यथा नहीं। आधुनिक सौंदर्य प्रतियोगिताओं में प्रतियोगियों की भांति या मालविकाग्निमित्र में मालविका और इरावती जैसे विरल नेपथ्या रङ्ग मञ्च पर आती हैं वह स्थिति स्वभावोक्ति में वर्ण्य वस्तु की है।[1] किन्तु वक्रता को अलङ्कार की कसौटी मानने वाले भामह और कुन्तक जैसे आचार्य इस स्वभावाख्यान मात्र के कारण स्वभावोक्ति को अलङ्कार नहीं मानते। भामह ने अपना अस्वारस्य केचित् से सूचित किया है।[2]

वस्तुतः स्वभावोक्ति का कार्य वर्ण्य का सजीव चित्र प्रस्तुत करना है जो कि अन्य अलङ्कारों से सम्भव नहीं। हाँ चमत्कारिता की अनिवार्यता सभी को इष्ट है।

राममूर्ति ने स्वभावोक्ति की कुछ विशेषताएँ गिनाई हैं। जैसे—उसके प्रयोग में किसी वस्तु (चेतन या जड़ मानव शिशु या पशु) का हूबहू उपस्थापन हो उपस्थापन में अवयवों का संश्लेष हो। संश्लिष्ट उपस्थापन में वस्तु की सभी असाधारण विशेषताएँ जैसे उभर कर आ गई हों।

इस उपस्थापन में कवि की प्रतिभा का आकर्षक संस्पर्श हो पढ़ने में जो सूक्ष्म ब्यौरे पाठक की प्रतिभ चक्षुओं के समक्ष आवें उनसे अन्दाज लगा सकें कि कवि की ग्राहिका प्रतिभा में कितनी सूक्ष्म विशेषताओं को पकड़ने की क्षमता है।[3]

इस कथन में भी उपर्युक्त तथ्य की ही पुष्टि होती है। इसलिये वर्ण्य का यह स्वभावाख्यान चमत्कार पूर्ण होगा तभी अलङ्कार होगा अन्यथा नहीं।

---

१ परिव्राजिका-निर्णयाधिकारे ब्रवीमि सर्वाङ्ग-सौष्ठवाभिव्यक्तये विरल नेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु। —मालवि० पृ० २६

२ स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित् प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा॥ —भामा० २ ९३
अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते॥
स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते॥
शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुते परम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति॥ —वक्रो० १ ११ १३

३ कामास० भू० पृ० १५७ १६०

इसीलिये 'कविमात्रवेद्य रूप और क्रिया का वर्णन'[1] उसका विषय माना गया है। जैसे—

> चल वृष चल वृष चल वीरेश
> हर सर नय वह चल धर्मेश
> चक्र परिभ्रमति नैमि शत नंदति,
> किङ्किणी नि स्वनति वजयती स्फुरति।
> हृष्टोऽसि वीरेश तुष्टोऽसि धर्मेश
> प्रसरति प्रवहण प्रस्थिता वयमहो[2] ॥

इन पङ्क्तियों में शाब्दिक बैलों को हाँकना प्रत्यक्ष सा दिखाई देता है।

व्यक्तिविवेककार ने स्वभावोक्ति को कवि-प्रतिभा के उत्कर्ष और भगवान् के तृतीय नेत्र का स्थान दिया है। विशेषण का प्रधान गुण वे मानते हैं वस्तु को प्रत्यक्ष करने की क्षमता। इसके अभाव में वह केवल बुलपूरक होता है।[3] वर्ण्य का स्वरूप स्पष्ट करने में समर्थ विशेषण ही वस्तुतः स्वभावोक्ति अलङ्कार को सम्पन्न बनाते हैं। उन्होंने इसी प्रसङ्ग में कुन्तक द्वारा स्वभावोक्ति पर उठाई गयी आपत्ति का उत्तर दार्शनिक रूप में दिया है। उनके अनुसार वर्ण्य वस्तु के दो रूप होते हैं—सामान्य और विशिष्ट। इनमें उसका जो विशिष्ट रूप होता है, उसे कवि की ही दृष्टि देखती है। जब कवि रसानुभूति के अनुकूल शब्दार्थ के चिन्तन में लीन रहता है, उसकी नवनवोन्मेष शालिनी बुद्धि त्रैलोक्य के पदार्थों को देखती है। यही वर्ण्य वस्तुओं के स्वभाव या प्रकृति का साक्षात्कार कहलाता है, उसे उपयुक्त शब्दों में प्रत्यक्षवत् उपस्थित करना इस स्वभावोक्ति का कार्य है।

वास्तव में यह कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति है जिसके कारण कवि क्रान्त-द्रष्टा कहलाता है और भुवन भर के पदार्थ उसके लिये करतलस्थित-बदरवत् हो

---

१ दुरूहयो कविमात्रवेद्ययोर्थस्य डिम्भादे स्वयोस्तदेकाश्रययाश्चेष्टा-स्वरूपयो।—सादृ०, पृ० ३६५

२ वी० आर० शास्त्री—विश्रान्तभारतम्। पृ० ३१

३ यत्स्वरूपानुवादैकफलं फल्गु विशेषणम्।
अप्रत्यक्षायमाणार्थं स्पृगप्रतिशोदभवम् ॥
तदवाच्यमिति ज्ञेयं वचनं तस्य दूषणम्।
तद् दृ पूरणायैव न कश्चिदत्र ... ॥ —व्यक्ति० २, ११०-११२

जाते है। सम्प्रेषण या साधारणीकरण के द्वारा पाठक भी उनका साक्षात्कार करता है। इस प्रकार स्वभावोक्ति काव्य बिम्ब के निर्माण में असाधारण रूप से सहायक होती है।[1] उपयुक्त विशेषणों के प्रयोग पर एज़रा पाउन्ड ने भी बल दिया है।[2]

राघवन के अनुसार भामह ने स्वभावोक्ति का खण्डन नहीं किया है। इसके साथ ही वे स्वभावोक्ति में वक्रता का स्पर्श भी मानते हैं।[3] उन्होंने अपने मत के समर्थन में तातार्य का प्रमाण दिया है जो कि स्वभावोक्ति में वक्रता के अस्तित्व के लिये भामह की—

युक्तं वक्रस्वभावोक्त्यासर्वमेवतदिष्यते ।[4]

इस पङ्क्ति को उद्धृत करते हैं। सम्भवतः तातार्य इसका विग्रह वक्रया च स्वभावक्या करते हैं पर यह युक्ति-सङ्गत नहीं है। इसका पूर्वार्द्ध है—

अनिबद्धं पुनर्गाथाश्लोक-मात्रादि यत् पुनः ।

यह दसमें पूर्व चल रहे कथा आदि गद्य काव्यों के विवेचन की तुलना में मुक्तक रचनाओं के प्रसङ्ग में कहा गया है। अतः इसका वास्तविक तात्पर्य वक्रया वा स्वभावानुगतया वा उक्त्या है न कि उन मुक्तक कृतियों के वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति दोनों प्रकारों का समाहार कर लेता है। इसके अनुसार इस प्रकार की रचनाओं की काव्यत्व में गणनामात्र विवक्षित सिद्ध होती है स्वभावोक्ति में वक्रता नहीं।

साहित्यसुधासिन्धुकार ने वक्रोक्ति का अर्थ चमत्कार-पूर्ण उक्ति ही किया है।

वक्रोक्तिश्च चमत्कारिण्युक्ति ।[5]

---

१ व्यवि० २ ११३ ११८, १२०

2 Use no superfluous word, no adjective which does not reveal something Don t use such an expressions as dim lands of peace It dulls the Image
—David Lodge s Twentieth Century Literary Criticism, pp 60

3 For Bhamaha Vakrokti is Alankara and Svabhavkti also which has got its own degree of Vakratamaking it off from Varta is comprised in Vakrokti —SC AS p 102 3

४ भाका० १, ३०

५ सासुसि० पृ० २१

इस स्थिति के विषय में अलङ्कारसर्वस्वकार,[1] मम्मट,[2] भोज, शोभाकर सभी के विचार मिलते-जुलते हैं। पहला जहाँ सवसामान्य व्यवच्छेद के लिये "सूक्ष्म" और "यथावत्" इन शब्दों का प्रयोग करता है वहाँ दूसरा "तदेकाश्रयो" के द्वारा वर्ण्यमात्र में पाई जाने वाली स्वभाव स्थिति का निर्देश करता है। शोभाकर कवि-मात्र-वेद्य सूक्ष्म स्वभाव को अलङ्कार का विषय मानता है[3] तो विश्वनाथ भी उसका ही समर्थन करता है[4]। हेमचन्द्र भी उस अवस्था को कविमात्र का अनुभवैकगोचर मानते हैं[5]। नरेन्द्रप्रभ सूरि स्वभावोक्ति के विषय में वर्ण्य की शारीरिक बनावट, आकृति, चेष्टा एवं मुद्रा को भी लेते हैं और कुमार सम्भव में शर-प्रहारोद्यत काम की मुद्रा को यथार्थ स्थिति मानते हैं। इस प्रकार सारी विशेषताओं को देखते हुए—

"गोरपत्य बलीवर्दस्तृणमत्तिमुखेन स ।"

यह वचन हर किसी बैल का स्वभाव होने से स्वभावोक्ति का विषय नहीं बन सकता। किन्तु—

---

१ सूक्ष्म वस्तु-स्वाभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्ति । अस०, पृ० ६६४

२ स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादे स्वक्रिया-रूप-वर्णनम् ।
स्वयोस्तदेका श्रययो । रूप वर्ण संस्थानं च ।—का० प्र० का० १०, १११

३ द्विविधो वस्तुनः स्वभावः स्थूलः सूक्ष्मश्च । तत्र कविपितृमात्रगोचरः स्थूलः । तस्य वर्णने न कश्चिदलङ्कारः । सर्वस्य काव्यस्य स्वभावोक्तिप्रसङ्गात् । सम्यग् वर्ण्यमानस्तु स्वभावः सूक्ष्मः न तु महाकविगोचरः ।
—अर०, पृ० १८४

४ स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम् । सार०, १० ९३

५ अर्थस्य तादवस्थ्यमिति । सानुभवैकगोचरा अवस्था यस्य सतस्य भावस्तादवस्थ्यमिति । अयमर्थ — कवि प्रतिभया निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष-कल्पया विषयीकृता वस्तु स्वभावा यत्र वर्ण्यन्ते ।
—कानुवि० पृ० ३७९-८०

६ सूक्ष्म कविमात्रा (च) गोचरो यो वस्तुनः सन् विद्यमानो भाव परिस्पन्दविशेषस्तस्य वर्णनं सुधा-मोदरया गिरा प्रकाशन सा स्वभावोक्ति । इयं च संस्थानावस्थानव्यापारादिभिः स्वरूपैर्मुग्धाङ्गना-डिम्भतिर्यङ्नीचादिभिराश्रयैर्देशकालशक्तिसाधनादिभिश्च हेतुभि रनेकधा भिद्यते । सदक्षिणापाङ्ग (कुम० ३, ७०)
अत्र धनुर्धरसंस्थानमीदृगेव स्यादिति । अमहो०, ८, ८२, पृ० ३२५

तुषार-संघातशिला खुराग्रैः समुल्लिखन् दर्पकलः ककुद्मान् ।
दृष्टः कथञ्चिद् गवयैर्विविग्नैरसोढ-सिंह-ध्वनिरुन्ननाद ॥[1]

तथा—

मदोदग्रा ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः ।
लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम् ॥[2]

इन दोनों पद्यों में शिव के नन्दी तथा साँडों की यथार्थ प्रकृति चित्रित हुई है।

अर्थव्यक्ति व स्वभावोक्ति मे अन्तर

भोज ने अर्थव्यक्ति का जो लक्षण दिया है उसके अनुसार स्वभावोक्ति में उसमें कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता[3]। इस कारण विश्वनाथ ने स्पष्ट रूप से उसकी स्वभावोक्ति में कृतार्थता मान ली है[4]। परन्तु भोज ने दोनों में अन्तर यह माना है कि अर्थव्यक्ति में वस्तु के स्थायी गुण और स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण होता है जब कि स्वभावोक्ति में परिवर्तित स्थिति का एवं चेष्टाओं का भी।[5] जहाँ तक काव्य-बिम्ब की सिद्धि का प्रश्न है, दोनों ही इस प्रयोजन के साधक हैं।

स्वभावोक्ति में अन्य अलङ्कार का स्पर्श नहीं होता। यह पक्ष राघवन्

---

१ कु० म० १, ५६

२ रघु० ४, २४

३ तु० अर्थव्यक्ति स्वरूपस्य साक्षात्कथनमुच्यते। —सक०, १, १८
स्वरूप स्वमसाधारण कवि-प्रतिभैकगोचर चमत्काररूप तस्य साक्षात्-कथनम् कविप्रतिभा-वशात् साक्षात्कारसोदर-प्रतीतिजनकपदवत्त्व सदभस्यार्थ-व्यक्तिनामा गुण अर्थो यथोक्तस्तस्य व्यक्ति प्रत्यक्षायमाणता।
—रद०, ७६ पृ०

नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुन।
स्वेभ्य स्वेभ्योनिसर्गेभ्यस्तानि जातिं प्रचक्षते ॥ सक०, २, ४

४ अर्थव्यक्ति स्वभावोक्त्यलङ्कारेण। अङ्गीकृत इति सम्बन्ध।
—सा० द०, पृ० २६८

५ अर्थव्यक्तेरिय भेदमियता प्रतिपद्यते।
जायमानप्रिय वक्तिरूप सा सार्वकालिकम् ॥ —सक० २, ५

का है¹। सम्भवत उनका आधार यह मन्य है कि अन्य अलङ्कार वक्रतामूलक हैं, उनका पुट होने पर स्वभावाख्यान नहीं रहेगा। परन्तु ऐसा मानना तथ्य का अपलाप होगा। महाकवियों के अनेक स्वभावोक्ति-प्रयोग ऐसे हैं जहा कि अन्य अलङ्कारों का पुट स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उदाहरण के लिये सर्वप्रथम वाल्मीकि-रामायण के निम्न पद्यो को लें—

सिंहोरस्कं महाबाहुं पद्म-पत्र निभेक्षणम् ।
आजानुबाहुं दीप्तास्यमतीव प्रियदर्शनम् ॥
गजविक्रान्तगमनं जटामण्डलधारिणम् ।
सुकुमारं महासत्त्वं पार्थिव-व्यञ्जनोचितम् ॥
राममिन्दीवरश्यामं कन्दर्पसदृशप्रभम् ।
बभूवेन्द्रोपमं दृष्ट्वा राक्षसी काममोहिता² ॥

स्वभावोक्ति के लक्षण के अनुसार राम के अवयवादि का यथार्थवर्णन होने से यह स्वभावोक्ति का विषय है। परन्तु इन पद्यों में "सिंहोरस्क", "पद्मपत्रनिभेक्षणम्" 'गजविक्रान्तगमन' "इन्दीवरश्यामम्" "कन्दर्पसदृश-प्रभम्" सदृश विशेषण उपमालङ्कार साथ में लिये हैं जो कि स्वभावोक्ति को अनुप्राणित कर रहा है। स्वभावोक्ति का कार्य वर्ण्य का शब्दचित्र प्रस्तुत करना होता है, वह कार्य यहा भी हो रहा है। राम के वर्ण अङ्गरचना, गुण, रूप, प्रभा इनका ही यहाँ चित्रण है। इसी प्रकार—

सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं महोदरी ।
विशालाक्षं विरूपाक्षी सुकेशं ताम्रमूर्धजा ॥
प्रियरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वरा ।
तरुणं दारुणा वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी ॥
न्यायवृत्तं सुदुर्वृत्ता प्रियमप्रियदर्शना ।³

इन पङ्क्तियों में राम और शूर्पणखा के अङ्ग, रूप, चेष्टा, गुण, आदि का तुलनात्मक चित्र प्रस्तुत किया गया है। अतः यहा स्वभावोक्ति भी है परन्तु

---

1 The Word 'Sakshad' implies that no artificial aid of a figurative flourish shall be used in this Poetic figure
—SC AS p 103
सम्भवत उनका संकेत रुद्रट के निरन्तर आदि विशेषणों की ओर है जो वास्तव के हैं। —देखो रुका० ६ १०

२ वारा० ३ १७, ७-६

३ वही, ३, १७, १०-१२

वैपम्य स्पष्ट होने से विषम अलङ्कार व्यङ्ग्य है। बाण भट्ट के अनेक वणन स्वभावोक्ति के साथ साथ उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों की छटा मध्य म लिय हुए है। जैसे—

इन्दुद्रुमपरिजनितदेहया पृष्ठभागनिपतितैर्मदनदहन विह्वलत्हृदय न्यस्तहस्तनख मयूखच्छलेन छिद्रितमिव शशिकिरण उच्छाय-पाण्डुरया स्व विनाशात्पातान्यतया मन्त चन्द्रकान्तयव चन्दनलेखिकया रचितललाटिकम ईषत्तनस्य परिवृत्त-ताम्रेणानवरत रोदन-ताम्रेण प्राणापगमेऽपि जाताश्रुक्षयतया कथिरमिव क्षरता मदनशर शल्यवेदनाकूणितत्रिभागेन नातिनिमीलितेन लोचन युगलेन मत्तोऽतिप्रियतरस्तवापरो जनो नास्ति' इति कुपितेनैव जीवितेन परि त्यक्तम मन्मथव्यथया महेतानमून स्वयमिवा सज्य निश्चलनता-मुखमनुभव न्तम रचितचन्दन ललाटिकात्रिपुण्डकम धृतसरसबिसमूत्रयज्ञोपवीतम अंसावसक्त कदलीगर्भ-पत्र चारु चीरम एकावली विशालाक्षमालम अविरलाभनकपूरक्षोद सम्मग्रवनम आबद्धमृणालरक्षाप्रतिसर मनोहरम मनोभवव्रतवपमास्थाय मसमा गमम त्रमिव साधयन्तम ।[1]

इस वणन मे कवि ने मृत पुण्डरीक जिस मुद्रा म लेटा हुआ था जसा उसका वेष था मृत्यु म पथराकर जैसा उसकी आखे लग रही थी सबका यथा—वत शब्दचित्र प्रस्तुत किया है। बीच बीच म उत्प्रेक्षा सहोक्ति परिणाम अलङ्कारो का पुट है। इस कारण यह नही कह सकते कि यहा स्वभावोक्ति नहा है।[2]

ऋतु-वणन भी यदि प्राकृतिक व्यापार का सही चित्र प्रस्तुत करता हो तो स्वभावोक्ति का सुन्दर उदाहरण सिद्ध होता है। रामायण से उध्दत हेमन्त एव वर्षा व शरद के वणन इसके जीवित प्रमाण हैं। ऋतुसंहार म ग्रीष्म ऋतु के प्रसङ्ग म सन्तप्त प्राणियो की चेष्टाएँ सर्वथा चित्रमय हैं। यथा—

> तृषा महत्या हतविक्रमोद्यम
> श्वसन मुहुर्दू रविकारिताननः ।
> न हन्त्यदूरेऽपि गजान मृगेश्वरो
> विलोल जिह्वश्चलिताग्रकेसरः ॥[3]

---

१ का० पृ० ३०६

२ विशप के लिए द्र०
Bhardwaj Role of Svabhavokti in Poetic Image The Vedic Path (Hardwar) Dec 1980

३ ऋतु० १ १४

इस पद्य मे गर्मी के कारण सन्तप्त सिंह का यथार्थचित्र प्रस्तुत किया गया है।

ज्वलति पवनवृद्ध पर्वताना दरीषु
स्फुरति पटुनिनादै शुष्क-वशस्थलीषु ।
प्रसरति तृणमध्ये लब्धवृद्धि क्षणेन
ग्लपयति मृगवर्गं प्रान्तलग्नो दवाग्नि ॥[1]

यह पद्य वन के एक भाग मे लगी भीषण अग्नि का प्रचण्ड रूप प्रस्तुत करता है। साथ मे फूटती चिनगारियो की चट-चट ध्वनि का अनुकरण "स्फुटति पटुनिनादै" इन टकार-बहुल ध्वनियो मे होने के कारण ध्वनिचित्र है। भवभूति का—

निष्कूजस्तिमिता क्वचित् क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वना
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नय ।
सीमान प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसो यास्वय
तृष्यद्भि प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रव पीयते ॥[2]

इस प्रकार काव्य-शास्त्र मे स्वभावोक्ति अलङ्कार की मान्यता का उद्देश्य वर्ण्य वस्तु को प्रत्यक्षवत् उपस्थित करना ही है।

भाविक— सामान्य अलङ्कारो मे एक भाविक भी है जिसका स्वरूप भी स्वभावोक्ति की ही भाति वर्ण्य वस्तु का प्रत्यक्षीकरण है। स्वभावोक्ति से इसकी यह विशेषता है कि जहाँ उसमे प्रकृत मे वर्णनीय वस्तु का यथार्थ वर्णन के द्वारा प्रत्यक्षीकरण होता है, भाविक मे भूत और भविष्य मे होने वाली घटना को वर्तमान की भाति प्रत्यक्ष किया जाता है।

इस अलङ्कार को मान्यता तो प्राचीन नवीन सभी आचार्यों ने दी है पर दण्डी और भामह दोनो का मत अन्य से पृथक् है। वे दोनो इसे प्रबन्धव्यापी गुण मानते हैं। विषय का प्रत्यक्षीकरण उन्हे भी मान्य है। भामह ने इसके लिए तीन बाते आवश्यक गिनाई है—१ विलक्षण उदात्त एव विस्मयकारक कथावस्तु हो, कथा का सभी प्रकार अभिनय किया जाय शब्द असन्दिग्ध हो।[3]

---

१ ऋतु० १ २५
२ उत्त०, २ १६
३ भाविकत्वमिति प्राहु प्रबन्धविषय गुणम् ।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविन ॥
चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वकथाया स्वभिनीतता ।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतु प्रचक्षते ॥ —भाका०, ३, ५३-५४

श्रव्य काव्य के प्रसङ्ग में अभिनय से भामह का आशय स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः कथानक में वर्णित व्यापार का अनुरूप चेष्टाओं से संकेत किया जाय यदि यही उनका आशय है तो निश्चय ही आधुनिक बिम्बवाद की धारणा व विचार से उनका मत भी मिल जाता है। क्योंकि शब्दचित्र में गत्यात्मकता आवश्यक मानी गई है और गत्यात्मकता क्रिया में ही आती है। कुछ बातें दण्डी ने भी दूसरे शब्दों में भाविक के लिए अपेक्षित मानी हैं—१ विभिन्न कथाएँ परस्पर एक दूसरी की पोषक हों। २ विशेषण साभिप्राय हों, ३ वर्ण्य का अवसरानुरूप वर्णन।

गम्भीर विषय भी उपर्युक्त क्रम से अभिहित होने से स्पष्ट हो जाय।[1]

दण्डी के मत में विषय के प्रत्यक्षवत् अवभासन पर बल नहीं दिया गया है। उनकी अपेक्षा उद्भट द्वारा दिये गये लक्षण में शब्द योजना की प्रासादिकता में भूत और भविष्य के वस्तु का प्रत्यक्षीकरण अपेक्षित माना गया है।[2] प्रतिहारेन्दुराज ने इसके लिए भाव में सम्बन्ध आवश्यक बताया है। उनके अनुसार शृङ्गारादि रसों में सम्बद्ध चारों वर्गों की सिद्धि का उपाय भूत कवि का आशय श्रोता या सामाजिक का उसकी भावना के अनुसार काव्य के प्रतिबिम्ब के रूप में प्रत्यक्ष हो जाता है।[3] यहाँ प्रतिबिम्ब के निर्देश से बिम्ब की भावना की स्वीकृति स्वयं हो गई। क्योंकि बिम्ब के अभाव में प्रतिबिम्ब ही सम्भव नहीं है।

अलङ्कारसर्वस्वकार,[4] सञ्जीवनीकार[5] योगियों की भाँति कवियों को

---

१ भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि संस्थितः ॥
परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम्।
विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना ॥
व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद् गम्भीरस्यापि वस्तुनः ॥ —काद० २ ३६४ ६६

२ प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः।
अत्यद्भुताः स्यात्तद् वाचामनाकुल्येन भाविकम् ॥—कासास० ६ ६ (७३)

३ कास सवृ० पृ० ४०७ ४०८

४ असं०, पृ० १९१-९६

५ लोकयात्रायां लौकिकाय प्रत्यक्षीकरणे देशकालादि-व्यवधानादतीन्द्रियेऽर्थे योगिनाम् ऐकाग्र्यात्मक भावनारूपं। साक्षात्करण-सामग्री काव्यार्थसाक्षात्करणे काव्यतत्त्वविदामपि भावना स्वभावैव। —सजी० पृ० २०४ ५

भी भावना से वस्तु का प्रत्यक्षीकरण मानते हैं। स्वभावोक्ति में वस्तु-संवाद होने से हृदय-संवाद पर आश्रित भाविक उससे सर्वथा पृथक् है। मम्मट के स्पष्टीकरण में नागेश ने भी भाविक में भावना को मुख्य माना है।[1] विश्वनाथ के अनुसार भाविक में अद्भुत पदार्थों का ही प्रत्यक्षीकरण होता है।[2] विश्वनाथ देव गूढ आशय की अभिव्यक्ति में भाविक मानते हुए भोज से सहमत हैं।[3] शोभाकर के अनुसार भाविक में शब्दप्रयोग से भी प्रत्यक्षीकरण सम्भव है पर इसके वर्ण्य की विलक्षणता, पदों की प्रासादिकता एवं वाक्य में अव्यवहितता, कवि से विषय-प्रतिपादन-नैपुण्य अपेक्षित है।[4] अजितसेन भी भावना पर ही बल देता है।[5] इस प्रकार यह मनोविज्ञान से सम्बद्ध अलङ्कार है जो कि अलङ्कार-क्षेत्र में भी भावना के साधारणीकरण को आवश्यक मानता है। अलङ्कार-मणिहार में भी यही बात दोहराई गई है।[6]

---

१ अभिप्रायो लौकिक-प्रत्यक्षविषयत्वेन प्रतिपादनेच्छा । न चैव स्वभावोक्ति । तत्र वस्तु-धर्मो वैचित्र्याधायकः । इह तु कवेस्तत्ति बद्धस्य वाऽभिप्राय इति विशेषात् ।

—का० प्र० उ०, पृ० ५७६

२ साद०, पृ० ३६५

३ कैश्चित्तु अतिगूढस्य वस्तुनो भावोक्तिर्भाविकम् ।

—सामुसि०, पृ० ४८५

तु०—स्वाभिप्रायस्य कथनं यदि वाऽप्यन्य-भावना ।

व्यपदेशे वा वस्तु त्रिविधं भाविकं विदु ॥ —सकं०, ४, ८६

रसण वलिअ दढक विअन्धक दीहर सुपरिणाहम ।

होइ घरे साहीण मुसल धण्णाण महिलाणम् ॥ —वही, (उ०) २३३

अत्र मेद्राभिप्रायेण मुसलोक्तेरन्यभावना ॥ —रद०, पृ० ५४६

४ अर०, पृ० १८६-८७

५ तथा च प्रत्यक्षायमाणत्वं भावनया पौनःपुन्येन चेतसि निदर्शनाद् घटत एव । यथा—

पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भेद्ये ।

मयि च निमीलित-नयने तथापि कान्तानन व्यक्तम् ॥

इत्याद्यदृश्यमानार्थेऽपि प्रत्यक्षायमाणत्व-सम्भवात् ॥ —अचि०, ४, ३०४

६ तथा च भावनाया प्रकर्षेण घटत एव प्रत्यक्षायमाणत्वं भूत-भाविनोरप्यर्थयो ।

—अमहा० भा० ३, पृ० ३१८

तद्गुण—किसी वस्तु के अपना गुण छोड़कर अन्य वस्तु के उत्कृष्ट गुण अपनाने के वर्णन में तद्गुण बनता है।[1] इसके बिम्ब संश्लिष्ट होंगे। पहले वस्तु का प्राकृतिक वर्ण आदि दिखाई देगा पश्चात् परिवर्तित। जैसे शिशुपालवध में नखों की कान्ति से मुक्तामाला का रक्तवर्ण हो जाना वर्णित है।[2]

पूर्वरूप—वस्तु के अन्य गुण छोड़कर सहज गुण पुनः अपना लेने के वर्णन में बना पूर्वरूप भी वर्ण्य का दुहरा बिम्ब प्रस्तुत करता है।[3] पहला परिवर्तित रूप का होगा, दूसरा सहज का। जैसे अरुण की लालिमा से बदले रंग वाले सूर्य के घोड़ों का इन्द्रनील मणियों के प्रकाश में पुनः हरा हो जाने का वर्णन।[4]

उन्मीलित—अन्य गुण में निमीलित वस्तु के पुनः उद्भिन्न हो जाने की चर्चा में उन्मीलित बनता है।[5] यह भी परिवर्तित एवं सहज दोनों रूपों के मिश्रबिम्ब प्रस्तुत करता है। जैसे—पक्षियों के घोंसले में बैठने, कमलों के मुर्झाने व मालती के खिलने से छिपे सूर्य का भान होना। आकाश में मेघ होने से अनुदय सूर्य का इस प्रकार उन्मीलन दिखाया गया है।

अतद्गुण—अपने उत्कृष्ट गुणों के कारण कोई वस्तु यदि अन्य का गुण ग्रहण करती न दिखाई जाय तो अतद्गुण अलङ्कार बनता है।[7] जैसे हंस के रङ्ग में गङ्गा या यमुना में नहाने से किसी प्रकार के न्यूनाधिक्य न होने के वर्णन में।[8]

---

१ तद् गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्ट-गुणग्रहः। —सा॰द॰, १० ६०

२ अजस्रमास्फालितवल्लकी-गुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशु भिन्नया।
पुरः प्रवालैरिव पूरिताधया विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया। —शिशु॰, १ ६

३ पुनः स्वगुणसम्प्राप्तिः पूर्वरूपमुदाहृतम्। —कुवल॰ १४२

४ विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः॥ —वही, पृ॰ १४३

५ भेदस्य स्फूर्तावुन्मीलितम्। —कुवल॰ १४८

६ निलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पङ्कजैः।
विकसन्त्या च मालत्या गतोऽस्तं ज्ञायते रविः॥ —वारा॰ ४ २८, ५२

७ तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः। —सा॰द॰ १०, ६१

८ गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः।
राजहंस तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते॥ वही

प्रौढोक्ति—यह सर्वथा कल्पना-रूप अलङ्कार होता है। किसी उत्कृष्ट गुण या कारण न होने पर भी किसी वस्तु में कारणता की कल्पना करने में इसकी स्थिति होती है। जैसे तमालवृक्षों की नीलिमा का कारण यमुना के तट पर उत्पत्ति को बताना।[1] इसमें इस प्रकार की कल्पना में कार्य का बिम्ब बनता है।

यथासङ्ख्य—यह बिम्ब पदार्थों का पूर्वनिर्दिष्टक्रम के अनुसार रखने से बनता है।[2] एक निश्चित क्रम के कारण इससे बिम्ब-योजना अच्छी रहती है। जैसे—

प्रियासु बालासु रतक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितं च बिभ्रतम्।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च ॥[3]

यहाँ बाला और रतक्षमा में अनुरूप राग को द्विपत्रित एवं पल्लवित कहा है। चञ्चूपुट और पञ्जों में भी वही क्रम निभाया है। राग में अङ्कुर का आरोप करने से यह संश्लिष्ट बिम्ब बन गया है।

शृङ्खलामूलक अलङ्कार

शृङ्खलामूलक अलङ्कार यद्यपि वर्ण्य का पूर्ण बिम्ब तो प्रस्तुत नहीं करते परन्तु अस्पष्ट चित्रों की एक माला सी अवश्य निर्मित करते हैं। पाठक या श्रोता को स्मृति द्वारा उन पदार्थों के रूप की कल्पना करनी पड़ती है, तब स्पष्ट बिम्ब स्फुरित होता है। इस प्रकार धूमिल खण्ड-बिम्बों की शृङ्खला बन जाती है।

पर्याय—इस श्रेणी में पहला अलङ्कार पर्याय है जिसमें एक वस्तु का क्रमशः अनेक स्थानों में घूमना या अनेक का क्रम से एक में होने का वर्णन होता है।[4] इस प्रकार इस अलङ्कार का बिम्ब गत्यात्मक होता है। जैसे—

नन्वाश्रय-स्थितिरियं तव कालकूट
केनोत्तरोत्तर-विशिष्ट-पदोपदिष्टा।

---

१ प्रौढोक्तिरुत्कर्षाहेतौ तद्धेतुत्व-प्रकल्पनम्।
कचा कलिन्दजातीरतमालस्तोममेचकाः। —कुवल० १२५

२ यथासङ्ख्यमनूद्देशं क्रमिकाणां क्रमेण यत्। वही।

३ नैष० १, ११८

४ क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्।
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते। —साद० १०, ८०

प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम्[1] ॥

इसमें वाक्यार्थबोध में समुद्र-मन्थन, विष के उदय से देवासुरों की विकलता, शिव का विषपान, उनके कण्ठ का काला पड़ना, ये स्मृति एवं पुराण कथा आदि में स्मृति-बिम्ब और आद्यबिम्ब बनते हैं। अन्त में दुर्जनों के वचनों का श्रव्य बिम्ब, सबको मिलाकर भाव-बिम्ब बनता है।

एकावली—इसमें शब्द या अर्थ व्यापोह से पदार्थों का उत्तरोत्तर विशेष्य विशेषण-भाव वर्णित होता है।[2] इस प्रकार उत्तरोत्तर बिम्बों की शृङ्खला बनती है। जैसे—

पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गनारूपपरिष्कृताङ्ग्यः ।
रूपं समुन्मीलित-सद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥[3]

कारणमाला—इसमें कारण उत्तरोत्तर शृङ्खला रूप में कार्य रूप में बदलता जाता है।[4] कारण का कार्य रूप में बदलना बौद्धिक व्यापार है। अतः उसमें बौद्धिक बिम्ब ही संभव है। जैसे—

दारिद्र्याद् ह्रियमेति ह्री-परिगतः सत्त्वात् परिभ्रश्यते
निःसत्त्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।
निर्विण्णः शुचमेति शोक-निहतो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम्[5] ॥

माला-दीपक—इसमें शृङ्खला क्रम से प्रकृत और अप्रकृतों का एक धर्म में सम्बन्ध दिखाया जाता है।[6] सम्बन्धित पदार्थों के स्थूल होने से उनका बिम्ब ऐन्द्रिय होता है। किन्तु प्रतिक्रिया बौद्धिक होती है। जैसे—

सङ्ग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद् यत् समासादितम् ।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ।[7]

---

१ का०प्र०का० (उ०) ११३
२ यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहने एकावली। —अम०, पृ० ५२८
३ वही
४ पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं हेतुत्वे कारणमाला। —वही, पृ० ५२३
५ मृच्छ० १, १४
६ पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकम्। —अम०, पृ० ५३०
७ वही, पृ० ५३१

सार—इसमें पदार्थों को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बताया जाता है।[1] इस प्रकार कई खण्ड बिम्बों से एक सम्मिलित प्रभावात्मक बिम्ब बनता है। जैसे—

> राज्ये सारं वसुधा वसुधायामपि पुरं पुरे सौधम्।
> सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनाऽनङ्ग-सर्वस्वम्॥[2]

गूढार्थ-प्रतीति-मूलक—इस श्रेणी के अलङ्कार मनोविज्ञान-मूलक अधिक हैं। इसलिये वाच्यार्थ का बिम्ब बनने के पश्चात् प्रतिक्रियात्मक संवेदन का प्रभावशाली मानस बिम्ब बनता है। जैसे समाधि से चिन्तन के साथ ही कार्य-सिद्धि वर्णित होती है।[3] इसमें पहले वाच्यार्थ का बिम्ब और पश्चात् हर्षानुभूति का भावबिम्ब बनता है। जैसे दशरथ के पुत्र के अनुरूप वधू पाने की इच्छा होते ही इस प्रकार की सूचना लिये ब्राह्मण का पहुँचना बाह्य की अपेक्षा मानस व्यापार की ही प्रधानता रखता है।[4] पुत्रवधू प्राप्ति की इच्छा एवं सूचना पाने में हर्षानुभूति दोनों ही मानस हैं। इस अलङ्कार का विपरीत विषादन है जिसका आधार अभीष्ट के विरुद्ध कार्य होना है।[5] जैसे भ्रमर के प्रभात में कमल वन के विकास की प्रतीक्षा के विरुद्ध वन्य गज का कमल की बेल को ही उखाड़ फेंकना विषाद का मूल है।[6] प्रहर्षण बिना ही यत्न के अभीष्ट सिद्धि के वर्णन में होता है।[7] उसमें भी हर्षानुभूति ही होती है। अवज्ञा लेश अनादर सदृश अलङ्कार इसी प्रकार के मानसिक अवस्था की अभिव्यक्ति करते हैं। आक्षेप भी आपाततः विरोध की भावना लिये होने पर भी विशेष की विवक्षा में आन्तरिक अनुभूति पर ही प्रकाश डालता है।

---

१ उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते। —सा॰द॰ १०, ७६

२ वही, पृ॰ ३६६

३ समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद् वस्त्वन्तरागमात्। —वही, १० ८६

४ अविवेष सदृशी स च स्नुषा प्राप चैनमनुकूलवाग् द्विजः।—रघु॰ ११ ५०

५ इष्यमाण विरुद्धार्थ-सम्प्राप्तिस्तु विषादनम्। —कुव॰ १३२

६ रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥ —वही, पृ॰ १४९

७ उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम्।
तथा—वाञ्छितादधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम्॥ —वही, १३०-३१

रसवत्, प्रेय, ऊजस्वी, समाहित ये सभी रस, भाव, रसाभास, भावाभास, एव भावोदय आदि भावानुभूति पर आश्रित अलङ्कार ही हैं। भले ही अङ्गत्व प्राप्त करके वे अलङ्कार बन जायें, उनका अनुभूयात्मक रूप तो तब भी सुरक्षित रहता ही है। इसलिये उनके स्थूल बिम्ब सभव नही हैं।

शोभाकर आदि आचार्यों ने अनेक नये अलङ्कारो की कल्पना की है जिन मे अचिन्त्य, वैधर्म्य सदृश की चर्चा यथास्थान हो चुकी है। अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलङ्कारो से पृथक् किये गये नये अलङ्कारो मे बिम्ब-सिद्धि मूल अलङ्कारो मे ही सम्पन्न समझ लेनी चाहिए। क्योकि सभी के उदाहरण देने मे ग्रन्थ का कलेवर बहुत विस्तृत हो जायेगा।

तेरहवाँ परिच्छेद

छन्द और सङ्गीत का काव्य-बिम्ब में योग

पद्य काव्य—रचना-प्रकार की दृष्टि से किये गये काव्य भेदों में गद्य, पद्य और मिश्र इन तीन की गणना होती है।[1] उनमें छन्दोबद्ध रचना पद्य कहलाती है।[2] गत्यर्थक पद् धातु[3] से व्युत्पन्न होने के कारण पद्य का सम्बन्ध सङ्गीत और लय से है। क्योंकि उसमें आरोह, अवरोह और लय रहती है। वचन या वर्ण व्यापार के कारण बनी गत्यात्मक रचना वृत्त कही जाती है। वृत्त का ही अन्य नाम छन्द है। छन्द की व्युत्पत्ति छद् धातु से की जाती है जिसके अर्थभेद से अनेक रूप हैं। वे निम्न प्रकार से हैं—

१ "छन्दांसि छादनात्"[4] यास्क ने अपवारणार्थक[5] छद् धातु से व्युत्पत्ति की है।

२ संवरणार्थ छद् धातु से भी की जा सकती है[6]। छन्द या लयताल से रचना की त्रुटि को ढका जा सकता है। वेद-मन्त्रों के उच्चारण में वर्णों की न्यूनता दूर करने के लिये विधान किया गया है कि यण् आदि सन्धि के स्थान पर इयङ् आदि करके वर्णसंख्या पूर्ण की जा सकती है। इस प्रक्रिया को व्यूह कहा जाता है।[7] जैसे 'वरेण्य" को 'वरणिय" "वीर्याणि" को "वीरियाणि" त्र्यम्बक" को "त्रियम्बकम्" आदि।

---

१ पद्य गद्य च मिश्रं च । —सक० २, १८

२ छन्दोबद्धपदं पद्यम् । —साद० ६, ३१४

३ पाधा० ११६६

४ छन्दांसिच्छादनात् । —यानि० ७ १२

५ छद अपवारणे पाधा० १८३४

६ छदि संवरणे पाधा० १५७७

७ व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु सम्पद ।
क्षैप्रवर्णाश्च संयोगान् व्यवेयात् सदृशैः स्वरैः ॥
क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान् सान्तःस्थान् संयोगान् इत्यर्थः । व्यवेयात् व्यवधानं कुर्यादित्यर्थः । सदृशैः समानैः स्वरैः ।
—ऋक्प्रा०उ०भा० १७, उ०भा० २२-२३

३ अभिनव गुप्त ह् लादनाथक छद धातु से छन्द शब्द की निष्पत्ति मानत हैं। इसके अनुसार आन दात्मक रसोदबोध म छ द सहायक सिद्ध होता है। इसस काव्य बिम्ब के निर्माण म उसकी उपयोगिता स्वत सिद्ध हो जाती है।

४ ऊजनाथक छद् धातु मे छ द[२] की निष्पत्ति स्वीकार करें तो उससे काव्य म चमत्कार-वृद्धि की उपलब्धि होती है। इसके अनुसार छ द स रचना प्राणवती या बलवती हो जाती है।

छन्दो का महत्त्व

भरत ने छ द को काव्य का शरीर घोषित करत[३] हुए सूचित किया है कि शब्द-योजना करने पर भी छ द क बिना काव्य म सौष्ठव नहा आता। नाटय शास्त्र का विषय दश्यकाव्य तक सीमित होने पर भी नाटकाद्येषु काव्यपु[४] इन शब्दो म आद्य शब्द के द्वारा श्रव्य का समाहार भी कर हा दिया है। वस्तुत काव्य को श्रव्य बना कर भाव विशेष की अभिव्यक्ति ही छ द का प्रयोजन है। अ यथा रस या भाव विशेष म किसा निश्चित छ द के ही प्रयोग का[५] निर्देश देने का क्या प्रयोजन हो सकता था?

अखौरी ब्रजन दन प्रसाद का विचार है कि आरम्भ म लिपि का आविर्भाव न होने से कृति को स्मरणीय बनाने के लिय छ द का प्रयोग किया गया था। क्योकि छ दोबद्ध रचना को कण्ठस्थ करना गद्यबद्ध रचना की अपक्षा सरल हाता है। ग्रीक काव्य होमर भी इसी दष्टि स लिखा गया था और भारत म वेदा एव रामायण महाभारत की रचना भी कण्ठस्थ करन म सरलता के कारण छ दो बद्ध हुई। सङ गीत नृ य और छ दोबद्ध पदो को मिलाकर काव्य का ज म हुआ। ऋग्वेद और सामवेद च दोबद्ध होने स सङ गीत प्रधान है। बाद म भी यह प्रवत्ति बनी ही रही है।[६]

---

१ ल्हादनार्थस्य च्छ (च्छदेश्छ) द इति स्मरत सौकुमार्य-गुणयोग ।
—अभिभा० ४ पृ० २६१

२ पाधा० ६१२

३ छ दोयुक्त समासेन निबद्ध वत्तमिष्यते।
नाना-वत्त विनिष्पन्ना शब्दस्यैषा तनू स्मृता॥ —नाशा० १४ ३६

४ एवमेतानि वृत्तानि समानि विषमाणि च।
नाटकाद्येषु काव्येषु प्रयोक्तव्यानि सूरिभि ॥ —वही १५ १४६

५ क्षमे द्र सुवृत्त० ३

६ काव्या० बिम्ब० पृ० १४५ ४७

इस कथन मे कोई अतिरञ्जन नही है। वेदो के लिये श्रुति शब्द का प्रयोग, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचित, कम्प आदि स्वरो, तार, मन्द्र मध्यम इन आलापो का वैशिष्ट्य सङ्गीत की भाति वेदो मे भी महत्व रखता है। भरत ने श्रृङ्गार आदि रसो के लिये उदात्तादि निश्चित स्वरो का विधान किया है।[1] सामवेद से नाट्य के लिए सङ्गीत का ग्रहण भी इसकी पुष्टि करता है।[2]

रामायण मे उसका श्रृङ्गारादि रसो से युक्त होकर तन्त्री, लय आदि सङ्गीताङ्गो से समन्वित बताया जाना उसके सङ्गीतात्मक होने की पुष्टि करता है।[3] किशोरीदत्त बाजपेयी ने रामायण की आरम्भिक रचना नाट्यात्मक मानी[4] पर इसका प्रमाण नही दिया है।

किन्तु चित्र और वास्तुकला मे भी नाद और लय की सत्ता मानना अतिवाद से अधिक कुछ नही।[5] क्योकि नाद अव्यक्त ध्वनि से उत्पन्न होता है। यह ध्वनि श्रवणेन्द्रिय-ग्राह्य है, चक्षुरिन्द्रिय या बुद्धि से नही। मूर्तिकला चित्रकला और वास्तुकला तीनो मे व्यञ्जकता रहने से बिम्ब-ग्राहिता मानी जा सकती है पर नादात्मक ध्वनि नही। प्रासाद आदि के निर्माण और मूर्तिया उकेरने मे हथौडे व छेनी की ध्वनि मे नाद एव लय का भान मान भी लिया जाय पर चित्रकला मे इनकी स्थिति माननी कठिन है।

छन्दो की बिम्ब-ग्राहिता

अस्तु, छन्दो का नाट्य और काव्य मे महत्त्व स्वीकार करने का प्रयोजन काव्य-बिम्ब के निर्माण मे उनका उपयोग है। रस और भाव के अभिव्यञ्जक

---

१ तत्र हास्यश्रृङ्गारयो स्वरितोदात्तैर्वीर-रौद्राद्भुतेषु उदात्तकम्पितै करुण-वात्सल्य-भयानकेष्वनुदात्त-स्वरित-कम्पितैर्वर्णै पाठ्यमुपपादयेत्।
—नाशा०, पृ० २८१

२ जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च। —वही, १. १७

३ पाठ्ये गेये च मधुर प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभि सप्तभिबद्ध तन्त्रीलय समन्वितम ॥
रसै श्रृङ्गार-करुण-हास्य-रौद्र-भयानकै।
वीरादिभिश्च सयुक्त काव्यमेतदगायताम् ॥ —वारा० १, ४, ८-१०

४ किशोरीदत्त बाजपेयी—रामचरित के तीन गायक और उनकी काव्य-कृतिया। शोध-भारती (जनवरी १९७४) पृ० २

५ काव्या-बिम्ब, पृ० १४७

मानने मे उनकी बिम्ब ग्राहिता स्वत सिद्ध है। कुछ आचार्यों ने गुण विशेष का व्यञ्जक कुछ नियत छन्दो को ही स्वीकार किया है और उन्ही का प्रयोग उन स्थलो मे करने का निर्देश दिया है। हेमचन्द्र इसकी उपयोगिता अभ्यासिक कवि के लिये ही मानते हैं। सिद्ध कवि अन्यथा किसी भी छन्द मे किसी भी रस या भाव की सफल अभिव्यक्ति कर सकते है। वस्तुत यह ममण या गाढ बन्ध पर निर्भर करता है। मसृण बन्ध माधुर्य की और गाढ ओज की अभिव्यक्ति करता है। अत आनन्दवर्धन ने अल्प समासा और दीर्घ-समासा सघटनाओ के आधार पर गुणो का निर्णय असमीचीन घोषित किया है।[2] वास्तव मे यह कवि पर निर्भर है कि वह सफलता मे किस छन्द मे अच्छी रचना कर सकता है। कात्यायन ने वसन्ततिलका छन्द को नायिका वर्णन के लिये अच्छा बताया।[3] चौरपञ्चाशिका मे नायिका के हावभाव का वर्णन उसमे किया भी गया है पर वेणीसहार मे भीम की प्रतिज्ञा[4] एव नैषध मे श्लेष प्रधान पञ्चनली-वर्णन उसमे बडी सफलता मे आयोजित किये हैं। छन्द मे काव्य मे बिम्ब निर्माण का एक बडा प्रमाण कृष्णयजुर्वेद मे गायत्री आदि छन्दो के वर्णों का निरूपण

---

१ छन्दो विशेष नियतया गुणसम्पत्तिरिति कश्चित। तथाहि स्रग्धरा दिष्वोज। इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रादिषु प्रसाद मन्दाक्रान्तादिषु माधुर्यम शार्दूलादिषु समता। विषमवृत्तष्वौन्नत्यम। मा ऽप्रसन्नवर्गान्तप्रयोगाणा विभागक्रम। तथाहि-स्रग्धरादिष्वोजोऽपि।

—काव्यानुवि० पृ० २८७ ८८

२ अभ्युपगते वा वाक्यव्यग्ङ्गत्वे रसादीना न नियता काचित सघटना तेषा माश्रयत्व प्रतिपद्यते इत्यनियत सघटना शब्दा एव गुणाना व्यङ्ग्य विशेषानुगता आश्रया। तच्चौजा यद्यसमासायामपि सघटनाया स्यात तत्कोऽपरो भवत।

—ध्वन्या० पृ० ३१५

३ तच्चोक्त कात्यायनेन

वीरस्य भुजदण्डाना वर्णने स्रग्धरा भवेत।
नायिका-वर्णन कार्य वसन्ततिलकादिकम॥

—अभिभा० (मधुसूदनकृतानुवाद) भा० २ पृ० ११८६

४ चञ्चदभुजभ्रमित चण्डगदाभिघात
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणित शोणपाणि
रुत्तसयिष्यति कचास्तव देवि भीम॥

—वेस० १ २१

है।[1] सङ्गीत-ग्रन्थों में भी रागों के ध्यान के लिये उनके मूर्त रूप का प्रतिपादन किया गया है।[2] रसों के वर्णों का परिगणन जैसे ध्यान की सुविधा के लिये हुआ है,[3] उसी प्रकार छन्दों के वर्ण का निर्देश करने के पीछे देवता आदि के ध्यान का सौकर्य उद्देश्य रहा होगा।

काव्य और सङ्गीत—इन छन्दों के द्वारा स्वरों के आरोह-अवरोह, लय आदि के रूप में सङ्गीत की सृष्टि होती है। भरत ने ध्रुवा के प्रसङ्ग में छन्दों का सम्बन्ध सङ्गीत से जोड़ा है।[4] सङ्गीत का वैसे काव्य के साथ सम्बन्ध होने पर भी स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी है। वह स्वतन्त्र कला है। कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने दोनों की समानता और परस्पर भिन्नता पर विचार करते हुए लिखा है कि यद्यपि दोनों समान रूप से ध्वनियों पर आश्रित हैं और चाक्षुष सन्निकर्ष के बिना ही वर्णित एवं अभिव्यञ्जनीय भाव के साक्षात्करण में समर्थ हैं तथापि दोनों इस दृष्टि से पृथक् हैं कि काव्य में कवि का बल अधिक कल्पना-शक्ति एवं चिन्तन पर रहता है जब कि संगीत का उद्देश्य लय और ताल का निर्वाह-मात्र है।[5]

एज़रा पाउण्ड के अनुसार भी काव्य अन्य कलाओं की अपेक्षा सङ्गीत के निकट होने पर भी तत्त्वतः उससे पृथक् है। अन्य कलाओं से उसकी इतनी ही समानता है कि वह भी मानव को चिन्ता और अवसादों से मुक्त कर देती है। अन्यथा उसका माध्यम शब्द होने से वह उनसे सर्वथा पृथक् है। संगीत में भी ध्वनियों या वर्णों का प्रयोग होने के कारण समानता होने से भी अर्थ का कोई महत्त्व नहीं होता जब कि काव्य में अर्थ पर भी ध्यान दिया जाता है। कलाकार का कार्य उन ध्वनियों और शब्दों को विशेष रूप देकर उनमें

---

१ श्वेत सारङ्गमत पिशङ्ग कृष्णमेव च।
नील च लोहितं चैव सुवर्णमिव सप्तमम् ॥
अरुण श्याम-गौर च बभ्रु वे नकुल तथा। —ऋ०कृ०प्रा० १७, १४
श्वेत शङ्खवर्ण गायनम्। सारङ्ग द्विवर्ण कृष्णशुक्लम् औष्णिहम्।
—उत्तरभाग० ४१७

२ द्र०अ० ५, टि० ९९-१००

३ द्र०अ० ६, टि० ११७

४ नाशा० अ० ३२

5 West Aesth p 552

अनुभूति एवं भाव भरना मात्र होता है। जनता के लिये उसका प्रभाव ही महत्त्व रखता है।[1]

इस प्रकार सङ्गीत से सर्वथा पृथक् होने पर भी जब इसका काव्य के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है तो सुवर्ण में सुगन्ध हो जाती है। गीतगोविन्द आदि संस्कृत के काव्य इसके प्रमाण हैं। काव्य में समन्वित होने पर सङ्गीत भी काव्य बिम्ब के निर्माण में उपयोगी हो जाता है।

काव्य बिम्ब के निर्माण के लिये स्वरादि के अतिरिक्त विषय का भी महत्त्व होता है। उसमें मानस बिम्ब के निर्माण में सहायता मिलती है। अखौरी साहब के अनुसार बिम्ब से भी नाद की सृष्टि होती है।[2] किन्तु यह अन्योन्याश्रयिता है। नाद के द्वारा तो बिम्ब की सृष्टि होती ही है जो कि काव्य के लिये उपयोगी है। पर जब हम बिम्ब द्वारा नाद की सृष्टि स्वीकार करते हैं तो यह श्रव्य बिम्ब के द्वारा ही सम्भव होगी। उसमें सङ्गीत का ही उपकार होगा। सङ्गीत यदि काव्य का अङ्ग हो तब तो नाद की सृष्टि काव्य के अनुगुण होगी और यदि सङ्गीत ही प्रधान होगा तो काव्य-बिम्ब से उत्पन्न नाद काव्य का उपकारी न होगा।

जयदेव आदि गीतकाव्यकारों का प्रयत्न केवल सङ्गीत की दिशा में न था अपितु उसके द्वारा काव्य की प्रभावुकता के संवर्द्धन के निमित्त ही था। इसी कारण अपनी कृति को उन्होंने महाकाव्य की भाँति सर्गों में विभक्त करके महाकाव्य का रूप दिया है।

गोविन्द एस० तेम्बे के मत का उल्लेख करते हुए अखौरी ने लिखा है कि सङ्गीत का स्वर भाव-विशेष का ध्वनि-बिम्ब होता है। इसी कारण वादी-संवादी आदि स्वरों से राग विशेष का रसात्मक प्रभाव निर्मित होता है।[3]

इस प्रसङ्ग में अखौरी ने भरत के मत को इस रूप में भी रखा है कि विभावानुभाव आदि के द्वारा अमूर्त भावों का रस रूप में मूर्तीकरण रंगमञ्च पर होता है कवि-हृदय या प्रेक्षक के हृदय में नहीं।[4] वास्तव में यह निष्कर्ष भरत का नहीं, अखौरी साहब का अपना है। अन्यथा भरत तो स्पष्ट शब्दों में

1 Ezra Pound Selected Prose p

२ काव्यात्मक बिम्ब पृ० १७०

३ वही पृ० १७४

४ वही, पृ० २०६

प्रेक्षक को रस का अनुभावक स्वीकार करता है।[1] रङ्गमञ्च रस की निष्पत्ति का साधन-मात्र है। क्योंकि वहाँ उपयुक्त वातावरण की सृष्टि होती है। पर भावात्मक वस्तु होने से रस की प्रतिपत्ति तो किसी मनुष्य को ही होगी। कवि के हृदय में तो मूल में वह भाव रस-रूप में रहता ही है।[2] यदि सामाजिक के हृदय में भी रस की निष्पत्ति न होगी तो क्या नट के हृदय में होगी? अन्यथा साधारणीकरण की उपयोगिता ही क्या रही?

अस्तु काव्य में छन्द का उपयोग उसे श्रव्य बनाने के साथ-साथ स्वर के माधुर्य या ओज के द्वारा भाव-प्रकाशन के लिये होता है। इसके द्वारा कम्पन या आस से भाव आदि का बिम्ब बनता है। छन्द का प्रयोग करने वाला प्रत्येक चरण को पढ़कर विश्राम करता है। कभी-कभी विश्राम करने पर या तो छन्द टूट जाता है या अर्थ-बोध में बाध होता है। इससे पद्य में अश्रव्यता आ जाती है। यही अश्रव्यता दोष का कारण है।

इसीलिये मम्मट ने हतवृत्त दोष के तीन कारण माने हैं[3]—

१ वर्णयोजना शास्त्र के नियम के अनुसार होने पर भी उचित स्थान पर गण या मात्रा न होना या नियमानुसार यति न होना।

२ अन्त का लघु ऐसा हो कि जो गुरु न हो सकता हो।

३ रस के अनुकूल न होना।

ये तीनों ही कारण ऐसे हैं कि अश्रव्य होने के कारण विवक्षित पदार्थ के मूर्तीकरण में बाधा डालते हैं।

ध्रुवा के प्रसङ्ग में भरत का निर्देश है कि गाये जाते हुए छन्द के अर्थ के अनुसार ताल का पतन होता है। उस पात के अनुरूप भी छन्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे रथ की गति के अनुरूप द्रुत स्वर पर पात करना हो तो

---

१ तु० यथा हि नानाव्यञ्जन संस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनस पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नाना-भावाभिनय-व्यञ्जितान वागङ्गसत्त्वोपेतान्। स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस प्रेक्षका, हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। —नाशा०, पृ० ६३

२ तु० कवेरन्तर्गत भाव भावयन भाव उच्यते। —वही, ७, २

३ हत लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु रसाननुगुण च वृत्त यत्र तद्धतवृत्तम्। —का०प्र०का०, पृ० २९१

उसके अनुसार वर्ण आदि का प्रयोग होता है। करुण रस के अनुरूप वर्ण में पात होना हो तो उसके अनुकूल गुरु या प्लुत स्वर का प्रयोग होता है।[1]

इसका सार यह निकला कि रथ की गति का बिम्बन करने के लिए द्रुत स्वर में छन्द का पाठ होना है। करुण रस के बिम्बन के लिये दीर्घ या प्लुत स्वर का प्रयोग करना चाहिये। इसका आशय यह निकला कि रथ की द्रुतगति का सूचन करने के लिये ऐसे छन्द का प्रयोग हो जिसमें पाठ द्रुत गति से होता है। उदाहरण के लिये कालिदास ने रथ की गति के प्रसङ्ग में क्रमशः वसन्ततिलका, शिखरिणी, मालती और शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग किया है। इनमें भी वसन्ततिलका में घोड़ों की गति दिखाई है। घोड़े दौड़ते हुए कभी तो समगति में चलते हैं तो कभी चाबुक मारने पर कुलाँचें मारते हैं। कुलाँचें भरने में उनके कदम पश्चाद् भाग को समेट कर अगला भाग आगे लम्बा करके लम्बे कदम रखते हैं। इसकी योजना वसन्ततिलका छन्द में होती है—

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया
धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः॥[2]

इस पद्य में स्वभावोक्ति द्वारा तो घोड़ों का स्वरूप चित्रित किया गया है। लगाम ढीली छोड़ने की क्रिया की ध्वनि 'मुक्तेषु' पद में हुई है। 'रश्मिषु' घोड़ों के चाल बदलने में पूर्व के क्षणिक अवकाश को बिम्बित करता है। 'निरायतपूर्वकाया' यह पद कुलाँचें भरने के लिये अग्रभाग और पैरों को लम्बे करने का बिम्ब प्रस्तुत करता है। 'का'-'या' इन दोनों दीर्घ स्वरों से वह क्रिया की पूर्ति बिम्बित प्रतीत होती है। शेषभाग चाल बदलने का बिम्बन करता है। गति बँध जाने पर चाल सम हो जाती है और यान सम गति से सरपट चला करता है। इसका बिम्बन शिखरिणी से किया गया है—

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्द्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत्।

---

१ ध्रुवासु तु रसाद्यनुगुणा यो गीयमानस्य वृत्तस्यार्थस्तदनुगुणा य पातादीनामन्यतम। तदौचित्येनान्येऽपि प्रवर्तन्ते। यथा रथगत्यौचित्याद् द्रुतरूपे पाते तदनुसारिणा वर्णवर्णाद्यादयः। करुणरसोचिते वर्णाङ्गे तदनुगुणा गुरुप्लुतादिरूपेण पातादयः। —अ० भि० भा० भाग० ४, पृ० २६२

२ शाकु० १ ८

प्रकृत्या यद् वक्र तदपि समरेख नयनयो-
र्न मे दूरे किञ्चित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात ।।[1]

इसमे बँधी चाल से दौडते रथ की गति का बिम्बन है। कवि नायक के मुख से गति का वर्णन ही करा रहा है। फलस्वरूप यहाँ छन्द, भाव और पद-योजना तीनो का सामञ्जस्य है। 'ता' में लम्बी दिखाई देती वस्तु के आयाम का अनुकरण है।

इसी प्रकार मेघो के बीच से गुजरते रथ के पहिया की फिसलन का बिम्बन मालिनी छन्द के द्वारा किया गया है।

अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भि-
र्हरिभिरचिरभासा तेजसा चानुलिप्तः ।
गतमुपरि घनाना वारिगर्भोदराणा
पिशुनयति रथस्ते सीकरक्लिन्ननेमिः ।।[2]

क्षेमेन्द्र ने मालिनी छन्द मे पादान्त मे विसर्गो का होना आवश्यक बताया है और उनके बिना इसकी तुलना पूछ-कटी चमरी से की है।[3] इसका कारण यह है कि विसर्गों के द्वारा भावानुवृत्ति के लिये जो बलाधान वहा होना चाहिये, वह नही होने पाता। यहाँ पहिया के अगो (Spokes) के बीच से चातकों के निकलने का व्यञ्जन है। पहिया के बीच मे बहुत खाली स्थान नही होता। पुन दौडते पहिये के मध्य मे से निकलने मे फँसने का भय भी रहता है। इसलिये किसी तग मार्ग से निकलने पर प्राणी का जो मुख की सास मिलती है उसका अनुकरण 'भिम्' इस अश से होता है। 'निष्पतद' इतना पहिये के मध्य से शीघ्र निकलने के यत्न का बिम्बन करता है। 'अनु-लिप्तः' ये विसर्ग लेपन क्रिया की पूर्णता का ध्वनन करते है। इसी प्रकार 'क्लिन्ननेमिः' मे विसर्ग पहिये के बाहरी भाग के भीगने और नीक पर भीगे पहिये की फिसलन का अनुकरण करते है।

शार्दूलविक्रीडित से कवि आकाश-मार्ग से यात्रा करने पर भूतल के दृश्य को प्रस्तुत करता है।

---

१ शाकु०, १ ६

२ वही, ., ७

३ विसर्गहीनपर्यन्ता मालिनी न विराजते ।
चमरी च्छिन्न-पुच्छेव बल्लीवालून-पल्लवा ।। —सुवृत्त० ३, २३-२४

शलानामवरोहतीव शिखराद् मज्जता मेदिनी
पर्णाभ्यन्तर-लीनता विजहति स्कन्धोदयात पादपा ।
सन्तानात तनुभावनष्टसलिला व्यक्ति भजन्त्यापगा
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवन मत्पार्श्वमानीयते ॥[1]

रेल-यान स यात्रा करते हुए हम प्राय बाहर की ओर देखा करत है कि नीचे की वस्तु ऊपर की ओर उठती और ऊपर की नीचे जाती दिखाई दती है । छन्द लम्बी लगती है । इस छन्द क दीघ स्वर उसी लम्बन क्रिया का अनुकरण करते हैं। स्वरो क आरोह अवरोह म बिम्ब का कल्पना हमारी ही नही है प्रसिद्ध पाश्चात्य समीक्षक आइ० ए० रिचड स द्वारा किये गये विश्लेषण से इसकी तुलना करक दखें तो इसकी पुष्टि हो जाती है—

Arching high over
A Cool green house

(here) the sudden transition to the long i sound gives an impress on of height in the arch set off by the broader Vowels in e ther side The wh pering air is perfectly expressed by the repeated S s in Verse— h [2]

भरत न रसा क प्रसङ्ग म छन्दो का सङ्कत तो नही किया है परन्तु छ अलङ्कार गिनाकर बोलन क प्रकार का निदश किया है । ये छ अलङ्कार उच्च दीप्त मन्द्र नीच द्रुत और विलम्बित हैं । इनम उच्च तार स्वर होता है जिसका प्रयोग दूर स्थित व्यक्ति स वार्तालाप आश्चय उत्तर प्रत्युत्तर दूर स किसी को बुलाने या किसी को डरान क निमित्त बाज बजने म होता है । उसका अनुकरण करने क लिए प्रलम्ब छन्द का प्रयोग किया जाना चाहिए । दीप्त तारतर या उससे भी ऊँचा या लम्बा स्वर होता है जो लड़ाई झगड कलह क्रोध वीरता डींग मारना आदि जोशीले भावो की अभिव्यक्ति मे प्रयुक्त होता है । इसक लिए बहुत ऊची आवाज म बोलन की आवश्यकता रहती है ।

मन्द्र स्वर कुछ मध्यम होता है जो ऊबन खटका चिन्ता उत्सुकता दद रोग बेहोशी नशा आदि क व्यञ्जन क लिए प्रयुक्त होता है । नीच स्वर डूबी हुई आवाज होती है जो मन्द्र से भी नीच होता है यह स्वाभाविक बातचीत रोगी की बातें मार्ग की थकान घबराये नीचे गिरे या बेहोश क बोल म प्रयुक्त

१ सुवृत्त० ७ ११

2 I A Richards Practical Criticism p 39

होता है। ह्रस्वस्वर केवल कण्ठ मे रहता है, यह शीघ्रता, लज्जा, कामावेग, डर, सर्दी लगना, बुखार मे पीडित, घबराहट से भरे या अनुचित प्रतीत होने वाले काम को करने या किसी प्रकार की व्यथा के अनुभव मे प्रयुक्त होता है। विलम्बित स्वर कण्ठ तक सीमित, मध्यम स्वर होता है, इसका उपयोग शृङ्गार, सोचविचार, चिढ, खीझ, बुडबुडाने, हैरानी लज्जा के भाव या किसी की निन्दा आदि म होता है। इसके अनुसार जिस छन्द के उच्चारण मे इस प्रकार का स्वर हो इन भावो की अभिव्यक्ति के लिए उन्ही छन्दो का प्रयोग उपयुक्त सिद्ध होगा। यह महाकवियो के प्रयोगो स स्पष्ट हो जाता है।[1]

भरत ने यह निर्देश मुख्यत नाट्य को दृष्टि म रखकर दिये है। परन्तु श्रव्य मे भी यदि इन भावो के अनुरूप छन्दो का प्रयोग हो तो निस्सन्देह श्रोता को अभिव्यक्त भाव की प्रतीति होगी। स्वर मे यदि कम्पन होगा तो भावावेग की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। वीर, रौद्र और अद्भुत मे उदात्त और कम्प वाले वर्णो और करुण, वात्सल्य एव भयानक म अनुदात्त, स्वरित और कम्प स्वरो वाले वर्णो मे पाठ्य का विधान इसी आधार पर है।[2] शृङ्गार एव हास्य मे कम्प नही बताया है परन्तु मान-मनोवल की अवस्था म जबकि विह्वलता मे प्रणय-याचना की जा रही हो, कम्प स्वाभाविक है।

भावावेश, उन्माद दप आवेग, अधिक्षेप मे स्रग्धरा, पृथ्वी, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका इनके लिए अधिक उपयुक्त है। नाटको म स्रग्धरा का प्रयोग प्राय किया गया है परन्तु काव्यो मे यह कार्य छोटे छन्दो म लिया गया है। जैसे—

> क्षुद्रा सन्त्रासमेते विजहत हरय क्षुण्णशक्रेभ-कुम्भा
> युष्मद्-देहेषु लज्जा दधति परममी सायका निष्पतन्त ।
> सौमित्रे तिष्ठ पात्र त्वमसि नहि रुषा नन्वहं मेघनाद
> किञ्चिद्-भ्रूभङ्ग-लीला-नियमित-जलधि राममन्वेषयामि ॥[3]

यह युद्धभूमि मे मेघनाद की दर्प-पूर्ण उक्ति है। इसम उसका उन्माद भली प्रकार अभिव्यक्त हुआ है।

---

१ ना० शा० अ० १७, पृ०, २८१-८२

२ द्र० टि० १३

३ का० प्र० का० ४ (उ०) ४१

इसी प्रकार—

> महाप्रलयमारुतक्षुभित-पुष्करावर्तक—
> प्रचण्डघन-गर्जित प्रतिरवानुकारी मुहु ।
> रव श्रवणभैरव स्थगितरोदसीकन्दर
> कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्व पुर ।।[1]

पृथ्वी छन्द के इस प्रयोग म विस्मय और ओज की अच्छी अभिव्यक्ति है। इसके विपरीत —

> कृतमनुमत दृष्ट वा यैरिद गुरुपातक
> मनुजपशुभिर्निर्मर्यादै र्भवद्भिरुदायुधै ।
> नरक-रिपुणा सार्धं तेषा सभीमकिरीटिना
> मयमहमसृङ्-मेदोमांसै करोमि दिशा बलिम् ।।[2]

काव्य-प्रकाश कार द्वारा रौद्र रस क उदाहरण क रूप म उद्धृत हरिणी छन्द के इस पद्य मे अथ रहन पर भी प्रकृत रस क अननुगुण वृत्त का प्रयाग हान स अभीष्ट सिद्धि नही हो पाई है। जगन्नाथ न भी इसकी आलोचना की है परन्तु छन्द की अनुपयुक्तता को इसका हेतु नही कहा है।[3] इसी प्रकार—

> दग्धु विश्व दहन किरणै र्नोदिता द्वादशार्का
> वाता वाता दिशि दिशि न वा सप्तधा सप्त भिन्ना ।
> छन्न मेघर्न गगनतल पुष्करावर्तकाद्यं
> पाप पापा कथयत कथ शौर्यराशे पितुर्मे ।।[4]

अश्वत्थामा की इस ओजपूर्ण उक्ति म मन्दाक्रान्ता छन्द के शैथिल्य के कारण अपेक्षित ओज नही आ पाया है। इस कारण बहुधा नियम बनाने वाले आचार्यों के मत ठीक नही उतरते। जैसे नागेश न किसी आचार्य के मत के अनुसार लिखा है—

करुणे पुष्पिताग्रादीनामेवानुगुणत्वम, पृथ्वी-स्रग्धरादीना शृङ्गारादौ।

---

१ वेम० ३, ४

२ वही ३ २४

३ काव्य-प्रकाशगत-रौद्ररसोदाहरणे तु "कृतमनुमत दृष्ट वा यैरिद गुरु पातकम् इति पद्ये रौद्र-रसव्यञ्जनक्षमा नास्ति वृत्ति, अतस्तत्कवेर-शक्तिरेव। रग०, पृ० ३७

४ वेम० ३ ३५

शिखरिणी-मन्दाक्रान्तादीना वीरानुगुण्यम्। दोधकस्य प्रतिपद-विच्छेदित्वेन हास्यानुगुणतेत्थ ।[1]

परन्तु प्रयोग को देखते हुए यह यथार्थ नही बैठता। पुष्पिताग्रा छन्द का प्रयोग शृङ्गार मे तो देखा गया है[2] पर करुण मे नही। उसके लिए कालिदास आदि ने वेतालीय या वियोगिनी का ही प्रयोग किया है[3] जो कि अधिक सफल रहा है। श्रीहर्ष ने वशस्थ छन्द मे करुण की अच्छी अभिव्यक्ति की है।[4] वीर रस के या रौद्र के लिए मन्दाक्रान्ता की अनुपयुक्तता ऊपर उदाहृत की जा चुकी है। शिखरिणी मे तरलता के आधिक्य के कारण शृङ्गार, भक्ति करुण आदि मे वह अधिक सफल रही है। जगन्नाथ की गङ्गालहरी और शङ्कराचार्य की सौन्दर्यलहरी मे भक्ति की तरलता के कारण यह छन्द भाव बिम्ब के लिये सफल सिद्ध हुआ है। इसी प्रकार मुद्राराक्षस मे जीर्णोद्यान के वृक्षो की दशा पर आसू बहाते और अतीत के गौरवपूर्ण दिनो का स्मरण करते राक्षस की उक्ति म—

विपर्यस्त सौध कुलमिव महारम्भरचन
सर शुष्क साधो र्हृदयमिव नाशेन सुहृदाम्।
फल हीना वृक्षा विगुण-नृप-योगादिव नया
स्तृणैश्छन्ना भूमिर्मतिरिव कुनीतेरविदुष ॥[5]

यद्यपि पृथ्वी को श्रृङ्गार के अनुगुण बतलाया है तथापि पूर्वोदाहृत पद्य मे वह उग्रता और ओज के ही उपयुक्त सिद्ध हुआ है। कही भक्ति के लिये भी उस का प्रयोग हुआ है परन्तु वहा भी माधुर्य नही आ पाया है। जैसे —

दरस्मित समुल्लसद्वदन कान्तिपूरामृत
भवज्वलनभर्जितानमिशमूजयन्ती नरान्।
चिदेकमयचन्द्रिका-चयचमत्कृति तन्वती
तनोतु मम श तनो सपदि शन्तनोरङ्गना ॥[6]

---

१ काउ० २६५-६६
२ शिव० ७
३ कुस० ४, रघ० ८
४ नैष० १ १३५-१४२
५ मुरा० ६, ११
६ गङ्गा, ४६

जगन्नाथ के इस पद्य मे पूर्वार्ध मे तो भाव के ओजस्वी होने के कारण पृथ्वी छन्द नादबिम्ब उपस्थित करने मे सफल रहा है पर उत्तरार्द्ध मे नही। इसके विपरीत वसन्ततिलका मे भक्ति-भावना अच्छी प्रतिबिम्बित हो सकती है। जैसे—

विद्या न काचिदपि पूर्णतया गृहीता
नो सेविता ननु नतेन कदापि वृद्धा ।
अल्पज्ञ एव बहु कामनया प्रवर्ते
हे श्रीनिवास परिपालय मा विमूढम् ॥[1]

इस पद्य मे भक्त का दैन्य और समर्पण-भावना अच्छी अभिव्यक्त हुई है। इसके विपरीत—

मथ्नामि कौरवशत समरे न कोपाद्
दु शासनस्य रुधिर न पिबाम्युरस्त ।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धि करोतु भवता नृपति पणेन[2] ॥

वीर और रौद्र के उदाहरण इस पद्य म काकु के कारण ही अनुकूल भावाभिव्यक्ति हो पाई है जैसा विधान भरत ने किया है।[3] अन्यथा वह ओज नही आने पाया है जो—

पीनाभ्या मद्भुजाभ्या भ्रमित गुरुगदाघात सञ्चूर्णितोरो —
क्रूरस्याऽधाय पाद तव शिरसि नृणा पश्यता श्व प्रभाते ।
त्वन्मुख्य-भ्रातृ-चक्रोद्दलनगलदसृक्चन्दनेनानखाग्र
रुत्यागेनार्द्रेण चाक्त स्वयमनुभविता भूषण भीममस्मि[4] ॥

इस पद्य म मिलता है।

वास्तव मे भावावेश मे बहुधा वक्ता की वाणी लडखडाने लगती है। रौद्र आदि मे उग्रता के कारण छन्द की लय आदि का उतना ध्यान नही रहता है। जैसे कि क्रोध मे भरा हुआ मनुष्य जब लडने जाता है तो कोई शृङ्गार

---

१ सुन्दरेश-श्रीनिवासशतकम् ४४

२ वेस० १, १५

३ द्विविधा काकु । साकाङ्क्षा निराकाङ्क्षा चेति । वाक्यस्य साकाङ्क्षनिराकाङ्क्षत्वात् । —नाश० पृ० २८१

४ वेस० ५, ३४

करके नहीं जाता। रणसज्जा के लिये उपयुक्त सामग्री का चयन वीर में ही होता है। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति में सयम होता है। वह शब्दावली और अनुकूल छन्द में प्रतिबिम्बित हो जाता है। जैसे—

> देश सोऽयमरातिशोणित-जलैर्यस्मिन् हृदा पूरिता
> क्षत्रादेव तथाविध परिभवस्तातस्य केशग्रह ।
> तान्येवाहित-शस्त्रघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे
> यद्रामेण कृत तदेव कुरुते द्रौणायनि क्रोधन ॥[1]

इस उक्ति में पिता की मृत्यु के कारण हृदय में क्रोध होने पर भी शत्रुओं से प्रतिशोध लेने के लिए उत्साह है। पुन उक्ति अपने एक साथी के प्रति है शत्रु के प्रति नहीं। इसलिए यह छन्द वक्ता के वीरदर्प, उत्साह और सयत भावावेश को मूर्त कर रहा है। परन्तु जब भाव की उग्रता हो तो यह सयम जाता रहता है। छन्द की लय या तालबद्धता का वक्ता को ध्यान नहीं रहता। कवि इस अवसर के लिए ऐसा ही छन्द चुनता है। उदाहरण के लिए, मालती को काली की भेंट चढ़ाने के लिए उद्यत अघोरघण्ट के प्रति क्रोध के कारण उग्र माधव के भावोदगार के प्रकाशन के लिए कवि ने—

> प्रणयि-सखि-सलील परिहास-रसाधिगतै—
> र्ललित शिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत् ।
> वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपत
> पततु शिरस्यकाण्ड-यमदण्ड इवैष भुज ॥[2]

इस पद्य में भाव की उग्रता के अनुरूप नर्कुटक छन्द प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के विरुद्ध शिशुपाल का क्रोध प्रदर्शित करने के लिए कवि ने उदगार चुना है।

कात्यायन का मत उद्धृत करते हुए अभिनव गुप्त ने [illegible] के वर्णन में स्रग्धरा, नखशिखवर्णन में वसन्त-तिलकादृश छन्दों का विधान तथा देश के पूर्वी भागों में शार्दूलविक्रीडित एव दक्षिण में मन्दाक्रान्ता के प्रचार की चर्चा की है।[3] हेमचन्द्र ने 'अर्थानुरूप छन्दस्त्व' के उदाहरण में शृङ्गार में द्रुत-विलम्बित आदि वीर में वसन्ततिलका आदि, करुण में वैतालीय आदि, रौद्र में स्रग्धरा आदि का और शार्दूलविक्रीडित आदि का सभी रसों में विधान किया है।

---

१ वेस०, ३, ३२

२ मामा०, ५, ३१ (इह खलु चनजौ भजजला गुरुनर्दटकम्) वाग्वल्लभ, पृ० २३०

३ अभि भा० (मधुसूदन अनुवाद) भाग २, पृ० ११८६

आदि शब्द में औचित्यानुरूप अन्य छन्द का प्रयोग करने के लिए कवियों को छूट दे दी है।[1] सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन का निर्देश भी प्रबन्धानुगुणता देख कर ही किया गया है।[2]

हेमचन्द्र ने पाठ्य के अनुगुण छन्द के प्रयोग से भाव के सूजन की स्वीकृति स्पष्ट शब्दों में की है—

साक्षात्कार-कल्पत्वाध्यवसायसाधर्ग्येकार्थं च पाठ्यस्य प्रधानोऽंश। तत्र यथा लाट वशिचदयोपदशगानादिक्रमेण वस्तुदबोधन करण द्वारेण वा छन्दानुप्रवेशितया वा कस्यचिन्मनस्यावजनातिशय विधत्ते नत्यन्नपि गायन्नपि।[3]

इस प्रसङ्ग में क्षेमेन्द्र ने विषयानुरूप छन्दों के प्रयोग करने के सम्बन्ध में कुछ निर्देश दिये हैं। उनके अनुसार शास्त्रीय उपदेश कथारम्भ आदि के लिए अनुष्टुप उपयुक्त रहता है। आलम्बन वसन्त एवं उसके अङ्गों का वर्णन उपजाति में चन्द्रोदय सूर्योदय आदि उद्दीपन विभावों के वर्णन रथोद्धता में राजनैतिक चर्चा वंशस्थ में वीर और रौद्र के सामञ्जस्य का निबन्धन वसन्ततिलका से सर्ग का अन्त द्रुत गति से ताल वाली मालिनी में आरोह विषय का समाहार शिखरिणी में करना चाहिए। इसी प्रकार उदारता एवं औचित्य-पूर्ण विचारों के प्रतिपादन में हरिणी का गतिमयता नाद और फटकार के भाव में पृथ्वी छन्द का वर्षा ऋतु एवं विरहिणी के दुःख के वर्णन में मन्दाक्रान्ता का राजाओं के पराक्रम कान्ति के गान में शार्दूलविक्रीडित का आँधी तूफान आदि के वर्णन में स्रग्धरा का तथा दोधक तोटक आदि छन्दों का मुक्तकों में प्रयोग उचित रहता है।[4]

मम्मट ने दोधक छन्द एवं विश्वनाथ ने तामरस छन्द को हास्यरस के उपयुक्त कहा है।

---

१ काव्यानु० पृ० ४६०

२ अवसानेऽन्यवृत्तकैः। —साद० ६ ३२०

३ काव्यानु० पृ० ४४८

४ सुवृत्त० ३ ६ ...

हा नृप हा बुध। ... ... गसमेतद् वृत्तम्। का० प्र० का०

... दोधकवृत्तं ... तद्विराधि हास्यव्यञ्जकत्वात्।

—काप्र० पृ० २६५ ६६

६ अयि मयि मानिनि मा कुरु मानम्। इदं वृत्तं हास्यरसस्यैवानुकूलम्।
(यहाँ तामरस न ज ज य इस लक्षण वाला छन्द है)—साद० पृ० २३८

हिन्दी साहित्य के विद्वान् डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि वीर रस-पूर्ण वाणी में चार यगण वाला भुजङ्गप्रयात चार सगण वाले तोटक से कहीं अधिक प्रभावशाली रहता है। क्योंकि दर्प-पूर्ण वाणी दीर्घ या गुरुवर्णों के क्रम में अधिक प्रभाव-पूर्ण होगी। लघु वर्णों की आवृत्ति विनय के प्रकाशन में ही शोभनीय लगती है अतः वीररस में नाद की प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से भुजङ्गप्रयात का वर्णक्रम अधिक उपयुक्त रहेगा।[1]

यह कथन किसी अंश तक ठीक है। लघु से गुरु की ओर जाने में आरोह ओज की प्रतिध्वनि करता है जबकि अनेक लघु लगातार आने से शिथिलता या फिसलन का अनुभव होता है। किन्तु कुछ लघुओं के पश्चात् पुनः सहसा गुरुलघु का क्रम छलांग लगाकर चढ़ने का अनुभव कराता है। जैसे—

कथमपि न निषिद्धो दुःखिना भीरुणा वा
द्रुपद-तनय-पाणिस्तेन पित्रा ममाद्य।
तव भुजबलदर्पाध्मायमानस्य वाम
शिरसि चरण एष न्यस्यते वारयैनम्।।[2]

यहां तृतीय चरण में 'भुजबल' के तुरन्त पश्चात् 'दर्पाध्मायमान' इस गुम्फ़ा का विराम आवेग से झपटने का और "शिरसिचरण" के बाद "न्यस्यते" ये ध्वनियाँ उछल कर पाद-प्रहार का मूर्तन करती हैं।

इस विषय में क्षेमेन्द्र की यह टिप्पणी कि अनुपयुक्त विषय में प्रयुक्त छन्द उपहास का कारण बनती है, पिछले कुछ उदाहरणों को देखते हुए सङ्गत ही लगती है।[3] परन्तु इस प्रकार के बन्धन अभ्यासी कवियों के लिए ही है। अन्यथा सिद्ध कवि किसी भी छन्द में अपना प्रतिभानैपुण्य दिखा सकता है। वाल्मीकि रामायण और महाभारत में अनुष्टुप् में ही युद्ध और ऋतु आदि वर्णन अति-प्रभावपूर्ण रहे हैं। कालिदास ने उपजाति छन्द में युद्ध के ओजस्वी वर्णन किये हैं। रथोद्धता छन्द में शिवपार्वती और अग्निमित्र के सम्भोग शृङ्गार का

---

१ साहित्य शास्त्र, पृ० १२४

२ वेस०, ३, ४०

३ प्रबन्धः सुतरां भाति यथास्थानं निवेशितैः (रनिवेशितैः)।
निर्दोषैः गुणसंयुक्तैः सुवृत्तैः मौक्तिकैरिव ।।
वृत्तरत्नावली कामादस्थाने विनिवेशिता।
कथयत्यज्ञतामेव मेखलेव गले कृता ।। —सुवृत्त०, ३, १, ६

प्रवाहमय चित्रण किया है। रघुवंश में द्रुतविलम्बित छन्द में ऋतु-वर्णन की सफलता देखकर ही माघ ने भी इस विषय के लिए वही छन्द अपनाया।

यति विचार—वाक्य में अर्थबोध की सुगमता के लिए विरामों की भांति छन्द में भी यथास्थान यति अथवा विराम का प्रयोग अनिवार्य है। अन्यथा पद्य की श्रव्यता का तो हनन होता ही है तात्पर्य-बोध में भी बाधा पड़ती है। इसलिए छन्दशास्त्र के आचार्य छन्द की परिभाषा देते हुए यति के स्थान का निर्देश अवश्य करते हैं। उदाहरण के लिए—

> तदपि गुरु स्याद यत्र चतुर्थ पञ्चम षष्ठ चान्त्यमुपान्त्यम।
> इन्द्रिय-बाणै यत्र विराम सा कथनीया चम्पकमाला।[1]
> न न म य य युतेयं मालिनी भोगि लोकै।
> न स म र ल ला ग षड्वेदेहय हरिणी स्मृता।।[3]

इन तीनों छन्दों में इन्द्रिय (५) और बाण (५) से चम्पक माला में ५ ५ पर मालिनी में भोगि (८) और लोक (७) पर हरिणी में ६ ४ (वेद) और ७ (हय) से यति का सङ्केत है। इसके विपरीत यदि अन्य स्थान पर यति होगी तो निश्चित ही छन्द में त्रुटि मानी जायेगी। इसीलिए भरत ने भी पाठ्य गुणों में अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए यथावसर १ २ ३ ४ आदि अक्षरों पर विराम को अपरिहार्य लिखा है।[4] कहां-कहां हाथ की चेष्टा में विराम करते हुए वाचिक अभिनय करना चाहिए। हाथ और दृष्टि से मुद्रा और विराम के द्वारा अभिप्रेत आशय की सूचना मिलती है। अभिनव गुप्त ने पादान्त में विराम की आवश्यकता दिखाई है।[5]

---

१ श्रुत० १९

२ वाग्वल्लभ पृ० २१६

३ वही पृ० २०६

४ अर्थसमाप्तौ कार्यवशान्नच्छन्दोवशाद् दृश्यन्ते हि एक द्वित्रिचतुरक्षरा विरामा। एवं विरामः प्रयत्नाऽनुष्ठेय। कस्मात्? विरामो ह्यर्थानुदर्शको भवति। अपि च—

> विरामेषु प्रयत्नस्तु नित्य कार्य प्रयोक्तृभिः।
> कस्मादभिनयो ह्यर्थे अर्थापेक्षी यतः स्थितः।।
> यत्र व्यग्रावुभौ हस्तौ तत्र दृष्टिसमन्वितः।
> वाचिकाभिनयः कार्यो विरामैरर्थदर्शकैः।।

—नाशा० १७, १२०-१२१

५ चतुर्भाग इति पादान्ते च्छेदः कर्तव्य। न तु ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगासु

वाग्वल्लभकार ने यति-विषयक कुछ और भी निर्देश दिये है। जैसे मात्राच्छन्द मे विराम की नियतता किन्तु वर्णच्छन्द मे वैकल्पिकता, सन्धिगत स्वर म आगे जाने की अपेक्षा सज्ञा शब्दो मे अधिक हानि, समास मे यतिभङ्ग की क्षम्यता आदि ।[1] इसम यह विदित होता है कि इन नियमो का प्रयोजन इतना ही है कि छन्द के यथायथ निर्वाह मे काव्य की श्रव्यता सुरक्षित रहे और भाव के मूर्तीकरण म सहायता मिले ।

गुरु-लघु विचार—इसी विचार से सयोगादि ह्रस्व वर्ण, सानुस्वार या सविसर्ग वर्ण को गुरु मानने का विधान किया गया है।[2] क्योकि सामने सयुक्त व्यञ्जन आने पर पूववर्ती ह्रस्व पर बलापात होगा। जैसे रक्त, युद्ध या दुख आदि। जहाँ इस प्रकार का बलाघात न हो, वहा गुरु नही माना जाता। जैसे प्र ह्री आदि से पूर्व।[3] पादान्त म आवश्यकतानुसार लघु को गुरु माना जाता है। इसके लिए भी नियम है कि द्वितीय तथा चतुर्थ चरण के अन्त मे लघु अवश्य ही गुरु हो जाती है। प्रथम और तृतीय के अन्त मे लघु का गुरु उपजाति सदृश छन्दो म ही माना जाता है, सभी मे नही। क्योकि वहा वाञ्छित प्रभाव नही पडता।[4] जैसे पुष्पिताग्रा छन्द मे प्रथम चरण के अन्त मे लघु को गुरु बनाने से

एला इति। प्रयोगी प्रतिपादनमङ्गीकृत्य पठन् मध्ये विश्राम्यति। (अ) विश्रान्तौ चात्र वृत्त भट्टतोऽभिनियम्याऽभ्यस्तवाद् भट्टलशङ्करादिभिरप्यनमतत् —'क्वचिदुपान्त्यौ वा' इति।

—अभिभा० (मस् जनु) भा०, २, पृ० ११८६

१ मात्रावृत्ते विशेषाद् विरतिरभिहिता वर्णवृत्ते विभाषा
दत्तेऽस्यास्व शोभा हरति च नियत भट्टसमाप्ता पुन सा।
चेत्स्या तस्ज्जातमग्रे स्वरविहितमनुर्नैव दुष्टत्वमत्र
सज्ञा-शब्दान्तरस्या प्रभवति महती दुष्टताऽल्पा समासे॥

—वाग्वल्लभ पृ० ३७

२ सयुक्ताद्य दीर्घ सानुस्वार विसर्ग-सम्मिश्रम्।
विज्ञेयमक्षर गुरु पादान्तस्थ विकल्पेन॥ श्रुत २

३ प्रह्रादिसयुते वर्णे व्यञ्जने चाग्रेगल् गुरु।
यथा—नव ह्रियाऽपह्रियो मम ह्रीरभूच्छिग्रहेऽपि द्रुत न धृता तत।
बहुल-भ्रामरमेचकतामस मम प्रिय क्व समेष्यति तत् पुन॥

—काव्यवृ०, १, १८

४ यत पादान्त लघोरपि गुरु-भाव उक्तस्तत्सर्वत्र द्वितीय-चतुर्थपादविषयम् (१) प्रथमतृतीय पाद विषय तु वसन्ततिलकादेरेव। —साद०, पृ० २३८

यत्न म छन्दोभङ्ग माना गया है।[1] जहाँ पादान्त मे लघु को गुरु मानने पर भी वाञ्छित प्रभाव न हो वहाँ पहले तीव्र प्रयत्न म उच्चारण की अपेक्षा की गई है।[2] द्वितीय चरण को तृतीय मे सन्धि आदि मे जोडना भी दोष है। पहले चरण के अन्त म आये वर्णों को अगले चरण के साथ सन्धि म जोडने म भी छन्द म व्याघात पडता है।[3]

पहले कहा जा चुका है कि छन्द का प्रयोग पाठय म श्रव्यता लाने के लिए है। यदि श्रव्यता न आई तो उसका उद्देश्य ही पूर्ण न होगा। इसलिए क्षेमेन्द्र ने छन्द प्रयोग को सफल व भाव-बिम्बन म समर्थ बनाने के लिए कुछ मार्ग-प्रदर्शन किया है जिस पर ध्यान देने से वह छन्द-प्रयोग उद्देश्य सिद्धि से वाञ्छित प्रभाव दिखाता है।[4] इसके अनुसार छोटे छन्दो म समास मे एव प्रलम्ब छन्दो म बिना समास की पद रचना से अच्छा चमत्कार होता है।[5] उपजाति का आरम्भ लघु अक्षर म हो तो कण-मुद्गदन्त सुबोध होता है परन्तु गुरु अक्षर म गाठ सी पड जाती है। दोधक तीन तीन अक्षरो म विभक्त हो तो चमत्कारी होता है नहीं तो ताल नही पडती। शालिनी पृथक् पृथक् पद-योजना म ही चमत्कारक होती है। रथोद्धता म पाद के अन्त म विसर्ग आना चाहिए। मालिनी के अन्त म विसर्ग न आय तो पूछ कटी चोरी की भाति नही सुहाती। आरम्भ म दीर्घ अक्षरो और पाद के अन्त मे विसर्ग आने से शार्दूलविक्रीडित चमत्कारी बनता है।[6]

किन्तु आधुनिक युग म अन्य सामाजिक रूढियो के साथ-साथ काव्यगत रूढिया भी टूट रही हैं। अग्रेजी साहित्य म जिस प्रकार स्वच्छन्द छन्द

---

१ अत्र (विकसित सहकार भारहारि) प्रमुदितसौरभ आगतो वसन्त। इति पाठो युक्त। —वही,

२ तु'अन वस्त्राणि चे ति वनस्य प्रथमवधूनि। 'वस्त्राण्यपि" इति पाठेतु दादर्यम इति तु न दोष। वही

३ तु० अर्थे समास-सन्धी न। यथा—सुरासुर शिरोरत्न-स्फुटत्किरणमञ्जरी-
पिञ्जरीकृत पादा तद्द्वन्द्व वन्दामहे शिवम्॥ —काव्य०, पृ० १२

४ द्र० अ० टि०, ७३

५ समासैलघुवृत्तानामसमासैं महीयसाम्।
शोभा भवति भव्यानामुपयोग-वशन वा॥ सुवृत्त०, २, २
उपजाति विकल्पाना सिद्धो यद्यपि सङ्कर।
तथापि प्रथम कुर्यात् पूर्वपादाक्षर लघु॥ —वही, २, ६

६ सुवृत्त० २, ७-१० १३ २३, ३५

(Free Verses) का प्रचलन हुआ, उसके अनुकरण पर हिन्दी साहित्य में भी नई कविता के नाम पर छन्दो-विहीन कविता का प्रचलन हो गया। छन्दोविहीन से तात्पर्य है कि शास्त्रोक्त छन्दों के नियम से अनाबद्ध कविता। इसका तात्पर्य यह है कि छन्द का वास्तविक उद्देश्य लय और सगीत किसी न किसी रूप मे उसमें भी रहता है। उसका प्रयोग म लतया पाठक पर निर्भर करता है। हिन्दी की देखा-देखी आधुनिक युग म सस्कृत मे भी इस प्रवृत्ति का सङ क्रमण हुआ है। किसी नियत छन्द मे आबद्ध न होने पर भी ऐसी कविता मे निश्चित लय है और गति है जिसके द्वारा वह अपेक्षित प्रभाव का उत्पन्न करती हुई भाव का मनन करती है। उसका दृष्टि मे रखत हुए भरत का यह कथन भी सङ्गत हो जाता है कि विना छन्द का शब्द ही नहीं होता।[1] इस कारण गद्य म भी एक सङ्गीत होता ह। आचार्यो ने गद्य के उत्कलिकाप्राय और वृत्तगन्धि दो भेद जो किये व इस गति और लय के आधार पर ही किये थे। गद्य के इन भेदों म सगीत की अवस्थिति पीछे दिये उदाहरणो मे सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार की विना छन्द वाली काव्य-रचना का एक आदर्श कृष्णमाधवदासकृत गिरिजागव ह। उसमे मुक्तक गीत ही हैं। परन्तु उनमे सगीत की मात्रा उतनी स्पष्ट नहीं है। उदाहरणार्थ निम्न पङ्क्तियाँ प्रस्तुत है—

मानिनि त्यज मानम्
शीतलाश्चन्द्रकिरणा,
मधुमासस्यागम,
प्रफुल्लानि कुसुमानि।
मन्द उन्माक समीर।
एकेनापि प्रिये
कामदाहो वृद्धिमाप्नोति,
किमुत परम्परया तेषाम्।
त्व च मान करोषि,
मुग्धे, प्रसीद।
कालो याति,
मान त्यज,
एहि।[2]

---

१ छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न च्छन्द शब्द-वर्जितम्। —नाशा०, १४, ४०

२ गिर०, १५

इन पंक्तियों में यद्यपि स्पर्श, गन्ध और अनुभूति के बिम्ब प्रस्तुत किये गये हैं परन्तु उनका बंध के संगीत में कोई उपकार नहीं हो रहा है। इसी प्रकार 'जीवन नाटकम्' के अन्तर्गत—

> धरित्री इयं तट्‌गशाला मता मे
> विभिन्न रूपाणि च जीवितानि
> विभान्त्यत्र चित्राणि रूपकाणि
> भवन्ति सर्वेऽभिनयाय एव
> ते ते जना नाट्य कथा प्रसंगे ।
> कश्चिच्च भाग्येन राजा तथैव
> भवत्येन रङ्कोऽप्ययो धनेन ।[1]

इन पंक्तियों में प्रतिदिन परिवर्तनशील और अनेक घटनाओं से भरे जीवन चक्र का मूर्तन रूपककार द्वारा किया गया है परन्तु बिम्ब धूमिल है। हाँ, अस्त-व्यस्त जीवन के प्रस्तुत बिम्ब को हम नविम द्वारा निर्दिष्ट खण्डबिम्बों की श्रेणी में रख सकते हैं। उपर्युक्त छन्द में उस वक्र नहीं मिलता। इनकी तुलना में प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की निम्न लिखित रचना को देखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि यह छन्दविहीन मुक्तक कविता भी किस प्रकार भाव के प्रतिबिम्बन में समर्थ है—

> अवतरसि किं नाधुना ?
> प्रार्थितो देवाऽभव किं केनचिन्नहि साधुना ?
> किं प्रतिज्ञा विस्मृता ?
> धर्म-हानि सुजन-पीडा यदि भवति,
> धृत विविध-तनुरात्म शक्त्याऽऽहु तु तेषां रक्षिता
> संभवामि युगे युगे ।
> स्थापयामि जने जने—
> धर्ममखिल दुष्ट दमन शुभ-कृतीनां शिक्षिता ।
> किं न वेदो दूष्यते
> सम्प्रति सुकर्माद् दृश्यते
> प्रुष्यते देव-द्विजानां मन्दिरम्
> मथ्यमानं जीवनम्
> लुण्ठ्यमानं यौवनम् ।

---

१ शिर० १६

हा हृत दुरितै सरभस धर्मरत्न सुन्दरम् ।
क शिव सन्
घृणा-कलुषित कालकूट लोक भद्र भावयति
आत्मनाऽऽचामन्
मोहय स्वै सुचरितै भूयो जगत ।
लोकमव वा दैत्य-चरितात हे प्रभो प्रह्लादकम ।
बलि-हृता श्रीरद्य भूयो दिविषदाम
नित्यशो ब्रह्म स्व-हरण बलवताम्,
यो भवान्
एक नारी हरण हेतो
आत्मजो रघु-वश केतो
ऋक्ष-वानर-बल-सहायो भस्मसात् कृतवान
कनक लङ का भूत-कलङ काम ।[1]

इन पङ्क्तियो मे विविध बिम्ब जो कि अतीत और वतमान जीवन से सम्बद्ध है क्रमश आते है । कविता का मुख्य भाव विनय और उपालम्भ का है उसका कम्पन लय मे है ।

गीति-काव्य मे भाव और सङ्गीत का परस्पर समन्वय अधिक प्रभविष्णु और बिम्ब-ग्राही होता है। प्राचीन कवियो ने इस प्रयोजन की सिद्धि या तो मन्दाक्रान्ता आदि छन्दो मे की है अथवा राग-रागनियो मे आबद्ध गीतो मे । पहले लिखा जा चुका है कि भरत ने छन्दो का विभिन्न रागो से सम्बन्ध जोडा है ।[2] जो नाट्य आदि मे अपेक्षित भावाभिव्यक्ति मे विशेष उपकारी नही होने, उन्हे उन्होने छोड दिया है ।[3] पश्चिमी आलोचको ने शृङ्गारतिलक मेघदूत

---

१ शिवप्रसाद भारद्वाज—गीतम् विस० ७, १, २ (१९६९-७०) पृ० ४५-४६

२ यान्यङ्गानि कलाश्चैव गीतकानुगतानि तु ।
तानि च्छन्दोगतैवृत्तै विभाव्यन्ते ध्रुवास्तथा ॥ —नाशा०, ३२, १४

३ सन्त्यन्यान्यपि वृत्तानि यान्युक्तानीह पण्डितै ।
न च तानि मयोक्तानि न शोभा जनयन्ति हि ॥
यान्यत परमत्र स्यु गीतकैस्तानि योजयेत् ।
ध्रुवाविधाने व्याख्यास्ये तेषा चैव विकल्पनम् ॥ —वही, १५, १४७-४६

सदृश काव्यों को गीतिकाव्य की श्रेणी में रखा है।[1] यह अकारण नहीं है। गीतिकाव्य के दोनों लक्षण भाव सरसता एवं वाद्य के साथ गेयता इन काव्यों में पाये जाते हैं।

> श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
> वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
> उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
> हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि ! सादृश्यमस्ति ॥[2]

इसमें चाक्षुष एवं दैन्य आदि अनुभूतियों के बिम्ब छन्द के माध्यम से भली प्रकार संश्लिष्ट रूप में उपस्थित होते हैं। राग-रागनियों के द्वारा बिम्बन का कार्य मध्य युग में अनेक कवियों द्वारा हुआ है परन्तु उनमें सर्वाधिक ख्याति जयदेव के गीतगोविन्द को मिली है। उसका एक गीत विविध ऐन्द्रिय बिम्बों के साथ साथ विरह-वेदना की अनुभूति का भाव बिम्ब संगीत के द्वारा किस सशक्त रूप में प्रस्तुत करता है यह द्रष्टव्य है—

> स्तनविनिहितमपि हारमुदारम् ।
> सा मनुते कृशतनुरिव भारम् ।
> राधिका तव विरहे केशव !
> सरस-मसृणमपि मलयज-पङ्कम्
> पश्यति विषमिव वपुषि सशङ्कम् ॥
> श्वसित-पवनमनुपम-परिणाहम्
> मदनदहनमिव वहति सदाहम् ।
> दिशि दिशि किरति सजलकणजालम्
> नयन-नलिनमिव विगलित-नालम् ॥
> त्यजति न पाणितलेन कपोलम्
> बाल-शशिनमिव सायमलोलम् ॥[3]

इन पंक्तियों में चाक्षुष स्पर्श और घ्राण बिम्बों के साथ संगीत से श्रव्य बिम्ब की उपस्थिति होती है और उन सब का मदन सन्ताप के भाव-बिम्ब से सम्बन्ध है। इस प्रकार यह संश्लिष्ट बिम्ब है।

---

१ Keith HSL p 199 कृष्णमाचारियर—History of Classical Literature p 358
२ मेदू०, २, ४३
३ गीगो०, ४, ६

ये गीत भी छन्दों की विशिष्ट योजना में ही बनते हैं। जैसे उपयुक्त पङ्क्तियाँ पादाकुलक नामक मात्राच्छन्द में[1] बनी हैं। वर्तमान लेखक ने भी इसी प्रकार छन्दों में गीत-निर्माण का नया प्रयोग किया है—

छविरतिहृदयहरेयं राजति वासन्ती
परभृततिरतिमधुरं गायति वासन्ती ॥
वासन्ती लतिका विभाति परितश्छन्ना प्रफुल्लैः सुमैः
चञ्चत्-सर्षप सून-राजि रुचिरा पीताम्बरा भाति भूः ।
शुष्यत्पर्णक-मर्मरध्वनिभृतो नृत्यन्ति शाखाभुजाः
शिलष्यन्ती मलयानिलेन सविधे नीता नवा वल्लरी ॥
दर्शं दर्शमुदारं मुग्धा माद्यन्ती
रतिरपि रणरणकेनोत्कूजति वासन्ती ।
छविरतिहृदयहरेयं राजति वासन्ती
परभृततिरतिमधुरं गायति वासन्ती ॥[2]

यहाँ शार्दूलविक्रीडित का अन्तरा के रूप में रखकर आगे पीछे ध्रुवपद रखकर गीत का रूप दिया गया है। सभी गीतों के मूल में कोई छन्द रहता ही है। केवल उसको स्वर योजना से नया रूप दे दिया जाता है। काव्य और गीत का समन्वय इसमें अत्यधिक प्रभविष्णुता ला देता है। यह प्रभविष्णुता और कुछ न होकर अपेक्षित भावादि का गुणन ही है।

यह प्रभाव लाने के लिए कवि को छन्द आदि में पूर्ण अभ्यास और साधना करनी पड़ती है।[3]

साराश में यह कहा जा सकता है कि काव्य-रचना में शब्द और लय जिस प्रकार घुलमिल कर एक स्थायी प्रभाव उत्पन्न करते हैं, अपनी सम्प्रेषणशक्ति से

---

१ अनियतगुरुलघुरहितविपादं षोडशकला यदा प्रतिपादम् ।
फणिपतिपिङ्गल-भणितविभेदं पादाकुलक-वृत्तमवेदम् ॥
—वाग्वल्लभ, पृ० ५७

२ अरागो० ३६

३ तु० नहि परिचयहानं केवलं काव्यकष्टं
कुकविरभिनिविष्टः स्पष्टशब्दप्रविष्टः ।
विबुध-सदसि पृष्टः क्लिष्टधीर्वेत्ति वक्तुं
नव-नगरागतगद् वरे कोऽप्यधृष्टः ॥ —क० कण्ठा०, (कामा०) ५, १

श्राता और सामाजिक हृदय को प्रभावित करते हैं उसी प्रकार छद भी। उनका उददश्य भी विवक्षित भाव का प्रत्यायन है। यह काय वह अपन मन्‍ गीत, ताल और लय के द्वारा करता है। कान्ता समित शब्द की मधुरता और सामथ्य काव्य में उपयुक्त छन्द के चयन क द्वारा ही आती है। तभी उसकी वाणा राजशेखर क शब्द में सजन व्यापक बनती है।[1]

---

१ एकस्य तिष्ठति कवेगृह एव काव्यम
अन्यस्य गच्छति सुहृद भवनानि यावत।
न्यस्या (स्य स्त) विदग्ध-वदनेपु पदानि शश्वत
कस्याऽपि सञ्चरति विश्वकुतूहलीव॥ —काभी०, १ ४ (पृ० १४)

निष्कर्ष

इस सम्पूर्ण विचार-मन्थन के अनुसार हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि भारतीय काव्य-शास्त्र, आगे चल कर जिससे हिन्दी का काव्य शास्त्र उद्भूत, पल्लवित एवं विकसित हुआ, काव्य का सार एकमात्र चमत्कार को मानता है। चमत्कार क्योंकि आनन्द, ज्ञान और प्रकाश तीनों धर्मों का आस्मसात किये हैं अतः उसका स्वरूप आधुनिक आलोचना-क्षेत्र में प्रसिद्ध काव्य-बिम्ब से अभिन्न है। काव्य कवि की अद्‌भुत सृष्टि होती है। कवि योगी की भांति एवं प्रतिभा से अपने इस काव्य-संसार का सर्जन करता है। पहले वह उस प्रतिभा-रूप अन्तर्दृष्टि से विश्व के सूक्ष्म एवं स्थूल रहस्यों का साक्षात्कार करता है पुनः वाणी के माध्यम से काव्य के रूप में उनका प्रतिरूप उपस्थित करता है। वह शिव है तो उसकी प्रतिभा या कल्पनाशक्ति उसकी अभिन्न सहकारिणी शक्ति है। उसके इच्छाज्ञान, क्रियाओं के समन्वय-रूप स्पन्द से काव्य की सृष्टि होती है।

अर्थ की साकारता—सम्पूर्ण दर्शनों का निर्णय है कि शब्द का उच्चारण करने के अनन्तर जो पदार्थ ज्ञान होता है, वह साकार होता है। उसके अनुसार बोद्धा की अन्तर्दृष्टि के समक्ष बोध्य पदार्थ का आकार उपस्थित हो जाता है, तभी उसे अनुभव होता है कि मैं इस वस्तु को जानता हूँ। इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य को पढ़ने या सुनने के पश्चात् काव्य में वर्णित अर्थ की आकृति जब तक पाठक या श्रोता के समक्ष न उभर जाय, तब तक उसे काव्यार्थ बोध हुआ नहीं समझा जायगा। इसी उद्देश्य से आचार्यों ने अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना एवं तात्पर्य इन चार शब्दशक्तियों को मान्यता दी। चारों से क्रमशः वाच्य लक्ष्य व्यंग्य एवं वाक्यार्थ इन अर्थों का बोध माना। अर्थ-बोध का माध्यम क्योंकि शब्द है, अतः उसके स्वरूप का विचार करते हुए उसके रूढ, यौगिक और योगरूढ इस प्रकार तीन भेद माने। इनमें भी जो अर्थ चमत्कार-पूर्ण हो और जो चमत्कार-जनन में समर्थ हो, वे अर्थ और शब्द ही काव्य के घटक एवं मुख्य तत्त्व माने गये हैं।

चमत्कार के साधन

चमत्कार के साधनों में वक्रोक्ति, रस, ध्वनि, गुण, रीति, वृत्ति, पाक, शय्या एवं अलङ्कार सभी की गणना होती है। वक्रोक्ति व्यापक अर्थ लिये

पारिभाषिक शब्द है जो वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य तीनों अर्थों को आत्मसात् किये हुए है। वाच्य अर्थगत वक्रोक्ति में सम्पूर्ण अलङ्कारवर्ग समा जाता है। वर्ण विन्यास-वक्रता में शब्दालङ्कार और उपचार-वक्रता आदि में अर्थालङ्कार, लक्षणा एवं अभिधामूला व्यञ्जना में बोधित अर्थ सभी समाहृत हो जाते हैं। इसलिये वक्रोक्ति काव्य का सर्वस्व है। क्या अलङ्कारवादी और क्या व्यञ्जनावादी आचार्य सभी उस वक्रोक्ति को काव्य में प्रधानता देते हैं। वह वक्रोक्ति भी चमत्कार ही उत्पन्न करती है।

ध्वनि—व्यञ्जनाबोध्य अर्थ रस, वस्तु और अलङ्कार तीन प्रकार का माना गया है जिसे ध्वनि नाम से पुकारा जाता है। सर्वाधिक चमत्कारक होने से ध्वनि काव्यबिम्ब का निर्णायक प्रमुख तत्त्व है। पर पीछे उदाहरणों में स्पष्ट हो चुका है कि कहीं यह काव्य बिम्ब स्वयं व्यङ्ग्य रूप होता है तो कहीं ध्वनि आगे काव्य बिम्ब के निर्माण में सहायक होता है।

ध्वनि का एक प्रकार रस-ध्वनि है जो कि मानस क्षेत्र की वस्तु है सूक्ष्म भाव जगत से सम्बन्ध रखती है। इसका स्थूल या ऐन्द्रिय बिम्ब सम्भव न होने से अनुभूत्यात्मक बिम्ब बनता है जिसमें आलम्बन विभाव उद्दीपन सञ्चारी और सारा वातावरण मूर्त हो उठता है। काव्य के मूल में कवि का भाव या रति बीज रूप में रहता है जिसका बाह्य आलम्बन आदि के माध्यम से मूर्तन होता है। सामाजिक या पाठक के भाव का उसके साथ साधारणीकरण होने से रस या भाव का साक्षात्कार या प्रत्यक्षीकरण सम्भव होता है।

औचित्य दोष और गुण—काव्य की आत्मा रस है वह भी चमत्कार-प्राण है। इसीलिये काव्य का मुख्य अर्थ वही है। अतः कवि के लिये आवश्यक होता है कि अपनी सारी शक्ति उस रस की पुष्टि में लगा दे। जिन कारणों से रस-प्रतीति में विघ्न होता है, उनका निराकरण करे। रस के विघातक कारण ही दोष कहलाते हैं जो कि औचित्य का पालन न करने से उत्पन्न होते हैं। औचित्य की रक्षा से दोषों का निराकरण और गुणों का आधान होता है। परन्तु अनौचित्य दोषों का आवाहन करता है और गुणों का विघात। सारे दोष चाहे वे पद-वाक्यगत हों अथवा अर्थ या रसगत सब काव्य बिम्ब के निर्माण में बाधक होने के कारण दोष होते हैं। कुछ प्रत्यक्ष रूप से सीधे बिम्ब पर प्रभाव डालते हैं तो कुछ परोक्ष रूप से। जो सर्वथा काव्य बिम्ब के घातक नहीं होते, वे अनित्य दोष माने जाते हैं और परिस्थिति बदल जाने पर दोष न होकर कभी-कभी गुण भी बन जाते हैं।

गुण, रीति, वृत्ति—गुणो का सम्बन्ध भी काव्य-बिम्ब के ही साथ है। आचार्यों ने माधुर्य आदि गुणो के लिये जो वर्ण निश्चित किये हैं एव आनन्दवर्धन ने दीर्घसमासा और असमासा या मध्यम-समासा सघटनाओ के साथ गुणो का सम्बन्ध जोडा, उसका तात्पर्य यही था कि भावानुरूप वर्ण योजना और मसृण-बन्ध या कठिन बन्ध से विवक्षित का बिम्ब बने। वैदर्भी, गौडी और पान्चाली इन रीतियो का सम्बन्ध बन्ध से है तो कोमल या कठोर ध्वनियो का प्रयोग वृत्तियो का विषय है। भाव के अनुरूप ध्वनियो की योजना उपनागरिका, परुषा और कोमला इन वृत्तियो की सृष्टि करती है। पद्य या गद्य दोनो में ही ये वृत्तियो काव्य बिम्बो के निर्माण में असाधारण रूप से सहायक होती हैं। यदि पद योजना भाव के इस प्रकार अनुरूप हो कि एक भी पद व्यर्थ न हो, न ही समानार्थक शब्द से उसे बदला जा सके, ध्वनिया सुनने से ही आशय की अभिव्यक्ति करती हो तो पाक बन जाता है एव यदि ध्वनिया परस्पर समान होने से श्रुति-सुखद हो एव झङ्कार उत्पन्न करने वाली हो तो शय्या बन जाती है। ये भी पद और वर्ण-योजना की अनुकूलता से काव्यबिम्ब का निर्माण करते हैं।

अलङ्कार—काव्य-बिम्ब का सबसे समर्थ तत्त्व अलङ्कार है। बिम्ब नादात्मक और रूपात्मक दोनो प्रकार के होते हैं। शब्दालङ्कार पहले प्रकार के बिम्ब हैं और शेष दूसरे प्रकार के। अलङ्कार वर्ण्य वस्तु के चित्र ही हैं। रीतियो के रूप में जो रेखाएँ उकेरी जाती हैं, अलङ्कार उन आकृतियो को स्पष्टता देते हैं। पिछले अध्यायो में हमने अलङ्कारो को पाच भागो में विभक्त किया है—शब्दालङ्कार, साम्य मूलक, सादृश्येतरसाम्यमूलक, प्रतीकात्मक एव वर्णनात्मक। इनमे पहले ध्वनिचित्र प्रस्तुत करते हैं। दूसरे और तीसरे इन चित्रो के साथ भावना का स्पर्श करते हैं। आजकल के कलाकार जिस प्रकार व्यङ्ग्य चित्र और प्रतीकात्मक चित्र बनाते हैं। उनके बीच उन कवियो का दृष्टि-कोण छिपा होता है इसी प्रकार ये अलङ्कार दृष्टि की विविधता प्रस्तुत करते हैं। वास्तव श्रेणी के अलङ्कार आकृतिया बनाते हैं। अन्य अलङ्कार उनमे रङ्ग भरते हैं। उनमें सर्वाधिक चटकीला रग उपमा और रूपक का होता है। यही कारण है कि अलङ्कार दोषो में आचार्यों ने उपमा और रूपक अलङ्कार के ही दोष प्रधानता से गिनाये हैं।

बिम्ब और संवेग—जिस प्रकार पाश्चात्य समीक्षक काव्य-बिम्बो में भावानुभूति का स्पर्श आवश्यक मानते हैं, इसी प्रकार भारतीय आचार्य। बिना भावना के स्पर्श के बने चित्रो को वे कोरी अलङ्कारक्रीडा मानते हैं। ऐसे

अलङ्कार निर्जीव खिलौने होते है। काव्य मे प्रासङ्गिक वर्णन जीवन की विविधताओं की भूमिका होते है। इनके बिना काव्य पुरुष का व्यक्तित्व पूरा नही होता। रस भाव से इन काव्य-चित्रों मे प्राण प्रतिष्ठा होती है। इसीलिये आनन्दवर्धन ने चेतन और अचेतनवस्तुवृत्तान्त का आलम्बन या उद्दीपन आदि के रूप मे रसभाव से सम्बन्ध स्थापित किया था।

बिम्ब भेदो का समाहार—पहले अध्याय मे काव्य-बिम्ब के जो भेद गिनाये थे सब इनमें समाहृत हो जाते है। शब्दालङ्कारो से बने बिम्ब नाद बिम्ब या ध्वनि चित्र हैं। स्वभावोक्ति भाविक आदि अलङ्कारों मे मूर्त बिम्ब प्रस्तुत किये जाते हैं। पूर्णोपमा समस्तवस्तुविषयक रूपक बिम्ब प्रतिबिम्ब-भाव पर आधारित अलङ्कार पूर्ण बिम्ब प्रस्तुत करते है। एकदेशविवर्ती रूपक केवलरूपक, उत्प्रेक्षा निदर्शना खण्ड बिम्ब प्रस्तुत करते है। समासोक्ति, वाक्यार्थोपमा मालारूपक परम्परित रूपक आदि मश्लिष्ट बिम्ब प्रस्तुत करते है। परिकर मदृश अलङ्कार निकाय बिम्ब है जो किसी वस्तु के भीतरी स्वरूप या किसी घटना को मूर्त करते हैं। तद्गुण आदि अलङ्कार चित्रो के वर्ण का स्पष्ट करते हैं तो उदात्त मिथिक बिम्ब का ही रूप है। मिश्र बिम्ब भी इन्ही अलङ्कारों मे पीछे मिश्र ढङ्ग से बनते है। इस प्रकार सारा काव्य शास्त्र इस बिम्ब सिद्धान्त को समेटे हुए हैं। आनन्दवर्द्धन भट्ट तौत, अभिनव गुप्त आदि रसवादी और भामह दण्डी सदृश अलङ्कार वादी आचार्य इसके प्रवक्ता रहे है।

इन तथ्यो के रहते हुए भी भारतीय काव्यशास्त्र मे काव्य-बिम्ब की धारणा का अभाव मानना भ्रान्ति मात्र है।

सहायक-ग्रन्थ सूची
(BIBLIOGRAPHY)

संस्कृत

१ अग्नि पुराण) शास्त्रीय भाग) — रामलाल वर्म सम्पादित, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली

२ अथर्ववेद-१ (भाग) सनातन भाष्य सहित — माधव पुस्तकालय, १०३, कमलानगर, दिल्ली, १९७५

३ अभिज्ञान शाकुन्तल — कालिदास, ए० बी० गजेन्द्र गडकर द्वारा सम्पादित दि पापुलर बुक स्टोर टावर गेट, सूरत छटा संस्करण

४ अभिनव भारती भाग १, ४ — अभिनव गुप्त, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा द्वितीय संस्करण

५ अभिनव भारती — अभिनव गुप्त मधुसूदनकृत अनुवाद सहित, भाग २, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

६ अभिनवरागगोविन्दम् — शिव प्रसाद भारद्वाज, श्रीमती भगवान देवी भारद्वाज, ऊना रोड होशियारपुर, १९७९

७ अमरकोष — अमरसिंह, निर्णय सागर प्रैस, बम्बई

८ अमरुशतक — अमरुक, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद

९ अलङ्कार चिन्तामणि — अजित सेन, भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली

१० अलङ्कार-मणिहार — श्री कृष्ण ब्रह्मतन्त्र, श्रीब्रह्मतन्त्र स्वतन्त्र परकाल मठ, वेदान्त दैक्षिक बिहार सभा, मैसूर

११ अलङ्कार महोदधि— — नरेन्द्र प्रभसूरि, गायकवाड ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट बड़ौदा

१२ अलङ्कार-मीमांसा — डा० राम चन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

१३ अलङ्कार रत्नाकर — शोभाकर मिश्र आरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९४९

१४ अङ्कारसवस्व — रुयक [जयरथकृत विमर्शिनी एव रेवा प्रसाद द्विवदी कृत हिन्दी व्याख्यासहित चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी

१५ अङ्कारसवस्व — रुयक, जयरथ कृत विमर्शिना एव रेवा प्रसाद द्विवेदा कृत हिन्दी व्याख्या सहित चौखम्बा प्रकाशन वाराणमा

१६ अष्टाध्यायी — पाणिनि चौखम्बा सस्कृत सीरीज वाराणसा

१७ उत्तररामचरित — भवभूति साहित्य भण्डार सुभाप बाजार मेरठ

१८ ऋग्वद — श्रीपाद दामादर सातवलकर सम्पादित सस्करण सतारा

१९ ऋक्प्रातिशाख्य उव्वट भाष्य सहित उत्तर भाग — मङ्गल देव सम्पादित इण्डियन प्रेस इलाहाबाद

२० ऋतुसहार — कालिदास निणय सागर प्रेस बम्बइ

२१ एकावली तरला-सहित — विद्याधर गवनमेन्ट सस्कृत लाइब्रेरी बम्बई

२२ एलन्य उपनिषद—ईशादि दस उपनिषद — शाङ्कर भाष्य सहित मोतीलाल बनारसा दास दिल्ली १९६४

२३ औचित्यविचारचर्चा — क्षमेन्द्र प्रभा टीका सहित चौखम्बा सस्कृत सीराज वाराणसा

२४ कठोपनिषद ईशादि दशोपनिषद — शाकर भाष्य सहित मातालाल बनारसीदास वाराणसी १९६४

२५ कविकण्ठाभरण — क्षमेन्द्र काव्यमाला गच्छक पञ्चम निणय सागर प्रेस बम्बइ

२६ कवि दपन — भोला शङ्कर व्यास चौखम्बा प्रकाशन वाराणसा

२७ कादम्बरी — बाण भट्ट भानु चन्द्र सिद्धचन्द्र कृत टीका सहित निणय सागर प्रेस बम्बइ १९३२

२८ काव्यालङ्कार — भामह गंगा वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बइ

२९ किरातार्जुनीय — भारवि निणय सागर प्रेस बम्बइ

३० काव्यकल्पलतावृत्ति — जरिसिंह व अमरचन्द्र यति चौखम्बा सस्कृत सीरीज वाराणसी १९३१ सस्करण

३१ काव्यप्रकाश — मम्मट आनन्दाश्रम सस्कृत ग्रन्थमाला पूना

३२ काव्य-प्रकाश उद्योत — नागेश भट्ट, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला, पूना

३३ काव्य-प्रदीप — गोविन्द ठक्कर, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थ-माला, पूना

३४ काव्य-मीमांसा — राजशेखर, केदारनाथ सारस्वत कृत अनुवाद सहित, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

३५ काव्य-मीमांसा — राजशेखर, नारायण शास्त्रि खिस्ते कृत टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

३६ काव्यादर्श — आचार्य दण्डी, डा० धर्मेन्द्र कुमार गुप्तकृत व्याख्या सहित, मेहर चन्द लछमण-दास, दरियागंज दिल्ली, १९७३

३७ काव्यानुशासन-विवेक भा० १ — आचार्य हेम चन्द्र, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई

३८ काव्यालङ्कार — रुद्रट, डा० सत्यदेव चौधरी, द्वारा सम्पादित, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली

३९ काव्यालङ्कार-सार सङ्ग्रह — उद्भट डा० राममूर्तिकृत, व्याख्या सहित, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग १९६६

४० काव्यालङ्कारसारसंग्रह वृत्ति — प्रतिहारेन्दु राज, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६६

४१ काव्यालङ्कारसूत्र वामन — त्रिपुरहरभूपाल, भट्टकृत कामधेनु सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी

४२ काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति — त्रिपुरहर भट्ट भूपाल, कृत काम धेनु टीका सहित

४३ किरणावली — कृष्ण वल्लभाचार्य नारायणस्वामी, छन्नूलाल ज्ञानचन्द पाठक, कचौड़ी गली, बनारस, १९४०

४४ कुमार सम्भव — कालिदास, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९५५

४५ कुरुक्षेत्र महात्म्य — छज्जूराम शास्त्री, स्वयं प्रकाशित, धर्म प्रेस, कमला नगर, दिल्ली, १९६१

४६ कुवलयानन्द — अप्पयदीक्षित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

४७ गङ्गा लहरी — जगन्नाथ, पण्डितराज ग्रन्थमाला, संस्कृत अकादमी, उस्मानिया यूनिवर्सिटी, हैदराबाद

४८ गणपति-सम्भवम — प्रभुदत्त शास्त्री, अर्चना प्रकाशन, ७६, रामदास पेठ नागपुर १९६१
४९ गीतगोविन्द — जयदेव, राणा कुम्भ कृत रसिक प्रिया सहित, निर्णय सागर प्रैस, बम्बई, १९३७
५० चन्द्रालोक — जयदेव पीयूषवर्ष, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६०
५१ चमत्कार-चन्द्रिका — विश्वेश्वर, मेहरचन्द लक्ष्मणदास दिल्ली
५२ चारुदत्त — भास भास नाटक चक्रम् चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
५३ चित्रमीमांसा — अप्पयदीक्षित वाणी विहार, वाराणसी-१
५४ छान्दोग्य उपनिषद ईशादि दशोपनिषद् — शांकर भाष्य सहित मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी १९६४
५५ तर्क भाषा — केशव मिश्र बद्रीनाथ शुक्ल कृत टीका सहित मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
५६ तर्जनी — दुर्गादत्त शर्मा तथा शेष भूषण नेटी, प्रागपुर, कांगड़ा १९७०
५७ तर्कभाषा — माधाकर गुप्त आरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा
५८ तर्क संग्रह — अन्नम्भट्ट दीपिका सहित, छन्नूलाल ज्ञानचन्द कचौड़ी गली बनारस
५९ तर्क संग्रह दीपिका टीका — आनन्द झा, उत्तर प्रदेश हिन्दी अकादमी, लखनऊ १९४०
६० तुकाराम चरित — पण्डिता क्षमा राव हिन्द किताबज् लिमिटेड पब्लिशस, बम्बई, १९५०
६१ तैत्तिरीय आरण्यक — आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला, पूना
६२ तैत्तिरीय उपनिषद्-ईशादि दश उपनिषद, — मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी १९६४
६३ दर्पण — हेमाद्रि कृत रघुवंश टीका, काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना-१, १९७३
६४ दशरूपक—धनञ्जय — भोलाशङ्कर व्यास कृत व्याख्या सहित, चौखम्बा प्रकाशन, दिल्ली

६५ दशकुमार चरित	दण्डी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
६६ दिव्याञ्जना—ध्वन्यालोक लोचन टिप्पणी	गोस्वामी दामोदर शास्त्री तथा महादेव शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी १९४०
६७ देवी शतकम्	पद्मनारायण त्रिपाठी, स्वयम् मुरादाबाद, १९६४
६८ धर्मसूत्र	बौधायन, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
६९ चतुर्भाणी	मोतीलाल मेनारिया एवं वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा सम्पादित, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई
७० ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी १९४०
७१ ध्वन्यालोक-लोचन	अभिनव गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९४०
७२ नञ्जराज यशोभूषण	नृसिंह कवि, ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा
७३ नयद्युमणि	मेघनाद सूरि, गवर्नमेंट ओरियण्टल मेनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी सीरीज, मद्रास
७४ नागानन्द	हर्षवर्द्धन, हाडा पब्लिशिंग कम्पनी, होशियारपुर
७५ नाट्य शास्त्र	भरत, काव्यमाला संस्करण (मूल मात्र), निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४३
७६ निरुक्त	यास्कमुनि, दुर्गाचार्यकृत भाष्य सहित, लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई
७७ निरुक्त	यास्क, शिव नारायणशास्त्री कृत व्याख्या-सहित, ताारादेवी कोकिला, दिल्ली, १९७२
७८ नैषधीय चरित	श्री हर्ष, नारायण भट्ट टीका सहित, खेमराज श्रीकृष्णदास लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९४३
७९ नेपाल साम्राज्योदय	पशुपति झा, सीतादेवी, विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्थान पंजाब विश्वविद्यालय, होशियारपुर, १९८०

८० नाट्यशास्त्र — भरत अभिनव गुप्त कृत अभिनव भारती सहित, भाग १-४ गायकवाड आरियण्टल संस्कृत सीरीज, बड़ौदा

८१ परशुराम दिग्विजय-महाकाव्यम् — छज्जूराम शास्त्री, विद्या सागर रति राम शास्त्री साहित्य भण्डार, मेरठ १९५५

८२ पाणिनीय धातुपाठ-सिद्धान्त कौमुदी बाल मनोरमा सहित — मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, १९३६

८३ पाणिनीय शिक्षा — चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी

८४ पातञ्जल योग सूत्र — वाचसति मिश्र कृत टीका भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी

८५ पुराणानां काव्यरूपतायाः विवेचनम् — डा० राम प्रताप वेदालङ्कार जम्मू विश्वविद्यालय जम्मू १९७४

८६ प्रत्यभिज्ञाहृदय — क्षेमराज, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली

८७ प्रसन्न राघव — जयदेव, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी

८८ बाल चरित भास — भास नाटक चक्रम् चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी

८९ बिहारी सतसई — बिहारी लाल, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली

९० बुद्ध चरित अश्वघोष — सूर्यनारायण चौधरी सम्पादित, संस्कृत भवन, कठोतिया कोशी पूर्णिया, बिहार

९१ बृहत् स्तोत्र रत्नाकर — शिवदत्त मिश्र सम्पादित, ठाकुर प्रसाद एण्ड सन्स, वाराणसी

९२ बृहदारण्यक उपनिषद — ईशादिदशोपनिषद संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

९३ बोधिसत्त्व चरितम — सत्यव्रतशास्त्री, मेहर चन्द लक्ष्मणदास, दरियागंज, दिल्ली

९४ ब्रह्म वैवर्त पुराण — श्री राम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली

९५ भागवत पुराण — वेद व्यास, पण्डित प्रदस, वाराणसी

९६ भामिनीविलास — जगन्नाथ, पण्डितराज ग्रन्थमाला संस्कृत अकादमी उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद

९७ भारत-सन्देश	शिव प्रसाद भारद्वाज, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर, १९६३
९८ मधुमाधुरी	श्याम देव पाराशर, स्वयं प्रकाशित, होशियारपुर
९९ मध्यान्त विभागशास्त्र	वसुबन्धु, आचार्य मैत्रेयकृत कारिका सहित, रामचन्द्र पाण्डेय द्वारा सम्पादित, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
१०० मनुस्मृति	कुल्लूक भट्ट सहित, निर्णय सागर प्रैस, बम्बई
१०१ महावीर चरित	भवभूति चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
१०२ महावीरचरितम् (काव्य)	शिव प्रसाद भारद्वाज, आत्मानन्द जैन महा सभा, अम्बाला, १९६४
१०३ माण्डूक्य कारिका	गौड पाद ईशादि दस उपनिषद्, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
१०४ मालती-माधव	भवभूति, यूनिवर्सिटी मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास
१०५ मालविकाग्निमित्र	कालिदास, काट्यवेम कृत टीका सहित बुक्सेलर्स पब्लिशिंग कौ०, बम्बई, १९५०
१०६ मीमांसा-विमर्श	वाचस्पति उपाध्याय, भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली
१०७ मुद्रा राक्षस	विशाख दत्त, देवधर तथा वेडेकर द्वारा सम्पादित, केशव भिकाजी ढावले, बम्बई, १९४८ ई०
१०८ मृच्छकटिक	शूद्रक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी
१०९ मेघदूत	कालिदास, मल्लिनाथ कृत टीका सहित जी०जे० सोमयाजी बी० रामा स्वामी शास्त्रुलु एण्ड सन्स, एस्प्लेनेड, मद्रास, १९५१
११० यजुर्वेद (गुटका)	अजमेर वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, १९५१
१११ याज्ञवल्क्यस्मृति	याज्ञवल्क्य, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
११२ रघुवंश	कालिदास, निर्णय सागर प्रैस, बम्बई
११३ रत्नदर्पण	रत्नेश्वर, सरस्वती कण्ठाभरण, निर्णयसागर प्रैस, बम्बई, १९३४

११४ रसगङ्गाधर — पण्डितराज जगन्नाथ, नागेशकृत मर्म प्रकाशिनी सहित, निर्णय सागर प्रैस, बम्बई, १८८८

११५ राग-विबोध — सोमनाथ, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, १८१७ संस्करण

११६ राघव पाण्डवीय — माधव भट्ट, चौखम्बा प्रकाशन

११७ रामचरितम् उत्तरार्द्ध — पद्मनारायण त्रिपाठी, रमाकान्त त्रिपाठी, सन्मार्ग प्रैस, वाराणसी, १९७१

११८ रामचरित-पूर्वार्ध — पद्मनारायण त्रिपाठी, रमाकान्त त्रिपाठी, काशी, १९६५

११९ रामरुद्री टीका — रामरुद्राचार्य गोवर्धन रामलाल साहू, वाराणसी (१९५२)

१२० वक्रोक्ति जीवित-कुन्तक — डा० के० कृष्णमूर्ति सम्पादित, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, १९७७

१२१ वाक्यपदीय — भर्तृहरि, के० सुब्रह्मण्यम् द्वारा सम्पादित, डैक्कन कालेज, पूना

१२२ वाग्वल्लभ — दुःखभञ्जन कवि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

१२३ वाचस्पत्यम् — तारानाथ भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

१२४ वाल्मीकि रामायण — वाल्मीकि, पण्डित पुस्तकालय, वाराणसी, १९५७

१२५ वासवदत्ता — सुबन्धु, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी

१२६ विक्रमोर्वशीयम् — कालिदास, सुरेन्द्रनाथ शास्त्री कृत टीका-सहित, निर्णय सागर प्रैस, बम्बई १९४२

१२७ विक्रान्त-भारतम् — वी० आर० शास्त्री अमर भारती सीरीज, हैदराबाद, १९६४

१२८ विज्ञप्तिमात्रितासिद्धि — वसुबन्धु, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी

१२९ विवरण प्रमेय-सङ्ग्रह — माधवाचार्य, आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला, पूना

१३० वृत्तिवार्तिक — अप्पय दीक्षित, निर्णय सागर प्रैस, बम्बई

१३१ वेणी-संहार — भट्ट नारायण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

१३२ वेदान्तपरिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र, लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई
१३३ वैयाकरणभूषणसार	कौण्ड भट्ट, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला पूना
१३४ वैयाकरणलघुमञ्जूषा	नागेश भट्ट, सभापति शर्म कृत-टीका सहित चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
१३५ वैयाकरण-सिद्धान्त मञ्जूषा	नागेश भट्ट, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
१३६ व्यक्ति-विवेक	महिम भट्ट, मधुसूदनी विवृति-सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३६
१३७ शब्द-व्यापार-विचार	मम्मट, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
१३८ शान्ति-चरितम्	पद्मनारायण त्रिपाठी, रमाकान्त त्रिपाठी, वाराणसी, १९७१
१३९ शिञ्जारव	कृष्णलाल नादान वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली, १९६६ संस्करण
१४० शिवराज-विजय	अम्बिकादत्त व्यास व्यास पुस्तकालय, वाराणसी
१४१ शिवमहिम्न	अज्ञात कर्तृक, लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई
१४२ शिशुपालवध	माघकवि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
१४३ शृङ्गारप्रकाश-भाग १-२	भोज इन्टरनेशनल अकादमी आव संस्कृत रिसर्च, मैसूर
१४४ शृङ्गारतिलक	कालिदास निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
१४५ शृङ्गारार्णव चन्द्रिका	विजयवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
१४६ श्रीनिवास-शतकम्	विट्ठल देवुनि सुन्दर शर्मा, स्वय प्रकाशित, संस्कृत अकादमी, उस्मानिया विश्व-विद्यालय हैदराबाद
१४७ श्री नेहरू चरितम्	ब्रह्मानन्द शुक्ल शारदा-सदन, खुरजा
१४८ श्रुत-बोध	कालिदास, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
१४९ सङ्गीत-दर्पण	दामोदर मिश्र, सुरेन्द्रनाथ टैगोर, पथुरिया घाट, कलकत्ता
१५० समराङ्गण सूत्रधार	भोज, गायकवाड आरियण्टल इन्स्टीटयूट, बड़ौदा

१५१ सरस्वती कण्ठाभरण — भोज रत्नेश्वरकृत रत्नदर्पण सहित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९३४

१५२ सर्वदर्शन-सङ्ग्रह — आचार्य माधव, निर्णय सागर प्रेस बम्बई

१५३ सांख्य-कारिका — ईश्वरकृष्ण बालकृष्ण त्रिपाठी भदैनी वाराणसी

१५४ साहित्यदर्पण — विश्वनाथ शालग्रामशास्त्रिकृत विमला सहित मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, १९५६

१५५ साहित्यसुधासिन्धु — विश्वनाथ देव डा० रामप्रताप सम्पादित भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली

१५६ सिद्धान्त कौमुदी — भट्टोजिदीक्षित वासुदेव याज्ञिक कृत बालमनोरमा सहित भाग १-२, मोतीलाल बनारसीदास सैदमिट्ठा बाजार लाहौर १९३६

१५७ सिद्धान्तमुक्तावली — विश्वनाथ तर्क-पञ्चानन ज्वालाप्रसाद गौड कृत टीका सरजू देवी डी० ३४/८५ गणेश महाल वाराणसी

१५८ सिद्धान्तशेखर — उभयवेदान्ति विश्वनाथ व० सीताराम सोमयाजी मैसूर

१५९ सुवृत्त तिलक — क्षेमेन्द्र निर्णय सागर प्रेस बम्बई

१६० सौन्दरनन्द — अश्वघोष आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लन्दन

१६१ स्वप्नवासवदत्त — भास भासनाटक चक्र चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी

१६२ स्वर-मङ्गला संस्कृत त्रैमासिक — संस्कृत अकादमी (राजस्थान) अजमेर, मार्च १९६७

१६३ स्वराज्य विजय — द्विजेन्द्र नाथ शर्मा शास्त्री गार्गी शर्मा भारती प्रतिष्ठान मेरठ १९७१

१६४ हठयोगप्रदीपिका — तत्त्वविवेचक मुद्रालय तुकाराम तात्या बम्बई

१६५ हर्षचरित — बाण भट्ट, जीवानन्द विद्यासागर कृत टीका सहित, कलकत्ता प्रेस, कलकत्ता १९१८

मराठी

१६६ अशोका ते कालिदास — अ० ज० करन्दीकर, ६०७, सदाशिव पठ, पूना

हिन्दी

१६७ अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन — कपिल देव द्विवेदी हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद

१६८ आलोचना की फिसलन — डा० ओमप्रकाश अवस्थी, पुस्तक संस्थान, १०७/१० ए, नेहरू नगर, कानपुर

१६९ काव्य बिम्ब — डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, देहली-६ (१९६७)

१७० काव्य-समीक्षा — डा० विक्रमादित्य राय, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६७

१७१ काव्यात्मक बिम्ब — अघोरी ब्रजनन्दन प्रसाद मिश्र, ज्ञानालोक पटना, १९६४

१७२ छायावादोत्तर काव्य में बिम्ब विधान — डा० उमा अष्टवंश, आर्य बुक डिपो, करौल बाग, नई दिल्ली

१७३ नगेन्द्र साधना के आयाम — डा० कुमार विमल, राधाकृष्ण प्रकाशन, २, अन्सारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली, (१९७०)

१७४ परिवेश, मन और साहित्य — त्रिलोक चन्द तुलसी, प्रतिभा प्रकाशन, होशियारपुर

१७५ मेघदूत एक अध्ययन — वासुदेव शरण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन दिल्ली

१७६ मेघदूत एक अनुचिन्तन — रञ्जन सूरि देव बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना १९६०

१७७ रस-मीमांसा — रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९६१ संस्करण

१७८ रामचरितमानस — गोस्वामी तुलसीदास, गीता प्रेस गोरखपुर १९१८

१७९ रीतिकालीन अलङ्कार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन — ओमप्रकाश शास्त्री, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, १९६५

१८० रीतिकालीन काव्य की भूमिका — डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई सड़क, दिल्ली, १९६१ संस्करण

१८१ शेखर एक जीवनी — हीरानन्द, सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय

१ २ साहित्य शास्त्र — डा० रामकुमार वर्मा, भारतीय विद्या भवन, कानपुर

१८३ साहित्यशास्त्र — डा० चन्द्र भानु सीताराम सोनवणे शारदा प्रकाशन, नादेड

१८४ साहित्य सिद्धान्त — राम अवध द्विवेदी, विहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना, १९६३

१८५ साहित्य शास्त्र और काव्य भाषा — डा० सियाराम तिवारी, विभु प्रकाशन, साहिबाबाद

१८६ साहित्यिक निबन्ध — राजनाथ शर्मा, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

१८७ हर्षचरित एक सास्कृतिक अध्ययन — डा० वासुदेव शरण अग्रवाल विहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना

१८८ हिन्दी शब्द सागर — काशी नागरी प्रचारिणी सभा प्रकाशन

अंग्रेजी

189 A Critical Study of Paumacasiyam — Dr K R Chandar, Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa, Vaishali (1970)

190 Aristotle — Translated by Dr P S Shastry, Kitab Mahal, Delhi, 1963

191 Aristotle Art of Poetry — Tr Ingram By water, Pb Oxford, at Clarendon Press

192 Bhoja's Srngaraprakash — V Raghavan, Punarvasu Prakashan, Madras

193 Britanica World Language Dictionary Pt I

194 Concept of Poetry An Indian Approach — Dr Kalipad Giri, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta

19› English-Sanskrit Dictionary — Monior Williams, Subsidized edn

196 Ezra Pound Selected Prose — William Cookson (1909 65) Ist ed, Faber & Faber, London (1973)

197	History of Classical Sanskrit Literature	Krishnamachasiar, Motilal Banarsidas, Delhi
198	History of Sanskrit Literature	A B Keith, Oxford Press London
199	History of Sanskrit Poetics	P V Kane, Motilal Banarsidas Varanasi
200	How to Read Ezra Pound (1929) Polite Essays in Literary Criticism	Ashort Histor William K Wim satt, JR & Clearth Books, Yale University, Indian edn 1964
201	Imagery in Poetry An Indian Approach	Dr Ramaranjan Mukharji, Sanskrit Pustak Bhandar Calcutta-3 1972
202	Imagery in Maha bharata	Sudhi Sankar Bhattacharya Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1971
203	Imagery of Kalidasa	L S Bhandare Popular Prakashan, Bombay
204	Indian Aesthetics	Dr K C Pandev Chaukhamba Sanskrit Series, Varanasi
205	Number of Rasas	Raghavan, Adyar Library, Madras
206	The Oxford English Dictionary Vol 5	
207	Pictorial Potery	M M Bhattacharjer, Research Bullat in (Arts) Serial No XIV 11 (1954) Panjab University, Hoshiarpur
208	Practical Criticism	I A Richards London Routledge & Keagan Paul Ltd, 1960
209	Principles of Literary Criticism	I A Richards Routledge and Kegan Paul, London and Henley, 1976
210	Principles of Literary Criticism	Dr R C Dwidedi, Motilal Banarsidas, Delhi
211	Some Concepts of Alankarashastra	V Raghavan, Adyar Library, Madras

212 The Poetic Image — C D Lewis, Jonathan Cape, Paper Back, Thirty Bedford Sqare, London, 1966

213 The Poetry of Valmiki — M V Masti, Venkatesh Iyenger, Mysore 1940

214 The Skylark — P B Shellay

215 Twentieth Century Literary Criticism — Edited David Lodge, Longman, London, (1972)

216 Western Aesthetics — Dr K C Pandey, Chaukhamba Sanskrit Series, Varanasi

शोध पत्रिकाएँ

२१७ कालिदास विशेषाङ्क — युनिवर्सिटी रिव्यू, जम्मू युनिवर्सिटी, जम्मू तवी, १९७३,

218 Indological Studies — Journal of the Department of Sanskrit, University of Delhi, Vol 2, No 1, December, 1972

२१९ विश्वसंस्कृत— संस्कृत त्रैमासिक, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर फरवरी १९६६, नवम्बर १९६७-६८, मई १९६८, फरवरी, मई, अगस्त १९७४, मार्च १९८१

220 Vedic Path — Gurukul Kangri Visvavidyalaya, Hardwar, 1980

221 Vishveshvaranand Indological Journal — Vishveshvaranand Vishvabandhu Institute of Sanskrit & Indological Studies, Punjab University, Hoshiarpur, Vishva Bandhu Volume, XIII (1975), December, 1980

२२२ शोध भारती — गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय शोध पत्रिका, हरिद्वार, १९७४

२२३ स्वरमंगला — संस्कृत त्रैमासिक राजस्थान संस्कृत अकादमी, अजमेर मार्च, १९७६